उत्तरप्रदेशीय सरकार द्वारा प्रथम पुरष्कार प्राप्त

प्राचीन व आधुनिक

भारतीय शिक्षा का इतिहास

लेखक—

प्यारे लाल रावत एम० ए०, एल० टी०

प्राध्यापक,

बलवन्त राजपूत कालेज,

आगरा।

प्रस्तावना लेखक—

डा० राम करन सिंह एम०ए०, एल-एल०बी०, डी०एड० (हारवर्ड) यू०एस०ए०

प्रिंसीपल,

बलवन्त राजपूत कालेज,

आगरा।

प्राक्कथन लेखक—

डा० सरयू प्रसाद चौबे एम०ए०, एम० एड० (इलाहाबाद),

ईडी० डी० (इण्डियाना) यू० एस० ए०।

प्राध्यापक—

शिक्षा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय,

लखनऊ।

प्रकाशक

भारत पब्लिकेशन्स,

१००३, बेलनगंज-आगरा।

१९५५ ई०

मूल्य आठ रुपये

प्रस्तावना

मुझे यह लिखते हुए अति प्रसन्नता होती है कि मेरे मित्र व सहयोगी श्री प्यारेलाल रावत द्वारा लिखा हुआ 'प्राचीन व आधुनिक भारतीय शिक्षा का इतिहास' हिन्दी में अपने विषय का प्रथम विस्तृत व मौलिक प्रयास है। श्री रावत ने इस पुस्तक की रचना में विभिन्न मूल-ग्रन्थों से सहायता ली है, जिनका उन्होंने यथास्थान उल्लेख किया है। इस पुस्तक की विशेषता यह है कि इसमें प्राचीन-काल, मध्ययुग तथा आधुनिक काल की विभिन्न शिक्षा प्रणालियों का एक क्रमिक विकास चित्रित किया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि राष्ट्रभाषा में उच्च अध्ययन के लिए प्रामाणिक ग्रन्थों की कितनी आवश्यकता है। मुझे अत्यन्त हर्ष है कि श्री रावत ने अपनी इस रचना द्वारा शिक्षा-क्षेत्र में इस अभाव की पूर्ति करने का सराहनीय प्रयास किया है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत में आधुनिक शिक्षा अधिकांश में पश्चिम की देन है और बहुत कुछ अंशों में वह प्राचीन भारतीय शिक्षा से असम्बद्ध है, तथापि प्राचीन शिक्षा के प्रकाश में आधुनिक शिक्षा समस्याओं का तुलनात्मक विवेचन विषय को अधिक स्पष्ट और वास्तविक रूप में प्रस्तुत कर देता है। प्रस्तुत पुस्तक में श्री रावत ने इस विवेचन के साथ आधुनिक शिक्षा समस्याओं को उनके मूल रूप में समझ कर उनके लिए व्यावहारिक सुझाव रक्खे हैं।

मुझे यह देखकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि इस पुस्तक में वर्तमान भारतीय शिक्षा-जगत की आधुनिकतम प्रवृत्तियों, जैसे बेसिक शिक्षा, सामाजिक शिक्षा (प्रौढ़ शिक्षा) तथा औद्योगिक व व्यावसायिक शिक्षा का विस्तृत उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त प्राथमिक, माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय शिक्षा की प्रगति का क्रमिक इतिहास देते हुए उनका आलोचनात्मक वर्णन किया है। भारतीय शिक्षा के अन्तर्गत नियुक्त किए गए प्रायः सभी प्रमुख कमीशनों, समितियों तथा योजनाओं जैसेः वुड का घोषणा-पत्र, भारतीय शिक्षा कमीशन (हन्टर कमीशन), कलकत्ता विश्व-विद्यालय कमीशन (सैडर कमीशन), भारतीय विश्वविद्यालय कमीशन १९०२ ई० व १९४९ ई०, हार्टाग समिति, वर्धा योजना, वुड-एबट समिति, युद्धोत्तर शिक्षा-विकास योजना १९४४ ई० (सार्जेन्ट योजना), माध्यमिक शिक्षा कमीशन १९५३ ई० तथा प्रस्तावित विश्वविद्यालय-विधेयक इत्यादि का अच्छा विवेचन किया है।

मुझे विश्वास है कि ऐसी रचना न केवल शिक्षा के विद्यार्थियों के लिये ही, अपितु साधारण पाठकों के लिए भी अत्यन्त मूल्यवान् सिद्ध होगी। मैं श्री रावत की सफलता की हृदय से कामना करता हूँ।

रामकरन सिंह
एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० एड (हारवर्ड)
प्रिन्सिपल, बलवन्त राजपूत कालेज,
आगरा।

आगरा
१०-१२-५२ ई०।

प्राक्कथन

"प्राचीन व आधुनिक भारतीय शिक्षा का इतिहास" के प्रणेता श्री प्यारेलाल रावत, एम० ए०, एल० टी०, मेरे शिष्य रह चुके हैं। अतः आज उनकी इस पुस्तक के लिए दो शब्द लिखने में मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है। श्री रावत की प्रतिभा से मैं बहुत प्रारम्भ से ही बड़ा प्रभावित रहा हूँ। इनकी शैली, भाषा-सौष्ठव और विचार-गाम्भीर्य प्रशंसनीय हैं। मेरी समझ में प्रस्तुत पुस्तक अपने ढङ्ग की अकेली है। अब तक हिन्दी में इस विषय पर जितनी पुस्तकें निकल चुकी हैं उनमें श्री रावत की पुस्तक का स्थान बहुत ही ऊँचा है। कुछ अंश में इसे सर्वश्रेष्ठ भी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। इसमें विभिन्न लेखकों के मतों के गवेषणात्मक विवेचन और विश्लेषण के साथ-साथ श्री रावत ने अपनी मौलिकता का स्पष्ट परिचय दिया है। पुस्तक का प्रणयन बड़े ही शास्त्रीय ढङ्ग से किया गया है। मेरा विचार है कि यह पुस्तक भारतीय शिक्षा के सभी विद्यार्थियों अर्थात् शिक्षा-शास्त्रियों, अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। अतः हिन्दी में इस प्रकार की पुस्तक लिखकर श्री रावत ने केवल शिक्षा-क्षेत्र की ही नहीं, वरन् एक दृष्टिकोण से हिन्दी की भी सेवा की है। पुस्तक इतनी अनूठी है कि इसके लिए कुछ लिखने में मैं अपने को गौरवान्वित समझ रहा हूँ।

अब हन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों के विश्वविद्यालयों में भी हिन्दी धीरे-धीरे शिक्षा का माध्यम हो चली है। किन्तु उपयुक्त पुस्तकों के अभाव के कारण यह अति वांछनीय प्रगति अभी भली भाँति प्रवाह नहीं पकड़ पाई है। इस प्रगति को प्रवाह देने की जो चेष्टा करता है उसके प्रति सारे शिक्षा संसार को कृतज्ञ होना चाहिये। प्रस्तुत पुस्तक की रचना से श्री रावत ने इस प्रगति को आगे प्रवाहित करने का पूरा प्रयत्न किया है। इस दृष्टिकोण से शिक्षा-जगत श्री रावत का ऋणी है। मुझे आशा है कि शिक्षा-क्षेत्र में इस पुस्तक का आदर होगा।

श्री रावत अभी नवयुवक हैं और उनमें विभिन्न श्रेष्ठ कार्यों के लिए प्रेरणा और उत्साह कूट-कूट कर भरा हुआ है। मेरा विश्वास है कि वे इसी प्रकार शिक्षा क्षेत्र की बड़ी-बड़ी सेवायें करेंगे। मेरी मनोकामना है कि श्री रावत जैसे उत्साही और चरित्रवान् नवयुवकों को कार्य करने का समुचित अवसर मिलता रहे जिससे समाज उनके गुणों और प्रतिभा से पूरा-पूरा लाभ उठा कर उत्तरोत्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर रहे !!!

सरयू प्रसाद चौबे,
एम० ए०, एम० एड, (इलाहाबाद),
ईडी० डी० (इण्डियाना), यू० एस० ए०।

भूमिका

भारत में जनतंत्र के विकास के साथ ही साथ शिक्षा का महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। देश की आर्थिक समस्याओं व योजनाओं के उपरान्त संभवतः शिक्षा ही वह प्रमुख विषय है जिस पर आज इतना चिन्तन किया जा रहा है। ऐसी अवस्था में देश की विभिन्न शिक्षा-समस्याओं को उचित रूप से समझने के लिये वर्तमान शिक्षा का आलोचनात्मक विवेचन तथा भूतकालीन शिक्षा-समस्याओं, परिस्थितियों एवं घटनाओं के क्रमिक विकास के इतिहास के अध्ययन की आवश्यकता है। प्रस्तुत पुस्तक इसी आवश्यकता की आंशिक पूर्ति का एक प्रयास है।

भारतीय शिक्षा पर अंग्रेजी भाषा में पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है। किन्तु राष्ट्रभाषा में इस प्रकार के प्रामाणिक ग्रन्थों का पूर्णतः अभाव है। हिन्दी में अभी तक कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं लिखा गया जो कि भारतीय शिक्षा का अनुसन्धानात्मक विवेचन करता हो और जिसमें प्राचीन, मध्ययुग तथा वर्तमान काल की शिक्षा-प्रगति का विवरण एक ही पुस्तक में विस्तृत रूप से किया गया हो। परिणामतः शिक्षा के विद्यार्थियों एवं भारतीय शिक्षा में रुचि रखने वाले जिज्ञासुओं को दुरूह कठिनाई का सामना करना पड़ता था। 'प्राचीन व आधुनिक भारतीय शिक्षा का इतिहास' इस अभाव को दूर करने का एक लघु प्रयास है।

इस पुस्तक में प्राचीन-शिक्षा को दो भागों—ब्राह्मणीय शिक्षा तथा बौद्ध शिक्षा—में विभक्त कर दिया गया है। प्रायः मध्यकालीन शिक्षा का अभिप्राय केवल मुसलिम शिक्षा से ही लिया जाता है। किन्तु प्रस्तुत पुस्तक में तत्कालीन हिन्दू शिक्षा का भी उल्लेख किया गया है। आधुनिक काल की शिक्षा का वर्णन एक भारतीय दृष्टिकोण को लेकर तथा समस्याओं को उनके मूल रूप में समझते हुए एवं उनके लिये व्यावहारिक व वैज्ञानिक सुझाव रखते हुए अधिक विस्तार से देने की चेष्टा की गई है। पुस्तक की भाषा को सरलतम हिन्दी रक्खा गया है, किन्तु कुछ प्रचलित अँग्रेजी शब्दों जैसेः स्कूल, कालेज, रिपोर्ट, कमीशन इत्यादि को भी हिन्दी के क्रम में स्वीकार कर लिया गया है। इस पुस्तक की रचना में मैंने अन्य मूल-ग्रन्थों तथा विभिन्न सरकारी व गैर-सरकारी प्रतिवेदनों की स्वतन्त्रतापूर्वक सहायता ली है, जिनका यथास्थान उल्लेख कर दिया है। ऐतिहासिक महत्त्व रखने वाले उद्धरणों व कथनों को पुस्तक के प्रवाह के साथ ही प्रसंगानुसार उचित स्थानों पर मिला दिया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक के अस्तित्त्व का पूर्ण श्रेय मेरे पूज्यनीय गुरुवर्य डा० सरयूप्रसाद चौबे एम० ए०, एम० एड० (इलाहाबाद), ई० डी० (इण्डियाना) संयुक्तराष्ट्र, अमेरिका को है जिनकी आत्मिक प्रेरणा, पथ-प्रदर्शन तथा रचनात्मक सुझावों के बिना मेरा यह तुच्छ प्रयास असंभव ही था। अतः मैं उनका चिरऋणी हूँ। श्री कपिलदेवसिंह जी, एम० ए०, प्रधान पुस्तकाध्यक्ष, बलवन्त राजपूत कालेज आगरा, ने मुझे आवश्यक पुस्तकों की सहायता देकर मेरे कार्य को अत्यन्त सुलभ कर दिया; अतः मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करता हूँ। प्रोफेसर बंशीधर सिंह जी एम० ए०, बी० टी०, ए० डिप० एड० (लन्दन), अध्यक्ष बलवंत राजपूत ट्रेनिंग कालेज आगरा, से मुझे जो प्रेरणा व पुस्तक-सहायता मिली उसके लिये मैं कृतज्ञ हूं। साथ ही उन अगणित सहायक-पुस्तकों के उन अपरिचित रचियिताओं का भी मैं आभारी हूँ जिनकी कृतियों से मैंने निस्संकोच सहायता ली है। अन्त में, अपने मित्र श्री [illegible] तथा अपने प्रकाशक को भी पुस्तक के शीघ्र प्रकाशित कराने के लिये धन्यवाद देता हूँ। यदि शिक्षा के विद्यार्थी तथा अन्य शिक्षा-प्रेमी इस रचना से लाभान्वित हो सके तो मैं अपने इस प्रयास को सार्थक समझूँगा।

१५ दिसम्बर, १९५२। प्यारेलाल रावत

बलवन्त राजपूत कॉलेज, आगरा।

द्वितीय संस्करण की भूमिका

जब से इस पुस्तक का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ है, भारत ने अपनी विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत पर्याप्त शिक्षा-प्रगति करली है। इधर शिक्षा को नये भारत में जनतन्त्र पर आधारित राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक आवश्यकताओं के अनुरूप ढालने के लिये विभिन्न राजकीय व वैयक्तिक प्रयास किये जा रहे हैं। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षा में इन सभी आधुनिकतम प्रवृत्तियों व घटनाओं का पुनः सविस्तार विश्लेषण किया जाय।

इसके अतिरिक्त प्रथम संस्करण के उपरान्त ही इस पुस्तक की लोकप्रियता बढ़ने, उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा प्रथम पुरष्कार की घोषणा, कई विश्वविद्यालयों में इसका प्रमुख पाठ्य-पुस्तक के रूप में स्वीकृत हो जाना तथा अन्य शिक्षा-प्रेमियों द्वारा इसकी सराहना से मुझे और भी अधिक प्रेरणा मिली। अतः द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण को शीघ्र ही प्रकाशित कराने का निश्चय किया गया।

भारतीय शिक्षा के इतिहास में युद्धोपरान्त होने वाली घटनाओं और प्रगति का विशेष महत्त्व है। इस दृष्टि से पुस्तक को और भी अधिक सविस्तार तथा सप्रमाण बनाने का प्रयास किया गया है। विश्वविद्यालय, माध्यमिक, प्राथमिक, औद्योगिक व व्यावसायिक तथा सामाजिक शिक्षा के क्षेत्र में आधुनिकतम घटनाओं का इस संस्करण में समावेश कर दिया गया है। साथ ही उत्तर प्रदेश में होने वाली शिक्षा-प्रगति का आलोचनात्मक विवरण एक पृथक् अध्याय में किया गया है। इस प्रकार पुस्तक को शिक्षा के विद्यार्थियों तथा शिक्षकों के लिये अधिक उपयोगी बनाने की चेष्टा की गई है।

दुर्भाग्य से हमारे देश में शिक्षा जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों को भी विद्यार्थी मौलिक व प्रामाणिक ग्रन्थों से अध्ययन न करके हल किये गये प्रश्न-पत्रों अथवा अन्य इसी प्रकार की सस्ती व निम्नकोटि की पुस्तकों से पढ़कर परीक्षा में उत्तीर्ण होने की चेष्टा करते हैं। किन्तु साथ ही ऐसे विद्यार्थियों व शिक्षकों का भी देश में अभाव नहीं है, जो मौलिक ग्रन्थों का विवेचनात्मक अध्ययन करके विषय पर अधिकार प्राप्त करना चाहते हैं। वास्तव में इस पुस्तक को ऐसे ही लोगों के लिये उपयुक्त बनाने का प्रयास किया गया है जो विषय से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करके देश में होने वाली शिक्षा-प्रगति का गवेषणात्मक अध्ययन करना चाहते हैं। आशा है यह लघु-प्रयास उनकी आवश्यकता की आंशिक पूर्त्ति कर सकेगा।

बलवन्त राजपूत कालेज, आगरा
१५ फरवरी, १९५५ ई०

प्यारेलाल रावत

विषय-सूची

अध्याय | विषय | पृष्ठ

द्वितीय खण्ड

तृतीय खण्ड

अध्याय | विषय | पृष्ठ

प्रथम-खण्ड

प्राचीन-शिक्षा

अध्याय १

वैदिक कालीन शिक्षा

विषय प्रवेश

वर्तमान की जड़ अतीत में होती है। भारत के अतीत का गौरव वर्तमान को उज्ज्वल करता हुआ उसके भविष्य को भी आकर्षक बना रहा है। प्राचीन भारत की एक मात्र विशेषता यह है कि इसका निर्माण राजनैतिक, आर्थिक अथवा सामाजिक क्षेत्र में न होकर धर्म-क्षेत्र में हुआ था। जीवन के प्रायः सभी अंगों में धर्म का प्राधान्य था। भारतीय संस्कृति धर्म की, भावनाओं से ओत-प्रोत है। हमारे पूर्वजों ने जीवन की जो व्याख्या की तथा अपने कर्त्तव्यों का जो विश्लेषण किया वह सभी उनके वृहत्तर आध्यात्म ज्ञान की ओर संकेत करता है। उनकी राजनैतिक तथा सामाजिक वास्तविकतायें केवल भौगोलिक सीमाओं के अन्तर्गत ही बँध कर नहीं रह गईं। उन्होंने जीवन को एक व्यापक दृष्टिकोण से देखा और 'सर्वभूत हितेः रतः' होना ही अपना कर्त्तव्य समझा। भारत ने केवल भारतीयता का ही विकास नहीं किया, उसने चिर-मानव को जन्म दिया और मानवता का विकास करना ही उसकी सभ्यता का एक मात्र उद्देश्य हो गया। उसके लिये वसुधा कुटुम्ब थी। आज भी जब वह अपनी निर्धनता, सामाजिक कुरीतियों और राजनैतिक असफलताओं के नीचे पड़ा कराह रहा है, उसके मुख पर एक ज्योति उज्ज्वलित हो रही है जो कि उसकी आत्मा का प्रकाश है। वह आज भी पीड़ित मानवता का अग्रदूत है।

राजनैतिक, आर्थिक व सामाजिक क्षेत्रों में धर्म का प्राधान्य होने से जीवन में एक अलौकिक विचार धारा का समावेश हुआ। प्राचीन हिन्दुओं की राजनीति हिंसा, द्वेष तथा स्वार्थ पर अवलम्बित न होकर प्रेम, सदाचार और परमार्थ पर आधारित थी। व्यक्ति का विकास ही समाज का विकास समझा जाता था। आर्थिक क्षेत्र में भी जीवन की कोमल व पवित्र धार्मिक-भावनायें क्रियाओं का निर्देशन करती थीं; यहाँ तक कि सम्पूर्ण भारतीय

सामाजिक-संगठन मानव की मूल-भूत उदात्त भावनाओं तथा दिव्य सिद्धान्तों पर आधारित था। जीवन का एक उद्देश्य था, एक आदर्श था और उस आदर्श की प्राप्ति संसार की सभी भौतिक विभूतियों से उत्तर समझी जाती थी। प्राचीन भारत की शिक्षा का विकास भी इसी आधार पर हुआ। भारत में शिक्षा तथा ज्ञान की खोज केवल ज्ञान प्राप्त करने के लिये ही नहीं हुई, अपितु वह 'धर्म' के मार्ग पर चल कर मोक्ष प्राप्त करने का एक क्रमिक प्रयास था। मोक्ष ही जीवन का चरम विकास था। यही कारण है कि जीवन की सम्पूर्ण बहुमुखी क्रियाएँ धर्म के मार्ग पर चल कर ही अपने एकमात्र गंतव्य 'मोक्ष' की ओर अग्रसर हुईं।† भारत के सम्पूर्ण साहित्य, विज्ञान और कला का सृजन ही उसका अभीष्ट पर पहुँचने का प्रयास है। प्राचीन भारतीय साहित्य एक प्रकार से धर्म का वाहन है, जैसा कि मैकडॉनिल ने कहा है कि "प्राचीनतम वैदिक काव्य के सृजन-काल से ही हम भारतीय साहित्य पर एक प्रकार से लगभग एक हजार वर्ष तक धार्मिक छाप लगी हुई पाते हैं, यहाँ तक कि वैदिक-काल के वे अंतिम ग्रन्थ, जिन्हें हम धार्मिक नहीं कह सकते हैं, अपना धर्म प्रसार का उद्देश्य रखते हैं। यह वास्तव में 'वैदिक' शब्द से प्रकट होता है क्योंकि 'वेद' का अर्थ ज्ञान ('विद' मूल धातु से) होता है तथा सम्पूर्ण पवित्र-ज्ञान का साहित्य की शाखा के रूप में बोध कराता है।"‡

प्राचीन भारतीय शिक्षा का विकास भी भारतीय दार्शनिक परम्परा के अनुरूप ही हुआ है। जीवन तथा संसार की क्षणभंगुरता का अनुमान तथा मृत्यु एवं भौतिक सुखों की सारहीनता के भाव ने उन्हें एक विशेष दृष्टिकोण प्रदान किया और वस्तुतः सम्पूर्ण शिक्षा परम्परा इन्हीं सिद्धान्तों पर विकसित हुई। यही कारण था कि भारतीय ऋषियों ने एक अदृश्य जगत और आध्यात्मिक सत्ता के संगीत गाये और अपने सम्पूर्ण जीवन को भी उसी के अनुरूप ढाला। इस भौतिक जगत को वे कभी गंभीरता पूर्वक न ले सके और उनकी सभी प्रवृत्तियाँ वाह्य-विकास की ओर न होकर आन्तरिक जगत के सृजन और

† "Learning in India through the ages had been prized and pursued not for its own sake, if we may so put it, but for the sake, and as a part, of religion. It was sought as the means of salvation or self-realisation, as the means to the highest end of life, viz. Mukti or Emancipation." Dr. Radha Kumud Mukerjee : Ancient Indian Education. Macmillan & Co., London (1947) Prologue xxi.

‡ मैकडॉनिल संस्कृत लिट्रेचर, पृष्ठ ३९।

विकास में लग गईं। यद्यपि मृत्यु उनके भय का कारण तो नहीं थी तथापि मृत्यु तथा संसार में आवागमन से मुक्ति पाने के लिये उन्होंने एक चिरंतन और स्थायी जीवन की कल्पना की। जगत उन्हें मिथ्या लगा और जीवन का एक मात्र सत्य प्रतीत हुआ इस जीवात्मा का परमात्मा में विलीनीकरण। इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य ही 'चित्त-वृत्ति-निरोध' हो गया।

प्राचीन काल में विद्यार्थी इस जगत के सम्पूर्ण विप्लव और विद्रोह से परे प्रकृति की रमणीक गोद में अपने गुरू के चरणों में बैठ कर इस जीवन की समस्याओं का श्रवण, मनन और चिन्तन करता था। पर्वत की चोटी पर पड़ी हुई प्रथम-हिम कणिकाओं की भाँति उसका जीवन पवित्र था। जीवन उसके लिये प्रयोगशाला था। वह केवल पुस्तकीय शब्द-ज्ञान ही प्राप्त नहीं करता था, अपितु जन-समूह के सम्पर्क में आकर जगत व समाज का व्यावहारिक ज्ञान उपलब्ध करता था। "सत्य की केवल मानसिक अनुभूति, एक तर्कपूर्ण विचार-धारा पर्याप्त नहीं, यद्यपि प्रथम सीढ़ी के रूप में एक उद्देश्य बिन्दु के समान आवश्यक है।"* अतएव प्राचीन भारतीय विद्यार्थी ने प्रत्यक्ष रूप से महान् सत्य की अनुभूति की और समाज का निर्माण उसी के अनुरूप किया।

विद्यार्थी का गुरु-गृह पर रहना तथा उसकी सेवा करना अनूठी भारतीय परम्परा है। इस प्रकार निकटतम सम्पर्क में आने से विद्यार्थी के अन्दर स्वाभाविक रूप से ही गुरु के गुणों का समावेश हो जाता था। विद्यार्थी के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये यह अनिवार्य था, क्योंकि गुरु ही आदर्शों, परम्पराओं तथा सामाजिक नीतियों का प्रतीक था जिसके मध्य में रह कर उसका पालन-पोषण हुआ है। ऐसी अवस्था में विद्यार्थी का गुरु के साथ निकटतम सम्पर्क सम्पूर्ण सामाजिक परम्पराओं से विद्यार्थियों का साक्षात्कार करा देना था।

इसके अतिरिक्त भारतीय शिक्षा-प्रणाली की एक विशेषता यह थी कि शिक्षा जीवनोपयोगी थी। गुरु-गृह में रहते हुए विद्यार्थी समाज के सम्पर्क में आता था। गुरू के लिये ईंधन व पानी लाना तथा अन्य गृह-कार्यों को करना उसका कर्त्तव्य समझा जाता था। इस प्रकार न वह केवल गृहस्थ होने का शिक्षण ही पाता था, अपितु श्रम का गौरव-पाठ तथा सेवा का पदार्थ-पाठ पढ़ता था। गुरू की गायों को चराना तथा अन्य प्रकार से गुरू की सेवा करने से एक आध्यात्मिक लाभ भी विद्यार्थियों

* मुँडक (२,२,२४)।

को होता था। विनय अथवा अनुशासन की समस्या जिसने वर्तमान शिक्षा क्षेत्र में एक चुनौती सी दे रक्खी है, स्वतः ही हल हो जाती थी और साथ ही विद्यार्थी एक जीवनोपयोगी उद्यम जैसे पशु-पालन, कृषि तथा [illegible] इत्यादि में शिक्षण भी पा लेता था। छान्दोग्य उपनिषद् में [illegible] की कथा आती है जो विद्यार्थी-जीवन में गुरु की गायों का पालन करते थे और जिनके निरीक्षण में गायों की संख्या ४०० से १००० तक हो गई थी। इसी प्रकार बृहदारण्यक में भी हमें ऋषि याज्ञवल्क्य की गाथा मिलती है, जिन्हें राजा जनक ने १००० गायों का दान दिया था जो कि उनके महान ज्ञान का परिचायक था। इससे प्रमाणित होता है कि शिक्षा केवल सैद्धान्तिक ही नहीं थी, अपितु जीवन की वास्तविकताओं से इसका सम्बन्ध था। ऋग्वेद में ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि एक ऋषि स्वयं कवि थे, उनके पिता भिषग अर्थात् चिकित्सक और उनकी माँ उपल-प्रक्षिणी अर्थात् आटा पीसने वाली थीं। इस प्रकार उत्तम शिक्षा में भी शारीरिक श्रम का महत्व था। जीवन की कठिनतम समस्याओं को हमारे ऋषियों ने जीवन के साधारण कार्य क्षेत्रों में सुलझा दिया था। जिस पद्धति को वर्तमान काल में 'क्रिया से ज्ञान प्राप्त करना' कहते हैं, जिसका कि आधुनिक युग में अमेरिका प्रवर्त्तक समझा जाता है, भारतीय ऋषियों तथा विद्यार्थियों का एक शिक्षा-सूत्र था। जीवन की प्रयोगशाला शिक्षा-संस्थाओं के लिये थी जिनमें सफलता प्राप्त करके प्राचीन शिक्षा-शास्त्रियों ने एक परम्परा का निर्माण किया।

इसी प्रकार विद्यार्थियों का जीवन-निर्वाह तथा गुरु-सेवा के निमित्त भिक्षान्न प्राप्त करना भी प्रधानतः एक भारतीय परम्परा ही है। इसका उद्देश्य विद्यार्थी को परामुखपेक्षी बनाना नहीं था और न यह समाजहित के प्रतिकूल ही समझा जाता था। वास्तव में भिक्षा-प्रथा प्राचीन काल में एक सम्मानित कार्य समझा जाता था। शतपथ ब्राह्मण में इसके शिक्षा-महत्त्व को स्वीकार किया गया है।* यह प्रथा विद्यार्थी में त्याग तथा मानवीय गुणों का विकास करती थी। उसके अहंकार तथा उच्छृंखलता का विनाश करके उसे व्यावहारिक जगत के सम्मुख ला खड़ा करती थी। समाज के सम्पर्क में आने से उसे वास्तविक जीवन का भी ज्ञान होता था। यह विद्यार्थी के लिये स्वावलम्ब तथा समाज के प्रति उसके कर्त्तव्य और कृतज्ञता का पदार्थ-पाठ था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति का विकास एक सुगठित योजना के द्वारा हुआ था। उसकी जड़ें समाज के अन्तराल में थीं

* शतपथ ब्राह्मण (१०;२,३,५)।

और उसका विकास स्वाभाविक था । उसका कुछ उद्देश्य था और कुछ सन्देश था । भारत के जंगलों और काननों के मध्य में स्थित, प्रकृति की रमणीक शोभा से घिरे हुए विद्या-केन्द्र सभ्यता और संस्कृति के अगाध स्रोत थे जहाँ से मानवता का विकास हुआ। राजनीति तथा आर्थिक सिद्धान्त-क्षेत्र में भारत ने चाहे अधिक उन्नति न की हो, क्योंकि उसका उद्देश्य सांसारिक पदार्थ सम्पन्नता की ओर इतना नहीं रहा, किन्तु शिक्षा-क्षेत्र में भारतीय देन अद्वितीय है । जब संसार की अन्य जातियाँ सभ्यता की बोली में केवल बड़बड़ाना ही सीख रहीं थीं, भारत ने उच्च तत्व-ज्ञान की मीमांसा की । उसने अपने ज्ञान से विश्व को आलोकित किया और मानव-सभ्यता के एक मानदण्ड की स्थापना की । भारत के प्राचीन शिक्षकों ने शिक्षा के एक विशिष्ट रूप का विकास किया, जिसके द्वारा लौकिक व पारलौकिक विभूतियों में समन्वय की स्थापना हुई; और इस प्रकार मानवीय-जीवन पूर्णता की ओर अग्रसर हुआ ।

ब्राह्मणीय शिक्षा का विस्तृत वर्णन करने से पूर्व वेदों का परिचय आवश्यक है क्योंकि तत्कालीन शिक्षा का आधार वेदों पर ही आश्रित है ।

ऋग्वेद—यह हिन्दू धर्म की सर्वप्रथम और प्राचीनतम रचना है । किन्तु आश्चर्य की बात है कि ऋग्वेद से पूर्व हमें भारतीय शिक्षा और सभ्यता का कोई क्रमिक विकास-इतिहास नहीं मिलता । यद्यपि ऋग्वेद से पूर्व भी भारत में द्रविड़ सभ्यता का विकास हो चुका था, किन्तु उसके अन्तर्गत शिक्षा-प्रणाली का कोई प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध नहीं है। भारतीय आर्य-सभ्यता का प्रारम्भ तो एक प्रकार से ऋग्वेद से ही माना जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि बिना एक उच्च सभ्यता की पृष्ठ-भूमि के भारत के लिये ऋग्वेद जैसी कृति का सहसा सृजन कर देना सम्भव नहीं । अवश्य ही ऋग्वेद की सभ्यता तक पहुँचने में भारत को क्रमिक विकास की अनेक सीढ़ियों को पार करना पड़ा होगा। मैक्समूलर का कथन है कि "एक बात सत्य है कि भारत में अथवा सम्पूर्ण आर्य जगत में ऋग्वेद के मंत्रों से अधिक प्रारम्भिक और प्राचीनतम कुछ भी नहीं है । तथापि ऋग्वेद भारतीय संस्कृति का प्रभात नहीं, अपितु उसका मध्यान्ह है, जहाँ हम भारतीय सभ्यता और दर्शन को अपनी पूर्ण प्रौढ़ता को पहुँचा हुआ पाते हैं।"

भारतीय प्राचीन परम्परा के अनुसार ऋग्वेद वह महान ज्ञान-भंडार है, जिसमें तत्कालीन ज्ञान और विचारधारा बीज रूप में निहित हैं। वस्तुतः हिन्दू सभ्यता का शिलान्यास ही ऋग्वेद के द्वारा हुआ है जिसमें जीवन की भौतिक

विभूतियों को तुच्छ समझते हुए एक महान् और दिव्य आनन्द की प्राप्ति के लिये जीवन की प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी करने का आदेश है।

ऋग्वेद के विकास का इतिहास ही तत्कालीन संस्कृति और सभ्यता के विकास का इतिहास है। यह १०१७ मंत्रों का समूह है जिसे संहिता कहते हैं। ये मंत्र क्रमशः एक दीर्घ काल में इकट्ठे किये गये थे। भिन्न २ कालों से सम्बन्ध रखने वाले इस विशाल साहित्य को संकलित करने के लिए ऋग्वेद संहिताकारों को उच्चकोटि के सिद्धान्तों का विकास करना पड़ा होगा। संहिता भिन्न प्रकार के मंत्रों का संग्रह है, जिसमें कुछ मंत्र शुद्ध साहित्य, कुछ धर्म और संस्कारों और कुछ यज्ञ-संगीत तथा यज्ञ-विधि इत्यादि से सम्बन्ध रखते हैं। इन मंत्रों के द्वारा इन्द्र, वरुण, अग्नि, मारुत, उषा, सूर्य और परजन्य इत्यादि की आराधना की गई है। जन्म, विवाह, दान, यज्ञ और मृत्यु इत्यादि जीवन के संस्कारों पर भी श्लोक हैं। अन्त में सृष्टि और दर्शन के ऊपर भी मंत्र हैं जिनमें विराट् पुरुष के द्वारा सृष्टि-सृजन का उल्लेख है (मंडल १०,९०)। इस प्रकार संहिता में जीवन के सांस्कृतिक चरम-विकास तथा उसके भिन्न रूपों का विशद चित्रण किया गया है।

ऋग्वेद दस मण्डलों में विभाजित है, जिसमें मण्डल २ से ७ तक उसका मौलिक प्रमुख भाग है जिसका सृजन छः प्रमुख ऋषियों ने किया है। ये ऋषि हैं:—गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वसिष्ठ। मण्डलों का विकास ऋषियों तथा उनके परिवार के द्वारा क्रमशः हुआ। प्रत्येक परिवार अपनी पैतृक सम्पत्ति की रक्षा करके उन्हें सुरक्षित रखता था। मौलिक प्रमुख भाग में मंडल १,८,९ व १० के जुड़ जाने से सम्पूर्ण ऋग्वेद संहिता का अस्तित्व हुआ। इस प्रकार सम्पूर्ण रचना में १,०२८ श्लोक और १०,५८० मंत्र ७०,००० पंक्तियाँ तथा १५३,८२६ शब्द हैं। इन ७०००० पंक्तियों में ५००० पंक्तियाँ पुनरावृत्ति मात्र हैं।* इससे प्रकट होता है कि कालान्तर में जोड़े हुए श्लोकों के रचयिता केवल पूर्वस्थित श्लोकों से ही सार ग्रहण कर रहे थे जिनका प्रचार देश में पहिले ही से था।

अन्य वेद—ऋग्वेद के उपरान्त क्रमशः सामवेद संहिता, यजुर्वेद संहिता और अथर्ववेद संहिता का प्रादुर्भाव हुआ। इन वेदों ने एक नये प्रकार के साहित्य का सूत्रपात किया। ऋग्वेद में आये हुए मंत्रों के क्रम का यज्ञ के क्रम से

* Dr. Radha Kumud Mukeree ; *Ancient Indian Education*, Macmillan & Co. London, (1947) P. 22.

कोई सम्बन्ध नहीं है; यहाँ तक कि ऐसे मंत्र भी हैं जिनका यज्ञ या बलि से कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु साम, यजुः और अथर्व में यज्ञ सम्बन्धी मंत्रों का एक क्रम है। साम और यजुः के काल में ही ऋग्वेद-कालीन धर्म में पर्याप्त विकास होने लगा था और पुरोहितवाद का प्रचार अधिक बढ़ गया था। इन पुरोहितों की तीन प्रधान शाखायें थीं (१) होतृ (२) उद्गातृ और (३) अध्वर्यु। इनके अतिरिक्त एक चौथा वर्ग भी था जो कि 'ब्राह्मण' कहलाता था। इन चारों प्रकार के पुरोहितों के क्रमशः तीन-तीन प्रकार के सहायक-पुरोहित और होते थे। सम्पूर्ण पुरोहित-समाज सोलह भागों में विभाजित था। ये सभी पुरोहित 'ऋत्विज' कहलाते थे। कालान्तर में एक सत्रहवाँ ऋत्विज और सम्मिलित कर दिया गया जो कि 'सदस्यु' कहलाता था और सम्पूर्ण यज्ञ का निरीक्षण करता था।

सम्पूर्ण पुरोहित समाज का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है:

(१) होतृ

मैत्रावरुण	अच्छावाक्	ग्रावस्तुत

(२) उद्गातृ

प्रस्तोतृ	प्रतिहातृ	सुब्रह्मण्य

(३) अध्वर्यु

प्रतिष्ठातृ	नेस्तृ	उन्नेतृ

(४) ब्राह्मण

ब्राह्मणाच्छांसिन्	अग्निधक	पोतृ
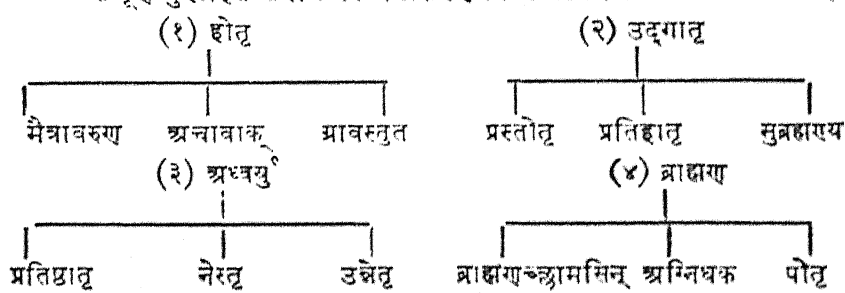
आगे चलकर उच्च शिक्षा का सम्बन्ध पुरोहितवाद तथा धर्म के क्रियात्मक रूप (कर्मकांड) से हो गया। पूजा तथा यज्ञ के बाह्य-उपकरणों का इतना प्रचार हो गया कि पुरोहितों को इन क्रियाओं का नियमित शिक्षण लेकर उनमें विशेष योग्यता प्राप्त करनी पड़ती थी। यहाँ तक कि पुरोहितों में भी क्रियाओं का श्रम-विभाग हो गया। प्रारम्भ में पुरोहितों में कोई वर्गभेद नहीं था तथा प्रत्येक पुरोहित यज्ञ सम्बन्धी प्रत्येक कार्य को करने के योग्य समझा जाता था। प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिये एक सा शिक्षाविधान था और प्रत्येक को यज्ञ का मंत्र, उच्चारण तथा क्रियाविधि इत्यादि सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था। कालान्तर में कर्मकांड और बलिदान-विधि के अधिक जटिल हो जाने पर यह अनिवार्य हो गया कि उनमें कुछ श्रम-विभाग किया जाय, क्योंकि एक पुरोहित के लिये यह कार्य असम्भव समझा गया कि वह यज्ञ की त्रिविधियों में विशेषज्ञ हो जाय। अतः पुरोहित-विद्यार्थी प्रारम्भ में तो त्रिविधियों में ही शिक्षण प्राप्त करते थे, किन्तु तत्पश्चात् उनमें से किसी एक में विशेषता प्राप्त कर

लेते थे। अन्त में पुरोहितों में तीन प्रमुख विभाग हो गये जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। ये पुरोहित क्रमशः एक-एक वेद के प्रतिनिधि थे। इन लोगों की शिक्षण-संस्थायें भी भिन्न-भिन्न थीं। यह संभवतः सन् १००० ई० पू० से ८०० ई० पू० के मध्य में हुआ।*

(१) होतृ—यह प्रथम वर्ग का पुरोहित होता था जो यज्ञ के समय मंत्रों का गान करता था। ये मंत्र किसी देवता जैसे इन्द्र, अग्नि या वायु इत्यादि की प्रशंसा में गाये जाते थे। इस कार्य में होतृ को विशेषता प्राप्त होती थी। यह प्रमुख पुरोहित माना जाता था।

(२) उद्गातृ—यज्ञ-विधि का दूसरा भाग सोमयज्ञ से सम्बन्ध रखता था। सोम एक प्रकार का रस होता था जिसे एक लता को कुचल कर निकाला जाता था। यह रस मादक होता था। अतः इसकी मादकता को आर्यों ने एक दिव्य-शक्ति समझ कर देवता की भाँति उसकी पूजा करना प्रारम्भ कर दिया, क्योंकि उनके मतानुसार यह उन्हें अमरत्व प्रदान करता था। इस प्रकार एक नई संस्कार-विधि का प्रादुर्भाव हुआ जिसके अनुसार मंत्र-गान गाये जाने लगे। जो पुरोहित इन मंत्रों का गान करते थे उन्हें 'उद्गातृ' कहा जाता था।

(३) अध्वर्यु—इन पुरोहितों का कार्य यज्ञ के प्रमुख भाग से सम्बन्ध रखता था। यज्ञ की क्रिया-विधि तथा वास्तविक कार्य-प्रणाली में ये लोग विशेषता प्राप्त करते थे।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'ब्राह्मण' नामक एक चौथा वर्ग भी था जो सम्पूर्ण पूजा-कार्य का निरीक्षण और निर्देशन करता था। यह वर्ग तीनों वेदों में शिक्षा प्राप्त करता था प्रत्येक संदेहात्मक बात पर इन्हीं की अनुमति अन्तिम मानी जाती थी। यज्ञ-विधि के भिन्न-भिन्न भागों पर यह अपनी निर्णयात्मक अनुमति देते थे।

सामवेद—सोम-संस्कार के लिये उद्गातृ को गान की सभी ध्वनियों का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था। सोम यज्ञ पर गाई जाने वाली क्रियाओं का संग्रह सामवेद के नाम से हुआ। इसमें १५४९ छन्दों में से केवल ७८ मंत्र उद्गातृ पुरोहितों के प्रदान किये हुए हैं। शेष या उनमें से अधिकतर प्रधानतः ऋगवेद के ८ या ९ वें मण्डल से लिये गये हैं। सामवेद के मंत्रों को दो भागों में विभाजित किया गया है, जिन्हें 'अर्चिकायें' कहते हैं। प्रथम अर्चिका में ५८५ ऋक् हैं, जिनमें से प्रत्येक किसी न किसी ध्वनि से सम्बन्ध रखता है। सामवेद का

* F. E. Keay: *Indian Education, Ancient and Later Times*, P. 5. Humphrey Milford Oxford University Press. (1942).

दूसरा भाग जो 'उत्तरार्चिका' कहलाता है अधिकतर तीन-तीन छन्दों का ४०० मंत्रों का संग्रह है। इस प्रकार सम्पूर्ण वेद का उद्देश्य संगीत ज्ञान कराना है। यह संगीत के एक पाठ्य-ग्रन्थ के समान है, जिसमें संगीतों के पूर्ण पाठ दिये हुए हैं।

यजुर्वेद—यद्यपि यज्ञ के समय मंत्र गान करने का कार्य प्रधानतः होतृ को करना होता था, तथापि अध्वर्यु जो कि यज्ञ की क्रिया-विधि से सम्बन्धित था, कुछ मंत्र प्रार्थनायें अथवा आह्वाहन-मंत्र उच्चारण करता था। इन पुरोहितों की शिक्षा के लिये भी एक शिक्षा-सकुल (स्कूल) विकसित होने लगा। इनका विशेष वेद यजुर्वेद हुआ। इस प्रकार यजुर्वेद अध्वर्यु पुरोहितों का प्रार्थना ग्रन्थ है।

यजुर्वेद गद्य मंत्रों का संग्रह है, जिनमें से अधिकतर ऋग्वेद से लिये हुए क्षेपक हैं। यजुर्वेद के 'कृष्ण' और 'शुक्ल' दो भाग हैं। गद्य के अतिरिक्त कृष्ण-यजुर्वेद में कुछ मंत्र पद्य में भी हैं। भारत का प्रारम्भिक गद्य, जो उपनिषदों में जाकर विकसित हुआ, वह अपनी प्रारम्भिक अवस्था में यजुर्वेद में मिलता है। भारतीय प्राचीन साहित्य के लिये यह गद्य की अनुपम देन है। शुक्ल यजुर्वेद में वही मंत्र, प्रार्थनायें तथा विधियाँ हैं जिनका कि पुरोहित-उच्चारण करते थे। यजुर्वेद में भारतीय धार्मिक तथा भौतिक जीवन का झाँकी मिलती है। इसमें बहुत से यज्ञों का विधान है, जैसे पिण्ड यज्ञ, पितृज्ञ, अग्नि होत्र, चातुर्मास्य, राजसूय-यज्ञ, अश्वमेध और अग्नि-चयन इत्यादि। देश की भौतिक उन्नति के लिये भी यजुर्वेद में मंत्र हैं, जैसे—'ब्रह्म वर्चसि जायताम् अस्मिन् राष्ट्रे' इत्यादि।

अथर्व वेद—प्रारम्भ में तीन वेदों का ही प्रचलन था। कुछ समय उपरान्त एक चतुर्थ वेद भी स्वीकार किया गया जिसका नाम अथर्व वेद था। इसमें बहुत कुछ मौलिकता है। पूर्व वेदों की भाँति इसके अधिकतर मंत्र ऋग्वेद से नहीं लिये गये हैं। ६००० पदों में से केवल १२०० ही ऋग्वेद के लिये गये हैं। सम्पूर्ण वेद में ७३१ गान हैं जो कि २० भागों में विभक्त हैं। अथर्व वेद चिकित्सा-शास्त्र का भारत में सर्वप्रथम ग्रन्थ है। इसमें बहुत सी जड़ी बूटियों का भिन्न-भिन्न प्रकार के रोग निवारण के लिये उल्लेख है। ज्वर, पाण्डु, सन्निपात, शोथ, क्लैब्य, क्षय, सर्पदंश, विषफोड़, तथा रक्त-विकार इत्यादि भयंकर रोगों की चिकित्सा जड़ी-बूटियों द्वारा किये जाने का विषय अथर्व वेद में मिलता है। ६वें भाग में ज्योतिष विद्या का भी उल्लेख है। एक भाग में गृहस्थ जीवन के जन्म, विवाह तथा मृत्यु इत्यादि के संस्कारों का भी इसमें कथन है। अथर्व वेद को बहुत से विद्वान् तांत्रिक ग्रन्थ मानते हैं, क्योंकि इसमें उन मंत्रों का समावेश है जिनके द्वारा पुरोहित लोग रोग, शत्रु, हिंसक पशु तथा प्राकृतिक उत्पातों के विरुद्ध उनकें विनाश के लिये आह्वाहन करते थे। कुछ मंत्रों के द्वारा भौतिक

सम्पन्नता तथा सांसारिक विभूतियों के पाने के लिये भी प्रार्थना करते थे। कुछ ऐसे गान भी हैं जो राजाओं तथा राजपरिषदों एवं आर्थिक, राजनैतिक तथा दार्शनिक अवस्थाओं का उल्लेख करते हैं। इस प्रकार अथर्ववेद पूर्णतः भौतिक ग्रन्थ है। सांसारिक ज्ञान-विज्ञानों का इसमें विशद वर्णन है।

ऋग्वेद में शिक्षा

भूमिका—ऋग्वेद में मन्त्रों के प्रारम्भ का युग प्रधानतः रचना युग था, जिसके उपरान्त आलोचना तथा संग्रह का युग आया। प्रथम युग में ऋषियों का प्रादुर्भाव हुआ जो सत्यदृष्टा थे। ऐसा विश्वास किया जाता है कि अपने तप और योग के बल से ये ऋषि भूत, भविष्यत् और वर्तमान को देख सकते थे। इनके उपरान्त दूसरे युग में श्रुतर्षि उत्पन्न हुए। ऋषि लोग अपने मन्त्रों का दान इन श्रुतर्षियों को उपदेशों द्वारा देते थे। 'तपस' आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करने का प्रमुख साधन था। ऋषि और मुनि वनों में तपस्या करके परमानन्द तथा अलौकिक ज्ञान प्राप्त करते थे। ऋग्वेद में गान महर्षियों तथा उनकी तपस्या की उस महान् शक्ति का जो कि निम्न-स्तर से उच्च-स्तर को उठा देने में समर्थ थी, उल्लेख है। ऋत् और सत्य (विचार और वाणी का सत्य) तप के ही फल कहे जाते थे। यहाँ तक कि सम्पूर्ण सृष्टि की रचना ही ब्रह्मा के तप से उत्पन्न मानी गई है।

ऋषियों के तप तथा योग द्वारा महत् ज्ञान के प्राप्त कर लेने तथा उनके छन्दों और मन्त्रों के रूप में संकलित होने के उपरान्त ऐसे साधनों का विकास हुआ जिनके द्वारा यह ज्ञान रक्षित किया जा सके अथवा आगे की सन्तति को हस्तांतरित किया जा सके। अतः प्रत्येक ऋषि अपने पुत्र अथवा शिष्य को यह ज्ञान प्रदान करता था जिसे उसने स्वयं प्राप्त किया था। इस प्रकार यह ज्ञान उस परिवार की वंशगत-निधि समझा जाता था। वैदिक कालीन परिवार-स्कूलों का इसी प्रकार सूत्रपात हुआ। शिक्षक अपने ज्ञान को विद्यार्थियों से कंठाग्र कराता था। अपनी व्यक्तिगत योग्यता के अनुसार प्रत्येक विद्यार्थी ज्ञान प्राप्त करता था। सायण ने तीन प्रकार के विद्यार्थियों का उल्लेख किया है—महाप्रज्ञ, मध्यमप्रज्ञ और अल्पप्रज्ञ। यह वर्गीकरण भिन्न-भिन्न प्रकार के विद्यार्थियों की मानसिक शक्ति के अनुसार था। ये विद्यार्थी गायन के रूप में वेद के छन्दों को रटते थे। इनके एक साथ वेद मन्त्रों के गायन से वायुमण्डल गूँज उठता था। वेद के एक मन्त्र के अनुसार इस गायन की मेंढकों की ध्वनि से भी उपमा दी गई है।

शिक्षा-प्रणाली—प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त्त में पक्षियों के जागने से पूर्व ही विद्यार्थी वेद पाठ प्रारम्भ कर देते थे। मन्त्र गान एक ललित कला के रूप में

विकसित हो गया था। इसमें शब्दों, पदों तथा अक्षरों के शुद्ध उच्चारण पर विशेष ध्यान दिया जाता था। छन्द की रचना पदों से तथा पदों की अक्षरों द्वारा होती थी। वैदिक ज्ञान शिक्षक के द्वारा एक निश्चित व नियमत उच्चारण के साथ शिष्य को प्रदान किया जाता था जिसे शिष्य सुनकर कंठाग्र करता था। गुरु के अधरों से प्राप्त किया हुआ ज्ञान ही शुद्ध वैदिक समझा जाता था, अर्थात् पद्धति मौखिक थी। इससे प्रतीत होता है कि वर्णमाला और लेखन-कला का अभी तक विकास नहीं हुआ था। ऐसा भी कहा गया है कि श्रुति अर्थात् वेद चक्षुओं को नहीं, अपितु कानों को रुचिकर होना चाहिए। महाभारत तो ऐसे व्यक्तियों को नरक जाने का दण्ड देता है जो वेद को लिखने का प्रयास करें।* लेकिन ऐसे साक्ष्य भी मिलते हैं कि ऋग्वेद के समय में भी लेखन-कला का सूत्रपात हो गया था।

वैदिक मन्त्रों में एक दैविक शक्ति का आरोपण माना जाता था। ऐसा विश्वास था कि यदि वेद मन्त्रों का ठीक-ठीक तथा शुद्ध रूप में उच्चारण किया जाय तो उनका आध्यात्मिक व दैविक प्रभाव प्रकट होता है। जो मन्त्र अशुद्ध उच्चारण किया जाता था उसका प्रभाव नष्ट हो जाता था; और ऐसा विश्वास था कि वह अशुद्ध उच्चारण करने वाले का विनाश कर देगा†। किन्तु एक मात्र उच्चारण ही प्रधान नहीं था। बिना समझे हुए वेद मन्त्रों की तोता रटन्त व्यर्थ समझी जाती थी‡। उनके यन्त्रवत् उच्चारण से अधिक महत्त्व दिया जाता था वेद मन्त्रों के चिन्तन और समझने को। "जो व्यक्ति ऋक् और अक्षर में अन्तर्निहित चरम सत्य का अनुभव नहीं करता, जिनमें सम्पूर्ण देवों का निवास है—वह ऋकों के केवल उच्चारण तथा पुनरावृत्ति करने से क्या कर सकता है?" जो वेद के अध्ययन के उपरान्त भी उसका अर्थ नहीं समझता था वह उस गधे के समान माना जाता था जिस पर चन्दन के गट्ठे लदे हुए हैं; जो केवल बोझ का ही अनुभव कर रहा है और उसकी सुगन्धि से लाभान्वित नहीं हो सकता।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में जिस शिक्षा-पद्धति का विकास हुआ, वह महत् ज्ञान के सम्पादन तथा धर्म और ब्रह्म से सम्बन्ध रखती है।

* वेदानां लेखकाश्चैव ते वै निरय गामिनः (महाभारत आ० पर्व १०६/६२)।

† मन्त्रो हीन : स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यमजानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु स्वरोऽपराध् ॥
नानुवाकहता बुद्धिर्व्यवहार क्षमातभवेत्।
अनुवाकहता या तु न सा सर्वत्रगामिनी ॥ शुक्र, ३,२६१।

भौतिक ज्ञान तथा निम्न-कोटि की सांसारिक समस्याओं का हल ऋग्वेद में नहीं मिलता। 'परमब्रह्म ज्ञान' को प्राप्त करना साधारण भौतिक विज्ञानों, कलाओं और हस्त कलाओं के ज्ञान प्राप्त करने के सदृश नहीं था। वेद का उद्देश्य तो केवल चरम सत्य का अनुभव तथा सम्पूर्ण 'परमब्रह्म ज्ञान' को प्राप्त करना ही था। ऋग्वेद में तप इसका साधन बतलाया गया है। सर्व साधारण की भाषा विकसित होकर वैदिक मन्त्रों के रूप में प्रस्फुटित हुई। यह संस्कृत का प्रारम्भिक स्वरूप था। इस प्रकार उसके द्वारा महानतम् और चरम सत्य का अनुभव करने वाले ऋषि, मनीषी और मुनियों ने तप और योग के द्वारा उस ज्ञान को प्राप्त करके वैदिक भाषा में प्रकट किया। प्रायः यज्ञ के अवसर पर ये ऋषि लोग पारस्परिक तर्क-वितर्कों द्वारा वेद-ज्ञान तथा वेद भाषा का विकास करके उसके स्वरूप को स्थिर करते थे। इस प्रकार के संघ के सदस्यों को 'शाखा' शब्द से वर्णित किया गया है।

ऋग्वेद-युग में छोटे-छोटे पारिवारिक विद्यालय थे, जिनका संचालन शिक्षक स्वयं ही करता था। विद्यार्थियों के रहने की व्यवस्था भी गुरुगृह पर ही होती थी। रहन-सहन तथा सदाचार के नियम निश्चित थे। प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्यतः सभी ब्राह्मणों को दी जाती थी। उच्च शिक्षा केवल उन्हीं को दी जाती थी जो इसके योग्य होते थे। जो विद्यार्थी इसके योग्य नहीं होते थे वे कृषि या व्यापार में भेज दिये जाते थे। उनके लिए आध्यात्मिक जीवन वर्जित था।

विशेषतायेँ:—संक्षेप में ऋग्वेद कालीन शिक्षा की निम्नलिखित विशेषताएँ थीं—

(१) गुरु-गृह ही विद्यालय था। उपनयन के उपरान्त विद्यार्थी जीवन-पर्यन्त वहीं रहता था। शिक्षक पिता के रूप में उसका संरक्षक होता था और उसके खान-पान की स्वयं व्यवस्था करता था।

(२) गुरु-गृह में विद्यार्थी का प्रवेश केवल उसके नैतिक बल और सदाचार के आधार पर ही हो सकता था। सदाचार के दृष्टिकोण से जो विद्यार्थी निम्न-स्तर का समझा जाता उसके लिए गुरु-आश्रम में रहना वर्जित था।

(३) ब्रह्मचर्य का जीवन अनिवार्य था। यद्यपि विवाहित युवक भी विद्याध्ययन कर सकता था, तथापि उसको आश्रम में रहने का निषेध था। ब्रह्मचर्य से इन्द्रिय निग्रह, सात्त्विकता तथा ब्रह्म में स्थित रहने का अभिप्राय समझा जाता था।

(४) गुरु-सेवा करना विद्यार्थी का परम कर्त्तव्य माना जाता था। आश्रम में रहते हुए विद्यार्थी हर समय गुरु-सेवा के लिए तत्पर रहता था। प्रायः

उनके गृह-कार्य का भार विद्यार्थी पर ही रहता था। वह मन, वाणी और कर्म से गुरु भक्त होता था तथा गुरु को पिता या ईश्वर समझ कर उनकी उपासना करता था।

(५) ऐसे विद्यार्थी जो गुरु-सेवा करने में असमर्थ थे अथवा किसी अन्य प्रकार से सदाचार के प्रतिकूल अपना आचरण प्रदर्शित करते थे, उनके लिए विद्याध्ययन निषिद्ध था; तथा उन्हें विद्यालयों से निकाल दिया जाता था।

यह बात उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद के समय में वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भ हो चुका था। किन्तु इसके नियम अधिक जटिल नहीं थे। यद्यपि ऋषि व मुनि प्रायः ब्राह्मण ही हुआ करते थे, तथापि सदा ऐसा नहीं होता था। महत्-ज्ञान वर्ण तक ही सीमित नहीं था। यह व्यक्ति की तपस्या और योग-शक्ति पर निर्भर था। अम्बरीष, त्रसदस्यु, सिन्धुद्वीप, मान्धाता तथा सिवि इत्यादि राजा जो कि क्षत्रिय थे, अपनी तपस्या के बल से ही ऋषि हुए। साथ ही स्त्रियों को भी यज्ञ में भाग लेने की स्वतन्त्रता थी। स्त्री सन्तों को 'ऋषिका' और 'ब्रह्मवादिनी' कहकर पुकारा जाता था। रोमसा, लोपमुद्रा, घोषा, अपाला, कद्रु, कामायनी, श्रद्धा, सावित्री, उर्वशी, सारंगा, देवयानी तथा गोपायना इत्यादि स्त्री-ऋषिकाओं के नाम चारों वेदों में मिलते हैं। ऋग्वेद में अनार्यों को भी शिक्षा देने की व्यवस्था है। उन्हें कृष्णगर्भ, अनास, पिशाच, असुर तथा दस्यु इत्यादि नामों से पुकारा गया है। किन्तु शीघ्र ही ये आर्य जाति में मिल गये। आर्यों ने इन्हें 'शूद्र' की संज्ञा दे दी तथा इनकी शिक्षा-व्यवस्था भी स्थिर करदी।

भौतिक शिक्षा—यद्यपि ऋग्वेद कालीन शिक्षा प्रधानतः धार्मिक व दार्शनिक थी और केवल उन्हीं लोगों के लिए थी जो 'चिरन्तन-सत्य' और 'महत् ज्ञान' के प्राप्त करने के योग्य होते थे, तथापि साधारण जनता के लिए सांसारिक व लाभदायक शिक्षा की व्यवस्था भी थी। तत्कालीन आर्थिक, राजनैतिक तथा औद्योगिक विकास को देखने से; तथा देश के सब प्रकार से धन-धान्य से परिपूर्ण होने से प्रतीत होता है कि इन विद्याओं का पर्याप्त प्रचलन था। देश के कृषि, विनिमय और व्यापार उन्नत दशा में थे। अतः प्रतीत होता है कि देश की इस सम्पन्नता का कारण भौतिक-विज्ञान और कलाओं में सर्व-साधारण को शिक्षा का दिया जाना था। आर्थिक लाभों के लिए लोग भिन्न-भिन्न प्रकार की कलाओं में शिक्षा पाते थे। चरागाहों, पशु-पालन व कृषि-विज्ञान ने भी अच्छी उन्नति की। हस्त-कला की शिक्षा भी दी जाती थी। वस्तु-विनिमय, ऋण, साहूकारी तथा ब्याज इत्यादि का भी प्रचलन था। समुद्री व्यापार भी होता

था। प्रस्तर-निर्मित नगर (पुर) का भी ऋग्वेद में उल्लेख है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ऋग्वेद काल में शिक्षा का सांसारिक, सामाजिक व व्यावहारिक रूप भी था।

अन्य वेदों में शिक्षा

प्राचीन काल में भारत में विद्यार्थी-जीवन एक वैज्ञानिक-कला के आधार पर विकसित हुआ। वह एक नियमित, सुचालित तथा स्थिर आधार पर टिका हुआ था जिसमें समय तथा राज्य के परिवर्तन से कोई परिवर्तन नहीं होता था। 'विद्यार्थी' शब्द के लिये अधिक उपयुक्त शब्द 'ब्रह्मचारी' था। 'ब्रह्मचर्य' हिन्दू-धर्म के विशाल भवन की वह आधार-शिला है जिसका निर्माण गुरुओं ने अपने स्थायी करों द्वारा किया है।

अथर्व वेद में ब्रह्मचारी के लिये पूर्ण व्यवस्था मिलती है। उपनयन-संस्कार के सम्पादन पर ही विद्यार्थी-जीवन का सूत्रपात होता है। इस समय विद्यार्थी अपने आचार्य के पास तीन दिन तक निवास करता है और तीन दिन के उपरान्त एक नवीन जीवन धारण करके 'द्विज' के रूप में प्रकट होता है। उसका यह द्वितीय जीवन आध्यात्मिक-जीवन है जिसका जन्मदाता उसका गुरु है। उपनयन के बाद ही वह 'ब्रह्मचारी' कहलाता है, तथा उसके जीवन का रूप बदल जाता है। वेश-भूषा तथा आचरण के दृष्टिकोण से वह अन्य सामाजिक व्यक्तियों से भिन्न होता है। कुश-मेखला, मृगछाला, हाथ में ईंधन (समिधा) लेकर वह दोनों समय अग्नि को अर्पित करता है। आन्तरिक अनुशासन के लिये श्रम, तपस और दीक्षा इत्यादि नियम हैं जो उसके जीवन में कुछ स्थायी गुणों का विकास करते हैं। इस प्रकार प्राचीन भारतीय विद्यार्थी त्याग, तपस्या विनय और सात्त्विकता की प्रतिमूर्ति है। उसे शारीरिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के अनुशासन का पालन करना होता है। शारीरिक अनुशासन के लिये उसे एक नियमित व सात्विक जीवन बिताना होता है, जिसमें कुशा, मृगछाला और दीर्घ बाल इत्यादि वाह्य-उपकरण धारण करके विद्यार्थी भिक्षा के द्वारा अपना जीवन-यापन करता है। इन्द्रिय-निग्रह, तपस्या, गुरु-सेवा तथा त्याग के द्वारा वह आध्यात्मिक अनुशासन प्राप्त करता है और 'आचार्यकुल-वासी' हो जाता है।

प्राचीन काल में ब्रह्मचर्य का पालन स्त्रियाँ भी करती थीं। वे अपने विद्यार्थी-जीवन में ब्रह्मचर्य से रहकर युवकों को विवाह में जीतती थीं और तत्पश्चात् गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करके राष्ट्रनिर्माणक कार्य करती थीं। जैसा कि 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' से प्रतीत होता है।

विद्यार्थी-काल में छुट्टियों की भी व्यवस्था थी। पर्व के अवसर पर, वर्षा-काल में आकाश मेघाच्छन्न होने पर तथा आँधी के समय शिक्षण-कार्य बन्द रहता था।†

उपसंहार—इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक कालीन शिक्षा का उद्देश्य महान् था। व्यक्ति के विकास के लिये पूर्ण सुअवसर दिया जाता था। शिक्षक विद्यार्थियों की व्यक्तिगत देख भाल करते थे अतः विद्यार्थी के व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास होता था। जीवन के तीन ऋण—ऋषि-ऋण, देव-ऋण तथा पितृ-ऋण को क्रमशः ब्रह्मचर्य, यज्ञ और सन्तानोत्पत्ति के द्वारा चुकाये जाने की व्यवस्था का उल्लेख यजुर्वेद में मिलता है। ब्रह्मचर्यावस्था में गुरु-गृह पर रह कर गुरु की सेवा करते हुए विद्यार्थी अपने शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास के लिये प्रयत्नशील रहते थे। वैदिक युग की शिक्षा-पद्धति चरित्र-निर्माण करने, व्यक्तित्व के विकास, ज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं में प्रगति करने तथा सामाजिक समृद्धि व सम्पन्नता प्राप्त करने में पूर्णतः सफल रही। यद्यपि इस युग की साहित्यिक व वैज्ञानिक प्रगति इतनी सौष्ठवपूर्ण और परिपक्व नहीं थी जैसा कि बाद में जाकर उपनिषिद् युग में हो गई, तथापि ज्ञान-क्षेत्र में बढ़ने की अभिलाषा इस युग में पाई जाती है। उन्होंने अनुभव कर लिया था कि केवल वेद-मंत्रों के गा लेने से ही उनके उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो जायगी, अपितु उनका समझना और उनके गूढ़ार्थों की सराहना व व्याख्या करने की क्षमता प्राप्त करना आवश्यक है। जो वेद का अर्थ नहीं समझता था वह शूद्र के समान समझा जाता था।‡ वेद कालीन शिक्षा प्रधानतः आध्यात्मिक व धर्म-प्रधान थी, तथापि जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, भौतिक समृद्धि की इसमें उपेक्षा नहीं की गई है। यजुर्वेद और अथर्व वेद में इसका साक्ष्य उपलब्ध है। इस प्रकार वेद कालीन शिक्षा में आर्य-संस्कृति के भावी विकास का संकेत है।

† कर्णश्रवे ऽनिले रात्रौ दिवा पांशु समूहने,
एनौ स्वनध्यायावध्या यज्ञाः प्रचक्षते।
विद्युत स्तनित वर्षासु महोल्का नाश्च संप्लवे,
आकालिक मनध्याय मेतेषु मनुरब्रवत।
× × ×
एताना कालिकान् विद्यादनध्याया नृतावपि।

‡ योऽधीत्य विधिवद्वेदं वेदार्थं न विचारयेत
स संमूढ़ शूद्रकल्प पात्रतां न प्रपद्यते। [पद्म पुराण आदिखंड ५२, ८६]

अध्याय २

उत्तर वैदिक कालीन शिक्षा

(१००० ई० पू० से २०० ई० पू०)

साधन

वैदिक युग में शिक्षा-क्षेत्र में पुरोहितवाद का प्रभाव बहुत बढ़ गया था और यज्ञ सम्बन्धी ज्ञान का अत्यन्त विस्तार हो गया था। किन्तु ऐसे जिज्ञासु भी थे जो जीवन के ऊपर रहस्यमयी दृष्टि रखते थे और ईश्वर, आत्मा, जीव और सृष्टि इत्यादि गम्भीर तत्वों पर चिन्तन करते थे। जन्म व मरण के सिद्धान्तों का भी विश्लेषण किया जा रहा था। उत्तर-वैदिक युग में यह प्रवृत्ति अधिक वेगवती हो उठी थी। दार्शनिक लोग जंगलों की छाया में शान्त एकान्त में बैठकर आत्मानुभव करते थे। उनके अनुभवों का प्रकटीकरण 'ब्राह्मण' तथा 'अरण्यक' के रूप में हुआ। अरण्यक वाणप्रस्थ ऋषियों के ब्राह्मण-ग्रन्थों के समान थे। इनके उपरान्त उपनिषदों का सृजन हुआ। उपनिषद् भारतीय प्राचीन सभ्यता की महान् निधि हैं। जिस महान् दार्शनिक रहस्य का उद्घाटन उपनिषदों में हुआ वह 'वेदान्त' कहलाया। यह वैदिक ज्ञान का चरम विकास था। आत्मा और ब्रह्म के रहस्य का उपनिषदों में अत्यन्त सूक्ष्मता से विश्लेषण किया गया है। इस प्रकार ब्राह्मण, अरण्यक और उपनिषद् वे प्रमुख साधन हैं जिनसे हमें उत्तर-वैदिककाल की सभ्यता व शिक्षा का ज्ञान होता है। उत्तर-वैदिक शिक्षा का प्रचार शाखा, चरण, परिषद्, कुल और गोत्र इत्यादि संस्थाओं के द्वारा हुआ। ये संस्थायें धार्मिक तथा साहित्यिक-संस्थायें थीं जो कि वैदिक काल में स्कूलों का कार्य कर रही थीं।

प्रसार

इस प्रकार वेद संहिताओं तथा ब्राह्मण, अरण्यक और उपनिषदों का ज्ञान एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होने लगा। यहाँ तक कि वह देश के सम्पूर्ण कोनों में फैल गया। वैदिक पाठशालाओं का देश भर में जाल फैल

गया तथा भिन्न भिन्न वेदों में भिन्न-भिन्न स्कूल विशेषता प्राप्त करने लगे। इन ज्ञान-केन्द्रों में भारतीय प्राचीन जीवन का वास्तविक रूप झलकता है। यहाँ शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य—जीवन का सर्वांगीण चरम विकास—हमें देखने को मिलता है। आधुनिक शिक्षा हमें केवल भौतिक विकास की ओर ले जाती है जिससे मानव जीवन की एकता नष्ट होकर मनुष्य-जाति वर्गों में बँट जाती है, किन्तु वैदिक शिक्षा ने हमें जीवन में साम्य का पाठ पढ़ाया।

यह शिक्षा केवल धर्म-पाठ पढ़ाने के लिए ही नहीं थी, अपितु जीवन के भिन्न-भिन्न रूपों का पदार्थ-पाठ पढ़ाती थी। तत्कालीन शिक्षा केन्द्र ही धर्म, पवित्रता, कला, सभ्यता तथा जीवन के वह केन्द्र थे जहाँ से ऐसी भारतीय सभ्यता विकीर्ण हुई जो शताब्दियों के भयंकर परिवर्तन के झंझावत को सहन करके आज भी अपनी ज्योति से मानव हृदय को प्रकाशित कर रही है। यह वेद-कालीन शिक्षा की विशेषता है। आर्य सभ्यता के ये केन्द्र इस प्रकार एक विकसित मानवता तथा उन्नत-जीवन का पाठ जाति को पढ़ा रहे थे।

शिक्षा-पद्धति और स्वाध्याय

इस समय शिक्षा केवल शिक्षा के लिए नहीं, अपितु शिक्षा जीवन के लिये थी। शिक्षा का उद्देश्य पूर्णब्रह्म या 'ब्रह्मवर्चस' को प्राप्त करना था। यज्ञ तथा अन्य धार्मिक क्रियाओं का उद्देश्य भी पूर्णब्रह्म की प्राप्ति था, किन्तु धर्म ग्रन्थों के अध्ययन पर भी अधिक जोर दिया गया। यह अध्ययन 'स्वाध्याय' कहलाता था। स्वाध्याय को ब्रह्म के लिये किये गये उस त्याग के समान माना जाता था जिसके सम्पादन से एक अखंड जगत की प्राप्ति होती है। आरण्यकों में स्वाध्याय का बड़ा महत्त्व माना गया है। ऐसा विश्वास किया जाता था कि स्वाध्याय के द्वारा ही मनुष्य ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करके ब्रह्म में लीन हो सकता है। यह स्वाध्याय प्रत्येक स्थान पर सम्भव नहीं था। इसके लिये प्रायः जन-कोलाहल-शून्य किसी प्राकृतिक रमणीक स्थान में बैठकर एकाग्र मन होकर ब्रह्मचारी लोग वेद, वेदाङ्ग, अरण्यक, ब्राह्मण, इतिहास पुराण तथा उपनिषदों का अध्ययन करते थे। वेदकालीन शिक्षा की भाँति इस युग में भी विद्यार्थी वर्षा के बादलों के समय, तूफान या आँधी में वृक्ष-छाया तले तथा पशुओं के मध्य में पढ़ने से अवकाश पाते थे।

गुरु का महत्त्व

यद्यपि स्वाध्याय या आत्म-अध्ययन का विशेष प्रचलन था, तथापि विद्यार्थी के लिये शिक्षक की आवश्यकता भी प्रतीत होती थी। कठोपनिषद् में शिक्षक

का अस्तित्व अनिवार्य बतलाया गया है। गुरु का पूर्ण ज्ञानी, सर्वदृष्टा तथा ब्रह्म में निवास करने वाला होना आवश्यक था। गुरु विद्यार्थी को अन्तर्ज्ञान प्रदान करता तथा आध्यात्मिक जीवन देता था। गुरु समाज का पथ-प्रदर्शक, नेता तथा निर्माणक माना जाता था। उस के द्वारा विद्या-दान केवल पुत्र या शिष्य को ही दिया जा सकता था। उपनयन-संस्कार के उपरान्त शिष्य गुरु के पुत्र के समान माना जाता था और उनका आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता था। गुरु केवल उसी शिष्य को दीक्षा देते थे जो कि अपनी व्यक्तिगत योग्यताओं तथा सेवाओं द्वारा पात्रता प्राप्त कर लेता था। उपनिषदों में असंख्य ऐसे उदाहरण हैं जहाँ शिष्यों के द्वारा गुरु के समक्ष ईंधन हाथ में लेकर उपस्थित होने का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त अनियमित शिक्षक भी थे जो बिना दीक्षा संस्कार सम्पादित किये हुए साधारणतया ज्ञान प्रदान करते थे। याज्ञवल्क्य ने अपनी स्त्री मैत्रेयी तथा गार्गी को इसी प्रकार ज्ञान उपदेश किया था। इतना ही नहीं वरन् पिता के द्वारा पुत्रों को दीक्षित तथा शिक्षित करने के भी उदाहरण हैं। श्वेतकेतु ने अपने पिता से उच्च ज्ञान प्राप्त किया था। भृगु ने अपने पिता वरुण से शिक्षा पाई थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा पद्धति में स्वाध्याय का महत्त्व होते हुए भी गुरु की आवश्यकता थी।

प्रवेश

वस्तुतः उपनयन-संस्कार के उपरान्त ही बालक ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करता था और वह प्रायः २५ वर्ष (अविवाहित रहने तक) की अवस्था तक 'ब्रह्मचारी' कहलाता था। उपनयन विद्यार्थी का द्वितीय जन्म माना जाता था। यहाँ से गुरु के द्वारा दीक्षित होने पर उसका अध्यात्मिक-जीवन आरम्भ होता था। वंश, व्यक्तिगत योग्यता तथा सेवा-भाव इत्यादि गुणों को देख कर ही गुरु बालकों को दीक्षित करते थे। यह विद्यार्थी-जीवन प्रायः १२ वर्ष तक माना जाता था। श्वेतकेतु तथा उपकौशल और कमलायन् प्रभृति व्यक्ति बारह वर्ष तक गुरु-गृह में रहे थे। विद्यारम्भ भी प्रायः १२ वर्ष की अवस्था से ही होता था। बहुत से विद्यार्थी अध्ययन की अवधि १२ वर्ष से अधिक भी रखते थे, यहाँ तक कि ऐसे उदाहरण भी हैं कि विद्यार्थियों ने १०१ वर्ष तक नियमित अध्ययन किया।* किन्तु यह महान्-ज्ञान या उच्चतम शिक्षा के लिये ही था।

*छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णन है कि इन्द्र १०१ वर्ष तक प्रजापति के यहाँ शिष्य के रूप में पूर्णज्ञान प्राप्त करने के लिये रहा था।

विद्यार्थी के कर्त्तव्य

प्रथमतः विद्यार्थी 'आचार्य कुल वासिन' होता था, दूसरे, उसे अपने पालन-पोषण तथा गुरु के लिए भिक्षान्न माँग कर लाना होता था। इस प्रथा का पालन निर्धन, धनवान, राजकुमार तथा कृषक सभी विद्यार्थियों को करना पड़ता था। इससे उसके अन्दर विनय का प्रादुर्भाव होता था और वह समाज के द्वारा किये गये उपकार तथा उसके प्रति किये जाने वाले अपने कर्त्तव्य का एक पदार्थ-पाठ पढ़ता था। विनय का यह अद्वितीय उदाहरण कदाचित् विश्व इतिहास में अन्यत्र दुर्लभ है।

ब्रह्मचारी का तीसरा कर्त्तव्य माना जाता था गुरु गृह की पवित्र अग्नि को सदा प्रज्ज्वलित रखना। ब्रह्मचारी वनों से समिधायें लाकर उस अग्नि को जागृत रखते थे। इस पवित्र ज्योति का आध्यात्मिक अर्थ था मस्तिष्क और आत्मा को प्रकाशित करना।

गुरु की गाय इत्यादि पशुओं को जंगल में ले जाकर चराना विद्यार्थी का चौथा कर्त्तव्य था। इस तरह विद्यार्थी के समय का एक दीर्घ अंश गुरु-सेवा में ही व्यतीत होता था। ये सेवायें प्रायः निर्धन विद्यार्थी ही करते थे। धनसम्पन्न-बालक गुरुओं को दक्षिणा देते थे।

इन वाह्य गुरु-सेवाओं के अतिरिक्त विद्यार्थी का प्रमुख कर्त्तव्य विद्याध्ययन था। प्रारम्भ में वेद-पाठन से अध्ययन आरम्भ किया जाता था, अर्थात् अक्षर शब्द, उच्चारण, छन्द तथा प्रारम्भिक व्याकरण का ज्ञान पहले कराया जाता था। इसमें व्याकरण तथा शुद्ध उच्चारण का विशेष महत्व था, क्योंकि इनकी शुद्धता पर ही वेदों की भावी शुद्धता निर्भर थी।

इस प्रकार वाह्य प्रतिबन्ध विद्यार्थी में एक आन्तरिक संस्कार उत्पन्न करते थे। इन्द्रियों, इच्छाओं, यशलिप्सा, निद्रा, क्रोध, गन्ध और शारीरिक सौन्दर्य इत्यादि पर उसे विजय प्राप्त करनी होती थी। विद्यार्थी को विद्या-प्राप्ति से पूर्व प्रमाणित करना होता था कि वह शांत, संयमी, धीरवान् तथा एकाग्रचित्त है।* संक्षेप में सादा जीवन उच्च विचार ही उसका आदर्श था।

---

* "सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्।
नान्योद्योगवता न चाप्रवसता नात्मानमुत्कर्षता ॥
नालस्योपहतेन नामयवता नाचार्यविद्वेषिणा।
लज्जाशीलविनम्र सुन्दरमुखी सीमन्तिनी नेच्छता।
लोके ख्यातिकरः सतामभिमतो विद्यागुणः प्राप्यते ॥"

—सुभाषित

यहाँ यह स्मरणीय है कि विद्यार्थी उच्च ज्ञान प्राप्त करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। विद्यार्थी-जीवन की कठोरता उन्हें ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के योग्य बनाती थी। इसमें उन्हें जीवन के एक थोड़े से अंश को ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण जीवन का बलिदान करना होता था। श्वेतकेतु १२ वर्ष तक विद्याध्ययन करने के उपरान्त भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने में असफल रहा और इसके लिए उसे बाद में अधिक समय देना पड़ा। यहाँ तक कि बहुत से व्यक्ति तो आजीवन ब्रह्मचारी रह कर ज्ञान उपार्जन करते थे। वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाते थे।

विद्या-काल की समाप्ति पर गुरुजन विद्यार्थियों को दीक्षान्त भाषण देते थे जिसमें उनके भावी व्यावहारिक जीवन के कर्त्तव्यों का उन्हें स्मरण दिला कर संसार में भेजा जाता था। इस प्रथा को 'समावर्तन' संस्कार कहते हैं। इन कर्त्तव्यों में प्रधानतः सत्य बोलना, कर्त्तव्य-पालन, वेद अध्ययन, स्वास्थ्यरक्षा, यज्ञ, माता-पिता तथा गुरु की सेवा, दान तथा इसी प्रकार के उत्तम कर्मों करने के लिए आदेश थे। प्राचीन काल के भारत के इन गुरुओं के ये अन्तिम उपदेश आधुनिक विश्व-विद्यालयों के दीक्षान्त भाषणों‡ के समान थे। अन्तर केवल इतना प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में अन्तिम उपदेश की आत्मा—उसके धार्मिक तथा नैतिक रूप—पर अधिक जोर दिया जाता था, जब कि आजकल वाह्याडम्बर तथा शुष्क प्रथा पालन पर।

शिक्षक के कर्त्तव्य

प्राचीन भारत की सम्पूर्ण सभ्यता का प्रकाश तत्कालीन शिक्षकों ही की आध्यात्मिक तथा नैतिक ज्योति-छाया थी। शिक्षक के अन्दर उत्तम आध्यात्मिक व चरित्र सम्बन्धी गुणों का होना अनिवार्य था। गुरु ब्रह्मनिष्ठ तथा सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान का ज्ञाता होता था। अपने आन्तरिक प्रकाश से ही वह अपने शिष्यों की अन्तर्ज्योति को जाग्रत करता था।

† सत्यंवद । धर्मंचर । स्वाध्यान्मा प्रमदः ।
आचार्याय प्रिय धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः ।
सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम्
कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम्
स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्
....
एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ।

‡ Convocation Address.

प्राचीन काल में ऐसे ही व्यक्ति को गुरु पद के योग्य समझा जाता था जो कि स्वयं अपने विद्यार्थी जीवन में आदर्श विद्यार्थी रहा हो। जो व्यक्ति समाज व जाति का पथ-प्रदर्शन कर सकें अथवा जो पूर्ण विद्वान् हों, उन्हें ही शिक्षक पद मिलता था। योग्य शिष्य के पहुँचने पर उसे उत्तम शिक्षा देना प्रत्येक गुरु का कर्त्तव्य था। गुरु जो कुछ जानता था, बिना भेद-भाव व दुराव के सभी कुछ शिष्य को सिखाता था; यद्यपि ऐसे भी उदाहरण हैं कि कुछ गुप्त विद्याओं का दान विशेष शिष्य को ही दिया जाता था। साधारण शिष्य इसके योग्य नहीं समझा जाता था। किसी विशेष विषय में अपने आपको योग्य व समर्थ न पाने पर गुरु इस बात को शिष्य पर प्रकट कर देना अपना पवित्र कर्त्तव्य समझता था।

इस प्रकार गुरुओं द्वारा शिष्यों में ज्ञान हस्तान्तरित करने की एक गुरु-परम्परा पड़ गई थी। गुरुओं की भी यही इच्छा रहती थी कि उनके सिद्धान्त, ज्ञान व अनुभव उनके उपरान्त भी जीवित रहकर लोक-कल्याण करें। गुरु का जीवन एक आदर्श होता था; शिष्य उसका अनुकरण करते थे। 'अन्धकार से प्रकाश में लाना' गुरु का कर्त्तव्य था। गुरु ही विद्यार्थी का आध्यात्मिक व मानसिक पिता होता था। किसी विद्यार्थी के नैतिक पतन अथवा दोषों का पूर्ण-उत्तरदायित्व शिक्षक पर ही था। प्रत्येक विद्यार्थी की व्यक्तिगत देख-भाल, निर्धन विद्यार्थी की आर्थिक सहायता, अस्वस्थ होने पर विद्यार्थी की सुश्रूषा तथा अन्य आवश्यकताओं के समय पर गुरु को उसी प्रकार अपने कर्त्तव्य का पालन करना होता था जैसे एक पिता अपने पुत्र के लिए करता है।

शिक्षा-प्रणाली

वेद कालीन शिक्षा में शिष्य को ज्ञान सीधा प्रदान किया जाता था। इस प्रणाली में 'शिक्षक' प्रमुख था। किन्तु उत्तर वैदिक-काल की शिक्षा-प्रणाली में 'शिष्य' प्रमुख था। गुरु और शिष्य में प्रश्न और उत्तर होते थे। गुरु शिष्यों के समक्ष समस्यायें रखते थे अथवा शिष्य भी प्रश्न पूछ कर गुरुओं से उत्तर पाकर शंका समाधान या ज्ञानवर्धन करते थे। इसी प्रकार समस्याओं के हल और प्रश्नों के उत्तर द्वारा विद्यार्थी को ज्ञान दिया जाता था। उपनिषदों की प्रधान प्रणाली तो वाद-विवाद की ही है। गूढ़ व जटिल प्रश्नों के द्वारा रहस्यमय विषयों को सुलझाया जाता था। अधिकतर शिक्षा वाणी द्वारा ही दी जाती थी, यद्यपि लेखन कला का भी प्रचार बढ़ रहा था। प्रश्न-उत्तर, कथा, अन्योक्ति एवं सूक्ति इत्यादि प्रमुख शिक्षा-प्रणालियों का प्रयोग होता था। तर्क-शास्त्र का

विकास उपनिषद् काल में खूब हुआ। आगे चलकर न्याय-शास्त्र के विकास में इससे पर्याप्त सहायता मिली।

गुरु व शिष्य के वाद-विवाद में शिष्य केवल निष्क्रिय श्रोता ही नहीं रहता था, अपितु उसे हर क्षण जागरूक व क्रियाशील रहना पड़ता था। उसे मनन और चिन्तन करके प्रश्नों के उत्तर सोचने पड़ते थे। इस प्रकार उसकी मानसिक व कल्पना शक्ति को श्रम और शिक्षण मिलता था। किसी गूढ़ विषय का सूत्रपात करके गुरु शिष्य को आगे ले जाकर छोड़ देता था। उसके आगे शिष्य स्वतः अपने स्वाध्याय, मनन और चिन्तन द्वारा अभीष्ट पर पहुँचता था। तैत्रीय-उपनिषद् में वरुण के द्वारा अपने पुत्र भृगु के पढ़ाये जाने की कथा है जहाँ पर वरुण उसे चार बार संकेत रूप में प्रारम्भिक सहायता देकर आगे बढ़ने के लिए छोड़ देता है। अन्त में पाँचवीं बार जाकर भृगु को स्वयं पूर्ण ब्रह्म का आभास हो जाता है। श्वेतकेतु ने भी इसी प्रकार अपने पिता से मन तथा इसके गुणों एवं मनोवैज्ञानिक तथा भौतिक परिस्थितियों के मन पर प्रभाव इत्यादि के विषय में व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया था। इस प्रकार शिक्षा में प्रमुख भाग विद्यार्थी का ही होता था। शिक्षक केवल उसका पथ-प्रदर्शन करता था।

वृहदारण्यक उपनिषद् में तीन प्रमुख पद्धतियों का उल्लेख है, जैसे—(१) श्रवण, (२) मनन और (३) निदिध्यासन। श्रवण को ६ भागों में बाँटा गया था—(१) उपक्रम, जो वेद पढ़ने से पूर्व किया जाता था; (२) अभ्यास; (३) अपूर्वता—अर्थ का तत्काल समझ लेना; (४) फल; (५) अर्थवाद तथा (६) उपपत्ति, परिणाम व सार का ज्ञान। इसी प्रकार मनन के द्वारा ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त किया जाता था। इसके अतिरिक्त योग व तपस्या से भी परम ज्ञान प्राप्त किया जाता था।

शिक्षा-संस्थाओं के रूप

गुरु-गृह, परिषद् एवं सम्मेलन, इन तीन प्रकार की शिक्षा-संस्थाओं का उस समय प्रचलन था।

(१) गुरु-गृह—गुरु-गृह अथवा गुरुकुल में विद्यार्थी को रखने का मूल कारण यह था कि योग्य व चरित्रवान् गुरुओं के साक्षात् सम्पर्क में रहकर विद्यार्थी अपने चरित्र और जीवन को उसी के अनुरूप ढालने का सुअवसर पाता था। बालक के लिए शिक्षक प्रायः आदर्श होता है। यदि उसे अधिक से अधिक समय के लिए शिक्षक के निकटतम सम्पर्क में रखा जाता है तो उसमें क्रमशः उन सभी गुणों के समावेश की सम्भावना बढ़ जाती है जिनसे स्वयं शिक्षक का

जीवन प्रेरित होता है। इन गुरु-गृहों पर विद्यार्थी को गुरु के प्रत्यक्ष सम्पर्क के साथ ही साथ पारिवारिक जीवन का भी अनुभव होता था, क्योंकि अधिकांश में ये शिक्षक गृहस्थ होते थे। यही कारण है कि गुरु-गृह पर ही शिक्षा प्राप्त करने की प्रथा साधारणतः उस समय प्रचलित थी। बालक प्रारम्भिक अवस्था में अपने माता-पिता को छोड़कर अपने आध्यात्मिक पिता के घर जाता था। वहाँ उपनयन-संस्कार के उपरान्त उसको ब्रह्मचर्यआश्रम में प्रवेश कर लिया जाता था। गुरु-गृह में गुरु की सेवा करते हुए, जैसे पशु चराना तथा यज्ञाग्नि प्रज्ज्वलित रखना इत्यादि कार्य करते हुए वह लगभग १२ वर्ष तक विद्यालाभ करता था। तदुपरान्त वह पूर्ण विद्वान् होकर वहाँ से विदा होता था।

(२) परिषद्—यहाँ उच्च शिक्षा के विद्यार्थी इकट्ठे होकर तर्क-वितर्क तथा भाषणों द्वारा अपनी ज्ञान-क्षुधा को मिटाते थे। जो विद्यार्थी अपना शिक्षण प्रारम्भिक अवस्था में ही समाप्त नहीं कर देते थे तथा सत्य और ज्ञान की खोज में रहते थे, वह इन परिषदों के द्वारा ज्ञानार्जन करते थे। पारस्परिक वाद-विवाद के अतिरिक्त विद्यार्थी योग्य विद्वानों व महान् शिक्षकों को भी इन वार्ताओं में निमन्त्रित करते थे तथा स्वयं देश-भ्रमण भी करते थे। ब्राह्मण, अरण्यक तथा उपनिषदों में इस सम्बन्ध के अनेक उदाहरण मिलते हैं। उपनिषदों की रचना तो प्रायः ऐसे ही तर्कों तथा वाद-विवादों के परिणामस्वरूप हुई। इनमें उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों के द्वारा सत्य तथा आत्मा के अनुसंधान का वर्णन है।

(३) सम्मेलन—स्थानीय परिषदों के अतिरिक्त कभी-कभी बड़े-बड़े राजा अपने यहाँ सम्पूर्ण देश के विद्वानों, ऋषियों तथा आध्यात्मिक व मानसिक नेताओं को आमन्त्रित करते थे। योग्य या सर्वोत्तम विद्वानों, वक्ताओं, दार्शनिकों और ज्ञानियों को विशेष पुरस्कार भी दिये जाते थे।† ब्राह्मण ऋषियों के साथ प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए उनकी विदुषी स्त्रियाँ भी जाती थीं और शास्त्रार्थ करती थीं।

उपर्युक्त प्रकार की शिक्षा-संस्थाओं के अतिरिक्त राजाओं के दरबार भी शिक्षा-संस्थाओं का कार्य करते थे, जहाँ समय-समय पर उद्भट विद्वानों के समूह

† 'शतपथ ब्राह्मण' में विदेहजनक के द्वारा कुरु-पाँचाल देश के सम्पूर्ण ब्राह्मणों के निमन्त्रित करने की कथा है, जिसमें राजा ने योग्यतम् विद्वान् के लिए एक हजार गायें, जिनके सींग स्वर्ण से मढ़े थे, पारितोषिक के रूप में देने की प्रतिज्ञा की थी। इस पारितोषिक को याज्ञवल्क्य ने प्राप्त किया था।

देश देशान्तरों से आकर रहस्यमय विषयों पर भाषण करते थे। कुछ शिक्षा-संस्थायें जंगलों में भी थीं, जहाँ निर्जन स्थान में प्रकृति की रमणीय व नीरव गोद में ऋषियों के आश्रम बने थे। विद्यार्थी इन आश्रमों में एकत्रित होकर वेद-पाठ करते थे। उत्तर वैदिक काल के अरण्यक ग्रन्थों का सूत्रपात यहीं से है जैसा कि 'अरण्यक' शब्द से प्रतीत होता है। ये वनों में गाये हुए ज्ञान संगीत हैं। वास्तव में आर्य सभ्यता का उद्गम इन्हीं वनों में मिलता है। यहीं पर प्राचीन भारतीय सभ्यता का सृजन हुआ था। किन्तु यहाँ यह बात कहना भी समीचीन होगा कि सभी विद्या-केन्द्र वनों में नहीं थे। निस्संदेह ऋषि लोग वनों के निर्जन एकान्त में तपस्या करना अधिक श्रेयष्कर समझते थे, जहाँ पर उनकी साधना के लिए अनुकूल वातावरण होता था; तथापि उत्तर-वैदिक काल में हम ऐसे गृहस्थ शिक्षकों को भी शिक्षण-कार्य करते हुए पाते हैं जो ग्रामों या नगरों में रहकर अपने घरों पर ही शिक्षा देते थे। यही स्थान गुरुकुलों के रूप में विकसित हो जाते थे, जिनका कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। आगे चलकर तो हम देखते हैं कि प्रमुख नगरों में ही शिक्षा-केन्द्रों की स्थापना हुई।

सूत्र-साहित्य का युग

पाठ्यक्रम

वैदिक साहित्य के उपरान्त सूत्र-साहित्य का युग आता है। इस समय तक ब्राह्मणीय शिक्षा पूर्णतः सुसंगठित हो चुकी थी। सूत्र-साहित्य का युग ६०० ई० पू० से २०० ई० पू० है। इस समय तक वेदों तथा उपनिषदों का बहुत विस्तार हो गया था। अतएव यह आवश्यक हो गया था कि किसी ऐसे साधन का आविष्कार किया जाय जिससे उस वृहत् ज्ञानराशि को संक्षिप्त रूप दिया जा सके। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सूत्रों की रचना हुई। इन सूत्रों के द्वारा महान् सिद्धान्तों और सत्यों को थोड़े शब्दों में संकेत रूप में कह दिया जाता था। बिना व्याख्या और विश्लेषण के सूत्रों को समझना कठिन था। प्रायः इनके अर्थ गूढ़ हुआ करते थे। सूत्रों की रचना करते समय एक शब्द की मित-व्ययता करने में सूत्रकार उसी सुख का अनुभव करते थे जो कि एक पुत्र की उत्पत्ति के समय होता था।

इस युग में शिक्षा के नियमों का उल्लेख धर्म-सूत्रों के रूप में हुआ। इन धर्म-सूत्रों में सामाजिक जीवन के नियम तथा विद्यार्थियों और शिक्षकों के कर्त्तव्यों का वर्णन है। सूत्रकारों में मौलिकता नहीं थी, उन्होंने तो पूर्वस्थित वैदिक साहित्य का गहन अध्ययन करने के पश्चात् स्वरचित साहित्य को जन-साधारण

की पहुँच के अन्तर्गत लाने का प्रयास किया था। अतः सूत्र-साहित्य में साहित्यिक-काव्य और कल्पना का अभाव है। उसमें तो केवल संक्षिप्तता और शब्द-लाघव का ध्यान रखा गया था। इस प्रकार इन सूत्रों में 'गागर में सागर' भरने का कार्य सूत्रकारों ने किया। बौद्ध-धर्म के प्रादुर्भाव ने भी ब्राह्मणों को विवश कर दिया कि वे अपने धर्म की सुरक्षा करें तथा जन-साधारण तक अपने धर्म-सिद्धान्तों को पहुँचाने और उसे सरल एवं सर्वप्रिय बनाने के लिए ऐसे उपाय का आविष्कार करें जिससे उनके धर्म-सिद्धान्त अमर होकर घर-घर तक पहुँच सकें। इस प्रयत्न का परिणाम हुआ सूत्र-साहित्य की रचना।

सर्व प्रथम 'श्रौत सूत्र' की रचना हुई। इनमें ब्राह्मणों की धार्मिक क्रियाओं का उल्लेख है। दूसरे प्रकार के सूत्र 'गृह्य सूत्र' कहलाते हैं जिनमें गृहस्थ-जीवन जैसे जन्म, विवाह तथा मरण इत्यादि रीति-अनुरीतियों का वर्णन है। इन्हें 'स्मृति' भी कहते हैं। तीसरी शाखा का नाम 'धर्म-सूत्र' है जिसमें दिन-प्रति-दिन के सामाजिक जीवन के नियमों का वर्णन है। सूत्र-साहित्य का अन्तिम रूप 'सुल्वसूत्र' है जो धार्मिक कर्मकाण्ड से सम्बन्धित है। सुल्वसूत्रों में वेदी बनाने के नियम, उनकी नाप और आकृति इत्यादि के विषय में बताया गया है। वस्तुतः भारत में ज्यामिति और भारतीय बीजगणित का बीजारोपण भी यहीं से होता है।

सूत्र-युग में अध्ययन के प्रमुख विषय वेदाङ्ग थे। वेदों के समझने के लिये शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, कल्प तथा ज्योतिष का पूर्व ज्ञान आवश्यक था। यही 'वेदाङ्ग' कहलाते थे। इस युग की विशेषता है विद्यार्थियों का भिन्न-भिन्न विज्ञानों में विशेष योग्यता प्राप्त करना। वास्तव में यह युग प्राचीन भारतीय शिक्षा का अत्यन्त महत्वपूर्ण व रचनात्मक युग है। रेखागणित, बीजगणित, ज्योतिष, नक्षत्र-शास्त्र, शरीर-शास्त्र, व्याकरण तथा भाषा का विकास इस युग में पर्याप्त रूप से हुआ। यज्ञ के लिये उपयुक्त ऋतु तथा काल का निरीक्षण करने में ज्योतिष-शास्त्र का विकास; तथा बलि के लिये पशुओं के शरीर को चीर कर विश्लेषण करने से शरीर-शास्त्र तथा शल्य-चिकित्सा का विकास हुआ। पाणिनि का विश्व-विख्यात व्याकरण इसी युग की रचना है। वस्तुतः पाणिनि से ही सूत्र-युग का सूत्रपात हुआ। कात्यायन व पातञ्जलि इसी युग के साहित्यकार हैं।

पातञ्जलि का भाष्य प्राचीन भारत की एक अमर रचना है। इसके अतिरिक्त कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' जिसे सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के महामन्त्री चाणक्य या कौटिल्य की रचना माना जाता है और जो कि तत्कालीन सामाजिक,

राजनैतिक और शिक्षा-सम्बन्धी नीतियों का उल्लेख करता है, इसी युग की देन है। कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ को चार भागों में विभाजित किया था:—(१) अन्विक्षकी (२) त्रयी (३) वार्ता और (४) दण्ड-नीति। यह तीन प्रकार की दार्शनिक विचार-धाराओं का उल्लेख करता है; जैसे सांख्य, योग और लोकायत। त्रयी के अन्तर्गत ऋक्, साम और यजुः तीन वेदों का उल्लेख है। विद्यार्थी के लिये चाणक्य ने एक सुसंगठित व्यवस्था की कल्पना की है। प्रथम तीन वर्णों के लिये शिक्षा अनिवार्य थी। विद्यार्थियों के लिये वेद-पाठ, अग्नि-पूजा, भिक्षा, तथा गुरु-सेवा की व्यवस्था थी। इसी प्रकार राजा के कर्त्तव्य, भिन्न-भिन्न वर्णों केकर्त्तव्य तथा प्रजा के कर्त्तव्य इत्यादि का वर्णन भी हमें कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में मिलता है।

न्याय-शास्त्र व मीमांसा का विकास भी इसी युग में हुआ। जीवन को भली-भाँति सुचालित करने के लिये स्मृतियों की रचना हुई। मनुस्मृति आज भी असंख्य भारतवासियों के लिये अन्तिम शब्द प्रदान करती है। धर्म इस काल में भी साहित्य का गठन और सृजन कर रहा था, यद्यपि लोगों की विचार-धारा स्वच्छन्द हो चुकी थी। आध्यात्मिक जीवन के समानान्तर ही मानसिक जीवन चल रहा था। नृत्य-कला, अभिनय, संगीत, अर्थशास्त्र तथा अन्य सांसारिक विज्ञानों का भी विकास हो रहा था, जिनका अध्ययन प्रधानतः स्त्रियाँ और शूद्र करते थे। यह ज्ञान 'उपवेद' कहलाते थे। इन 'उपवेदों' के द्वारा सभी ज्ञान-शाखाओं का सम्बन्ध वेदों से जोड़ दिया था।

शिक्षा-पद्धति

सूत्र-युग में शिक्षा-पद्धति प्रधानतः वही थी जो कि उपनिषद्-युग में प्रचलित थी। सूत्र-साहित्य किसी नवीन विचार-धारा को जन्म तो देता ही नहीं था। इसमें तो पुरातन धर्म के सर्वमान्य सिद्धान्तों को छोटे छोटे, ठोस को संक्षिप्त सूत्रों में पिरो दिया गया था। इस प्रकार अलिखित कानूनों, सामाजिक तथा धार्मिक रीति-रिवाजों एवं पूर्वस्थित परम्पराओं को सुव्यवस्थित तथा संकलित कर दिया गया था। यही नया साहित्य विद्यार्थियों के अध्ययन का विषय बन गया। विद्यारम्भ के समय विद्यार्थियों से कुछ प्रचलित रीति-रिवाजों का पालन कराया जाता था, जैसे सावित्री पाठ इत्यादि। विद्यारम्भ के उपरान्त चूड़ाकर्म और फिर उपनयन-संस्कार का पालन होता था। उपनयन-संस्कार सम्पूर्ण आर्य-जाति के लिये अनिवार्य कर दिया गया। इससे शिक्षा-प्रसार में पर्याप्त सहायता मिली। उच्च विद्या के लिये नियमित विद्यालयों की स्थापना होने लगी। ब्रह्मचर्य का अनुशासन अभी अत्यन्त जटिल था, किन्तु कालान्तर में

बालिकाओं की विवाह की अवस्था घट जाने से स्त्री-शिक्षा को बहुत आघात लगा। अधिकतर स्त्रियाँ अपने घरों पर ही शिक्षा प्राप्त करती थीं। उनके पिता या भ्राता उन्हें शिक्षा देते थे। व्यवसाय जातिगत और वंशगत होने लगे थे, तथापि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता भी रुचि-अनुकूल पेशा ग्रहण करने के लिये प्रचलित थी। हस्त-कला, चिकित्सा, शिल्प-कला, वास्तुकला इत्यादि सांसारिक उपयोगी विद्याओं का प्रचार बढ़ गया था। इस प्रकार सम्पूर्ण शिक्षा-पद्धति का उद्देश्य चरित्र-निर्माण, व्यक्तित्व का विकास तथा प्राचीन संस्कृति की सुरक्षा करना था।

दर्शन-शास्त्र का चरम विकास सूत्रकालीन साहित्य की विशेषता है। दर्शन-सिद्धान्तों का अस्तित्व भारत में वेद कालीन युग से ही चला आ रहा था। उपनिषद्-काल इसका मध्याह्न था। किन्तु सूत्रकाल में यह ज्ञान अपनी उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँच गया। इस युग में दर्शन की छः शाखायें विकसित हुईं: (१) कपिल का सांख्य (२) पातञ्जलि का योग, (३) गौतम का न्याय, (४) कणाद का वैशेषिक, (५) जैमिनि का कर्म या पूर्वमीमांसा और (६) बादरायण का उत्तरमीमांसा या वेदान्त। इतना अवश्य है कि इन छः पद्धतियों के रचियता यही ऋषि नहीं थे बल्कि इनका अस्तित्त्व तो पहिले ही से था। इन ऋषियों ने तो केवल इन भिन्न-भिन्न पद्धतियों का विश्लेषण करके इन्हें अन्तिम रूप प्रदान किया। अधिकारी विद्यार्थियों को ही दर्शन-शास्त्र के अध्ययन की आज्ञा थी अन्यथा सर्वसाधारण तो सांसारिक विद्याओं का ही अध्ययन करते थे। "जिस व्यक्ति की वासनाओं का पूर्ण शमन नहीं हो गया था वह सच्चे दर्शन-शास्त्र के अध्ययन के लिये नहीं समझा जाता था।"*

इस प्रकार दर्शन-शास्त्र का अध्ययन अपने स्वयं के अन्दर पूर्ण था। इसने अनुशासन या विनय और उच्च ज्ञान की समस्या को सुलझा दिया। भारतीय दर्शन मानवता के लिये, इस देश की एक अनुपम देन है। यह वह व्यावहारिक व बोधगम्य विचार-धारा थी जिसने भारत की संस्कृति को युग-युगों के भयंकर परिवर्त्तनों में भी जीवित रखा।

महाकाव्यों में शिक्षा

पाठ्यक्रम व विधि

रामायण और महाभारत प्राचीन भारत के प्रमुख महाकाव्य हैं। ये काव्य प्रधानतः उस युग के सैनिकवाद की झलक हैं, तथापि इनमें ऐसे साक्ष्य हैं

*मैक्समूलर—लैक्चर ऑन वेदान्त फ़िलॉसॉफ़ी

जिनके द्वारा हमें उस युग की शिक्षा का हाल भी विदित होता है। उदाहरण के लिये वर्ण और आश्रमों के सिद्धान्तों का उल्लेख, आदर्श विद्यार्थियों तथा मठों की परिभाषा, तत्कालीन विद्या-केन्द्रों का वर्णन तथा राजकुमारों और क्षत्रिय बालकों की सैनिक शिक्षा का वर्णन हमें इन महाकाव्यों में मिलता है।

ब्राह्मणों की शिक्षा के लिये धर्मसूत्र के अनुसार कुछ नियम थे। उन्हें कुछ विशेष योग्यताओं को प्राप्त करना तथा कुछ शर्तों का पालन करना होता था। उदाहरणतः आत्मा की स्वच्छता, चरित्र की पवित्रता, वैदिक अध्ययन, इन्द्रिय-निग्रह और विनय ब्राह्मण के लक्षण समझे जाते थे। गुरुसेवा, ब्रह्मचर्य व भिक्षा इत्यादि ब्राह्मण विद्यार्थी के कर्त्तव्य थे। विद्यार्थी गुरु चरणों में बैठकर अध्ययन करता था। गुरु से पूर्व आहार, विहार और शयन करने का अधिकार शिष्य को नहीं था। इस प्रकार २५ वर्ष की अवस्था तक गुरु-सेवा करते हुए वेदों का अध्ययन समाप्त करके विद्यार्थी गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। विद्यार्थी अपनी शक्ति के अनुसार गुरु को शुल्क भी अर्पण करता था। आरुणी तथा उपमन्यु इत्यादि कुछ गुरुभक्त व आदर्श विद्यार्थियों के नाम भी इस युग में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त कण्व, व्यास, वशिष्ट, विश्वामित्र तथा द्रोण इत्यादि महान् गुरुओं का भी उल्लेख रामायण व महाभारत में है। द्रोणाचार्य महा-भारत युग के एक प्रसिद्ध सैनिक-शिक्षक थे। इतना अवश्य है कि इस युग में जातियों का विभाग अत्यन्त जटिल हो चुका था। शूद्रों के वेद अध्ययन अथवा उच्च सैनिक शिक्षा के अधिकार छिन चुके थे। एकलव्य, एक शूद्र बालक को द्रोणाचार्य ने राजकुमारों के साथ सैनिक शिक्षा देने से मना कर दिया था। द्विज कहलाने वाली तीन जातियों के विद्याध्ययन, यज्ञ तथा दान ये तीनों कर्म एक समान थे। इसके अतिरिक्त चारों वर्णों के कुछ विशेष कर्त्तव्य भी थे। जैसे विद्यादान, भिक्षा तथा दान लेना ब्राह्मण का कर्त्तव्य; देश-रक्षा तथा सुव्यवस्था क्षत्रिय का कर्म; व्यापार व कृषि वैश्य का विशेष कर्म एवं सेवा शूद्र का प्रमुख कर्म माना गया था। * इन चारों वर्णों की शिक्षा का पाठ्यक्रम भी अपने-अपने उद्यमों के अनुसार था। क्षत्रियों के लिये धनुर्वेद का अध्ययन

* वेदोभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम्
वार्ता कर्मेव वैशस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु
कृषि गोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम्। (मनुस्मृति १०।८०)

अनिवार्य था। † 'धनुर्वेद से अभिप्राय सम्पूर्ण सैनिक विज्ञान व कला से समझा जाता था। राम, परशुराम, भीष्म, द्रोण, अर्जुन तथा कर्ण महाकाव्य-युग के कुछ प्रसिद्ध धनुर्धारी थे। साथ ही प्रयाग, काशी, अयोध्या इत्यादि महान् विद्या-केन्द्र थे। प्रयाग में उस युग का सर्वविख्यात आश्रम ऋषि भारद्वाज का था जो कि उत्तरी भारत में शिक्षा का एक बृहत् केन्द्र था।

स्त्री-शिक्षा

उत्तर वैदिक काल में स्त्री-शिक्षा की वही परम्परा है जो कि वैदिक काल में थी। प्राचीन भारत के समाज की यह विशेषता रही है, जो अन्यत्र देखने में नहीं आती, कि यहाँ की नारी समाज का एक सभ्य, शिक्षित और सम्मानित अंग रही है। ऋगवेद काल में स्त्रियों को पूर्ण स्वतन्त्रता थी। वे पुरुषों के साथ यज्ञ करती थीं, यहाँ तक कि वह यज्ञ पूर्ण नहीं माना जाता था जो कि बिना स्त्री (अर्द्धाङ्गिनी) के सम्पादित किया जाता था। ऋगवेद की बहुत सी ऋचाओं की रचियता स्त्री कवियत्री मानी जाती हैं। विश्वतारा, घोषा, रोमसा, लोपमुद्रा, उर्वसी और अपाला इत्यादि ऋगवेद कालीन बहुत विदुषी स्त्रियाँ हैं। उपनिषद् युग में भी स्त्रियों को शिक्षा की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ गार्गी और मैत्रेयी में दोनों ही परम विदुषी स्त्रियाँ थीं। मैत्रेयी का अपने पति के साथ ब्रह्म, सृष्टि तथा आत्मा इत्यादि गूढ़ रहस्यों पर विवाद भी हुआ था। उपनिषदों में ऐसी स्त्रियों का भी वर्णन है जो 'शिक्षिका' का कार्य करती थीं। स्त्रियों को 'ब्रह्मवादिनी' कहा जाता था। कोई-कोई विद्वान् उन्हें दो शाखाओं में बाँटते हैं : (१) ब्रह्मवादिनी और (२) सद्यवधू। प्रथम प्रकार की स्त्रियाँ उपनयन, अग्नि-पूजा, वेद-पाठ तथा भिक्षा के उपयुक्त मानी जाती थीं और शिक्षा के समाप्त होने पर ही विवाह करती थीं। सद्यवधू विवाह से पूर्व ही उपनयन को पूर्ण कर लेती थी। उसके अध्ययन का विषय आवश्यक वेद मन्त्र, संगीत, नृत्य तथा अन्य प्रचलित ललित कलाओं का अध्ययन था। गृह्य-सूत्रों में भी वर्णन है कि पत्नी को इतनी शिक्षिता होना चाहिये कि वह पति के साथ यज्ञ इत्यादि धार्मिक कार्यों में हाथ बँटा सके। वस्तुतः स्त्री पुरुषों को यज्ञ सम्पादन की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। डा० राधा कुमुद मुकर्जी ने हेमाद्री का कथन लिखते हुए लिखा है "कुमारी अर्थात् अविवाहित कन्या को विद्या और धर्म नीति का अध्ययन

† ततो द्रोणः पाण्डुपुत्रानस्त्राणि विविधानि च
द्रौणः संकीर्ण युध्ये च शिक्षयाम स कौरवान्

(महाभारत आ० प० ११८)

कराना चाहिये। एक शिक्षिता कुमारी अपने पिता तथा पति दोनों का कल्याण करती है। अतः उसका विवाह एक विद्वान् पति अथवा मनीषी से करना चाहिये, क्योंकि वह विदुषी है।"

सूत्र-युग में भी हम पाते हैं कि स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने का निषेध नहीं था। वे वैदिक साहित्य का अध्ययन करती थीं। स्त्री शिक्षिकायें 'उपाध्याया' और 'आचार्या' कहलाती थीं। पिता की यह अभिलाषा रहती थी कि उसकी पुत्री पण्डिता हो। "स्त्रियों को सैनिक शिक्षा दिये जाने का भी उदाहरण मिलता है, जैसा कि 'शक्तिकी' शब्द से प्रतीत होता है जिसका उल्लेख पातञ्जलि ने किया है, जिसका अभिप्राय भाला धारण किये हुये स्त्री से है।" महाकाव्य युग में भी हमें अत्यन्त विदुषी और चरित्रवान् स्त्रियों के उदाहरण मिलते हैं। उस समय तक पति की प्रधानता हो गई थी और स्त्री उसे भगवान् की तरह पूजने लगी थी। रामायण में सीता का ऐसा ही उदाहरण है। ये स्त्रियां वैदिक ज्ञान में भी मंत्रविद् होती थीं। कुन्ती के विषय में कहा जाता है कि वह अथर्व वेद की प्रकाण्ड पण्डिता थी।

शिक्षा की प्रणाली स्त्रियों के लिये भी प्रायः वही थी जो पुरुषों के लिये थी। उपनयन-संस्कार के बिना वेद मन्त्र उच्चारण निषेध था, अतः स्त्रियों का भी उपनयन होता था। स्त्रियाँ ब्रह्मचर्य से रह कर विद्याध्ययन करती थीं। मनुस्मृति में भी स्त्रियों के लिये उपनयन की व्यवस्था है। स्त्रियों के लिये शिक्षा का विषय वेदपाठ था, किन्तु इसके वही मंत्र थे जो कि यज्ञ तथा अन्य संस्कारों के लिये उपयोगी थे। वेद के अतिरिक्त स्त्रियाँ मीमांसा का अध्ययन करके इसमें विशेषता प्राप्त करती थीं। उपनिषद् युग में तो मैत्रेयी और गार्गी जैसी विदुषी दार्शनिक स्त्रियों का प्रादुर्भाव हुआ जो कि राजा जनक के दरबार में ऋषियों से शास्त्रार्थ करती थीं। उत्तर रामचरित्र में अत्रेयी की कथा है जो बाल्मीकि तथा अगस्त्य मुनि के आश्रम में लव और कुश के साथ वेदान्त का अध्ययन करती थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तर-वैदिक काल में स्त्रियों का समाज में पर्याप्त सम्मान था। उन्हें व्यक्तित्व के विकास के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता थी। बालिकाओं के लिये उपनयन उतना ही अनिवार्य था जितना बालकों के लिए, अतः स्त्री-शिक्षा अनिवार्य थी। प्रधानतः अच्छे व सम्पन्न परिवारों की बालिकायें अनिवार्यतः वैदिक व साहित्यिक शिक्षा प्राप्त करती थीं। कालान्तर में पुरुष की प्रधानता होने पर स्त्रियों के सामाजिक स्तर पर प्रभाव पड़ने लगा। यह विश्वास जड़ पकड़ता जा रहा था कि स्त्रियाँ वैदिक शिक्षा के उपयुक्त नहीं हैं। वैदिक युग में बाल-विवाह की प्रथा नहीं थी, और कोई-कोई स्त्री तो आजन्म ब्रह्मचा-

रिणी रह कर विद्याध्ययन करती थीं; किन्तु उत्तर वैदिक काल के अंतिम चरण में बाल-विवाह की प्रथा का प्रचलन हो गया था। स्त्रियों में उपनयन के बन्धन भी शिथिल होते जा रहे थे; अतः स्त्री शिक्षा का अनुपात भी कम होता जा रहा था। अब इस बात पर अधिक ध्यान जा रहा था कि स्त्री को गृहलक्ष्मी होना चाहिये। गृहस्थ-कला में पटु अपने पति को सम्पन्न तथा सुखी बनाने के लिये ही स्त्री के जन्म का उद्देश्य समझा जाने लगा। इस विचारधारा का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि स्त्रियों का प्रभाव घटने लगा। यह उचित समझा गया कि स्त्रियों के लिये वेद अध्ययन और वेदपाठ निषिध्य कर दिया जाय, क्योंकि वे वेद मंत्रों का शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकतीं। अतः वेद मंत्रों को अशुद्ध होने से बचाने के लिये यह अनिवार्य था कि स्त्रियाँ वेद न पढ़ें। साथ ही यह विश्वास भी लोगों के हृदयों में संस्कार जमाये हुए था कि यदि वेद-मंत्रों का किसी के द्वारा अशुद्ध उच्चारण किया जायगा तो वह परिवार या व्यक्ति नष्ट हो जायगा अथवा कोई अन्य दुर्भाग्य उस पर टूट पड़ेगा। अब तक तो संस्कृति भाषा ही साधारण बोलचाल की भी भाषा थी जिसका कि वेदों तथा धर्म ग्रन्थों में प्रयोग हुआ था, किन्तु इससे आगे दोनों भाषाओं में विभिन्नता आ गई। साधारण जनता की भाषा पूर्णतः अपभ्रंश या 'प्राकृत' होती जाती थी। ऐसी अवस्था में शुद्ध उच्चारण की कठिनाई अवश्य ही उपस्थित हुई होगी। यही कारण था कि स्त्रियों का वेदपाठ निषिद्ध कर दिया गया। किन्तु इसे समाज की उदासीनता ही कहा जा सकता है, क्योंकि यदि स्त्रियाँ उसी प्रकार से शिक्षा प्राप्त करती आतीं जैसा कि वैदिक अथवा उत्तर वैदिक काल के प्रारम्भ में था तो अवश्य ही वे शुद्ध उच्चारण के समर्थ हो सकती थीं, क्योंकि पुरुष और स्त्री की मानसिक योजना में समान सुअवसर मिलने पर कोई अन्तर नहीं आता। स्त्रियाँ अपनी प्रखर और कुशाग्र बुद्धि के लिये प्रारम्भ से ही विख्यात थीं। किन्तु इस भावना के विकसित हो जाने से कि स्त्रियाँ मानसिक योग्यताओं में पुरुषों की अपेक्षा हेय होती हैं, स्त्रियों की शिक्षा को बहुत आघात लगा और वे आगे आने वाली शताब्दियों के लिये भी अपने व्यक्तित्व के विकास से वंचित कर दी गईं।

औद्योगिक शिक्षा

वर्णानुसार व्यवस्था

प्रारम्भ से ही आर्यों ने यह अनुभव कर लिया था कि बिना कार्य का विभाजन किये हुए समाज उन्नति नहीं कर सकता। अतः उन्होंने सम्पूर्ण जाति को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में विभाजित कर दिया था। इन

वर्णों का अस्तित्व श्रम विभाजन के आधार पर हुआ और प्रत्येक वर्ण का कार्य निश्चित हो गया। यद्यपि प्रारम्भ में वर्ण-व्यवस्था अधिक जटिल नहीं थी और एक वर्ण से दूसरे वर्ण में कर्मानुसार परिवर्तन भी हो सकता था, किन्तु आगे चल कर इनके कार्य नियत हो गये और वर्णव्यवस्था केवल रूढ़िवाद बन कर रह गई।

(१) ब्राह्मणः—जो वेद पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना तथा कराना एवं विद्या का दान करते वे ब्राह्मण कहलाये। यद्यपि प्रारम्भ में तो ज्ञान ही ब्राह्मण होने का प्रतीक था और जन्म से ब्राह्मण नहीं होते थे, किन्तु ज्ञानी पुरोहितों द्वारा अपने पुत्रों को वैदिक शिक्षा देने की परम्परा चल पड़ी। इस प्रकार पिता के उपरांत पुत्र के पुरोहित बनने से धीरे-धीरे पुरोहितवाद एक जाति के रूप में परिवर्तित हो गया। यद्यपि ऐसे ज्ञानी क्षत्रिय भी हुए जिन्होंने ऋषि या ब्राह्मणों की पदवी पाई। विदेहजनक, राजा अजातशत्रु इत्यादि ऐसे ही उदाहरण हैं। ब्राह्मणों के वैदिक ज्ञान प्राप्त करने की परम्परा ने क्षत्रिय और वैश्यों की शिक्षा का उत्तर-दायित्व भी उन्हीं पर डाल दिया। इस उत्तरदायित्व के कारण समाज में उन्हें एक उच्च स्थान प्राप्त हो गया। वह सम्पूर्ण जाति के पथ-प्रदर्शक और प्रमुख शिक्षक बन गये। आगे चलकर इसी प्रमुखता ने ब्राह्मणों को समाज में प्रथम स्थान दिया और उनकी उपमा मस्तिष्क से दी जाने लगी। धर्म कार्यों जैसे जन्म, उपनयन, विवाह व मृत्यु इत्यादि में पुरोहितों की उपस्थिति अनिवार्य हो गई। इस प्रकार पुरोहितवाद एक पेशे या उद्यम के रूप में प्रस्फुटित हुआ। पुरोहित लोग अपनी सन्तान को पुरोहित-कार्य में निपुण व दीक्षित करने लगे और यही कर्म शताब्दियों तक ब्राह्मणों का प्रमुख उद्यम रहा। आधुनिक युग में भी इसके भग्नावशेष विद्यमान हैं।

(२) क्षत्रिय—यह कहा जा चुका है कि समय के साथ ही क्षत्रियों और वैश्यों के लिए वेद का अध्ययन एक गौण बात हो गई। वेद-वेदाङ्गों तथा उप-निषदों से उनका साधारण परिचय भर उनके लिए पर्याप्त समझा गया। ५०० ई० पू० में ही वेदाङ्गों का विकास होने लगा और कानून व व्याकरण के स्कूल स्थापित होने लगे थे। सूत्र-युग में धर्मसूत्र और धर्मशास्त्र की रचना हुई जिनमें क्षत्रिय राजाओं के कर्त्तव्यों और अधिकारों का उल्लेख है। ये धर्मशास्त्र ही कानून ग्रन्थ एवं राजनैतिक ग्रन्थ थे। आगे चलकर नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र की रचना भी इन्हीं के आधार पर हुई। यद्यपि आपस्तम्भ, बुद्धायण एवं वसिष्ठ के धर्मसूत्रों में क्षत्रिय राजकुमारों के लिये अध्ययन-विषयों का उल्लेख नहीं है, किन्तु गौतम ने बतलाया है कि राजकुमार को 'तीन वेद तथा तर्क शास्त्र' का

ज्ञाता होना चाहिये। वास्तव में क्षत्रियों का प्रमुख कर्म तो देश की सुरक्षा, आन्तरिक व्यवस्था और शासनकार्य था। इस कार्य को योग्यता पूर्वक सम्पादित करने के लिये मानसिक शिक्षा की तो आवश्यकता थी ही, किन्तु इससे भी अधिक आवश्यकता थी सैनिक शिक्षा की। यही कारण था कि वैदिक शिक्षा के साथ ही साथ क्षत्रिय बालकों को अस्त्र-शस्त्र एवं युद्धकला की शिक्षा दी जाती थी। उनके जीवन का एक बड़ा भाग युद्धकला की शिक्षा में ही व्यतीत होता था। रामायण में दशरथ के पुत्रों को विद्यार्थी काल में सैनिक-शिक्षा प्राप्त करने का उल्लेख है।† राम का कर्तव्य ही दुष्टों का दमन और दीनों का संरक्षण माना गया है। उन्होंने समय-समय पर बाली, कुम्भकर्ण व रावण इत्यादि का अपनी सैनिक-योग्यता के द्वारा बध किया और धर्मराज्य की स्थापना की। महाभारत में तो हमें प्राचीन भारतीय युद्धकला अपने चरम विकास को पहुँची हुई मिलती है। यह महायुद्ध संभवतः संसार का सर्वप्रथम महायुद्ध था जिसमें इतने विशाल स्तर पर युद्ध किया गया। कौरवों व पाण्डवों को द्रोणाचार्य द्वारा सैनिक-शिक्षा दिये जाने का उल्लेख महाभारत में मिलता है। यह स्मरणीय है कि ब्राह्मण न केवल बौद्धिक शिक्षा में ही सिद्धहस्त थे, अपितु सैनिक शिक्षा में भी बहुत से ब्राह्मण निपुण थे जैसा कि परशुराम व गुरु द्रोणाचार्य के उदाहरणों से प्रतीत होता है। सैनिक शिक्षा शूद्रों के लिये वर्जित थी, अथवा कम से कम इतना तो अवश्य था कि उच्च वर्ण कहे जाने वाले ब्राह्मण और क्षत्रिय बालकों के साथ शूद्र बालकों को शिक्षा नहीं दी जाती थी।

सूत्र-युग में क्षत्रियों के कर्तव्य और अधिकारों का अच्छा विकास हुआ। फलतः क्षत्रिय शिक्षा भी विकसित हुई। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' की रचना भी इसी काल में हुई जिसमें क्षत्रियों की शिक्षा के विषय में बहुत विशद् वर्णन है। चाणक्य ही तो नन्दवंश के उन्मूलन का कारण था। उसने चन्द्रगुप्त मौर्य नामक क्षत्रिय राजकुमार को राजनीति, युद्धकला तथा शासनकला में निपुण करके नन्द के स्थान पर एक विशाल साम्राज्य स्थापित करने के लिये उत्साहित किया था।

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में राजकुमारों की शिक्षा के लिये चार विज्ञानों का उल्लेख है: (१) आन्वीक्षिकी, अर्थात् सांख्य, योग तथा लोकायत का ज्ञान,

† पिता दशरथो दृष्टो ब्रह्मा लोकाधिपो यथा
ते चापि मनुज व्याघ्रा वैदिकाध्ययने रतः
पितृ शुश्रूषणरता धनुर्वेदे च निष्ठिताः [बालकांड अ० १८]

लित थी। अवैदिक विषयों में अधिकांश सैनिक शिक्षा, औद्योगिक व व्यापारिक शिक्षा, चिकित्सा व सर्पदंश चिकित्सा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(३) वैश्य—क्षत्रिय शिक्षा के उपरान्त वैश्य तथा शूद्रों की शिक्षा का प्रश्न आता है। यह तो निर्विवाद है कि शिक्षा ही किसी व्यक्ति या वर्ग के भावी उद्यम का प्रश्न हल करती है। वैश्यों का प्रमुख उद्यम कृषि तथा व्यापार था। अतः उन्हें कृषि, पशुपालन और व्यापार की शिक्षा दी जाती थी। वैश्यों की शिक्षा भी ब्राह्मणों के नियन्त्रण के अन्तर्गत थी। ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की भाँति वैश्यों का भी उपनयन संस्कार होता था। इसी के उपरान्त विद्यारम्भ होता था। उन्हें भी वेदों का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करना होता था; किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है उनका तो प्रधान उद्यम कृषि, पशुपालन तथा व्यापार था, अतः उन्हें तो इनके व्यावहारिक ज्ञान की अधिक आवश्यकता थी। वेद अध्ययन उनके लिये गौण था। उन्हें तो अपने व्यवसाय के अनुरूप ही शिक्षण मिलना चाहिये था। अतः उनके लिये उसी की व्यवस्था थी। यह कहा गया कि एक वैश्य को यह अभिलाषा कभी नहीं करनी चाहिये कि वह पशु कभी नहीं रक्खेगा। उसे हीरा-जवाहिरात का मूल्य, उनकी परख, सूत का ज्ञान, मसालों तथा सुगन्धियों का ज्ञान, खेत बोना, अच्छे बुरे खेतों का ज्ञान, खाद का ज्ञान, नाप-तौल के बाँटों का ज्ञान तथा भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में वस्तुओं में लाभ व हानि का ज्ञान अनिवार्य था। इसी सम्बन्ध में उसे आर्थिक भूगोल एवं व्यापारिक भूगोल का भी अध्ययन करना होता था, तथा भिन्न-भिन्न देशों से व्यापारिक सम्बन्ध बनाये रखने के लिये वहाँ की माँग व उत्पादित वस्तुओं की पूर्ति से परिचित होना पड़ता था। भिन्न-भिन्न भाषाओं का ज्ञान, मजदूरी देने के नियम तथा क्रय-विक्रय के नियम का ज्ञान एक वैश्य के लिये आवश्यक माना गया था। इस सम्पूर्ण ज्ञान के लिये गणित, साधारण भूगोल, आर्थिक तथा व्यापारिक भूगोल, कृषि-विज्ञान तथा व्यापार-पद्धति का अध्ययन आवश्यक था। अधिकतर बालक यह ज्ञान व्यावहारिक रूप में अपने पिताओं से प्राप्त करते थे। वैदिक अध्ययन के लिये उन्हें पूर्वस्थित नियमित ब्राह्मण स्कूलों में ही अध्ययन करना पड़ता था। कृषि और व्यापार प्रायः अनुभव और अभ्यास से सीखे जाते थे।

(४) शूद्र—शूद्रों के लिये किसी उच्च शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी। उनका तो प्रमुख उद्यम सेवा करना ही था। तथापि उनकी शिक्षा बहुत कुछ वैश्यों से मिलती जुलती थी। कृषि, गोपालन, पशु चराना, डेरी व्यवसाय तथा भिन्न-भिन्न कला-कौशल व हस्तकलायें इत्यादि शूद्र लोग भी सीखते थे। इस प्रकार देश के आर्थिक विकास में शूद्रों का एक प्रमुख हाथ था। 'देवजन-विद्या' जिसमें कि

आचार्य शङ्कर के अनुसार नृत्य, सङ्गीत, वाद्य, सुगन्धि तथा वस्त्रों का रंगना इत्यादि सम्मिलित था, शूद्रों को पढ़ाई जाती थी। इसके अतिरिक्त कताई, बुनाई, तथा वस्त्रों की छपाई का कार्य भी शूद्र ही करते थे। इन कार्यों के सीखने के लिये नियमित व्यावसायिक विद्यालय नहीं थे। ये तो घरेलू रूप से वंश परम्पराओं द्वारा ही सीखी जाने वाली विद्यायें थीं। अस्त्र-शस्त्र बनाना, रथ बनाना, शिल्पकला, वास्तुकला तथा चित्रकला का कार्य भी अधिकतर वही वर्ग करता था जो शूद्र कहलाता था। इनको सिखाने वाले शिक्षकों का भी उल्लेख मिलता है। नारद स्वयं एक ऐसे शिक्षक थे। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य ब्राह्मण भी लौकिक विषयों की शिक्षा देते हुए पाये जाते हैं। मछुए, सपेरे तथा चिड़ीमार भी शूद्र कहलाते थे और वंश परम्परागत पद्धति से अपनी कला को अपने पूर्वजों से प्राप्त करते थे।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न वर्णों की भिन्न-भिन्न कार्य-व्यवस्थायें थीं। अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए सभी वर्ग राष्ट्र का निर्माण कर रहे थे। समाज के सर्वाङ्गीण विकास के लिये आर्यों ने इस व्यवस्था को सर्वश्रेष्ठ माना था। इसके अतिरिक्त भी प्राचीन भारत में कुछ ऐसी विद्यायें थीं जो तत्कालीन विश्व इतिहास में अद्वितीय मानी जा सकती हैं। इनमें से कुछ प्रमुख विद्याओं का हम नीचे संक्षेप में उल्लेख करते हैं।

आयुर्वेद अथवा चिकित्सा-शास्त्र

प्राचीन भारतीय विद्याओं में चिकित्साशास्त्र प्रमुख विद्या है। ऋग्वेद-काल से ही इसका क्रमिक विकास प्रारम्भ हो गया था और सिकन्दर के आक्रमण के समय तक हम देखते हैं कि यह विद्या अपने चरम को पहुँच चुकी थी। जातक कथाओं में भी हमें चिकित्सा विज्ञान का उल्लेख मिलता है। तक्षशिला विश्व-विद्यालय में बड़े-बड़े गम्भीर चीरफाड़ सम्बन्धी कार्य तक किये जाते थे। यह शिक्षा प्रायः व्यक्तिगत शिक्षकों द्वारा दी जाती थी। संस्कृत का ज्ञान विद्यार्थी के लिये अनिवार्य था, क्योंकि आयुर्वेद के सभी ग्रन्थ इसी भाषा में थे। इस विज्ञान के विद्यार्थी का उपनयन भी अलग होता था चाहे भले ही उसने अपने वर्ण के अनुसार पहिले उपनयन करा लिया हो। यह उपनयन केवल उसी छात्र का हो सकता था जो पूर्ण स्वस्थ व उच्च चरित्र का हो, शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों जैसे आँख, नाक, कान, जिह्वा तथा दाँत इत्यादि स्वस्थ्य हों; नैतिक साहस, धैर्य, विनय, बुद्धि, उदारता, लगन, अध्यवसाय तथा कष्ट-सहिष्णुता इत्यादि अन्य गुण आयुर्वेद के एक विद्यार्थी के लिये आवश्यक थे। आधुनिक

काल में भी एक पूर्व-परीक्षा (प्री मैडीकल एक्जामिनेशन) होती है जिसके अनुसार चिकित्सा विज्ञान के विद्यार्थी के अन्दर इस व्यवसाय सम्बन्धी योग्यताओं के अस्तित्व की परीक्षा करने की चेष्टा की जाती है। किन्तु जब हम अपनी प्राचीन प्रणाली को देखते हैं तो हमें केवल आश्चर्य होता है कि किस प्रकार उन लोगों का ज्ञान पूर्णता को प्राप्त हो गया था। उन्होंने भलीभाँति जान लिया था कि एक चिकित्सक को पूर्ण स्वस्थ्य, सुन्दर तथा चरित्रवान् होना चाहिये। पीड़ित मानवता की सेवा के लिये उसके अन्दर सचाई, निर्लोभ, निष्कामसेवा तथा विनय होनी चाहिये। अपने विज्ञान में अनुसंधान करने की क्षमता के लिये उसके अन्दर बुद्धि, अदम्य उत्साह, कल्पना, धैर्य तथा अध्यवसाय होना चाहिये। यही कारण था कि प्राचीन आयुर्वेद का इतना विकास हुआ। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र का विद्यार्थी केवल अपनी बुद्धि की परीक्षा देता है और अपने अन्य साथी की अपेक्षा कुछ अंक अधिक पाने पर ही एक चिकित्सक बनने के योग्य समझ लिया जाता है। इसका जीवन से क्या सम्बन्ध है? इसमें आत्मा का पूर्ण अभाव है। केवल शास्त्र-ज्ञान ही को प्रधानता दी गई है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आज हम बहुत से चिकित्सकों को पीड़ित-मानवता की सेवा करते हुए नहीं अपितु उनका शोषण करते हुए पाते हैं।

आयुर्वेद-उपनयन में चारों वर्णों के बालकों को दीक्षित किया जा सकता था। इस प्रकार दीक्षित विद्यार्थी को कुछ मर्यादाओं के लिये वचन-बद्ध होना पड़ता था। उपनयन के उपरान्त विद्यारम्भ होता था। शिक्षक के द्वारा पदों और श्लोकों का धीरे-धीरे अध्ययन करके विद्यार्थी सम्पूर्ण आयुर्वेद ग्रन्थों को समाप्त कर डालते थे। इन ग्रन्थों को उन्हें न केवल कंठाग्र ही करना पड़ता था, अपितु उनका अर्थ भी समझना पड़ता था। केवल रटने वाले विद्यार्थी की सराहना नहीं की जाती थी।

आयुर्वेद का अध्ययन चिकित्सा-विज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं जैसे, रोग-निदान, औषधि, शल्य (सर्जरी), विष, सर्पदंश, रक्त-परीक्षा तथा अस्थि इत्यादि में होता था। एक विभाग के विद्यार्थी परामर्श तथा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त परने के लिये अन्य विभाग के आचार्यों के पास जाते थे। एक चिकित्सक के लिये 'बहुश्रुता' होना आवश्यक था; अर्थात् जब तक उसे अनेक विज्ञानों का बोध नहीं होता था तब तक उसे सफलता मिलना असम्भव था। सम्पूर्ण विज्ञान को प्रधानतः 'शास्त्र' और 'प्रयोग' अर्थात् थ्योरी और प्रैक्टिस में विभाजित कर दिया गया था। दोनों का ज्ञान अनिवार्य था। केवल एक का ज्ञान रखने

वाला तथा उसके द्वारा जनता में अपने अधूरे ज्ञान के द्वारा अभ्यास करने वाला व्यक्ति राज्य की ओर से दण्डित किया जाता था।

प्रोफेसर अलतेकर ने बताया है कि शल्य (सर्जरी) का शिक्षण किस प्रकार दिया जाता था। "प्रारम्भ करने वाले विद्यार्थियों को पहिले तो यन्त्र और औजारों को पकड़ना और उनका प्रयोग बतलाया जाता था, जिनका प्रयोग वह खीरा, खरबूज तथा तरबूज पर शिक्षक के निरीक्षण के अन्तर्गत करते थे। 'छेदन कार्य' मृतक पशुओं की रक्त शिराओं पर करके विद्यार्थियों को दिखाया जाता था; छुरी पकड़ना सूखे अलाबू के फलों पर; चर्म छीलन खाल के बालदार सूखे टुकड़ों पर; सींना चमड़े तथा कपड़े के पतले टुकड़ों पर; पट्टी बाँधना भूसा भरी हुई मनुष्य की आकृतियों पर तथा जलाने वाली रसायन का प्रयोग माँस के कोमल टुकड़ों पर करके सिखाया जाता था। इस प्रकार नवीन विद्यार्थी को वास्तविक रोगों तक धीरे-धीरे लाया जाता था और घाव में से छुरी खींचना घाव साफ करने तथा शरीर के रुग्ण भाग को चाकू द्वारा छेदने या काटने की आज्ञा दी जाती थी।"* केवल पुस्तक के द्वारा ही शल्य-शास्त्र का ज्ञान पर्याप्त नहीं था। अतः मृतक मानव-शरीरों को चीरफाड़ कर देखा जाता था। सुश्रुत में इसका वर्णन देखने को मिलता है। कालान्तर में बौद्ध तथा जैन धर्म का भारत में प्रचार हो जाने से शल्यविद्या को बहुत आघात लगा और क्रमशः इसका पतन हो गया, क्योंकि अहिंसा धर्म के अनुयायी इस कार्य से घृणा करते थे। वैसे तो इसका अध्ययन विद्यार्थी व्यक्तिगत शिक्षकों के साथ करते थे, किन्तु कुछ ऐसे शिक्षा-केन्द्रों के भी उदाहरण हैं जहाँ आयुर्वेद तथा चिकित्सा विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी और जिनसे बड़े-बड़े चिकित्सालय सम्बन्धित थे। पाटलिपुत्र में एक ऐसा चिकित्सालय था जहाँ विद्यार्थी व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते थे। तक्षशिला का उल्लेख ऊपर किया ही जा चुका है।

आयुर्वेद का शिक्षा-काल प्रायः दीर्घ था। अधिकतर विद्यार्थी आयुर्वेद का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करते थे किन्तु ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ कुछ विद्यार्थी विशेष रोगों से विशेषयोग्यता प्राप्त करके प्रधानतः उन्हीं के चिकित्सक बनते थे। शिक्षा-काल के उपरान्त परीक्षा होती थी। अयोग्य चिकित्सकों को राज्य की ओर से चिकित्सा करने का निषेध था। इसके लिये जिसके पास सम्राट् की ओर से आज्ञापत्र होता था वही व्यक्ति इस उद्यम को कर सकता था।

* Dr. A. S. Altekar: *Education in Ancient India*, Nand Kishore Bros. Benaras. (1948) P. 186.

इस प्रकार प्राचीन भारत में चिकित्सा-शास्त्र की पर्याप्त उन्नति हुई। विद्यार्थी के समक्ष निष्काम सेवा का महान् आदर्श था। दीक्षान्त भाषण या 'समावर्त्तन' के समय आचार्य अपने शिष्यों को इसी उद्यम सम्बन्धी महान् आदर्शों से प्रेरित करके समाज के समक्ष भेजते थे। चिकित्सकों का ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था। विदेशों तक में उनकी कीर्ति थी। ८ वीं शताब्दी में तो अरब के खलीफा ने भारतीय चिकित्सकों को अपने यहाँ निमन्त्रित किया था और वहाँ के राज्य-चिकित्सालय में शिक्षण कार्य के लिए रक्खा था। "खलीफा हारून ने हिन्दू चिकित्सा तथा औषधि-शास्त्र का अध्ययन करने के लिए अनेक विद्यार्थियों को भारत भेजा था तथा लगभग २० चिकित्सकों को बगदाद जाने के लिए और वहाँ जाकर राज्य चिकित्सालयों में प्रमुख चिकित्सा अधिकारी के पदों पर कार्य करने और संस्कृत के आयुर्वेद ग्रन्थों को अरबी भाषा में अनुवाद करने के लिए आमंत्रित किया था।"* माणिक्य इनमें सर्व विख्यात था।

चरक, सुश्रुता तथा धन्वन्तरि अन्य महान् आयुर्वेदाचार्य थे जिनके विषय में यह ख्याति थी कि ऐसा कोई रोग नहीं था जिसकी चिकित्सा यह न कर सकते थे। संक्षेप में प्राचीन भारतीय चिकित्सा-शास्त्र एक विकसित उपयोगी विज्ञान था जिसके लिये भारत अभिमान कर सकता है।

पशु-चिकित्सा

मनुष्य-चिकित्सा के अतिरिक्त भारत में पशु-चिकित्सा शिक्षा का भी विकास हुआ। सालिहोत्र को इसका जन्मदाता माना जाता है। अश्व-रोगों तथा चिकित्सा में पाण्डव बन्धु नकुल और सहदेव भी दक्ष माने जाते थे। भारत प्राचीन काल से ही एक कृषि प्रधान देश रहा है और कृषि भी यहाँ छोटे स्तर पर पशुओं के द्वारा होती रही है; अतः पशुओं के रोगों और उनके निवारण का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य था। इतना ही नहीं सम्राटों के यहाँ अश्व व गज सेनायें रहती थीं। इन पशुओं के रोगों की चिकित्सा करने के लिये कुछ पशु-चिकित्सों को शिक्षण देना भी आवश्यक हो गया। अतः इस विज्ञान का विकास हुआ। किन्तु इनकी शिक्षा देने के नियमित विद्यालयों का उल्लेख नहीं मिलता। बहुत सम्भव है कि परम्परागत ज्ञान को व्यावहारिक-शिक्षा द्वारा निपुण व्यक्तियों की शिष्यता में रहकर ही विद्यार्थी इसे सीखते होंगे।

---

* Dr. A. S. Altekar: *Education in Ancient India.* (1948) P. 189.

सैनिक शिक्षा

सैनिक-विज्ञान 'धनुर्वेद' के नाम से पुकारा जाता था। वशिष्ठ रचित धनुर्वेद-संहिता के अनुसार एक सैनिक विद्यार्थी द्वारा उपनयन-संस्कार सम्पादित किया जाता था जिसे एक अस्त्र दिया जाता था; उसी समय एक वेदमंत्र का उच्चारण किया जाता था। विशेषतः क्षत्रिय लोग ही इस विद्या में निपुण किये जाते थे; यद्यपि ब्राह्मण और शूद्रों के द्वारा इसे सीखे जाने के उदाहरण भी हैं। आचार्य का कार्य तो प्रायः ब्राह्मण ही करते थे। किन्तु अब्राह्मण भी सैनिक-शास्त्र के शिक्षक थे। प्रारम्भिक वैदिक काल में युद्ध विज्ञान व कला की अच्छी उन्नति हुई, क्योंकि आर्यों को द्रविड़ों से युद्ध करना पड़ा था। उस समय युद्ध में प्रयोग होने वाले अस्त्र-शस्त्र प्रायः धनुषबाण, तलवार, गदा, ढाल तथा भाला इत्यादि थे। रथ-युद्ध का बहुत प्रचार था। महाभारत काल में तो युद्ध कला के विकास की पराकाष्ठा ही हो गई। महाभारत में ऐसे अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन मिलता है जो कि आधुनिक काल के विश्व-विनाशकारी अणुबम इत्यादि से मिलते जुलते हैं। राम-रावण युद्ध में भी अनेक विचित्र अस्त्रों के उपयोग का उल्लेख है। उपनिषदों में युद्ध-पोत का भी वर्णन मिलता है।

प्राचीन काल में सैनिक शिक्षा न केवल राज्य के द्वारा ही दी जाती थी, अपितु व्यक्तिगत रूप से भी दी जाती थी। प्रत्येक गाँव में इसके शिक्षण-शिविर होते थे जहाँ ग्रामीणों को आत्मरक्षा के लिए शिक्षित किया जाता था। ऐसा भारत के विभिन्न भागों में होता था। इसके अतिरिक्त कुछ नियमित केन्द्र भी थे जहाँ सैनिक शिक्षा दी जाती थी। भारत की सीमा पर स्थित तक्षशिला एक ऐसा नगर था जहाँ भिन्न-भिन्न भागों से एकत्रित होकर विद्यार्थी सैनिक शिक्षा प्राप्त करते थे। सिकन्दर के आक्रमण के उपरान्त देश में सैनिक शिक्षा का एक नया रूप प्रारम्भ हुआ। कुछ लोग व्यक्तिगत रूप से सुसंगठित सैनिक-शिक्षालय चलाने लगे। वह राजाओं को आवश्यकतानुसार युद्ध में सैनिक देते थे और भेंट में भूमि, धन तथा अश्व प्राप्त करते थे। राजा लोग अपने राजकुमारों को सुदूर-केन्द्रों में शिक्षा के लिये भेजते थे। वहाँ योग्य शिक्षकों द्वारा, जो भिन्न भिन्न भागों से निमंत्रित किये जाते थे, सैनिक-शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार प्राचीन काल में सैनिक शिक्षा का आदर्श बहुत ऊँचा था। एक सुसंगठित उद्यम तथा देशरक्षा के एक शक्तिवान् साधन के रूप में प्राचीन-कालीन सैनिक-शिक्षा देश के लिये अत्यन्त हितकारी थी।

ललित कलायें व हस्त-कलायें

नृत्य, संगीत, चित्रकला, वास्तुकला, शिल्पकला, लकड़ी का काम तथा लोहारी इत्यादि कुछ ऐसी कलायें थीं जिनके द्वारा देश की जनसंख्या का बड़ा भाग जीविका उत्पन्न करता था। प्राचीन भारत की ये कलायें आज भी विश्व विख्यात हैं। प्रारम्भिक वैदिक युग में हस्तकलाओं और कृषि का बड़ा सम्मान होता था। आर्यों का प्रमुख उद्यम कृषि ही था। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में ऐसे मंत्र हैं जिनके द्वारा कृषि के सम्पन्न होने, उचित जल-वृष्टि होने तथा अनुकूल ऋतुऐं होने की प्रार्थना की गई है। कालान्तर में जातिवाद के जटिल हो जाने से ये कलायें हेय समझी जाने लगीं और इनकी शिक्षा केवल शूद्रों को ही दी गई। वैश्य और शूद्र जो इन कलाओं को सीखते तथा इनके द्वारा जीविकोपार्जन करते थे, निम्न वर्ण के माने जाने लगे। उच्च वर्ग के लोग इनके कार्यों को घृणा की दृष्टि से देखने लगे और हाथ से कार्य करना भी हेय समझा जाने लगा। यहाँ तक कि उचित संरक्षण के अभाव में भारतीय ललित-कलाओं तथा जनोपयोगी हस्त-कार्यों का पतन होने लगा।

इन कलाओं की शिक्षा प्रायः सुसंगठित व नियमित विद्यालयों द्वारा नहीं दी जाती थी। विद्यार्थी किसी ऐसे व्यक्ति के पास, जो कि इस उद्यम को करता चला आ रहा है, कुछ दिनों तक शिष्यता स्वीकार करता था और इस प्रकार व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करके कुशलता प्राप्त करता था। अधिकाँश में ये कलायें जातिगत हो गईं और इनकी शिक्षा पिता के द्वारा पुत्र को दी जाने लगी। गाँव-गाँव में शिल्पकार, चर्मकार, बढ़ई, लोहार व स्वर्णकार रहते थे जो कि समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। आज भी भारतीय गाँवों में यह सामाजिक संगठन जीवित है, क्योंकि वर्तमान काल में भी ग्राम प्रायः कृषि पर उतने ही अवलम्बित हैं जितने प्राचीन काल में थे। बढ़ई, चमार, लोहार, कुम्हार व धोबी इत्यादि के उद्यम तो कृषि-कार्य के सहायक-उद्यम थे, अतः ये परम्परागत शताब्दियों से जीवित हैं, यद्यपि अब इनके अन्दर कला व निपुणता की इतनी उत्तमता नहीं रही जितनी प्राचीन भारत में थी।

ऋग्वेद काल में उद्यम जाति या वर्ण के ऊपर निर्भर नहीं थे। उस समय तो शिक्षा का उद्देश्य धार्मिक था किन्तु यह धार्मिक या दार्शनिक स्वरूप केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए था जो वास्तविक संसार की समस्याओं से ऊँचे उठकर एक दिव्य कल्पना-लोक में निवास कर सकते थे; किन्तु जन-साधारण के लिए शिक्षा का उद्देश्य यह नहीं था। जन-साधारण तो उस समय भी समाज की

भौतिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील था। आर्थिक जीवन के निर्माण के लिए उस समय भी पर्याप्त लौकिक शिक्षा थी। ऋग्वेद युग "राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों जैसे आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक उन्नति के लिए विख्यात है, तथा सभ्य जीवन की कला, कारीगरी, कृषि, व्यवसाय तथा व्यापार के लिए प्रसिद्ध है।" इससे प्रकट होता है कि अवश्य उस समय सब प्रकार की औद्योगिक, वैज्ञानिक और व्यापारिक शिक्षा की व्यवस्था रही होगी। वास्तव में इन कलाओं और व्यवसायों के विकास के फलस्वरूप ही वर्णव्यवस्था का श्रम-विभाजन के रूप में जन्म हुआ। यहाँ तक कि उच्च अवस्था पर पहुँचे हुए ऋषि भी यह नहीं चाहते थे कि अपने सम्पूर्ण परिवार को धार्मिक वृत्ति अपनाने को बाध्य करें। ऐसा उदाहरण भी मिलता है जहाँ एक व्यक्ति स्वयं कवि है, उसकी माँ एक कुशल गृहणी (उपल प्रक्षिणी) जो कि आटा पीसती है, तथा उसका पिता (भिषज) अर्थात् लोगों के शारीरिक रोगों की चिकित्सा करता हुआ भ्रमण करता है। केवल अधिकारी ही धर्मशास्त्रों का अध्ययन करके समाज का पथ-प्रदर्शन करते थे। शेष जो उसके अयोग्य होते हल तथा करघा पर कार्य करने भेज दिए जाते थे। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में 'वणिज' और 'वाणिज्य' शब्द भी मिलते हैं। इससे आभास होता है कि उस समय देश के आर्थिक-निर्माण के लिए वाणिज्य की शिक्षा भी दी जाती थी, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं।

उत्तर वैदिक काल में कलाओं और हस्त-कलाओं को चुनने का कार्य स्वतन्त्र था, यदि बालक के अभिभावक अपनी अनुमति दे दें। भारतीय शिक्षा का आधार उसकी दार्शनिक उच्चता है और प्रधानतः आर्थिक या भौतिक उन्नति को कभी भी अन्तिम उद्देश्य नहीं माना गया, अपितु उसे अन्तिम उद्देश्य अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने में एक साधन माना गया है। अतएव उत्तर वैदिक काल में भी लोगों की अन्तर-प्रवृत्ति आध्यात्मिक बनी रही। इसका प्रभाव तत्कालीन शिल्प-कला तथा मूर्तिकला पर भी पड़ा। धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर कलाकारों ने उच्चकोटि की कला का प्रदर्शन किया और कला की वह अमर सृष्टि की जिसके लिए भारत प्राचीन काल से सभ्य संसार की ईर्ष्या का कारण बना रहा है। कलाकारों ने कला को भी आराधना के रूप में माना था।

इन कलाओं की शिक्षा का कार्य, जैसा कि कहा जा चुका है, अधिकतर कारीगरों के कार्यालयों में उन्हीं के संरक्षण में होता था। इसके अतिरिक्त सामूहिक रूप से भी 'श्रेणी' नामक संस्थाओं द्वारा कलायें सिखाई जाती थीं। भिन्न-भिन्न व्यवसायों के लिए भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ थीं।† स्मृतियों में कृषक-श्रेणी,

† "एकेनशिल्पेन पण्येन वा ये जीवन्ति तेषां समूहाः श्रेणी" पाणिनी।

ग्वाल-श्रेणी, व्यापारी-श्रेणी, महाजन-श्रेणी, कारीगर-श्रेणी, जिसमें बृहस्पति ने कलाकार अथवा चित्रकार-श्रेणी को भी सम्मिलित कर दिया है, तथा नृत्यकार-श्रेणी का उल्लेख है। यही सब मिलाकर कला और कारीगरी के विद्यालय थे और कुटीर-उद्योगों के रूप में कार्य करते थे। इन्हीं श्रेणियों में कारीगरी के विद्यार्थियों को प्रारम्भिक ज्ञान प्रदान किया जाता था।

इसके अतिरिक्त प्राचीन भारतीय साहित्य में ६४ कलाओं का भी उल्लेख है। भागवत् पुराण, रामायण, महाभाष्य तथा कामसूत्र इत्यादि ग्रन्थों में इन चौंसठ कलाओं के नाम आये हैं। इसके अतिरिक्त माघ, वामन और भवभूति ने भी इनका उल्लेख किया है। जैन और बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में भी ललित-विस्तार, जातक माला, कल्पसूत्र, औपपातिक सूत्र अर्थात् प्रश्न-व्याकरण सूत्र, में भी इन कलाओं के विषय में कहा गया है। इन कलाओं में प्रमुख नृत्य, संगीत, शृङ्गार, चित्र-कला, अभिनय तथा मूर्ति-कला इत्यादि एवं बहुत-सी हस्त-कलायें; जैसे कातना, बुनना, नौका-निर्माण, रथ-निर्माण, स्वर्ण-कार्य, चर्म-कार्य, काष्ठ-कार्य, सीना, धोना, हल चलाना इत्यादि है।

पाली साहित्य के अनुसार ८० कलायें (सिप्प) मानी गई हैं। मिलिन्दपाह्न के अनुसार "पवित्र ज्ञान, कानून, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, गणित, संगीत, भिषग, चार वेद, पुराण, इतिहास, ज्योतिष, तन्त्र, हेतुविद्या, सैनिक शिक्षा तथा काव्य इत्यादि १६ सिप्पों (शिल्पों) का उल्लेख है। मौर्यकालीन कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में भी तत्कालीन कलाओं का प्रामाणिक उल्लेख है। चाणक्य ने बतलाया है कि उस समय भिन्न-भिन्न व्यवसायों के विभागों के अध्यक्ष होते थे। सभी कलाओं और हस्तकलाओं के लिये केन्द्रीय-नियन्त्रण की व्यवस्था थी। एक कोषाध्यक्ष होता था जो कि 'रत्न-परीक्षा' नामक कला से सम्बन्धित था। यह मोती, मूँगा, सीप, शंख, हीरा तथा जवाहिरात का कार्य करता था। इसके अतिरिक्त चन्दन की लकड़ी का व्यापार, चमड़े का व्यापार, ऊन का व्यापार तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के सूती और रेशमी वस्त्रों जैसे "दुकुल, क्षैम (मोटा कपड़ा), कौसेय (रेशम) तथा चीन पट्ट" इत्यादि का व्यापार भी होता था। धातु-व्यवसाय का नियन्त्रण खानों के अध्यक्ष 'आकराध्यक्ष' द्वारा होता था। यह व्यक्ति धातु जैसे ताँबा, पारद इत्यादि सुलभ धातु-शास्त्र का विशेषज्ञ होता था। इस अध्यक्ष की सहायता के लिये उपकरण सम्पन्न निपुण सहायक होते थे। धातु तथा खान की इस युग में बहुत उन्नति हुई। इसके अतिरिक्त 'लोहाध्यक्ष' होता था जो ताँबा, सीसा, लोहा, टीन, पारद, पीतल, जस्ता तथा काँसा इत्यादि धातुओं का निरीक्षण करता था। यह आकराध्यक्ष के नीचे कार्य करता था। समुद्री खानों से मोती मूँगा तथा

मूल्यवान् पत्थर और नमक निकालने का कार्य भी इस युग में होता था। नमक के लिये एक अलग विभाग राज्य के अन्तर्गत था। स्वर्ण तथा चाँदी के व्यवसाय के लिये भी राज्य की ओर से निरीक्षक होता था। इसके अतिरिक्त कृषि संचालक या नौकाध्यक्ष जल-यातायात के मार्गों का नियन्त्रण करता था; तथा राज्य की ओर से कर इत्यादि वसूल करने, जलयानों को किराये पर उठाने, मछली पकड़ने इत्यादि की व्यवस्था करता था। जुआ भी एक कला समझा जाता था जो कि सीधा राज्य के नियन्त्रण में था, जिसका निरीक्षण 'द्यूताध्यक्ष' करता था। इस प्रकार कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में तत्कालीन आर्थिक विकास और कलाओं और हस्तकलाओं का विशद चित्र मिलता है। इससे हमें यह भी ज्ञात होता है कि जनोपयोगी व्यवसायों में राज्य का नियन्त्रण बढ़ गया था।

उपसंहार

इस प्रकार कला-कौशल की शिक्षा प्राचीन भारत में एक लाभदायक और उपयोगी व्यावसायिक शिक्षा थी। पिता के द्वारा पुत्र को व्यावहारिक व प्रत्यक्ष शिक्षा दिये जाने में शुष्क कृत्रिमता और कक्षा का आडम्बर नहीं था। अपने सम्पूर्ण उत्साह और स्नेह के साथ पिता जो कुछ उसमे आता था अपने पुत्र को बिना छिपाये बतलाता था। इसके अतिरिक्त जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति कला-कौशल में भी लोग धार्मिक व आध्यात्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर कार्य करते थे। उस कार्य के साथ न केवल उनके आर्थिक स्वार्थ ही रहते थे, अपितु हृदय की अनुभूति भी रहती थी। वस्तुतः कला में कलाकार अपनी आत्मा की झलक देखता था। यही कारण है कि भारतीय कला का अतीत आज भी इतिहास के पृष्ठों में जगमगा रहा है। भारतीय कलाकारों व शिल्पकारों ने संसार को वह अमर कृतियाँ भेंट की हैं जो विश्व के अतीत, वर्तमान व भविष्य की अमूल्य निधि-स्वरूप हैं।

अध्याय ३

ब्राह्मणीय शिक्षा का सिंहावलोकन

उद्देश्य

शिक्षा ही किसी राष्ट्र की आन्तरिक उन्नति का दर्पण है। प्राचीन भारतीय शिक्षा प्राचीन संस्कृति की द्योतक है। भारत के वनों और काननों में जिस संस्कृति का सृजन हुआ, आज भी उसका प्रतिबिम्ब विश्व के समक्ष आलोक स्तम्भ की भाँति दीप्त हो रहा है। शिक्षा का उद्देश्य यहाँ सदा से 'आलोक का साधन' रहा है, जो कि हमें जीवन के पथ पर आगे ले जाता है। आध्यात्मिक मुक्ति और सांसारिक सम्पन्नता दोनों के लिये ही ब्राह्मणीय शिक्षा का विकास हुआ था। वैदिक आचार्यों ने बहुत पहिले ही इस बात को जान लिया था कि 'विद्यातु वैदुष्यमुपार्जयन्ती जागर्ति लोकद्वय साधनाय' अथवा 'विद्याविहीनः पशुः' होता है।† अतएव उन्होंने शिक्षा को व्यापक बनाया और जीवन के प्रत्येक अंग से उसे सम्बन्धित कर दिया। वस्तुतः शिक्षा का पूर्ण उद्देश्य मानव जीवन का सर्वाङ्गीण अर्थात् शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास था। यद्यपि ब्राह्मणीय शिक्षा प्रधानतः धार्मिक थी, किन्तु इसमें सांसारिक स्वरूप की भी अवहेलना नहीं की गई थी। अथर्व वेद तो सारा सांसारिक शिक्षा के उदाहरणों से पूर्ण है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि पवित्रता का प्रसार, हृदय शोधन, चरित्रनिर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिकता तथा सामाजिकता का ज्ञान, राष्ट्रीय संस्कृति की सुरक्षा तथा भौतिक उन्नति यही ब्राह्मणीय शिक्षा के मुख्य उद्देश्य थे। ब्राह्मणीय शिक्षा की विशेषताओं को भली-भाँति समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम उसके सिद्धान्त, शिक्षा-पद्धति, शिष्य-गुरु सम्बन्ध, पाठ्य-वस्तु तथा सफलता और असफलताओं पर क्रमशः संक्षेप में एक विहंगम दृष्टि और डाल लें।

---

† शुनः पुच्छमिव व्यर्थंजीवितं विद्यया विना।
न गुह्य गोपने शक्तं न च दंश निवारणे॥ सुभाषित-रत्न-भण्डार ३१।१८

शिक्षा सिद्धान्त

प्राचीन शिक्षा के सिद्धान्त नियमित रूप से किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलते। बिखरे हुए विशाल साहित्य समूह से छाँट कर केवल उनसे निष्कर्ष निकाल कर ही हम उन्हें सुव्यवस्थित रूप में उपस्थित कर सकते हैं। संक्षेप में हम उन्हें इस प्रकार दे सकते हैं—

(१) प्रथमतः शिक्षा बालक को पूर्ण जीवन के लिये तैयार करती थी। सामूहिक शिक्षा का अधिक प्रचार नहीं था, अतएव विद्यार्थी पर व्यक्तिगत ध्यान दिया जाता था। इससे उसके सम्पूर्ण अन्तर्निहित गुणों का विकास हो जाता था और इस प्रकार शिक्षा जीवन के लिये उपयोगी प्रमाणित होती थी। शिक्षा-प्रणाली केवल पुस्तकीय ही नहीं थी, अपितु वह भावी-जीवन के संघर्ष के लिये व्यावहारिक और प्रयोगात्मक ज्ञान प्रदान करती थी।

(२) दूसरे जो व्यक्ति शिक्षा के अधिकारी होते थे वे अपनी रुचि और योग्यतानुसार शिक्षित किये जाते थे। उपनयन संस्कार स्त्री-पुरुष सभी के लिये अनिवार्य था। अतः शिक्षा का रूप व्यापक था। ऋषियों के ऋण से मुक्त होने का एकमात्र साधन विद्या प्राप्त करना था। अतएव विद्या प्राप्त करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य था।

(३) इसके अतिरिक्त वाह्याभ्यांतर विनय का सिद्धान्त शिक्षा की योग्यता के लिये एक ब्रह्मचारी के अन्दर होना आवश्यक था। विद्यार्थी-काल में बालक को कठिन ब्रह्मचर्य से रहना पड़ता था। विद्यार्थी जीवन वास्तव में एक कठिन तपस्या काल था जिसमें विद्यार्थी के लिये सुख का पूर्ण निषेध था। वह एक कठोर जीवन बिताने के लिये वाध्य था। आधुनिक काल के विद्यार्थियों की भाँति वह विलास में निमग्न नहीं था। इस इन्द्रिय-निग्रह और कठोर नैतिक-संयम से उसके व्यक्तित्व का विकास और भी अधिक होता था।

(४) प्राचीन शिक्षा-शास्त्री इस बात से भली भाँति परिचित थे कि विद्यारम्भ उचित समय पर करा देना चाहिये। अतः पाँचवा और आठवीं वर्ष में ही उपनयन करा दिया जाता था। विद्यार्थी-जीवन के उपरान्त भी अध्ययन समाप्त नहीं होता था। जो कुछ भी विद्यार्थी-काल में कंठस्थ किया जाता उसको भावी-जीवन में भूल जाना पाप समझा जाता था। पुराने अध्ययन को दुहराने के लिये वर्षा में नियमित अध्ययन करने का आदेश था।

(५) ब्राह्मणीय शिक्षा में मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के अनुसार शिक्षा देने की प्रवृत्ति हम पाते हैं। विद्यार्थी को शारीरिक दण्ड देना अपराध समझा जाता

था। आपस्तम्ब, मनु, गौतम व विष्णु सभी आचार्यों ने शारीरिक दण्ड का विरोध किया है। हाँ याज्ञवल्क्य, मनु और गौतम ने कुछ साधारण दण्ड का आदेश भी दिया है, किन्तु इसे अन्तिम उपाय बतलाया है†। गौतम के अनुसार ऐसे शिक्षक पर जो कि शारीरिक दण्ड देता है राज्य की ओर से अभियोग चलाया जाना चाहिये।

(६) बालक गुरुकुल में गुरु के सीधे सम्पर्क में रहता था। अतः गुरु को पर्याप्त अवसर बालक की शक्तियों और मस्तिष्क के अध्ययन का मिलता था। गुरु बालक के अन्दर उचित व अच्छी आदतों का बीजारोपण करता था। आधुनिक शिक्षा-शास्त्री भी आदत के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। बाल्यावस्था में निर्मित हुई आदतें जीवन-पर्यन्त मनुष्य के साथ रहती हैं। अतएव उषा-जागरण, शीघ्र-शयन, सादा जीवन और उच्च विचार इत्यादि अनुशासन में रखने के लिये अनिवार्य थे। विद्यार्थियों की दिनचर्या नियमित थी और वह एक आदत में परिवर्तित हो जाती थी। इससे उनके व्यक्तित्त्व के विकास में पर्याप्त सहायता मिलती थी। स्नान, यज्ञ, पूजन, भिक्षा, गुरु-सेवा, वेद-पाठ इत्यादि कार्य नियमित दिनचर्या में सम्मिलित थे और ये स्वभावतः होते चलते थे।

(७) इसके अतिरिक्त शिक्षा-जगत में यह बात सदा से विवादप्रद रही है कि विद्यार्थी के निर्माण में स्वभाव या संस्कार का अधिक महत्त्व है अथवा पालन पोषण व परिस्थिति का। वास्तव में आधुनिक शिक्षा-शास्त्री भी इस पर एकमत नहीं हैं। यद्यपि ब्राह्मणीय शिक्षा-शास्त्री भी इस प्रश्न पर एकमत नहीं थे, तथापि वे पालन-पोषण और परिस्थिति पर अधिक जोर देते थे। अथर्ववेद में यह बात स्पष्टतः बताई गई है कि उचित पालन-पोषण, शिक्षा तथा अनुकूल परिस्थितियों के उपलब्ध कर देने से बालक को प्रत्येक वस्तु की प्राप्ति हो सकती है। इन्द्र का उदाहरण भी इसी विषय में दिया जाता है ('इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभवत्')। किन्तु आगे चलकर 'कर्म-सिद्धान्त' एवं 'पुनर्जन्म-सिद्धान्त' का विकास होने पर आचार्यों का मत बदल गया। वे पुरातन संस्कार में विश्वास करने लगे। अतः उनकी दृष्टि में संस्कार व स्वभाव का महत्त्व बढ़ गया और वे समझने लगे कि परिस्थितियाँ बालक का निर्माण नहीं करतीं, क्योंकि 'मलयेपि स्थितो वेणुर्वेणुरेव न चंदनः'। जातिवाद के जटिल हो जाने पर तो यह सिद्धान्त और भी अधिक दृढ़ हो गया और लोग जातियों अथवा

---

† अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्ट्यर्थं ताडयेत्त तौ। मनुस्मृति ४। १६४।
न निन्दा ताडने कुर्यात् पुत्रं शिष्यं च ताडयेत। याज्ञवल्क्य १। ११५।

वर्णों के अनुसार ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र बालकों की शिक्षा-व्यवस्था करने लगे। वर्ण-व्यवस्था का प्रभाव पाठ्यक्रम पर भी पड़ा। इस प्रकार ब्राह्मणीय शिक्षा में कर्म-सिद्धान्त व जातिवाद रूढ़ि मात्र बन गये।

शिक्षा-पद्धति

ऋग्वेद काल में लेखन-कला का विकास नहीं हुआ था, अतः सम्पूर्ण कार्य मौखिक ही कराया जाता था। विद्यार्थियों को वेदमंत्र रटाये जाते थे। लेखन-कला के विकसित होने के उपरान्त भी यही धारणा बनी रही कि वैदिक साहित्य को लेख-बद्ध करना पाप है। मुद्रण-यंत्र तथा कागज की अनुपस्थिति में पुस्तकें केवल ताल-पत्र या भोज-पत्र पर हाथ द्वारा लिखी जाती थीं, अतः वे जन-साधारण के लिये अलभ्य थीं। कालान्तर में ताम्रपत्र का भी उपयोग होने लगा। ऐसी अवस्था में यह सम्भव नहीं था कि प्रत्येक विद्यार्थी को पुस्तकों द्वारा शिक्षा दी जाय। यही कारण था कि प्राचीन गुरु लोग विद्यार्थियों को वेद-मंत्र इत्यादि मौखिक-प्रणाली द्वारा कंठस्थ कराते थे और इसी प्रकार ज्ञान का एक विशाल भण्डार पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होता चला जाता था। नियमित व सुसंगठित स्कूलों के अभाव में वैदिक-काल में शिक्षा व्यक्तिगत रूप से दी जाती थी। गुरु के आसपास एक या दो विद्यार्थी बैठ जाते थे। पाठ-प्रारम्भ से पूर्व विद्यार्थी गुरु के चरणों का स्पर्श करके कार्य आरम्भ करते थे। फिर गुरु मंत्र उच्चारण करते थे। विद्यार्थी उनका अनुकरण करते थे। इस प्रकार पूरा पद कंठस्थ किया जाता था। विद्यार्थी उच्च स्वर से पाठ करते थे और उनके उच्चारण की शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इसी प्रकार क्रमशः पंक्ति, पद और अध्याय समाप्त किये जाते थे। वेद मंत्रों के कंठस्थ कराने के अतिरिक्त विद्यार्थियों के प्रार्थना करने पर गुरु व्याख्या भी करते थे। विद्यार्थी के द्वारा अर्थ का समझना अत्यन्त आवश्यक था। वेदों के अतिरिक्त सूत्रों का भी अध्ययन किया जाता था, जिनके पढ़ाते समय शिक्षक को विशद व्याख्या की आवश्यकता होती थी, क्योंकि सूत्र का अर्थ गूढ़ होता था। इसी प्रकार पाणिनि के व्याकरण, मनु का न्यायशास्त्र और स्मृति एवं ज्योतिष इत्यादि विद्याओं के सूत्रों को भी विद्यार्थी कंठस्थ करते थे। विद्यार्थियों को घर पर कार्य करने को भी दिया जाता था, जो कि केवल गुरु द्वारा बतलाये हुए मंत्रों अथवा पदों की पुनरावृत्ति या दुहराना अथवा उन पर मनन करना था।

प्राचीन शिक्षा-शास्त्रियों ने कंठस्थ करने के कार्य को सरल बनाने के भी उपाय किये। यही कारण था कि उन्होंने सभी विषयों को पद्य में रचा।

यहाँ तक कि व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष, न्याय-शास्त्र आदि जनोपयोगी और क्लिष्ट तथा शुष्क विषय भी पद्य में रचे गये। इससे कंठस्थ करने का कार्य बहुत सरल हो गया।

इसके अतिरिक्त शास्त्रार्थ अर्थात् वाद-विवाद के द्वारा भी शिक्षा दी जाती थी। सामूहिक परिषदों का आयोजन होता था, जहाँ विद्वान् शिक्षक दर्शन के गूढ़ रहस्यों पर भाषण इत्यादि करते थे। हितोपदेश और पञ्चतन्त्र में आगे चल कर एक नवीन शिक्षण-पद्धति का आविष्कार हुआ, जिसके अनुसार अन्योक्ति और लोकोक्तियों द्वारा गूढ़ व महान् नैतिक सत्यों को विद्यार्थियों के लिये सुलभ और बोधगम्य बना दिया जाता था। व्यक्तिगत सम्पर्क की पद्धति भी बहुत लाभदायक प्रमाणित हुई। आधुनिक युग की भाँति जहाँ शिक्षक अपने समक्ष बैठे हुए असंख्य विद्यार्थियों को भाषण देकर चला जाता है चाहे वह समझें अथवा नहीं, यहाँ तक कि अधिकतर विद्यार्थियों से उसका परिचय भी नहीं हो पाता, प्राचीन काल में ऐसा नहीं था। गुरु से शिष्य का सीधा आध्यात्मिक सम्पर्क होता था, जहाँ नित्य-प्रति गुरु-चरणों में बैठकर वह विद्यालाभ करता था। परीक्षा प्रायः प्रतिदिन होती थी। इससे विद्यार्थी सजग रहता था। कुशल विद्यार्थी अपनी कुशाग्रता तथा श्रम के कारण आगे बढ़ने के लिये पूर्ण-स्वतन्त्र थे। अतः उनके व्यक्तिगत विकास में कोई बाधा नहीं होती थी। अन्त में ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जहाँ पिता के अनुपस्थित होने पर उसका योग्य पुत्र शिक्षण-कार्य करता था और अपने पिता की पद्धति का, जिसके अनुसार वह स्वयं शिक्षित हुआ था, अनुकरण करता था।

शिष्य-गुरु सम्बन्ध

ब्राह्मणीय शिक्षा की सर्वश्रेष्ठ विशेषता उसके अन्तर्गत गुरु-शिष्य सम्बन्ध की उत्तमता है। आधुनिक काल में विद्यार्थी प्रवेश के लिये प्रवेश-पत्र भर कर अपरचित शिक्षक के समक्ष जा बैठता है और उनका सम्बन्ध अधिकांश में रुपये-पैसे के माध्यम से जुड़ता है, जिसमें आन्तरिक विनय, प्रेम व श्रद्धा का बहुत कुछ अभाव रहता है। किन्तु प्राचीन काल में शिष्य गुरु के समक्ष हाथ में समिधा लेकर उपस्थित होता था। इसका अभिप्राय था कि वह गुरु की सेवा करने के लिये उद्यत है। और जिस प्रकार समिधा यज्ञ में जल कर प्रकाश में परिवर्तित हो जाती है, उसी प्रकार विद्यार्थी भी गुरु के समक्ष उसमें मिलकर प्रकाश में परिवर्तित होने को सन्नद्ध है। गुरु भी विद्यार्थी को अपना पुत्र समझ कर जो कुछ उससे आता था बिना भेद के बता देता था। कुछ पिता अपने पुत्रों को

स्वयं ही शिक्षा देते थे। श्वेतकेतु को उसके पिता द्वारा 'महान् ज्ञान' देने की कथा विख्यात है। अधिकतर विद्यार्थी अपने आपको गुरु सेवा में अर्पण कर देते थे। ऐसे उदाहरण भी हैं कि जो विद्यार्थी गुरु को अन्य भेंट देने में असमर्थ थे वे रात-दिन उन्हीं की सेवा में लगे रहते थे और अवकाश मिलने पर रात को विद्याध्ययन करते थे। यहाँ तक कि सम्पन्न घरानों के विद्यार्थी भी गाय चराना, ईंधन लाना, अग्नि जलाना, भिक्षा माँगना तथा अन्य गृहस्थी के कार्य करके गुरुसेवा करते थे। गुरुसेवा आध्यात्मिक उन्नति का एक शक्तिशाली साधन माना जाता था।

गुरुकुल-प्रथा ब्राह्मणीय शिक्षा की एक अनूठी देन है। उपनयन संस्कार से लेकर 'समावर्तन' अर्थात् दीक्षान्त तक विद्यार्थी गुरु-गृह पर रह कर विद्याध्ययन करता था। शिक्षक को अपने शिष्य की मनोवैज्ञानिक अवस्था तथा अन्य योग्यताओं को समझने का पर्याप्त अवसर मिलता था और फिर उसी के अनुसार वह शिक्षण-कार्य संचालित करता था। शिष्य उषाकाल में गुरु-जागरण से पूर्व उठता था और रात को गुरु-शयन के पश्चात् सोता था। इस प्रकार हर सम[illegible] । [illegible] और शिष्य का सीधा व्यक्तिगत सम्पर्क रहता था, जिसमें पारस्परिक [illegible] के लिये पर्याप्त सुअवसर उपलब्ध होते थे। प्रायः १२ वर्ष तक गुरुकुल में रहकर विद्या समाप्त होने पर शिष्य अपने घर के लिये विदा होता था। विदा होते समय भी गुरु अपना दीक्षान्त उपदेश उसे देता था यथा 'सत्य बोलो, कर्त्तव्य का पालन करो, वेद अध्ययन में प्रमाद मत करो' इत्यादि। किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि विद्या-समाप्ति के उपरान्त भी गुरु-शिष्य के सम्बन्ध उसी प्रकार रहते थे।

पाठ्य-क्रम

प्रारम्भिक वैदिक युग में लेखन कला का विकास नहीं हुआ था। अधि[illegible] तर ज्ञान शिक्षक द्वारा शिष्य को मौखिक दिया जाता था। उस समय शिक्[illegible] का आधार धार्मिक था। प्रारम्भ ही से बालक को वेद-मन्त्र, यज्ञविधि तथा अन्य धार्मिक मन्त्र मौखिक रटाये जाते थे। ह्रस्व और दीर्घपदों का भेद, सन्धि, स्वर व व्यंजन तथा शुद्ध उच्चारण का ज्ञान प्रारम्भिक अवस्था में ही करा दिया जाता था। यह ज्ञान बालक को वैदिक-साहित्य के अध्ययन में सहायक होता था। यद्यपि ईसा से १५०० वर्ष पूर्व तक वैदिक साहित्य की ही धूम रही, तथापि इतिहास, पुराण तथा वीर-गाथाओं का भी अस्तित्व था। इनका उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। विद्यार्थियों को पिंगल के नियम रटने के लिये उत्साहित किया

जाता था । इससे वेद-मन्त्रों के कंठस्थ करने में सहायता मिलती थी । आगे चलकर ब्राह्मण-साहित्य का सृजन हुआ । वैदिक साहित्य को संकलित करके संहिताओं का स्वरूप दे दिया गया । पुरोहितवाद एक उद्यम के रूप में प्रकट हुआ । यज्ञ-सम्बन्धी साहित्य की रचना इस युग में अधिक हुई । साथ ही यज्ञ-वेदी के बनाने में रेखागणित का विकास हुआ । यज्ञ के लिए उचित व शुभ समय देखना आवश्यक था; अतः इसका विकास ज्योतिष या खगोल-विज्ञान के रूप में हुआ । गणित-शास्त्र दिन पर दिन उन्नति करता ही जाता था । व्याकरण और शब्द-विज्ञान का बीजारोपण भी इस युग में होगया था ।

उत्तर वैदिक काल में पाठ्य-विषयों का बहुत विस्तार हुआ । धार्मिक-साहित्य का तो अध्ययन आवश्यक ही था; इसके अतिरिक्त व्याकरण, गणित, रेखागणित, ज्योतिष, काव्य, इतिहास, आख्यायिका, दर्शन, अर्थशास्त्र, राजनीति, कृषि-विज्ञान, वास्तुकला, शिल्पकला, चित्रकला, सैनिक-विज्ञान, पशु-विज्ञान, आयुर्वेद तथा शल्य-विज्ञान, न्याय-शास्त्र तथा गृह-कला की भी इस युग में अत्यन्त उन्नति हुई । ब्राह्मण, आरण्यक् व उपनिषद् इत्यादि शास्त्र इसी काल की देन हैं, जो कि प्राचीन भारत के दार्शनिक ज्ञान के भण्डार [illegible] जिनसे भारत युग युगों से दार्शनिक प्रेरणा लेता चला आ रहा है । [illegible] वर्ण-व्यवस्था जटिल हो चली थी, अतः प्रत्येक वर्ण के लिए पाठ्य-विषय भी वर्णानुसार थे । धार्मिक तथा वैदिक अध्ययन के साथ ही साथ सांसारिक उपयोगी विद्यायें व कलायें भी वर्णानुसार पाठ्यवस्तु में सम्मिलित कर दी जाती थीं । इस प्रकार ब्राह्मणीय शिक्षा एकाङ्गी नहीं थी, अपितु वह समाज का सर्वाङ्गीण विकास करने में सहायक होती थी ।

ब्राह्मणीय-शिक्षा के पाठ्य-विषय की सूची छान्दोग्य उपनिषद् (७।१।१।२) में सनतकुमार के समक्ष नारद ऋषि ने दी है । नारद जी सनतकुमार के निकट विद्याध्ययन के लिए जाते हैं । सनतकुमार के पूछने पर कि आप पहिले से क्या जानते हैं । तो नारदजी वर्णन करते हैं कि, "मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद, पाँचवाँ इतिहास-पुराण जानता हूँ । वेदों के वेद व्याकरण, पितृ, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र), एकायन (नीतिशास्त्र), देव-विद्या, ब्रह्मविद्या, शिक्षा, कल्प, छन्द, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या और देव जन विद्या यह सब जानता हूँ।………।" इस सूची से प्रतीत होता है कि ब्राह्मणीय-शिक्षा किस प्रकार विकसित होती जा रही थी । इस प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को सम्पन्न और समुन्नत बनाने में इस शिक्षा का विशेष हाथ था ।

गुण-दोष विवेचन

सफलताएँ :—ब्राह्मणीय शिक्षा का विस्तृत विवेचन करते समय उसके अंग-प्रत्यंग पर दृष्टिपात किया जा चुका है। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार प्राचीन भारत का निर्माण उसकी शिक्षा-पद्धति के द्वारा हुआ। तत्कालीन शिक्षा-पद्धति का ही परिणाम है कि भारतीय संस्कृति की आलोक-शिखा युग-युगों से प्रदीप्त है। अनेकों विप्लव हुए, परिवर्त्तन की आँधियाँ आईं और विशाल साम्राज्य विस्मृति के अन्धकार में विलीन हो गये, किन्तु वह आलोक-शिखा प्रज्ज्वलित ही रही और आज भी, जब कि विश्व के ऊपर विनाश की भयंकर घटायें मँडरा रही हैं, भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति भयभीत मानवता को विश्व-शान्ति का संदेश दे रही है।

वैदिक शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य जीवन में वाह्याभ्यान्तर पवित्रता उत्पन्न करके जीवन को चरम विकास अर्थात् मोक्ष की ओर ले जाना था। अपने इस महान् उद्देश्य में इस शिक्षा-पद्धति को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। ब्राह्मणीय शिक्षा चरित्र-निर्माण करने में पर्याप्ततः सफल हुई। गुरु-आश्रमों में रहने वाले बालक प्रकृति की गोद तथा गुरु-चरणों में बैठकर धर्म, दर्शन तथा जीवनोपयोगी विद्याओं का अध्ययन करते थे। आन्तरिक अनुशासन का विशेष महत्त्व था। अनुशासन का अभिप्राय केवल यन्त्रवत् व भावनाशून्य नियमितता तथा आडम्बरपूर्ण भय नहीं था। इसका बालक की आत्मा से सम्बन्ध था। अनुशासन या विनय वह आन्तरिक प्रेरणा थी जो कि जीवन की सभी क्रियाओं में प्रतिबिम्बित होती थी। इसके अतिरिक्त नैतिक अनुशासन तथा चरित्र-विकास के लिए वाह्य साधन भी थे। आधुनिक युग की भाँति विद्यार्थियों को विलास में निमग्न रहने की आज्ञा नहीं थी। उनके जीवन व्यतीत करने के कठिन नियम थे। उनके लिए शीघ्र जागरण, स्नान, भूमिशयन, नग्नपद तथा विशेष व अल्प-वस्त्र और अल्पाहार की व्यवस्था थी। मधु, माँस, सुगन्धि, पुष्प, पदत्राण, प्रेम, क्रोध, लालच, नृत्य तथा अन्य विलास के उपकरणों के प्रयोग करने का निषेध था। विद्यार्थी को नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का आदेश था। इन्द्रिय-निग्रह तथा इच्छा-दमन तत्कालीन ब्रह्मचारियों की विशेषता थी। इन सभी व्यवस्थाओं का प्रत्यक्ष लाभ हुआ। चरित्र तथा व्यक्तित्व एवं शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों के विकास में इस व्यवस्था से बहुत सहायता मिली। यहाँ तक कि इसी कठोर व सात्त्विक जीवन व नैतिक अनुशासन का परिणाम था कि तत्कालीन समाज एक महान् साहित्य का सृजन कर सका। जीवन दिव्यता, पवित्रता तथा

महानता से ओतप्रोत हो गया। जीवन को महान् व जीवन की विभूतियों को हितकारी बनाने में ब्राह्मणीय शिक्षा पूर्ण रूप से सफल हुई।

इसके अतिरिक्त प्राचीन संस्कृति व साहित्य की सुरक्षा एवं उसका प्रजनन भी ब्राह्मणीय शिक्षा का उद्देश्य था। "जब हम प्राचीन धर्म साहित्य की विशालता तथा स्थूलता पर विचार करते हैं तो उसके इतनी शताब्दियों तक सुरक्षित रहने पर महान् आश्चर्य होता है। तथापि हम यह देखते हैं कि यह हुआ और वर्तमान समय तक होता चला आ रहा है।"† प्रारम्भिक वैदिक युग में अथवा उत्तर वैदिक काल में भी, जब कि लेखनकला का विकास नहीं हुआ था, मुद्रण-कला, कागज इत्यादि का अस्तित्व नहीं था तथा पुस्तकें अलभ्य थीं, ऐसी अवस्था में प्राचीन संस्कृति और साहित्य निरन्तर रूप से जीवित रहे। प्राचीन ऋषियोंने इतने विशाल साहित्य को अपने मस्तिष्क के भीतर ही सुरक्षित रखकर भावी सन्तान को मौखिक रूप से ही हस्तान्तरित किया। जिस प्रकार प्राचीन काल में उसी प्रकार बहुत सीमा तक आधुनिक युग में भी सांस्कृतिक एक्य व समानता का प्रधान कारण भारत की विशिष्ट शिक्षा-प्रणाली है।

सामाजिक सम्पन्नता की दृष्टि से भी यह शिक्षा बहुत सफल हुई। जैसा कि हम देख चुके हैं कि इसका पाठ्य-विषय केवल धर्म-शास्त्र ही नहीं था। धार्मिक-साहित्य की प्रचुरता तथा प्रधानता होते हुए भी हमारे वैदिक कालीन पूर्वज सांसारिक उन्नति की ओर से उदासीन नहीं थे। सामाजिक-सम्पन्नता तथा सुख एवं नागरिक उत्तरदायित्व की ओर इस शिक्षा का विशेष रुख था और इस उद्देश्य में इसे पर्याप्त सफलता मिली।

असफलतायें:—इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन का सर्वाङ्गीण विकास करने में ब्राह्मणीय शिक्षा का प्रमुख हाथ रहा। किन्तु आलोचनात्मक दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि इसमें कुछ दोष अथवा अभाव भी थे जिनका उल्लेख करना न्यायसंगत होगा। यूरोप के प्राचीन शिक्षा-शास्त्रियों की भाँति भारत में भी शिक्षा-शास्त्रियों ने धर्म पर अधिक जोर दिया। उनके प्रत्येक कार्य का आधार धार्मिक था, यहाँ तक कि साधारण सांसारिक कार्यों में भी धार्मिकता की झलक आती थी। इससे एक प्रकार का पांडिताऊ रंग प्रत्येक कार्य को मिल जाता था। अधिकतर शिक्षक ब्राह्मण पुरोहित थे। अतः शिक्षा में यज्ञ तथा अन्य धार्मिक कर्मकाण्ड की धूम रही। इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, गणित तथा भौतिक विज्ञान का विकास अवश्य हुआ, किन्तु इतना नहीं हुआ जितना

† F. E. Keay : *Indian Education in Ancient and Later Times*, p. 34. Humphrey Milford. (1942).

धर्म, दर्शन तथा धार्मिक कर्मकाण्ड आदि का। यद्यपि इसकी प्रतिक्रिया उस समय नहीं हुई तथापि कालान्तर में धर्म का जीवन के ऊपर अधिक प्रभाव हो गया और लोग अपने दम्भ में सांसारिक उन्नति को भूलने लगे। पूर्ण ज्ञानियों के लिये 'धर्म' कर्म तथा संघर्ष का प्रेरक था, किन्तु साधारण-जनता इतनी ऊँची नहीं उठ सकी। वह तो 'ब्रह्म' को सत्य और 'जगत' को मिथ्या मानने लगी। इससे सांसारिक उन्नति को बड़ा आघात लगा।

कुछ आलोचकों का कहना है कि ब्राह्मणीय शिक्षा मनुष्य को केवल परलोक द्रष्टा अथवा असांसारिक बनाने में सहायक हुई, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं। वैदिक साहित्य में संघर्ष और कर्त्तव्य पालन को बहुत प्रधानता दी गई। साथ ही वह रचनात्मक तथा क्रियात्मक युग था। उस समय एक महान् साहित्य का सृजन हुआ। ऋषियों ने व्यावहारिक जीवन के ठोस नियम बनाये, जिन पर चल कर समाज समृद्धि प्राप्त कर सकता था। इतना अवश्य है कि यज्ञ इत्यादि कर्मकाण्ड की प्रचुरता से जीवन भर गया था और चारों ओर एक धार्मिक वातावरण ही दृष्टिगोचर होता था। सांसारिक उन्नति उद्देश्य न होकर केवल साधन थी। उद्देश्य तो 'मोक्ष' था। यही विचार-धारा भारत की आत्मा में समा गई, जिसकी प्रतिच्छाया आधुनिक युग में भी देखने को मिलती है।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मणीय शिक्षा में शास्त्र को बहुत महत्त्व दिया गया। स्मृतियाँ और पुराण एक प्रकार से उदाहरण के रूप में कहे जाने लगे। जन-साधारण की धारणा हो गई कि जो शास्त्र में लिखा है वह कभी मिथ्या नहीं हो सकता, अथवा जिसे शास्त्र में मिथ्या कह दिया गया, वह कभी सत्य नहीं हो सकता। इस प्रवृत्ति से जन-साधारण के तर्क व कल्पना-शक्ति दुर्बल हो गये। शास्त्र के प्रमाण ही पर्याप्त समझे गये और परिस्थिति से उत्पन्न उचित और अनुचित होने की कसौटी का पूर्ण अभाव रहा। किन्तु ऐसा हुआ केवल भविष्य में जाकर ही; अन्यथा वैदिक व उपनिषद् युग में तर्कवाद अपनी चरम उन्नति पर था। प्रधानतः उपनिषदों में मानसिक-उन्नति एवं बौद्धिक-चमत्कार और तर्क-वैचित्र्य ही देखने को मिलता है। सूत्र-साहित्य भी मानसिक शक्ति के विकास का प्रमाण है।

इसके अतिरिक्त कला व हस्तकार्य अर्थात् 'देवजन विद्या' को ब्राह्मणों के प्रभुत्व और वर्ण-व्यवस्था के जटिल होने से हेय समझा जाता था। मानसिक कार्य करने वाले श्रेष्ठ तथा हाथ से शारीरिक कार्य करने वाले निम्न समझे जाते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि उच्च वर्ण के लोगों ने कला को संरक्षण नहीं दिया। हस्तकला का कार्य प्रधानतः शूद्र तथा नर्तन, गायन व चित्रकला का

कार्य शूद्र व स्त्रियों का प्रमुख कर्म माना गया। ये जटिलतायें व रूढ़ियाँ आगे चलकर और भी अधिक बढ़ गईं।

ब्राह्मणीय शिक्षा पर एक आरोप यह भी लगाया जाता है कि इसमें विभिन्न विषयों का पारस्परिक सामंजस्य अथवा समन्वय नहीं था। प्रत्येक विषय में प्रारम्भ से ही विशेषता प्राप्त करने की चेष्टा की गई थी। परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक विषय गहरा तो हो गया, किन्तु विशाल या व्यापक न हो पाया।

इसके अतिरिक्त स्त्री-शिक्षा की अवहेलना, जन साधारण की शिक्षा का अभाव तथा सार्वजनिक भाषा की अवहेलना इत्यादि अभियोग ब्राह्मणीय शिक्षा पर और लगाये जाते हैं, किन्तु जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं, ये अभियोग पूर्णतः सत्य नहीं हैं। स्त्रियों का उचित सम्मान था और वे बड़ी विदुषी होती थीं। सार्वजनिक-भाषा संस्कृति थी और उसी में समस्त वैदिक, पौराणिक, उपनिषद् व सूत्र साहित्य का सृजन हुआ। सार्वजनिक शिक्षा अनिवार्य थी जैसा कि उपनयन संस्कार का सब वर्णों के लिये अनिवार्य होने से प्रतीत होता है। हाँ, ऐसा अवश्य है कि जब जन-साधारण भी भाषा संस्कृत से भिन्न होने लगी अथवा उपनयन की अनिवार्यता शिथिल होने लगी एवं स्त्रियों की विवाह-अवस्था घटा दी गई तो अवश्य ही उपरोक्त दोष आ गये। किन्तु ऐसा ब्राह्मणीय-शिक्षा के युग में नहीं हुआ। उस समय तो बौद्ध धर्म का जोर बढ़ता जा रहा था। उसका वर्णन हम आगे के अध्यायों में करेंगे।

उपसंहार

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मानव-जीवन के सभी अंगों का ब्राह्मणीय शिक्षा में विकास हुआ। शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक जीवन के समविकास में वह शिक्षा अपना विशेष महत्त्व रखती थी। चरित्र तथा व्यक्तित्व के विकास में इससे बहुत सहायता मिली। साथ ही सांसारिक उन्नति में भी इस शिक्षा की देन अनुपम है। इस की कुछ विशेषतायें जैसे गुरु-शिष्य सम्बन्ध, नैतिक अनुशासन, व्यक्तिगत ध्यान, मानसिक स्वतन्त्रता, व्यापक उपनयन प्रथा, स्त्री शिक्षा एवं गुरुकुल प्रथा इत्यादि कुछ ऐसी वस्तुऐं हैं जो कि शिक्षा-सिद्धान्तों के अनुकूल हैं और सदा लाभकारी प्रमाणित हुई हैं।

अध्याय ४

बौद्ध शिक्षा-प्रणाली

वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म

ब्राह्मणीय शिक्षा, जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं, राष्ट्र के जीवन का एक प्रधान अंग बन चुकी थी। बौद्ध धर्म का प्रचार होने पर भी भारतीय शिक्षा पर ब्राह्मणीय शिक्षा की छाप बनी रही। बौद्ध धर्म भी वास्तव में हिन्दू धर्म से भिन्न नहीं माना गया है। हिन्दू धर्म के बहुत से मौलिक सिद्धान्त बौद्ध धर्म में भी अक्षुण्ण बने रहे। हिन्दू धर्म के अन्दर कुछ दोष आ जाने से बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। बौद्ध धर्म तो केवल परिस्थितियों की उपज था। महात्मा बुद्ध के प्रादुर्भाव से पूर्व ही हिन्दू धर्म में एक प्रकार का दम्भ प्रवेश कर चुका था। कर्म-काण्ड की धूम थी। इसमें वास्तविक धर्म के मूल सिद्धान्तों का लोप हो रहा था। यज्ञ के नाम पर पशु-बलि का बोल-बाला था। तपस्या के नाम पर अनेक पुरुष गृहत्याग कर वनों में मारे-मारे फिरते थे, तथा तपस्या के साधनों के नाम पर भिन्न-भिन्न शारीरिक यातनाओं के आविष्कार हो चुके थे। बुद्ध ने यह सब व्यर्थ समझा। अतः उन्होंने ऐसे धर्म-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जो कि प्रत्यक्ष जीवन की वास्तविक समस्याओं का विश्लेषण करके धर्म का एक नवीन रूप प्रस्तुत करें। महात्मा बुद्ध समझते थे कि संसार दुखमय है, अतः इसका त्याग करके मोक्ष या निर्वाण प्राप्त करना ही मानव-जीवन का उद्देश्य है। ऐसा होते हुए भी आत्मा, दुख, मोक्ष, कर्म तथा पुनर्जन्म इत्यादि के सिद्धान्त दोनों धर्मों में पाये जाते हैं। इस प्रकार वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म के सम्मिश्रण से एक विशेष भारतीय दृष्टि-कोण का प्रादुर्भाव हुआ। बौद्ध धर्म ने पूर्वस्थित प्रश्न 'मोक्ष किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है' का अपने प्रकार से उत्तर दिया है। अनेक साधनों में एक यह भी साधन महात्मा बुद्ध ने बतलाया है। अतः इसे विशाल हिन्दू धर्म का एक स्वरूप ही माना जा सकता है। जो कुछ भी विरोध दोनों धर्मों में मिलता है वह यही है कि महात्मा बुद्ध ने बत-

लाया था कि यदि बलि और यज्ञ से जीव हिंसा होती है तथा व्यर्थ धन व्यय होता है तो इसे बन्द कर दो। दूसरे, यदि वेद अपौरुषेय नहीं हैं, तो उन्हें भी अन्य पुस्तकों की भाँति समझा जाय। साथ ही बुद्ध ने बताया कि अपने सम्पूर्ण यौवन को वेदों के कंठाग्र करने में ही नष्ट कर देना मूर्खता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी कहा कि यदि हिन्दू देवी-देवता केवल नाम या प्रतीक मात्र हैं तो हमें किसी ऐसी वस्तु की खोज करनी चाहिए जो कल्पित न होकर वास्तविक हो। अन्त में तपस्या के द्वारा शरीर को सुखाना एवं सांसारिक भोग-विलासों और गृहस्थ जीवन का भी बुद्ध ने निषेध किया।

इस प्रकार बौद्ध धर्म ने ब्राह्मणीय धर्म से अपनी प्रेरणा ली। दोनों में बाह्य विषमता होते हुए भी आन्तरिक साम्य है। बुद्ध ब्राह्मणों का आदर करते थे। अपने प्रारम्भिक जीवन में उन्होंने ब्राह्मणों द्वारा ही शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की थी। ललितविस्तार में कहा गया है कि ब्राह्मण या क्षत्रिय ही बौद्ध हो सकता है और चाण्डाल अथवा शूद्र नहीं। यद्यपि बौद्ध धर्म में जाति-पाँति का भेद नहीं था, तथापि निम्न कही जाने वाली जातियों में से भी केवल जिज्ञासुओं अथवा ब्राह्मणीय मानसिक प्रतिभा रखने वालों को ही संघ में प्रविष्ट किया जाता था। केवल जन्मतः ब्राह्मण होने के बुद्ध प्रतिकूल थे, तथापि उन्होंने अपने आपको एक समाज-सुधारक के रूप में कभी भी प्रस्तुत नहीं किया। उन्होंने तो सादा और सात्त्विक जीवन व्यतीत करने वाले भिक्षुओं के समाज की रचना की जो बाल्यावस्था में ही गृह-त्याग करके शिक्षा और संयम के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके 'निर्वाण' प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। यह भी वास्तव में ब्राह्मणीय पद्धति के ब्रह्मचर्य, वाणप्रस्थ और सन्यास आश्रम की भाँति था। केवल ग्रहस्थ-आश्रम का ही वहिष्कार बुद्ध ने किया। इन सब बातों से प्रमाणित होता है कि बौद्ध धर्म विशाल हिन्दू धर्म का ही एक परिवर्तित स्वरूप था।

बौद्ध धर्म का प्रचार भारत में ६०० ई० पू० ही हो गया था। बौद्ध शिक्षा के प्रमुख केन्द्र विहार या मठ थे। वास्तव में बौद्ध-कालीन शिक्षा-प्रणाली का इतिहास ही बौद्ध-संघ का इतिहास है। शिक्षा की सम्पूर्ण व्यवस्था ही भिक्षुओं के हाथों में थी। इसमें धार्मिक व भौतिक दोनों प्रकार की शिक्षायें सम्मिलित थीं। ब्राह्मणीय शिक्षा की भाँति इसमें भी विद्यार्थी की प्रारम्भिक दीक्षा होती थी। इसी का वर्णन अब हम आगे करेंगे।

प्रव्रज्या

विद्यारम्भ प्रव्रज्या या 'पब्बज्जा' बौद्ध शिक्षा-प्रणाली का प्रथम संस्कार था। छोटी अवस्था में ही बालक प्रव्रज्या के उपरान्त 'श्रमण' बनकर मठ में

उपस्थित होता था। संघ में प्रवेश करने से पूर्व नवागन्तुक को 'शरणत्रयी' लेनी पड़ती थी, अर्थात् 'बुद्धं शरणम् गच्छामि, धम्मं शरणम् गच्छामि, संघ शरणम् गच्छामि' का उच्चारण करना पड़ता था। प्रवेश के लिए जाति-भेद नहीं था। महात्मा बुद्ध का स्वयं ही कहना था कि जैसे नदियाँ समुद्र में विलीन होकर एक रस हो जाती हैं उसी प्रकार भिन्न-भिन्न जातियाँ संघ में मिलकर एक रूप हो जाती हैं। प्रव्रज्या ८ वर्ष के बालक को दी जाती थी। उसके पश्चात् ही मठ की अनुशासन-प्रणाली उसके ऊपर लागू हो जाती थी और उसे घर बार छोड़ कर अपने उपाध्याय के अन्तर्गत रहना पड़ता था। हिंसा, असत्य, मादक-पदार्थ मांस, नृत्य तथा संगीत इत्यादि का श्रमण के लिए निषेध था। यह स्मरणीय है कि बिना माँ-बाप की आज्ञा के बालक का संघ में प्रवेश नहीं कराया जाता था। छूत के रोगों; जैसे कोढ़, खुजली तथा क्षय इत्यादि से पीड़ित रोगियों की तथा अन्य शारीरिक दोष रखने वाले नवागन्तुक को प्रव्रज्या का निषेध था। इसके अतिरिक्त दास, अभियुक्त तथा राज-कर्मचारियों जैसे सैनिक इत्यादि के लिये भी प्रवेश निषिध्य था।

उपसम्पदा

यह बौद्ध-पद्धति का द्वितीय एव अन्तिम संस्कार था। २० वर्ष की उम्र से पूर्व इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता था। इसके उपरान्त भिक्षु अपनी सदस्यता को प्राप्त किया हुआ समझा जाता था। जैसा कि ब्राह्मणीय शिक्षा में बतलाया गया था कि स्नातक होने के उपरान्त ब्रह्मचारी गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था, ठीक उसके प्रतिकूल बौद्ध धर्म के अनुसार उपसम्पदा संस्कार होने पर श्रमण पक्का भिक्षु बन जाता था और उसका गृहस्थी अथवा संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता था। प्रव्रज्या तो केवल अल्प-काल के लिए होती थी, किन्तु उपसम्पदा-संस्कार सम्पूर्ण जीवन के लिए था। यद्यपि ब्राह्मणीय शिक्षा के अनुसार भी नैष्ठिक ब्रह्मचारी या आजन्म ब्रह्मचारी होते थे, किन्तु ऐसे व्यक्ति विरले ही थे। बौद्ध धर्म में तो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य भिक्षु के लिए अनिवार्य था। कालान्तर में जब स्त्रियों का भी भिक्षुणी के रूप प्रवेश हो गया तो उनके लिए भी यह अनुशासन पूर्ण रूप से आवश्यक समझा गया।

'पब्बजा' संस्कार में तो बालक उपाध्याय के निकट जाकर हाथ जोड़ कर कहता था कि "आप मेरे उपाध्याय हैं"। और एक पक्षीय सम्बन्ध स्थापित हो जाता था। किन्तु 'उपसम्पदा' सम्पूर्ण भिक्षुओं के सम्मुख एक उत्सव के रूप में होता था। इसके सम्पादन की प्रणाली पूर्ण जनतंत्रवादी थी और बहुमत से

इसका सम्पादन होता था। श्रमण भिक्षु का भेष धारण करके, हाथ में कमण्डल, एक कंधे पर चीवर लेकर अन्य भिक्षुओं को प्रणाम करके, हाथ जोड़कर बैठ जाता था। वहीं वह अपने उपाध्याय (उपाज्झाय) को चुनता और इस प्रकार उपसम्पदा संस्कार समाप्त हो जाता। इसके अतिरिक्त यदि कोई भिक्षु संघ से हटना चाहता, तो यह भी सरल कार्य था। प्रतिज्ञा भंग करने पर या सांसारिकता का आकर्षण बढ़ने पर कोई भी भिक्षु संघ से हटाया जा सकता था। ऐसे भिक्षु को अपनी असमर्थता की घोषणा करनी होती थी।

शिष्य-गुरु सम्बन्ध

बौद्ध काल में भी गुरु-शिष्य में सम्बन्धों में वही पवित्रता रही जो कि वैदिक कालीन शिक्षा में थी। विद्यार्थी का दूसरा नाम 'सिद्धविहारक' भी था। सिद्धविहारक उपाध्याय की सेवा करते हुए विद्यालाभ करता था। वह उपाध्याय से पूर्व उठता और बाद में सोता था। प्रातःकाल गुरु के लिए उसे जल, मिट्टी तथा दातून इत्यादि की व्यवस्था करके उनके बैठने की चौकी लगानी होती थी और खाने को खीर परसनी होती थी। महावग्ग में गुरु-शिष्य के सम्बन्धों का बहुत विशाल वर्णन मिलता है। "भिक्षुओ! सिद्धविहारक को उपाध्याय के साथ अच्छा व्यवहार करना चाहिए। समय से उठकर, जूता पोंछ कर उत्तरासंग को एक कंधे पर रख, दातून देनी चाहिए। मुख धोने का जल तथा-आसन की व्यवस्था करनी चाहिए। खाने को खीर देनी चाहिए। झाड़ू देना तथा सफाई करनी चाहिए। भिक्षा के लिए उपाध्याय के साथ जाना चाहिए.........इत्यादि।" इसके अतिरिक्त उपाध्याय से कुछ दूरी पर चलना, उनके लिए भिक्षा लाना, पैर धोना, वस्त्र प्रक्षालन करना तथा रोगी होने पर उनकी सुश्रूषा करना इत्यादि भी शिष्य के कर्तव्य थे।

इसके विपरीत शिष्य के प्रति उपाध्याय या आचार्य के कर्तव्यों का भी उल्लेख है। उपाध्याय को शिष्य को पुत्र की भांति रखना होता था। वह शिष्य को अभाव होने पर पात्र तथा चीर देता था। रोगी होनेपर उपाध्याय को वही सेवायें करनी होती थीं जो कि शिष्य उसकी करता था। इसके अतिरिक्त उपाध्याय का यह परम कर्तव्य माना जाता था कि वह शिष्य को उच्चकोटि की मानसिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान करे।

इस प्रकार गुरु और शिष्य के सम्बन्ध अत्यन्त मधुर और सम थे। यह भारतीय परम्परा के अनुकूल ही था। गुरु लोग बड़ी सादगी से जीवन व्यतीत करते और शिष्य के समक्ष अपना आदर्श उपस्थित करते थे। गुरु की आव-

श्यकतायें न्यूनतम होती थीं। नालन्दा के प्रसिद्ध शिक्षकों को साधारण विद्यार्थियों की अपेक्षा केवल तीन गुना अधिक व्यय करने को मिलता था। सेवा ग्रहण करना एक प्रकार से गुरु का अधिकार हो गया था। यदि कोई शिष्य गुरु का आदर करने में असफल होता तो वह अयोग्य समझा जाता था और संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता था। शिष्यों से यह उच्च सम्मान प्राप्त करने के लिए गुरु को एक महान् विद्वान्, उच्च-चरित्र, आत्म-संयमी तथा आत्मदर्शी होने की आवश्यकता थी। ह्वेनसांग के लेखों से प्रतीत होता है कि नालन्दा इत्यादि विहारों में अत्यन्त उद्भट विद्वान् आचार्य रहते थे, जो शिष्यों के समक्ष एक जीवित आदर्श प्रस्तुत करते थे।

विद्यार्थियों का निवास

ब्राह्मणीय शिक्षा की भांति इस शिक्षा में गुरुकुल की व्यवस्था नहीं थी। विद्यार्थी श्रमण अथवा पूर्ण-भिक्षु के रूप में मठों या विहारों में रहते थे। यह विहार सम्पूर्ण बौद्ध धर्म की श्रृंखला के खंडों के रूप में थे। इस प्रकार इन विहारों और मठों के मिलने से ही संघ का निर्माण होता था; अर्थात् भिन्न-भिन्न शिक्षा-समूहों अथवा मठों के मिलने पर ही संघ का अस्तित्व था। इन मठों में विद्यार्थी और उपाध्याय साथ-साथ रहते थे। वहाँ स्थान का अभाव नहीं था। नालन्दा इत्यादि विश्वविद्यालयों के भग्नावशेषों से विदित होता है कि वहाँ हजारों विद्यार्थियों के रहने की व्यवस्था रहती थी।

बौद्ध धर्म के प्रचार के प्रारम्भ में भिक्षु लोग वनों में, गुफाओं में तथा पेड़ों के नीचे रहते थे; किन्तु महात्मा बुद्ध ने उन्हें मठों या विहारों में रहने की आज्ञा प्रदान कर दी थी। यह आज्ञा केवल उसी समय के लिये थी जब कि खुले हुए में रहना सम्भव नहीं था जैसे वर्षा, आँधी, ओला या हिमपात और तीव्र धूप इत्यादि। बरसात में रहने के लिये वर्षावास थे जो कि अधिकतर धनिकों द्वारा बना दिये जाते थे। बौद्ध विहार तो प्रासादों के समान विशाल, सुन्दर और सुखदायक होते थे। राजा बिम्बसार द्वारा संघ के लिये एक प्रासाद बनवाये जाने की कथा है। इन विहारों के विषय में चीनी यात्रियों ने बहुत विशद् और आँखों देखा वर्णन लिखा है। जेतवन विहार, जिसे राजकुमार अनाथ पिंडिक ने निर्माण कराया था, उस समय का एक प्रसिद्ध विहार था। इसमें भिन्न-भिन्न कार्यों जैसे, भोजन, स्नान, शयन, वाचन, अध्यनन, शास्त्रार्थ तथा अतिथि इत्यादि के लिये अलग-अलग सुन्दर कमरे बने हुए थे, जो विभिन्न सजा इत्यादि से भली भाँति सुसज्जित थे। इसके
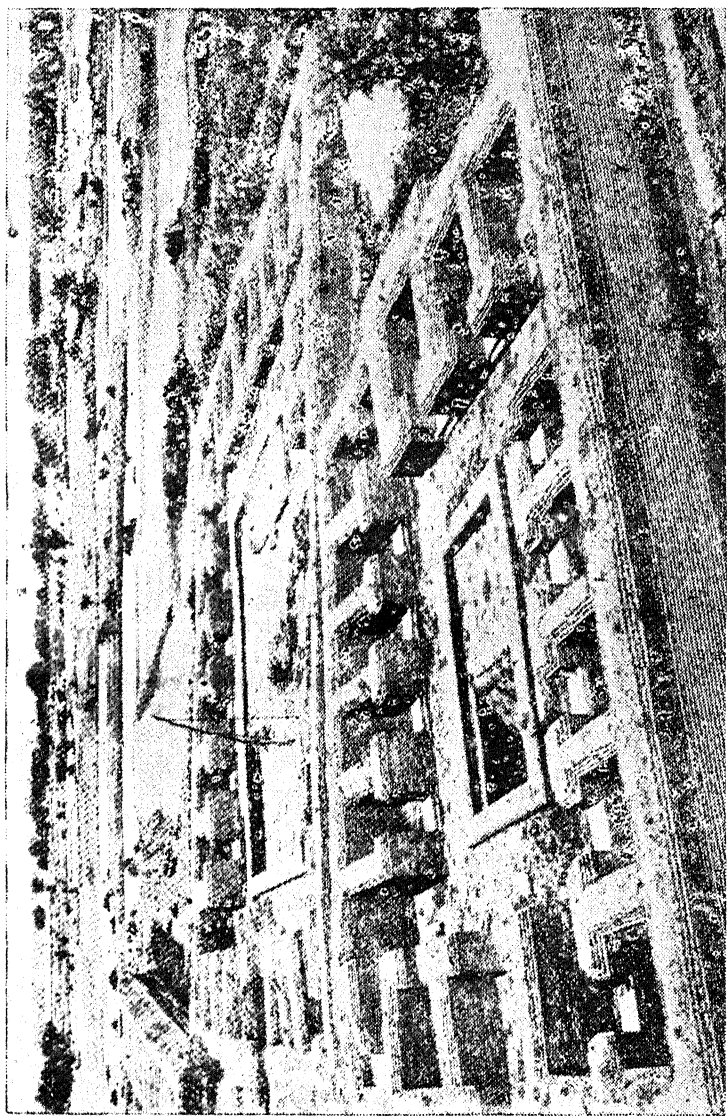
अतिरिक्त और भी कुछ प्रसिद्ध विहार थे जैसे यास्टिवन, वेणुवन, राजगृह में सीतवन इत्यादि।

ये बौद्ध कालीन विहार शिक्षा के केन्द्र थे। इनका उपयोग केवल धार्मिक कार्यों में ही न होकर लौकिक विद्याओं के केन्द्रों के रूप में भी होता था। कला-कौशल, वास्तु-कला तथा चित्र-कला का शिक्षण भी इन स्थानों पर होता था।

इसके अतिरिक्त कुछ विद्यार्थी इन विहारों में गुरु के साथ न रह कर अपने स्वयं के घरों में भी रहते थे और विद्याध्ययन के लिये विहार में जाते थे। बनारस के राजकुमार जुन्ह की कथा इसी प्रकार की जातकों में मिलती है। बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों में छात्रावास का प्रबन्ध भी था।

भोजन

बौद्ध भिक्षुओं तथा विद्यार्थियों का भोजन बहुत सादा था। श्रमण अपने उपाध्याय के साथ निकटस्थ गावों में भिक्षा के लिये जाते थे और जो कुछ मिल जाता उसी पर निर्वाह करते थे। आवश्यकता से अधिक भिक्षा लेना निषिद्ध था। भिक्षु तथा विद्यार्थियों को नागरिकों की ओर से भोजन का निमंत्रण भी मिलता था। उनके भोजन में प्रधानतः फल, दूध, खीर, दही तथा गुड़ और गन्ना थे।

पाठ्य-क्रम

बौद्ध शिक्षा निवृत्ति-प्रधान थी। इसका प्रधान उद्देश्य जीवन में 'निर्वाण' प्राप्त करना था, अतः शिक्षा भी धर्म-प्रधान थी। अधिकांश बौद्ध भिक्षु, धर्म-शास्त्रों का ही अवलोकन करते थे। उनका जीवन ही धर्ममय था। सुत्तन्त, विनय साहित्य तथा धम्म इत्यादि ही उनके शिक्षा के विषय थे।

इससे यह न समझना चाहिये कि सम्पूर्ण समाज ही धर्म का अध्ययन करता था और देश में जीवनोपयोगी शिक्षा का अभाव था। वास्तव में ऐसा नहीं था। भारत में मौर्यकाल तथा गुप्तकाल स्वर्णयुग के नाम से पुकारे जाते हैं, जब कि प्राचीन भारत साहित्य, दर्शन, कला, व्यापार, कृषि तथा सैनिक उन्नति की दृष्टि से अपने वैभव की पराकाष्ठा पर था। आर्थिक दृष्टि-कोण से भी भारत धन-धान्य से परिपूर्ण था। ऐसी अवस्था में हम यह नहीं कह सकते कि यहाँ भौतिक विषयों की शिक्षा का अभाव था, क्योंकि बिना इन विज्ञानों की उन्नति हुए देश का सर्वाङ्गीण विकास असम्भव था। बौद्ध कालीन लौकिक शिक्षा के प्रमुख विषय, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, कलाकौशल—जैसे

कातना, बुनना, छपाई, दर्जी का कार्य अर्थात् सिलाई, लेखन, गणना, चित्र-कला, चिकित्सा व आयुर्वेद, शल्य अर्थात् सर्जरी तथा मुद्रा इत्यादि।

शिक्षा दो भागों में विभक्त थी : प्रारम्भिक और उच्च शिक्षा। प्रारम्भिक शिक्षा में लिखना, पढ़ना तथा साधारण गणित का अध्ययन कराया जाता था। उच्च शिक्षा में धर्म, दर्शन, आयुर्वेद, सैनिक-शिक्षा आदि सभी सम्मिलित थे। अध्ययन विषय चुनने में जाति-पाँति का कोई भेद नहीं था। तक्षशिला के लिये विद्यार्थी भिन्न-भिन्न स्थानों से आते थे। तुलनात्मक-ज्ञान के लिये वेदों का अध्ययन किया जाता था, तथापि जातक युग में अथर्व-वेद पाठ्य-क्रम में सम्मिलित नहीं था। वेद मन्त्रों के कंठाग्र करने की प्रणाली इस समय भी प्रचलित थी। बोधिसत्त्व ने भी वेदों का ज्ञान प्राप्त किया था।

विज्ञान, ललित एवं शिल्प कलाओं के नामों का उल्लेख जातकों में तो नहीं मिलता, किन्तु मिलिन्दपान्ह में १८ शिल्पों का वर्णन है, जो पाठ्य-क्रम में सम्मिलित थे। तक्षशिला के कुछ विद्यालयों में हत्थी-सुत्त (हाथी-विद्या) तंत्र, मृगया, पशु-विद्या, धनुर्विद्या, सामुद्रिकविद्या, सर्पविद्या और आयुर्वेद का शिक्षण होता था। इनमें से केवल एक-एक विषय में ही विद्यार्थी विशेषयोग्यता प्राप्त कर सकते थे। इन सभी विद्याओं की सैद्धान्तिक व व्यावहारिक शिक्षा प्रदान की जाती थी। आयुर्वेद तथा शल्य की व्यावहारिक शिक्षा का भी प्रबन्ध इन विद्यालयों में था। जीवक के उदाहरण से प्रतीत होता है कि उसने शल्यविद्या की व्यावहारिक शिक्षा पाई थी। यही कारण था कि ठीक अपने विद्यार्थी-जीवन के पश्चात् ही उसने दो सफल ऑपरेशन किये जो अत्यन्त ही कठिन थे। यात्रा व देशाटन भी व्यावहारिक शिक्षा के अंग समझे जाते थे। इनके अतिरिक्त प्रकृति-निरीक्षण, कानून और सैनिक प्रशिक्षण भी पाठ्य-वस्तु में सम्मिलित थे। तक्षशिला इन विद्याओं का प्रधान केन्द्र था।

मिलिन्दपान्ह से प्रतीत होता है कि बौद्ध युग में ब्राह्मणीय शिक्षा का भी प्रचार था। वास्तव में दोनों प्रकार की शिक्षायें एक दूसरे की पूरक थीं। ब्राह्मणीय शिक्षा के चार वेद, इतिहास, पुराण, काव्य, शब्द-विद्या, व्याकरण ज्योतिष, वेदाङ्ग, सामुद्रिक-विद्या, शकुन-विद्या, सांख्य-योग, न्याय, वैशेषिक संगीत, चिकित्सा-शास्त्र तथा तंत्र-विद्या इत्यादि सभी विषय भिन्न-भिन्न बौ[illegible] कालीन विश्व-विद्यालयों में पढ़ाये जाते थे। पाँचवीं शताब्दी में फाह्यान ने [illegible] यही लिखा था कि उस समय ब्राह्मणीय शिक्षा का भी जोर था। विनय ग्रन[illegible] बौद्ध भिक्षुओं के प्रधान अध्ययन-ग्रन्थ थे। उच्च शिक्षा के लिये संस्कृत क[illegible]

† 3 Rs.

अध्ययन अनिवार्य था। स्वयं फाह्यान ने ३ वर्ष तक पाटलीपुत्र में रहकर संस्कृत का अध्ययन किया था। इसके अतिरिक्त स्थानीय भाषाओं और पाली का भी प्रचार हो चुका था। यहाँ तक कि अधिकांश बौद्ध ग्रन्थ पाली में थे। सातवीं शताब्दी में ह्वान-सांग ने भी यही लिखा था कि ब्राह्मणीय शिक्षा का जोर था। चार वेदों का अध्ययन अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त बौद्ध पाठ्य-क्रम का उल्लेख करते हुए उसने लिखा है कि मठों और विहारों में उपाध्यायों और आचार्यों के द्वारा शिक्षा दी जाती है। प्रारम्भिक शिक्षा में लिखना, पढ़ना, गणित तथा बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का अध्ययन कराया जाता है। व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है। बालक को संस्कृत की वर्णमाला से प्रारम्भ कराके स्वर, सन्धि, समास इत्यादि व्याकरण के नियमों का अध्ययन कराया जाता है। इस प्रकार प्रारम्भिक शिक्षा में ही लौकिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की शिक्षा का समावेश था।

उच्च शिक्षा के विषय में ह्वान-सांग ने नालन्दा का वर्णन किया है कि उसमें बौद्ध-दर्शन, विनय-साहित्य, योग तथा अन्य सभी विद्यायें पढ़ाई जाती थीं। विक्रमशिला, तर्कशास्त्र व न्यायशास्त्र का केन्द्र था। इत्सिंग ने भी इन्हीं पाठ्य-क्रम और शिक्षा विषयों का वर्णन किया है। उसने यह भी लिखा है कि भिक्षु लोग वेदों की भाँति 'त्रिपिटक' का भी अध्ययन करते थे।

औद्योगिक-शिक्षा

बौद्ध शिक्षा प्रधानतः धार्मिक थी, उसका प्रमुख उद्देश्य संघ के भिक्षुओं को शिक्षित करना तथा जनता के उन व्यक्तियों को शिक्षित करना था जो संघ से सहानुभूति रखते थे। किन्तु हम देखते हैं कि बौद्ध काल में औद्योगिक तथा जीवनोपयोगी शिक्षा की भी अवहेलना नहीं की गई थी। महावग्ग में कातने, बुनने तथा सिलाई करने का साक्ष्य मिलता है। मठ में भिक्षुओं को भी इन शिल्पों के सीखने की आज्ञा थी। उन्नीस सिप्पों (शिल्पों) का उल्लेख हम ऊपर कर ही चुके हैं। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद व शल्य-विज्ञान की इस युग में बहुत उन्नति हुई। जीवक कुमार भच्च उस युग का प्रसिद्ध चिकित्सक और शल्य-विद्या विशेषज्ञ था। वह तक्षशिला का विद्यार्थी था। सात वर्ष तक चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन करने के उपरान्त उसने देशाटन करके जड़ी-बूटियों का ज्ञान प्राप्त किया; तदुपरान्त देश के भिन्न-भिन्न भागों, जैसे उज्जयिनी इत्यादि में गया। जीवक के द्वारा मस्तिष्क व पेट की आँतों के ऑपरेशन करने का भी उल्लेख है। इसी प्रकार प्रसिद्ध आयुर्वेद-पिता चरक

भी इसी युग में अवतीर्ण हुआ। चिकित्सा-शास्त्र के अध्ययन का केन्द्र तक्षशिला था। यहाँ राज-गृह इत्यादि सुदूर स्थानों से विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने आते थे। मिलिन्दपान्ह में भी प्राचीन चिकित्सा-शास्त्रियों के नाम मिलते हैं जैसे— नारद, धन्वन्तरि, अंगरिक, कपिल, अतुल और पुब्बकच्चायन इत्यादि।* शल्य-विद्या के अतिरिक्त सर्पदंश-चिकित्सा का भी इस युग में बहुत आश्चर्य-जनक विकास हुआ, यहाँ तक कि मंत्रों द्वारा विष-शमन और सर्प को पकड़ कर विष चुसवाने का भी उल्लेख मिलता है।

आयुर्वेद के अतिरिक्त जीवनोपयोगी कला-कौशल में वास्तु-कला भी प्रमुख था। नालन्दा तथा विक्रम-शिला के विश्वविद्यालय और उनके विशाल भवन, तत्कालीन चित्र-कला व मूर्ति-कला तथा अन्य बौद्ध विहार, स्तूप व चैत्य इसके प्रमाण हैं। कृषि, व्यापार, कुटीर-उद्योग तथा पशु-पालन इत्यादि लौकिक उद्योगों में जन-साधारण उसी प्रकार प्रशिक्षण पा रहे तथा उन्नति कर रहे थे जैसा कि उन्हें ब्राह्मणीय शिक्षा-काल में तत्सम्बन्धी विभिन्न प्रकार की सुविधायें प्राप्त थीं।

शिक्षा-पद्धति

बौद्ध-काल तक लेखन-कला का पर्याप्त प्रचार हो चुका था, किन्तु जन-साधारण में इसका व्यवहार अधिक नहीं होता था। अतः वैदिक शिक्षा की भाँति बौद्ध-शिक्षा भी मौखिक दी जाती थी। सिद्धविहारक व्याकरण के धातु व रूप इत्यादि कंठाग्र करते थे। आचार्य और सिद्धविहारक दोनों ही मठों में साथ-साथ रहते थे। अतः आचार्य प्रत्यक्ष रूप से ही विद्या प्रदान करता था। वह विद्यार्थियों को पाठ देता और वे उसे कंठाग्र करते थे। विद्यार्थियों द्वारा पाठ के भली भाँति बोधगम्य होने पर ही आचार्य आगे बढ़ता था। जो व्यक्ति बौद्ध-धर्म में साधारणतः श्रद्धा रखते थे उन्हें 'उपासक' कहते थे। ये 'उपासक' भिक्षुओं को अपने घरों पर निमंत्रित करके उनके द्वारा उपदेश सुनते थे। विहारों तथा मठों में हेतु-विद्या अर्थात् तर्क-पद्धति को अपनाया जाता था और उसके द्वारा विद्यार्थी का मानसिक विकास किया जाता था। शिक्षण-पद्धति में तर्क-प्रणाली का अधिक महत्त्व था। मठों और विहारों में भिन्न-भिन्न धार्मिक और दार्शनिक विषयों पर नित्य वाद-विवाद हुआ करते थे। विक्रमशिला तो इनमें सर्वोत्तम था। हिन्दू या वैदिक-धर्म अथवा जैन-धर्म का खण्डन करने के लिये बौद्ध-भिक्षु बाल की खाल निकाला करते थे। भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बी

---

* राधाकुमुद मुकर्जी द्वारा उद्धृत।

नालन्दा में महात्मा बुद्ध की एक धात्विक मूर्ति

[भा० शि० इ

समय-समय पर शास्त्रार्थ किया करते थे, अतः विद्यार्थियों को अपने प्रारम्भिक विद्या-काल से ही वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में प्रशिक्षण दिया जाता था। कभी-कभी मठों में विशेषज्ञों को आमन्त्रित किया जाता और भिन्न भिन्न विषयों पर विद्यार्थियों के लिये उनके भाषण होते थे। इस प्रकार भाषण और वाद-विवाद ने शिक्षा-पद्धति में एक प्रमुख स्थान ग्रहण कर लिया था। इससे विद्यार्थी की मानसिक-शक्तियों का पर्याप्त विकास होता था। उसकी ज्ञान-परिधि का विस्तार होता तथा जीवन से उसे एक क्रियात्मक रुचि हो जाती थी। जीवन की भिन्न भिन्न समस्याओं के विषय में वह वाद-विवाद करके अपने विचारों को सुलझाता था। कालान्तर में तो यह प्रणाली यहाँ तक बढ़ी कि विद्वान् लोग केवल 'तर्क, तर्क के लिये' करने लगे। वास्तविक ज्ञान और गंभीर अध्ययन को इससे बड़ा धक्का लगा। ऐसे तर्क-शास्त्रियों में वाचालता अधिक आगई।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे विशेष आचार्य भी थे जो देशाटन करके विद्या-प्रचार करते थे, जैसे सारीपुत्त, महामुग्गल्लन, अनुरुद्ध, आनन्द और राहुल इत्यादि। विद्यार्थियों के लिये उच्च शिक्षा की समाप्ति पर देशाटन के द्वारा ज्ञान को वास्तविक व व्यावहारिक रूप देने की पद्धति का प्रचलन था। इससे उनका ज्ञान अधिक पूर्ण, ठोस व प्रत्यक्ष हो जाता था। जीवक का उदाहरण इस विषय में दे चुके हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों से आने वाले भिक्षुओं के सम्मेलन भी होते थे जहाँ शास्त्रार्थ और भाषण होते थे। विद्यार्थियों को इन सम्मेलनों में आने का पूर्ण अवसर दिया जाता था। इसके द्वारा विद्यार्थियों का ज्ञान बढ़ता था। कुछ बौद्ध भिक्षु निर्जन वनों में भी समाधिस्थ होकर चिन्तन व मनन करके अन्तर्ज्ञान प्राप्त करते थे, किन्तु सर्व-साधारण विद्यार्थियों के लिये ऐसी कोई पद्धति प्रचलित नहीं थी।

जीवनोपयोगी विज्ञानों और कला-कौशलों की शिक्षण-पद्धति वही थी जो ब्राह्मणीय शिक्षा में थी, अर्थात् विद्यार्थियों को शास्त्रीय और व्यावहारिक दोनों प्रकार की पद्धतियों के द्वारा शिक्षा दी जाती थी। कला-कौशलों में विशेषतः विद्यार्थी कुछ समय तक कुशल कारीगरों के साथ रहते थे और धीरे-धीरे उनकी शिष्यता में कार्य सीखते थे। कातना, बुनना, सिलाई, शिल्प-कला वास्तु-कला, तथा अन्य दस्तकारियाँ इसी प्रकार सीखी जाती थीं।

स्त्री-शिक्षा

बौद्ध-धर्म-सिद्धान्तों के अनुसार स्त्री को त्याज्य व हेय समझा जाता था। भिक्षु आजन्म नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहते थे। अतः स्त्रियों के सम्पर्क में आने से वे

डरते थे। किन्तु दिन प्रति-दिन के जीवन में यह असंभव था, विशेषतः उस अवस्था में जब उन्हें अपने शिष्यों के साथ गृहस्थों के यहाँ भिक्षान्न के लिये जाना होता था। अतः महात्मा बुद्ध ने स्त्रियों को सम्मिलित होने की आज्ञा प्रदान करदी थी और बुद्ध भिक्षुणी इन्हीं मठों और विहारों में रहकर पवित्र जीवन व्यतीत करती थीं। बौद्ध शिक्षा के प्रारम्भिक दिनों में तो स्त्री-शिक्षा को बहुत प्रोत्साहन मिला और स्त्रियों के लिये अलग मठों का भी निर्माण हो गया; किन्तु चौथी शताब्दि में भिक्षुणियों के विहारों का ह्रास होने लगा, क्योंकि बौद्ध-विहारों का शिक्षा के दृष्टिकोण से इतना महत्त्व बढ़ गया था कि वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा प्रदान की जाने लगी थी। अतः स्त्रियाँ उन विद्यालयों से कोई लाभ नहीं उठा सकीं। तथापि जो कुछ भी शिक्षा स्त्रियों को मिली उसने न केवल जन-साधारण की स्त्रियों का ही चरित्र-निर्माण व मानसिक विकास किया, अपितु कुछ ऐसी उच्चकोटि की विदुषी महिलाओं को भी उत्पन्न किया जिन्होंने धार्मिक व दार्शनिक क्षेत्र में समाज का नेतृत्व किया। बहुत सी स्त्रियाँ दर्शन-शास्त्र का गहन अध्ययन करती थीं और कुछ उच्चकोटि की कवियत्री भी थीं। कुछ समाज-सेवा का भार भी लेती थीं और उसी में शिक्षा भी प्राप्त करती थीं। बौद्ध-काल में कुछ स्त्रियों के धर्म-प्रचार के लिये विदेश जाने का भी उल्लेख मिलता है। सम्राट् अशोक की बहिन संघमित्रा लंका इत्यादि देशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने गई थी। शुभा, अनुपमा और सुमेधा नामक ऐसी बौद्ध भिक्षुणियों का भी उल्लेख मिलता है, जो आजीवन ब्रह्मचारिणी रही थीं। उच्च-शिक्षा प्राप्त स्त्रियाँ शिक्षा का कार्य भी करती थीं और 'उपाध्याया' कहलाती थीं। छात्राओं के लिये छात्रिशालाओं का उल्लेख भी पाणिनि ने किया है। शीलभट्टारिका, प्रभुदेवी तथा विजयांका इत्यादि उच्चकोटि की कवियित्री थीं। विजयांका को तो कालिदास के उपरान्त द्वितीय श्रेणी की कवियित्री बतलाया जाता है। स्त्रियाँ राजनीति का भी अध्ययन करती थीं। पति की मृत्यु के उपरान्त शासकों की रानियाँ राज्यभार ग्रहण करतीं और प्रबन्ध को सुचारु रूप से चलातीं थीं। उस समय कई ऐसे राज्य वर्तमान थे जहाँ शासन का कार्य स्त्रियों के हाथ में रहा। शतवाहन राज्य में नायनिका, चौथी शताब्दि में वाकाटक प्रभावती गुप्ता तथा चालुक्य वंश में (बादामी) विजय महारिका के नाम से प्रसिद्ध हैं। इससे प्रमाणित होता है कि राजनीति का शास्त्रीय व व्यावहारिक ज्ञान स्त्रियाँ भी प्राप्त करती थीं। इसके अतिरिक्त स्त्रियाँ आलोचना, मीमांसा, वेदान्त, आयुर्वेद तथा उच्च साहित्य का अध्ययन भी करती थीं। शंकराचार्य और मण्डन मिश्र के बीच में हुए शास्त्रार्थ में निर्णायिका का कार्य मण्डन मिश्र की पत्नी ने किया

था। इससे सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है कि स्त्रियों की प्रतिभा किस कोटि को पहुँच गई थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्त्रियों को अपने आत्म-विकास का अवसर प्राप्त होता था, किन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि यह स्त्रीशिक्षा केवल उच्च-वर्ग की महिलाओं को ही उपलब्ध हो सकी। वर्तमान समय में स्त्रीशिक्षा का जो व्यापक अर्थ समझा जाता है, उसके अनुसार यह स्त्रीशिक्षा अपर्याप्त थी। साधारण जनता में कृषक, मजदूर, कारीगर तथा साधारण व्यापारियों और शिल्पियों के घरों में स्त्रीशिक्षा का प्रचार शून्य के बराबर था। वैदिक शिक्षा में स्त्रियों का जो अनिवार्य उपनयन-संस्कार होता था, अब बहुत कम हो गया था अथवा पूर्णतः विलीन हो गया था। इसका प्रभाव यह पड़ा कि बालिकाओं के विवाह की अवस्था कम हो गई और उनके विवाह बाल्यावस्था में ही होने लगे। परिणाम यह हुआ कि स्त्रीशिक्षा को इससे बहुत आघात पहुँचा। नवीं और दशवीं शताब्दि में तो अवस्था अत्यन्त सोचनीय हो गई। बालिकाओं का विवाह १० या ११ वर्ष की अवस्था में होने लगा। इस काल में स्त्रियों का धार्मिक व सामाजिक सम्मान स्तर भी गिर गया। इससे भी स्त्रीशिक्षा को बड़ी क्षति पहुँची।

बौद्ध-शिक्षा और ब्राह्मणीय शिक्षा में विभिन्नता

विद्यार्थी प्रायः अपना अध्ययन प्रातःकाल में प्रारम्भ करते थे। बहुत से स्थानों पर तो कौआ पाल लिया जाता था जो समय की सूचना विद्यार्थियों को देता था। इसके उपरान्त विद्यार्थियों की दिनचर्या प्रायः वही थी जैसी कि वैदिक काल में थी। वास्तव में सम्पूर्ण शिक्षण-पद्धति ही दोनों युगों में प्रधानतः एकसी थी। भेद केवल यही था कि ब्राह्मणीय शिक्षा गुरु-गृह पर पारिवारिक रूप में दी जाती थी, जबकि बौद्ध-शिक्षा मठों या सुसंगठित शिक्षा संस्थाओं में दी जाती थी। प्रथम में व्यक्ति पर अधिक जोर दिया जाता था, द्वितीय में व्यक्ति समूह की एक इकाई था अतएव शिक्षा सामूहिक रूप से दी जाती थी। ब्राह्मणीय शिक्षा में पारिवारिक जीवन एक महत्त्वपूर्ण अंग था, जब कि बौद्ध धर्म का आधार ही गृह-त्याग था। इस प्रकार बौद्ध शिक्षा प्रणाली में परिवार के कोमल व प्राकृतिक सम्बन्धों का विच्छेद करके धार्मिक आधार पर 'बन्धु समाज' स्थापित किया जाता था। एक बौद्ध-बन्धु अपने सम्पूर्ण बन्धु-समाज पर निर्भर रहता था और बन्धु-समाज स्वयं साधारण उपासक या जनता पर निर्भर रहता था। इसमें व्यक्तिगत उत्साह, योग्यता, क्षमता और क्रिया का लोप हो जाता था।

दूसरा अन्तर यह था कि ब्राह्मणीय शिक्षा-पद्धति में विद्यार्थी कठोर शारीरिक व मानसिक अनुशासन में रहता था। उसके लिये सुख तथा सुख-सामग्रियों का निषेध था। विद्यार्थी-जीवन एक तपश्चर्या थी। 'सुखार्थिनः कुतो-विद्या, नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्' के आदर्श को कार्यान्वित करने की चेष्टा की जाती थी। किन्तु बौद्ध शिक्षा-प्रणाली के अनुसार "शरीर को सुन्दरता से सजाया, स्वच्छ किया और मला जाता था, नियम से भोजन दिया जाता, वर्षा-काल में सुरक्षित स्थान पर रक्खा जाता था, मध्यान्ह की गर्मी में विश्राम किया जाता, और अस्वस्थ होने पर सर्वश्रेष्ठ चिकित्सिक द्वारा चिकित्सा कराई जाती थी।"*

तीसरा अन्तर यह था कि ब्राह्मणीय शिक्षा एक प्रकार से एकतंत्रवाद के सिद्धान्तों पर अवलम्बित थी, जबकि बौद्ध शिक्षा जनतंत्रवाद के सिद्धान्तों से मेल खाती थी। अर्थात् प्रथम में गुरु का 'प्राधान्य' और 'उच्चता' जीवन पर्यन्त स्थिर रहती थी, किन्तु दूसरी पद्धति के अनुसार शिष्य कुछ समय के उपरान्त संघ में सम्मिलित होने पर समान मत देने का अधिकारी हो जाता था। गुरु और शिष्य में भेद केवल आध्यात्मिक ज्ञान के स्तर का रहता था।

अन्त में ब्राह्मणीय शिक्षा-प्रणाली के अनुसार केवल वही व्यक्ति तपस्या या वैराग्य का जीवन ग्रहण करते थे जो अनेक प्रकार से उसके समर्थ होते थे; किन्तु बौद्ध शिक्षा-प्रणाली के अनुसार भगवान् बुद्ध के जीवन-काल तक तो केवल निखरे हुए मनस्वी ही संघ के सदस्य थे, परन्तु कालान्तर में उसमें कुछ अवांछ-नीय बातें आ गईं। जनतंत्रवाद के सिद्धान्तों का दुरुपयोग हुआ और संघ में भिक्षु-भिक्षुणी भ्रष्टाचार में लीन हो गये। छोटे-छोटे स्थानीय संघों के विकास से केन्द्रीय-संघ का नियन्त्रण शिथिल पड़ गया। परिणामतः धीरे-धीरे बौद्ध धर्म भारत से उठ गया और उसके स्थान पर शंकराचार्य व माधवाचार्य इत्यादि ब्राह्मण आचार्यों के प्रयत्नों से शिक्षा जगत में पुनः ब्राह्मणीय पद्धति का अनुसरण होने लगा।

बौद्ध शिक्षा के दोष

बौद्ध शिक्षा दोषों से सर्वथा मुक्त न थी। हिन्दू शिक्षा की भाँति इसमें भी धार्मिक शिक्षा का प्राधान्य था। अन्त में जाकर तो कला-कौशल को हेय समझा जाने लगा और उच्चवर्ग के लोगों ने तो इसे पूर्णतः छोड़ ही दिया। इसके अति-रिक्त सर्वसाधारण की शिक्षा का भी अनुपात उतना नहीं रहा जितना कि ब्राह्म-

* Dr. Radha Kumud Mukerjee : *Ancient Indian Education.* P. 469.

णीय शिक्षा के अन्तर्गत था। एक भयंकर दोष इस पद्धति का यह रहा कि इसमें जनतन्त्र के नाम पर स्वेच्छाचार का प्रवेश हो गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि संघीय नियन्त्रण शिथिल होने पर मठ भिक्षु-भिक्षुणियों के क्रीड़ा-स्थलों में परिवर्तित होने लगे। जिस 'संघ' की स्थापना में ही बौद्ध धर्म की सफलता का रहस्य था, वही इसके पतन का कारण भी बना। इसके अतिरिक्त बौद्ध शिक्षा-प्रणाली में सैनिक-विज्ञान, अस्त्र-शस्त्र निर्माण कला एवं युद्ध-कला का अधिक विकास न हो सका। कारण यह था कि बौद्ध-शिक्षा अहिंसा-प्रधान और निवृत्ति-मूलक थी। बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार संसार दुखमय था। अतः इसे छोड़कर तथा इच्छाओं का दमन करके निर्वाण प्राप्त करना ही जीवन का उद्देश्य समझा जाता था। फलतः जीवन में आडम्बर आ गया, भिक्षुओं का वाह्य जीवन निरा बनावटी प्रतीत होने लगा। जीवन-संघर्ष का अभिप्राय केवल आध्यात्मिक चिन्तन ही समझा गया। इससे उसकी सर्वतोमुखी प्रगति अवरुद्ध हो गई; और जब विदेशियों ने देश पर आक्रमण किया तो भारत सैनिक शक्ति से उनका सामना न कर सका।

इतना होते हुए भी यह कहना पड़ेगा कि बौद्ध शिक्षा में दोषों की अपेक्षा गुणों का ही अधिक समावेश था, यद्यपि अपने दोषों के कारण ही इसका पतन होगया और देश में पुनः ब्राह्मणीय शिक्षा की तूती बोलने लगी।

उपसंहार

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि बौद्ध शिक्षा ने भारत में एक उच्च संस्कृति का शिलारोपण किया। बौद्ध शिक्षा-पद्धति तत्कालीन आर्य जीवन में एक नूतनता और परिवर्त्तन लाई। यद्यपि भारतीय दृष्टिकोण सदा से ही पवित्र व सात्त्विक जीवन के पक्ष में रहा था, बौद्ध धर्म शिक्षा ने इसे और भी अधिक पवित्र और महान् बना दिया। मठों और महाविहारों में श्रमण और भिक्षुओं का उच्च जीवन व्यतीत करना भारतीय जनता के लिए अनुकरणीय रहा; यहाँ तक कि बौद्ध कालीन विद्यालयों ने चीन, जापान, कोरिया, जावा, ब्रह्मा, लंका और तिब्बत आदि देशों से विद्यार्थियों और जिज्ञासुओं को आकर्षित किया। इन विदेशी विद्यार्थियों ने आकर भारत के धर्म, साहित्य और शिक्षा प्रणाली का गहन अध्ययन किया और यहाँ की संस्कृति को अपने देशों में विकीर्ण किया। बौद्ध विहारों में जात-पाँत और धनी-निर्धन का भेद मिट गया जो ब्राह्मणीय शिक्षा में जड़ पकड़ गया था। बौद्ध विद्यालय सभी के लिए खुले थे। यहाँ सभी वर्ग के विद्यार्थियों को अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार चरित्र विकास का समान सुअवसर प्रदान किया जाता था। धार्मिक और दार्शनिक

शिक्षा के अतिरिक्त बौद्ध कालीन शिक्षा सांसारिक भी थी। तत्कालीन शिक्षा-पद्धति ने नालन्दा, तक्षशिला तथा विक्रमशिला इत्यादि महान् अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाओं को जन्म दिया, जहाँ धार्मिक व लौकिक सभी प्रकार की उच्च शिक्षा दी जाती थी। देश की तत्कालीन भौतिक सम्पन्नता तथा आध्यात्मिक गुरुता का श्रेय तत्कालीन शिक्षा-पद्धति को ही है। शिक्षा जीवन की वास्तविक समस्याओं के साथ मेल रखती थी और उन्हें हल करने का प्रयास करती थी। जिस प्रकार भारत की आधुनिक शिक्षा अधिकांश में पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली का अनुकरण मात्र है, उस प्रकार प्राचीन भारतीय शिक्षा नहीं थी। उसका विकास तो भारत भूमि में, शुद्ध भारतीय परिस्थितियों में तथा भारतवासियों द्वारा ही हुआ था। यही कारण था कि वह शिक्षा-प्रणाली देश और काल के अधिक अनुकूल थी। उस समय शिक्षा का सार्वजनिक प्रचार था। बौद्ध धर्म की प्रारम्भिक शताब्दियों में स्त्री-शिक्षा को प्रर्याप्त प्रोत्साहन मिला। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म से सहानुभूति रखने वाले जन-साधारण की शिक्षा की भी व्यवस्था थी, क्योंकि वे संघ की भावी-निधि समझे जाते थे तथा इन्हीं उपासकों में से बौद्ध भिक्षुओं और आचार्यों का चुनाव होता था।

जीवन में संयम व अनुशासन का संचार करने में भी बौद्ध शिक्षा को पर्याप्त सफलता मिली। आचार्य तथा शिष्य सभी संयम का जीवन व्यतीत करते थे। स्त्रियों का सम्पर्क निषिद्ध था। किन्तु एक बात उल्लेखनीय है कि शरीर को कृश करने अथवा यातना देने में बौद्ध विश्वास नहीं रखते थे। फाह्यान, ह्वानसांग तथा इत्सिंग नामक चीनी यात्रियों ने बौद्ध विहारों तथा शिक्षा का आँखों देखा वर्णन लिखा है जिसे पढ़कर हम बौद्ध-शिक्षा की महानता का अनुमान कर सकते हैं। बौद्ध-शिक्षा की हमारी पृष्ठ-भूमि हमें आज भी चीन, जापान, कोरिया, तिब्बत, श्याम, कम्बोडिया तथा अन्य सुदूर पूर्व देशों में अपने सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा आर्थिक सम्बन्ध बनाये रखने में सहायक है।

अध्याय ५

प्राचीन कालीन प्रमुख शिक्षा-केन्द्र

पृष्ठ-भूमि

प्राचीन काल में शिक्षा की यह विशेषता थी कि गुरु और शिष्य में पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध था और दोनों एक ही स्थान पर मिल कर रहते थे। ब्राह्मणीय शिक्षा के सम्बन्ध में हमने देख लिया है कि किस प्रकार ब्रह्मचारी गुरुगृह पर रह कर ही विद्याध्ययन करते थे। गुरुगृह ही उनका शिक्षालय था। विद्यार्थी के व्यक्तित्व के विकास पर व्यक्तिगत ध्यान दिया जाता था। वास्तव में आध्यात्मिक या दार्शनिक विकास के लिये, जैसा कि प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य था, यह आवश्यक भी था कि शिक्षा के वाह्य उपकरणों पर अधिक ध्यान न देकर विद्यार्थी की आन्तरिक उन्नति की जाय। शिक्षा की इस व्यवस्था के कारण प्राचीन काल में सुसङ्गठित शिक्षा-केन्द्र, जैसे कि बौद्ध काल अथवा वर्तमान काल में मिलते हैं, स्थापित न हो सके; यद्यपि उस युग में भी कुछ मठ अथवा विशाल तीर्थ क्षेत्रों का निर्माण हो गया था। किन्तु उन क्षेत्रों में सामूहिक रूप से आराधना इत्यादि नहीं की जाती थी। ये तीर्थ शिक्षा-केन्द्र अथवा शिक्षा-संस्थायें नहीं कहला सकते थे। तथापि वैदिक काल में संघ, परिषद्, चरण, मठ और गुरुकुल अवश्य स्थापित हो गये थे। वैदिक तथा उपनिषद् साहित्य में हमें ऐसे संघों और परिषदों का उल्लेख मिलता है जहाँ भिन्न-भिन्न स्थानों से विद्वान् आकर एकत्रित होते थे और उच्चकोटि के शास्त्रार्थ करते थे। जिन स्थानों में गुरुकुलों की स्थापना हो गई थी, वहाँ अवश्य सामूहिक रूप से विद्याध्ययन होता था। ये गुरुकुल बहुधा गाँवों में ही स्थापित हुए। इसके अतिरिक्त बनों में भी गुरुकुलों की स्थापना हुई। किन्तु ये गुरुकुल भी इस प्रकार सङ्गठित और संचालित न थे जैसे आगे चलकर जैन और बौद्ध शिक्षा-संस्थायें बनीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बौद्ध धर्म के सम्पर्क में आने पर हिन्दुओं ने सङ्गठित शिक्षा संस्थायें निर्माण करने में उनका अनुकरण किया और विशाल मठों या मन्दिरों

में शिक्षा दी जाने लगी। हिन्दू राजाओं तथा प्रजा ने शिक्षा-प्रचार के लिये इन मन्दिरों को दान दिये। अतः ये स्थान शिक्षा-केन्द्र बन गये। वहाँ क्रमानुसार प्रारम्भिक व उच्च शिक्षा प्रदान की जाने लगी। इसके अतिरिक्त कुछ स्थान ऐसे भी बन गये जहाँ विशेष प्रकार की शिक्षा के केन्द्र स्थापित हो गये, जैसे तक्ष-शिला में आयुर्वेद, धनुर्वेद तथा राजनियम (कानून) का अध्ययन करने के लिये दूर-दूर से राजपुत्र आया करते थे। उज्जयिनी में ज्योतिष तथा काशी में दर्शन व संगीत इत्यादि के केन्द्र थे। दक्षिणी भारत में भी कुछ शिक्षा-केन्द्र स्थापित हो गये जैसे बीजापुर जिले में सलोत्गी गाँव में एक विशाल संस्कृत विद्यालय था। आगे चलकर इसकी इतनी उन्नति हुई कि इसमें सत्ताइस विशाल छात्रा-वासों का निर्माण करना पड़ा। इसके अतिरिक्त दूसरा हिन्दू-शिक्षा का केन्द्र एन्नायरम में था जो ग्यारहवीं शताब्दि में स्थापित हुआ था। तीरुमुक्कुदल, मालकापुरम, धार तथा पांडुचेरी अन्य केन्द्र थे। 'अग्रहार' ग्राम भी प्राचीन हिन्दू-शिक्षा के विशाल केन्द्र थे जिनकी स्थापना दक्षिणी भारत में राजाओं द्वारा विद्वान् ब्राह्मणों के उपनिवेशों के रूप में हुई थी, बंगाल के 'टोल' भी इसमें उल्लेखनीय हैं। किन्तु यह स्मरणीय है कि इन हिन्दू शिक्षा केन्द्रों की स्थापना बौद्ध केन्द्रों के अनुकरण के स्वरूप ही हुई।

सुसङ्गठित शिक्षा-संस्थायें

ऐसी संस्थाओं का प्रारम्भ बौद्ध काल में हुआ। बौद्ध धर्म की स्थापना जनतन्त्रवाद के सिद्धान्तों पर हुई थी जिसमें सर्वसाधारण को उन्हीं की बोलचाल की भाषा में 'धम्म' का उपदेश दिया गया था। अतः प्रारम्भिक शिक्षा के लिये पाली और उच्चतम शिक्षा के लिये संस्कृत की सुसंचालित शिक्षा-संस्थायें स्थापित की गईं। साधारण उपासकों के लिये भी बुद्ध ने संस्थाओं की आवश्यकता का अनुभव किया। अतः मठों की स्थापना हुई। ये ही मठ बड़े-बड़े शिक्षाविहारों के रूप में परिवर्तित हो गये। इन केन्द्रों में भिक्षु, भिक्षुणी एवं साधारण जनता सभी को विद्याध्ययन के लिये सुअवसर प्रदान किया जाता था। दूर-दूर जनपदों से सभी वर्गों के विद्यार्थी आ आकर यहाँ निशुल्क शिक्षा प्रात करते थे; यहाँ तक कि चीन, जापान, तिब्बत तथा अन्य पूर्वी द्वीपों से भी विद्यार्थी बौद्ध धर्म का अध्ययन करने यहाँ आते और यहाँ से अन्य ग्रन्थों का अनुवाद करके अपने देशों को ले जाते थे। नालन्दा और तक्षशिला तो विश्वविद्यालयों के रूप में विकसित हो गये थे। बौद्धकालीन शिक्षा-केन्द्रों का प्रबन्ध जनतन्त्र के सिद्धान्तों पर होता था। प्रायः कोई विद्वान् भिक्षु ही उसका प्रधान होता था। प्रत्येक विभाग जैसे प्रवेश परीक्षा, पाठ्यक्रम, छात्रावास, भोजन-व्यवस्था, भवन-निर्माण,

भारतवर्ष
प्राचीन कालीन शिक्षा-केन्द्र
(आदि से १२०० ई० तक)
मथुरा
अयोध्या
प्रयाग
काशी
मैथिला
पाटलिपुत्र
विक्रमशिला
नालन्दा
गया
ओदन्तपुरी
साँची
द्वारिका
अजंता
विजयनगर
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
लंका
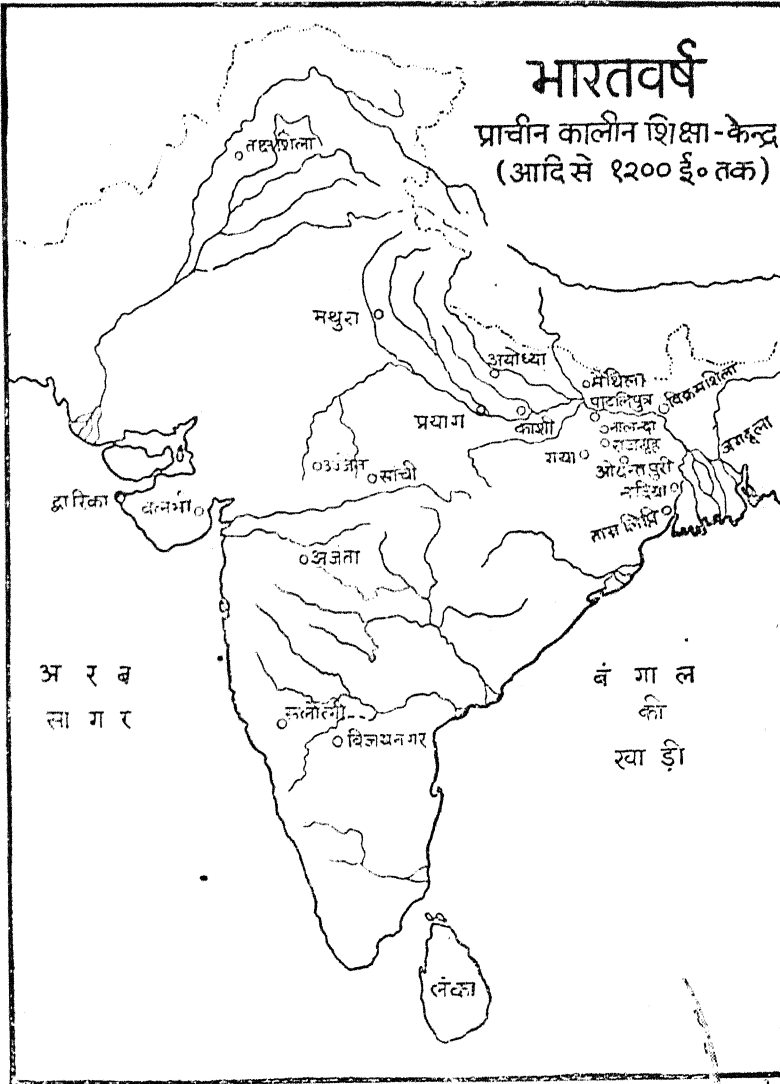
चिकित्सा, पुस्तकालय तथा भिन्न-भिन्न पाठ्य-विषयों के लिये अलग-अलग अध्यक्ष होते थे। नवीं शताब्दि में एक भिक्षु-छात्र जोकि जलालाबाद का निवासी था और बिहार में तीर्थयात्रा के लिये आया था, विश्वविद्यालय का कुलपति नियुक्त किया गया। इसका अभिप्राय यह है कि स्थानीय या प्रान्तीय भेदभाव की भावना लोगों के हृदय में नहीं थी। इस प्रकार वे बुद्ध कालीन सुसंगठित शिक्षा संस्थायें जो देश में मठ, विहार और विश्वविद्यालयों के रूप में स्थित थीं, देश की सभ्यता की रीढ़ थीं। आज भारत के जो सांस्कृतिक सम्बन्ध एशिया के विभिन्न देशों से स्थापित हैं उनका बहुत कुछ श्रेय इन्हीं शिक्षा संस्थाओं को है।

अब हम नीचे बुद्ध कालीन कुछ प्रमुख शिक्षा केन्द्रों का वर्णन करेंगे इनमें तक्षशिला, नालन्दा, वलभी, विक्रमशिला, ओदन्त पुरी, नदिया, मिथिला तथा जगद्दला विशेष उल्लेखनीय हैं।

(१) तक्षशिला

अत्यन्त प्राचीन काल से तक्षशिला ब्राह्मणीय शिक्षा का केन्द्र रहा था। बौद्ध-काल में भी उत्तरी भारत में यह प्रमुख शिक्षा का केन्द्र था। किन्तु पाँचवी शताब्दि में जब फाह्यान ने तक्षशिला को देखा तो उस समय तक वहाँ विश्व-विद्यालय के कोई चिन्ह शेष नहीं थे, और सातवीं शताब्दि में ह्वानसाँग इस विद्या-केन्द्र को देखकर बहुत निराश हुआ था।

तक्षशिला प्राचीन काल में गान्धार प्रान्त की राजधानी था। किन्तु इसकी स्थापना का इतिहास उससे भी अधिक प्राचीन है। रामायण में लिखा है कि राजा भरत ने इसे अपने पुत्र 'तक्ष' के नाम पर बसाया था। तक्षशिला के भारत की उत्तरी पच्छिमी सीमा पर स्थित होने के कारण इस पर अनेकों आक्रमण हुए। इन आक्रमणों के परिणामस्वरूप समय समय पर इसका राजनैतिक स्वरूप बदलता रहा। ईरानी, यूनानी तथा कुषाणों ने इस पर आक्रमण किये और अपने-अपने राज्य स्थापित किये। अतः यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि इन राज्य परिवर्तनों के साथ ही साथ शिक्षा का स्वरूप भी अवश्य बदला होगा।

तक्षशिला में कोई एक सुसंगठित विद्यालय या विश्वविद्यालय नहीं बना था। शिक्षण का आधार परिवार-प्रणाली था। यहाँ अनेकों विद्वान आचार्य सैकड़ों विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करते थे। इस प्रकार उत्तरी भारत के लिये यह एक दीर्घ शिक्षा-केन्द्र हो गया था। बनारस, मिथिला तथा राजगृह

इत्यादि स्थानों से विद्यार्थियों के तक्षशिला जाने का वर्णन जातकों में मिलता है। तक्षशिला में प्रधानतः उच्च शिक्षा दी जाती थी। लगभग सोलह वर्ष की अवस्था के विद्यार्थी तक्षशिला पहुँचते थे। वेदत्रयी, वेदान्त, व्याकरण आयुर्वेद, अठारह सिप्प, सैनिक विद्या, ज्योतिष विद्या, कृषि, व्यापार, सर्प-दंश-चिकित्सा तथा तन्त्र यहाँ के विशेष अध्ययन विषय थे। व्याकरण पिता पाणिनि तथा प्रसिद्ध चिकित्सक और शल्य-विद्या-विशेषज्ञ जीवक यहीं की उपज थे। इन विद्याओं के सीखने के लिये जाति पाँति का कोई बंधन नहीं था जैसा कि काशी से एक ब्राह्मण पुत्र के सैनिक विज्ञान सीखने के लिये आने के कथानक से प्रतीत होता है। तक्षशिला यवनों की संस्कृति से भी प्रभावित हुआ था। कुछ आचार्य वहाँ पर ग्रीक भाषा का भी शिक्षण करते थे। ग्रीक युद्ध का प्रशिक्षण भी यहाँ होता था। वास्तव में भारतीय युद्ध कला के लिये तो तक्षशिला अत्यन्त प्रसिद्ध था। चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययनकाल सात वर्ष था। जीवक सात वर्ष तक तक्षशिला में रहा था। 'अर्थशास्त्र' के रचियता कौटिल्य ने भी अपनी उच्चशिक्षा यहीं प्राप्त की थी।

इस प्रकार कई शताब्दियों तक तक्षशिला ने अपनी ज्ञान-ज्योति देश में विकीर्ण की। भाग्य के अनेक चढ़ाव उतारों की अपेक्षा परिवर्त्तन के भयानक झंझा में भी यह ज्ञान शिखा आलोकित होती रही। अन्त में बर्बर हूणों ने इसे पदाक्रान्त कर डाला और इस प्रभा को सदा के लिये बुझा दिया।

(२) नालन्दा

बिहार प्रान्त में पटना से ४० मील दक्षिण-पश्चिम तथा राजगृह से ७ मील उत्तर की ओर नालन्दा नामक प्रसिद्ध बौद्ध-शिक्षा केन्द्र था। प्रारम्भ में यह एक छोटा सा गाँव था और इसका शिक्षा-महत्त्व कुछ भी नहीं था। किन्तु धीरे-धीरे इसका महत्त्व बढ़ता गया। महात्मा बुद्ध के प्रिय शिष्य सारीपुत्त की जन्मभूमि होने के कारण इस स्थान का महत्त्व बौद्ध भिक्षुओं के लिये अधिक हो गया। सम्राट् अशोक जब सारीपुत्त का चैत्य देखने आये तो उन्होंने एक विहार यहाँ बनवाया। "इस प्रकार नालन्दा विहार का प्रथम संस्थापक अशोक था।" ईसा की प्रथम शताब्दि में महायान के विकास के समय से इस स्थान का महत्त्व बढ़ने लगा। चौथी शताब्दि तक यह स्थान शिक्षा की दृष्टि से भी प्रसिद्ध हो गया। नागार्जुन तथा उसके शिष्य आर्यदेव, जो कि अनुमानतः चौथी शताब्दि में ही उत्पन्न हुए थे, दोनों ही विद्वानों के उस समय नालन्दा में रहने से भी यही प्रतीत होता है कि उस समय तक यह स्थान ख्याति प्राप्त करता जा रहा

था; किन्तु लगभग पाँचवीं शताब्दि तक भी हम यह नहीं कह सकते कि नालन्दा भारत का सर्वप्रथम शिक्षा-केन्द्र था, क्योंकि जब ४१० ई० में फाह्यान यहाँ आया तो नालन्दा शिक्षा की दृष्टि से अधिक महत्त्व नहीं रखता था। इसका वास्तविक उत्थान तो सन् ४५० ई० से प्रारम्भ होता है। तत्पश्चात् लगभग तीन शताब्दियों तक यह उन्नति के शिखर पर रहा। सातवीं शताब्दि में जब ह्वानसांग यहाँ आया तो उसने नालन्दा को उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ पाया। ह्वानसांग के लेखों में हमें नालन्दा के महत्त्व और वैभव का वर्णन मिलता है।

नालन्दा का वास्तविक उत्थान गुप्त सम्राटों के द्वारा हुआ। कुमारगुप्त प्रथम (४१४-४५५ ई०) ने यहाँ एक मठ बनवाया। इसके उपरान्त तथागत गुप्त, नरसिंह गुप्त, बालादित्य, बुद्धगुप्त, वज्र तथा हर्ष ने भी यहाँ मठों की स्थापना की। इस प्रकार इन मठों के निर्मित हो जाने से नालन्दा का विस्तार बहुत बढ़ गया। ये ही मठ विश्वविद्यालय के प्रमुख भवन में सम्मिलित थे। सम्पूर्ण क्षेत्र एक विशाल व दृढ़ दीवाल से घिरा हुआ था जिसमें एक प्रवेश द्वार था। इस द्वार पर ही द्वार-पण्डित का निवास स्थान था जो कि प्रवेश-परीक्षा लेता था। द्वार में प्रवेश करते ही आठ बड़े सभामण्डप मिलते थे, जहाँ विद्यार्थियों को सामूहिक भाषण दिये जाते थे। ये भवन संघाराम के मध्य में स्थित थे। इसके अतिरिक्त ३०० अध्ययन-कक्ष थे, जहाँ विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। विश्वविद्यालय के भवन-निर्माण की कला अत्यंत उच्चकोटि की थी। इस समय भारत वास्तुकला में अद्वितीय था जिसकी कि प्रतिछाया नालन्दा विहार में देखने को मिलती थी। मुख्य भवन इतना ऊँचा था "कि विहारावली की शिखर श्रेणी अम्बुधरों (बादलों) को चूमती थी"।† ये भवन कई खण्डों के थे और इनकी मीनारें अथवा मंदिरों के गुम्बद तो अवश्य ही अत्यन्त ऊँचे थे। सम्पूर्ण भवन एक योजना के अनुसार बनाये गये थे। आज भी जो नालन्दा के भग्नावशेष विद्यमान हैं उन्हें देखने से प्रतीत होता है कि उस समय इंजीनियरी का कार्य कितने उच्चकोटि का था! इन भवनों के अतिरिक्त नीचे मैदान में सुन्दर व विशाल सरोवर बने हुए थे जिनमें नील कमल कनक पुष्पों में मिलकर सौन्दर्य बढ़ाते थे। इत्सिंग ने लिखा है कि वहाँ १० से अधिक सरोवर थे जिनमें विद्यार्थी जलक्रीड़ा करते थे। इसके अतिरिक्त उसी क्षेत्र में एक विशाल पुस्तकालय भी था जो कि नौ मञ्जिलों का था। इस पुस्तकालय

† यस्यामम्बुधरावलेहि शिखर श्रेणी विहारावली।
मालेवोर्ध्व विराजिनी विरचिता धात्रा मनोज्ञाभुवः। Epigraphia Indica से अलतेकर द्वारा उद्धृत।

के तीन विभाग थे जो क्रमशः 'रत्न सागर'; 'रत्नोदधि' और 'रत्न रंजक' के नाम से प्रसिद्ध थे। सम्पूर्ण पुस्तकालय को 'धर्मगंज' कहते थे। इस पुस्तकालय में सभी धर्मों, विषयों, कलाओं, विज्ञानों तथा कौशलों की अलभ्य पुस्तकों का संग्रह था।

नालन्दा में छात्रावास का भी समुचित प्रबन्ध था। तेरह मठ इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये बने हुए थे जिनमें विद्यार्थियों के निवास के लिये कमरे बने हुए थे। इन कमरों में विद्यार्थियों के सोने के लिये पत्थर की चौकी, पुस्तक रखने को पटिया और दीपक रखने को दीवट का स्थान बना हुआ था। प्रत्येक चौक के कोने में एक कुँआ बना था। भोजन के लिये बड़े-बड़े चौके बने हुए थे जिनमें भोजन पकाने के लिये विहार की ओर से सेवकों का प्रबन्ध था। इन सबके भग्नावशेष खुदाई में मिले हैं।

नालन्दा में विद्यार्थियों के भोजन, वस्त्र व शिक्षा और चिकित्सा की व्यवस्था निश्शुल्क की जाती थी। आज के विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों के व्यय और उनके शुल्क इत्यादि को देखते हैं तो बुद्धि हैरान रह जाती है कि किस प्रकार प्राचीन काल में नालन्दा में १०,००० विद्यार्थी निश्शुल्क उच्च-शिक्षा प्राप्त करते थे। वास्तव में प्राचीन काल में शिक्षा का उत्तरदायित्व राजाओं और प्रजा दोनों पर ही था और दोनों ही मिलकर शिक्षा के निमित्त दान देते थे। नालन्दा को २०० गाँव दान में मिले हुए थे और इनकी आय से वहाँ का कार्य चलता था। इसके अतिरिक्त भवन, भूमि और भोजन की कुछ व्यवस्था राजा लोग व्यक्तिगत रूप से भी करते चले आये थे।

इत्सिंग ने, जो नालन्दा में लगभग दस वर्ष रहा, वहाँ की शिक्षा पद्धति तथा पाठ्य-क्रम का प्रत्यक्ष वर्णन लिखा है। नालन्दा महायान बौद्ध शिक्षा का प्रधान क्षेत्र होते हुए भी वहाँ हीनयान, वैदिक शिक्षा तथा जैन धर्म की शिक्षा भी दी जाती थीं। शास्त्रार्थ में विजयी होने के लिये यह आवश्यक था कि सभी धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय। वाद-विवाद या शास्त्रार्थ वहाँ की शिक्षा-प्रणाली का एक विशेष अंग था। एक सच्चे जिज्ञासु के लिये भी यह आवश्यक था कि वह सभी धर्मों का गहन अध्ययन करने के उपरान्त ही दार्शनिक अनुसन्धान करे। यह सभी सुविधायें वहाँ उपलब्ध थीं। इसके अतिरिक्त, वेद, वेदाङ्ग, व्याकरण, ज्योतिष, दर्शन शास्त्र, पुराण और चिकित्सा-शास्त्र का भी अध्ययन किया जाता था। नालन्दा वास्तव में दार्शनिक शिक्षा का केन्द्र था।

नालन्दा में एक पत्थर के मन्दिर के आधार-अवशेष। [भा० शि० इ०]

विहार के अन्दर भिक्षुओं, आचार्यों और विद्यार्थियों का जीवन पूर्ण संयमित और सात्विक रहता था। यहाँ के विद्यार्थियों का सम्पूर्ण देश में सम्मान होता था। प्रवेश के समय न केवल भारत के विभिन्न कोनों से ही, अपितु विदेशों से भी विद्यार्थी यहाँ पर आकर इकट्ठे होते थे। चीन, जापान, कोरिया, तिब्बत, सुमात्रा तथा जावा एवं लङ्का से असंख्यों विद्यार्थी बौद्ध धर्म का अध्ययन करने नालन्दा में आते थे। विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिये लगभग १५०० विद्वान शिक्षकों का प्रबन्ध था। विद्यार्थियों के व्यक्तिगत विकास का ध्यान रक्खा जाता था। शिक्षा-पद्धति प्रायः वही थी जो ब्राह्मणीय शिक्षा में प्रचलित थी। लेखन कला इस समय तक पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। ग्रन्थ अवलोकन के अतिरिक्त विद्यार्थी शिक्षकों तथा विद्वानों के भाषण सुनकर भी ज्ञान अर्जन करते थे। वाद-विवाद प्रणाली का उल्लेख हम ऊपर कर ही आये हैं। दिन में लगभग १०० भाषणों की प्रतिदिन व्यवस्था की जाती थी जिन्हें सुनना प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अनिवार्य था। आचार्यों की प्रसिद्धि सर्वविदित थी। ह्वानसांग कुछ शिक्षकों के नामों का भी उल्लेख करता है जिनमें चन्द्रपाल, धर्मपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, ज्ञानचंद्र तथा शीलभद्र इत्यादि अधिक प्रसिद्ध हैं। इस विश्वविद्यालय की प्रसिद्धि से प्रभावित होकर जावा के सम्राट् बालपुत्रदेव ने भी यहाँ एक मठ बनवाया।

इस प्रकार नालन्दा विद्या का एक प्रसिद्ध केन्द्र था जो कई शताब्दियों तक भारत में ज्ञान का प्रकाश फैलाता रहा। भारत की प्राचीन संस्कृति को विकीर्ण, विकसित तथा सुदृढ़ करने में इसका बड़ा हाथ रहा। भारतीय दर्शन कला तथा सभ्यता का यह प्रतीक लगभग ८०० वर्ष तक एक गौरवशाली जीवन व्यतीत करने के उपरान्त १२ वीं शताब्दि के अन्त में मुसलमान विजेता बख्तियार खिलजी की बर्बरता का आखेट हुआ। यहाँ के विशाल भवन तथा अमूल्य पुस्तकालय अग्नि में भस्म कर दिये गये तथा भिक्षुओं और विद्यार्थियों का बध कर डाला गया। इस प्रकार एक दीर्घ काल से जलने वाला ज्ञान प्रदीप जिसे मानव ने अपने जीवन-स्नेह से युग-युगों से प्रज्ज्वलित रक्खा था सदा के लिये बुझ गया।

(३) वलभी

वलभी बौद्ध कालीन भारत का एक प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र था। यह काठियावाड़ में मैत्रक सम्राटों की सन् ४७५ से ७७५ ई० तक राजधानी रहा। वलभी की प्रसिद्धि तथा शिक्षा महत्व के दृष्टिकोण से नालन्दा का प्रतिद्वन्दी कहा जा सकता है। यहाँ पर विशाल मठ और विहार बने हुए थे। ह्वानसांग

जब यहाँ आया था उस समय वलभी में लगभग १०० संघाराम बने हुए थे। इत्सिंग ने भी वलभी को भारत के पश्चिमी किनारे पर नालन्दा के समान ही महत्त्वशाली पाया था जहाँ भारत के प्रत्येक कोने से विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिये आते थे। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त ये विद्यार्थी राजदरबारों में उच्च पदों पर नियुक्त किये जाते थे। इससे विदित होता है कि वलभी केवल धार्मिक शिक्षा का केन्द्र ही नहीं था अपितु वहाँ अर्थशास्त्र, राजनियम, नीति, तथा चिकित्सा-शास्त्र का भी अध्ययन किया जाता था। यहाँ बौद्ध धर्म की दूसरी शाखा हीनयान का भी भिक्षु अध्ययन करते थे।

ईसा की ७ वीं शताब्दि में वलभी अपनी शिक्षा के लिये पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुका था। यद्यपि इससे पूर्व इसका समुद्री व्यापार के लिये भी बड़ा महत्त्व था। यहाँ बड़े-बड़े धनवान व्यापारी रहते थे। यही व्यापारी शिक्षा के संरक्षकों की भाँति कार्य करते थे। मैत्रकों ने भी विश्वविद्यालय को प्रधानतः पुस्तकालय के लिये समय-समय पर अनुदान दिये। इस प्रकार शिक्षा का प्रचार करते हुए यह विश्वविद्यालय लगभग १२ वीं शताब्दि तक स्थापित रहा। तदुपरान्त विदेशियों के आक्रमण से यह विध्वंस हो गया।

(४) विक्रमशिला

विक्रमशिला विहार की स्थापना सम्राट् धर्मपाल ने ८ वीं शताब्दि में की थी। यह एक पहाड़ी चट्टान के ऊपर गंगा नदी के तट पर मगध में बसा हुआ था। कला की दृष्टि से विक्रमशिला विहार अत्यन्त ही उच्चकोटि का था। इसके चारों ओर एक सुदृढ़ प्राचीर थी। मध्य में महाबोद्धि का मन्दिर था तथा इसके अतिरिक्त १०८ मन्दिर और थे।† विक्रमशिला में धर्मपाल ने कई विशाल कक्ष बनवाये थे जहाँ शिक्षण कार्य होता था। इनकी प्राचीरों पर सुन्दर चित्र बने हुए थे।

विक्रमशिला की ख्याति शीघ्र ही फैल गई। यहाँ के शिक्षक अत्यन्त ही विद्वान् और उच्चकोटि के दार्शनिक थे। विक्रमशिला की ख्याति तिब्बत तक पहुँची। लगभग चार शताब्दियों तक तिब्बत के विद्यार्थी विक्रमशिला में उच्च-शिक्षा के लिये आते रहे। उन्होंने यहाँ के संस्कृत के धार्मिक ग्रन्थों के अनुवाद तिब्बत की भाषा में किये और अपने देश में जाकर यहाँ की संस्कृति का प्रसार किया। विक्रमशिला का प्रसिद्ध विद्वान् दीपंकर श्रीज्ञान भी तिब्बत गया था। वहाँ जाकर उसने धर्म प्रचार का कार्य भी किया था।

† Dr. Radha Kumud Mukerjee; *Ancient Indian Education*, P. 587.

विक्रमशिला विश्वविद्यालय का प्रबन्ध उच्चकोटि का था। शिक्षा का कार्य विद्वानों की एक बोर्ड के सुपुर्द था। ऐसा कहा जाता है कि यही बोर्ड नालन्दा के शासन को भी चलाता था। शासन-प्रबन्ध का अधिष्ठाता एक विद्वान् भिक्षु होता था। कार्य के भिन्न-भिन्न विभाग विभिन्न अधिकारियों के अन्तर्गत थे। विश्वविद्यालय में प्रवेश के समय विद्यार्थी की परीक्षा ली जाती थी। प्रमुख भवन की प्रत्येक दिशाओं में द्वार थे और इन्हीं द्वारों पर द्वार-पण्डित नियुक्त थे। यही द्वार-पण्डित प्रवेश-परीक्षा लेते थे, जिसमें उत्तीर्ण होने पर ही विश्वविद्यालय में प्रवेश हो सकता था। डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने सन् ९५५-९८३ ई० के मध्य में होने वाले इन पण्डितों के नाम भी उल्लिखित किये हैं*—

१. रत्नाकर शान्ति, पूर्व द्वार,
२. बनारस का वागीश्वर कीर्ति, पश्चिम द्वार,
३. नरोप, उत्तर द्वार,
४. प्रज्ञकर्मति, दक्षिण द्वार,
५. काश्मीर का रत्नवज्र, प्रथम मध्य-द्वार, और
६. ज्ञान श्री मित्र, द्वितीय मध्य-द्वार।

इसके अतिरिक्त विक्रमशिला का ऐतिहासिक वर्णन हमें तिब्बत के विद्यार्थियों और इत्सिग के लेखों से मिलता है। यहाँ प्रधानतः सांसारिक विद्याओं का अध्ययन किया जाता था। व्याकरण, तर्कशास्त्र, तंत्रवाद तथा दर्शन-शास्त्र अध्ययन के प्रमुख विषय थे। अधिक कौतूहल की बात तो यह है कि इस विश्वविद्यालय में परीक्षा के प्रमाण-पत्र भी मिलते थे जैसा कि अन्य किसी प्राचीन कालीन भारतीय विश्वविद्यालय में नहीं होता था। इससे प्रमाणित होता है कि इस विश्वविद्यालय का संगठन अधिक सुव्यवस्थित था।

इस प्रकार एक दीर्घकाल तक विक्रम शिला "विद्या-सम्राज्ञी" रही। तेरहवीं शताब्दि के प्रारम्भ में बख्तियार खिलजी ने आक्रमण किया और इसको युद्ध सम्बन्धी गढ़ समझ कर इस पर आक्रमण कर दिया। सम्पूर्ण भिक्षुओं और ब्राह्मणों के सर कटवा डाले गये। पुस्तकालय की सभी पुस्तकें एकत्रित करके जलादी गईं। जलाने से पूर्व जब उन्हें पढ़वाया गया तब आततायियों को विदित हुआ कि यह तो एक विद्या-केन्द्र था। यहाँ का अधिष्ठता भिक्षु श्रीभद्र जगद्दला होता हुआ तिब्बत पहुँचा जहाँ उसने धर्म-प्रचार का कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार यह महान् विद्या-केन्द्र मुसलमानों की बर्बरता से विध्वंस हो गया।

* Dr. Radha Kumud Mukerjee : *Ancient Indian Education*. P. 588. (1947).

(५) श्रोदन्त पुरी

मगध में पाल सम्राटों के अस्तित्व में आने से पूर्व ही इस विश्वविद्यालय की स्थापना हो चुकी थी। पाल सम्राटों ने इसका और भी अधिक विस्तार किया। उन्होंने यहाँ एक वृहत् पुस्तकालय की स्थापना की जिसमें ब्राह्मणीय और बौद्ध साहित्य की पुस्तकों का संग्रह था। श्रोदन्तपुरी की इतनी ख्याति नहीं थी जितनी विक्रमशिला या नालन्दा की थी। तथापि यहाँ लगभग १००० भिक्षु निवास करते व शिक्षा पाते थे। बुद्ध धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करने में श्रोदन्तपुरी का भी पर्याप्त श्रेय रहा है। तिब्बत से भी विद्यार्थी आकर यहाँ विद्याध्ययन करते थे। इसी के आधार पर तिब्बत को प्रथम बौद्ध विहार बनाया गया।

(६) मिथिला

मिथिला का प्राचीन नाम विदेह था। अनन्तकाल से यह ब्राह्मणीय शिक्षा का केन्द्र था। राजा जनक यहाँ उपनिषिद् युग में धार्मिक शास्त्रार्थ किया करते थे जहाँ देश के भिन्न-भिन्न भागों से विद्वान् ऋषी आकर शास्त्रार्थ करते थे। बौद्ध युग में भी मिथिला ने अपनी परम्परा का निर्वाह किया। जगद्दर नामक विद्वान् जिसने गीता टीका, देवी महात्म्य, मेघदूत, गीत गोविंद तथा मालती माधव इत्यादि रचनाओं पर टीका की हैं; तथा कवि विद्यापति जिनकी सरस कविताओं से बंगाल और बिहार के कवियों ने युगों से प्रेरणा ली है, यहीं पर उत्पन्न हुए थे। १२ वीं शताब्दि से लेकर १५ वीं शताब्दि तक मिथिला विद्या का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा। साहित्य व ललित कलाओं के अतिरिक्त वहाँ वैज्ञानिक विषयों का भी अध्ययन होता था। न्याय का एक प्रसिद्ध विद्यालय मिथिला में था। गंगेश उपाध्याय ने 'नव्य न्याय' के स्कूल को जन्म दिया। यहाँ पर उसकी युग-निर्माणक रचना 'तत्व चिन्तामणि' लिखी गई। मिथिला में अनेकों विद्वानों ने जन्म लिया। यहाँ तक कि मुगल सम्राट् अकबर के समय में भी मिथिला विद्या का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। मिथिला अखिल भारतीय ख्याति का शिक्षा-केन्द्र था। न्याय तथा तर्क-शास्त्र के लिए यह विशेष प्रसिद्ध था। अध्ययन समाप्त होने पर यहाँ विद्यार्थी की अन्तिम परीक्षा लिए जाने की प्रथा थी जो 'शलाका परीक्षा' के नाम से विख्यात थी। इस परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर ही स्नातक को उपाधि दी जाती थी।

(७) नदिया

नदिया या नवद्वीप बंगाल के सेन सम्राटों के द्वारा ग्यारहवीं शताब्दि के मध्य में बसाया गया था। पूर्वी बंगाल में भागीरथी तथा जलांगी के संगम पर

प्रकृति की शोभा में यह स्थान बसा हुआ था। आज भी इसके प्राचीन भग्नाव-शेष देखे जा सकते हैं जो इसके अतीत के इतिहास की गौरव गाथा कहते हैं। समय-समय पर यहाँ विद्वानों ने जन्म लिया है। जयदेव के गीत गोविंद की वाणी अब भी लोगों के कानों में गूंजती है। उमापति की कवितायें तथा शूल-पाणि का 'स्मृति-विवेक' अमर रचनायें हैं। मुसलमान शासकों के युग में भी नदिया हिन्दू शिक्षा का एक प्रसिद्ध केन्द्र रहा। तर्क-शास्त्र, व्याकरण, नीति और कानून के लिये यह विशेष उल्लेखनीय है। नालन्दा तथा विक्रमशिला का पतन होने से नदिया का महत्व और भी अधिक बढ़ गया और वहाँ हिन्दू शिक्षा का एक विशाल केन्द्र स्थापित हो गया। रघुनाथ शिरोमणि ने वहाँ तर्कशास्त्र का एक स्कूल स्थापित किया था। वासुदेव सार्वभौम नामक विद्यार्थी जो मिथिला में न्याय व तर्कशास्त्र में विशेषता प्राप्त करने गया था वहाँ से तत्व-चिन्तामणि को कंठाग्र कर लाया, क्योंकि मिथिला की यह जटिल परम्परा थी कि वहाँ से किसी विद्यार्थी को न पुस्तकें हटाने की और न उनकी प्रतिलिपि और अनुवाद करने की ही आज्ञा थी। इस वासुदेव सार्वभौम ने ही नदिया में तर्कशास्त्र का सूत्रपात किया था। आगे चलकर उसके शिष्य रघुनाथ शिरोमणि ने न्याय की एक नवीन विचारधारा चलाई जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

इस प्रकार नदिया देश में शिक्षा का प्रचार करता रहा। मध्य युग में भी इसका महत्व रहा। आजकल वहाँ टोल-पद्धति से प्राचीन शिक्षा दी जाती है। "सन् १८१६ ई० में वहाँ ४६ स्कूल और ३८० विद्यार्थी थे। किन्तु सन् १८१८ ई० में ३१ स्कूल तथा विद्यार्थियों की संख्या ७४७ का अनुमान वार्ड ने किया था ....वार्ड ने जो ३१ स्कूल पाये उनमें से १७ में तर्कशास्त्र, ११ में कानून, तथा शेष ३ में क्रमशः काव्य, ज्योतिष एवं व्याकरण का शिक्षण होता था।"†

(८) जगद्दला

बंगाल के सम्राट् रामपाल ने ग्यारहवीं शताब्दि के प्रारम्भ में गंगा तट पर रामावती नामक नगर बसाया जहाँ उसने एक विहार बनवाया जिसे उसने जगद्दला के नाम से पुकारा। यह जगद्दला लगभग १०० वर्ष तक बौद्ध शिक्षा का केन्द्र रहा और सन् १२०३ ई० में मुसलमानों ने इसे नष्ट कर दिया। तिब्बत के विद्यार्थियों ने भी यहाँ आकर संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद किया। यहाँ पर

† F. E. Keay : *Indian Education in Ancient and Later Times.* P. P. 146-47 (1942).

अनेक पण्डित, महापण्डित, उपाध्याय और आचार्य रहते थे। इनमें विभूतिचंद्र दानशील, शुभकर तथा मोक्षाकर गुप्त अधिक प्रसिद्ध हैं। जगद्दला भी तर्कशास्त्र तथा तन्त्रवाद के लिये उल्लेखनीय है।

इन प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्रों के अतिरिक्त देश में अन्य भी छोटे छोटे विद्या-केन्द्र थे जिनका प्रादुर्भाव बौद्ध काल में हुआ। ह्वानसांग और इत्सिग नामक चीनी यात्रियों ने उत्तरी भारत का दौरा किया और स्थान २ पर उन्होंने मठ और विहारों को पाया। यही विहार और मठ बौद्ध शिक्षा के केन्द्र थे और सम्पूर्ण देश में छाये हुए थे। बिहार और बंगाल इनके प्रमुख क्षेत्र थे।

तृतीय खण्ड

आधुनिक शिक्षा

छा गया। द्वितीय विश्व-युद्ध ने भी शिक्षा की प्रगति को अवरुद्ध किया। हाँ, युद्धोपरान्त भारत सरकार ने 'सार्जेन्ट रिपोर्ट' नामक एक नवीन और व्यापक शिक्षा योजना अवश्य प्रस्तुत की।

अन्त में १५ अगस्त सन् १९४७ ई० में भारत स्वतन्त्र हो जाने से भार-जीवन का पुनर्जन्म हुआ। परिणामतः शिक्षा जगत में भी एक नूतन जीवन के लक्षण दृष्टि गोचर होने लगे। भिन्न-भिन्न राज्यों की सरकारों ने हितकर व व्यापक शिक्षा योजनाएँ बनाई हैं तथा उन्हें क्रमशः लागू किया जा रहा है। जनता की अभिरुचि शिक्षा में अधिक बढ़ गई है तथा शिक्षा का एक विशाल पैमाने पर प्रसार किया जा रहा है। वर्त्तमान भारत में नवीन संविधान के अनुसार केन्द्रीय शिक्षा-विभाग एक शिक्षा सचिव के अधीन है जो कि भारतीय संसद के प्रति उत्तरदायी है। राज्यों को अपनी आवश्यकतानुसार शिक्षा-योजना बनाने की स्वतन्त्रता है। राज्यों की शिक्षा भी मन्त्रियों के अधीन है। प्रत्येक राज्य में शिक्षा सञ्चालक नियुक्त होता है तथा राज्यों को उप-क्षेत्रों में बाँटकर उन्हें उप-शिक्षा सञ्चालकों के अधीन कर दिया गया है और अधिकांश राज्यों में प्रत्येक जिले में शिक्षा-निरीक्षकों की नियुक्ति कर दी गई है। परीक्षाओं के लिये बोर्ड तथा विश्वविद्यालय स्थापित हैं। इस प्रकार शिक्षा का सर्वाङ्गीण विकास [illegible] है। शिक्षा की दृष्टि से भारत उन्नति के प्रभात में प्रवेश कर चुका है और एक ज्योति पूर्ण भविष्य की आशा में वह अपनी शिक्षा योजनाओं का धैर्य पूर्वक परीक्षण कर रहा है।

तत्कालीन देशी शिक्षा की अवस्था

भारत में योरुपीय शिक्षा-प्रयत्नों के पूर्व देशी शिक्षा की अवस्था तथा पद्धति का एक संक्षिप्त विवरण आवश्यक है, क्योंकि इसी शिक्षा को ही आधार मानकर विदेशियों ने अपने प्रयत्न आरम्भ किये थे। किन्तु तत्कालीन शिक्षा के विषय में ठीक-ठीक आँकड़े उपलब्ध करने के साधन अपर्याप्त तथा कभी-कभी संदिग्ध भी हैं। वास्तव में १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जब कि भारत में अंग्रेजी शासन की जड़ें मजबूत होती जा रही थीं, विदेशी शासकों ने इस कार्य-भार को अपने ऊपर लिया और तत्कालीन ब्रटिश भारत के क्षेत्रों में देशी शिक्षा के रूप, विशेषताओं तथा विस्तार की जाँच पड़ताल कराई। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिस क्षेत्र के अन्तर्गत जाँच की गई वह सम्पूर्ण देश का एक अल्पांश था। किन्तु उदाहरण के रूप में अवश्य ही वह इतिहास के एक

विद्यार्थियों को कोई स्वास्थ्य-वर्धक शारीरिक दण्ड मिलता था। दण्ड में बेंत लगाना, छत से लटका देना तथा बैठक कराना भी सम्मिलित थे। इसके उपरान्त बालक अपनी योग्यता तथा संख्या के अनुसार समूहों में बट जाते थे। बड़े तथा योग्य विद्यार्थी छोटे बालकों को पढ़ाते थे तथा बड़े विद्यार्थियों को शिक्षक स्वयं पढ़ाता था। शिक्षक के अधिकार में प्रायः चार कक्षायें रहती थीं। इस प्रकार मानीटरों की सहायता से अकेला शिक्षक सम्पूर्ण स्कूल के शिक्षण व व्यवस्था पर अपनी दृष्टि रखता था। डा० बेल ने इस 'मानीटर पद्धति' की प्रशंसा की। उन्होंने इस पर एक पुस्तक लिखी और स्कॉटलैंड तथा इंगलैंड में इस प्रथा का अनुकरण किया गया। भारतीय शिक्षा-पद्धति का इङ्गलैंड की शिक्षा-पद्धति पर यह एक ऋण है। इस प्रकार बालक स्कूल में आकर प्रथमतः बालू पर उँगली से लिखना सीखते थे और इसके उपरान्त वे बड़े बड़े पत्तों पर भी लिखना सीखते थे। लकड़ी की पट्टी का भी प्रयोग किया जाता था। लिखने के उपरान्त बालक स्वर, व्यंजन और आवश्यक गणित का ज्ञान प्राप्त करते थे। पहाड़े, पौवे, अद्धे और सवैये इत्यादि भी गा गाकर याद किये जाते थे।†

इस प्रकार यह व्यवस्था अल्पव्ययी, सादा तथा उच्चकोटि की थी। मानीटर प्रथा एक सराहनीय साधन था, किन्तु साथ ही पुस्तकें बड़े निम्न-कोटि की थीं और शिक्षक भी बहुधा अयोग्य और अदीक्षित होते थे। उनके वेतन इतने अल्प होते थे कि योग्य आदमी शिक्षक बनना पसन्द नहीं करते थे।‡

† "The economy with which children are taught to write in the native schools, and the system by which the most advanced scholars are caused to teach the less advanced, and at the same time to confirm their own knowledge, is certainly admirable, and well deserves the imitation it has received in England. The chief defects in the native schools are the nature of the books and learning taught and the want of competent masters." *Selections,* Appendix D.

‡ "Teachers in general do not earn more than six or seven rupees monthly, which is not an allowance sufficient to induce men properly qualified to follow the profession. It may also be said that the general ignorance of the teachers themselves is one cause why none of them draw a large body of scholars together; but the main causes of the low state of education are the little encouragement which it receives, from there being but little demand for it, and the poverty of the people." *Ibid,* Appendix E.

बिल्लारी की भाँति कनाड़ा के जिलाधीश ने भी अपनी जाँच प्रस्तुत की और व्यक्तिगत शिक्षा के प्रचार का वर्णन करते हुये इस आशय की बात लिखी कि, "जिले में शिक्षा इतनी अधिक घरेलू रूप में होती है कि शिक्षालयों और उनके विद्यार्थियों का लेखा देना व्यर्थ ही नहीं, वरन् जनसंख्या के अनुसार शिक्षा पाने वालों का अनुपात निकालना भ्रामक होगा।"

बम्बई :—सन् १८२६ ई० में बम्बई प्रान्त के गवर्नर श्री एलफिंस्टन ने शिक्षा की जाँच कराई। इस जाँच की रूपरेखा प्रायः वही थी जो कि मद्रास में मुनरो की थी। इस रिपोर्ट के अनुसार स्कूलों की संख्या १,७०५ थी जिनमें ३५,१४३ विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। प्रान्त की जनसंख्या ४६,८१,७३५ थी। आँकड़ों से सिद्ध होता है कि बम्बई में मद्रास की अपेक्षा शिक्षा कुछ थी। किन्तु इस संख्या को अन्तिम रूप से प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इसमें उस समय घर-घर प्रचलित व्यक्तिगत शिक्षा के आँकड़े सम्मिलित नहीं थे। तत्कालीन सरकारी अफसरों का भी अनुभव यह था कि उस समय देशी प्रारम्भिक शिक्षा बम्बई में अधिक व्यापक रूप में थी। सन् १८२१ ई० में बम्बई के गवर्नर की कार्यकारिणी के एक सदस्य श्री प्रेन्डरगास्ट के मतानुसार "कठिनाई से राज्य भर में ऐसा कोई छोटा या बड़ा गाँव होगा, जहाँ एक न एक स्कूल न हो। बड़े गाँवों में अधिक तथा नगरों में बहुत से स्कूल हैं जहाँ भारतीय बच्चों को लिपि तथा गणित की शिक्षा इतनी सस्ती, अर्थात् एक दो मुट्ठी अनाज से लेकर एक रुपया प्रतिमास पर दी जाती है; किन्तु साथ ही वह इतनी प्रभावोत्पादक होती है कि ऐसा कोई किसान अथवा छोटा व्यापारी नहीं है जो हमारे देश के छोटे लोगों से अधिक कुशलता से हिसाब न रखता हो। बड़े व्यापारी तथा साहूकार तो किसी भी अँग्रेजी व्यापारी के समान स्पष्ट तथा सुविधाजनक हिसाब रखते हैं।"*

अतः इस विवरण से प्रकट होता है कि उस समय शिक्षा का प्रचार अच्छा रहा होगा। सन् १८२६ ई० की रिपोर्ट भी कुछ भ्रान्तिपूर्ण है। वास्तव में बम्बई का शिक्षा-विभाग देशी स्कूलों तथा शिक्षा की खुले रूप में अवहेलना करता था। इसके फलस्वरूप बम्बई की प्रारम्भिक देशी शिक्षा को बड़ा आघात लगा और सन् १८८२ ई० तक उसका बहुत पतन हो गया। एलफिंस्टन के आँकड़ों की व्यर्थता इसी बात से प्रकट हो जाती है कि सन् १८८२ ई० में 'भारतीय शिक्षा आयोग' ने वहाँ स्कूलों की संख्या ३,९५४ पाई थी, जिनमें ७८,२०५ विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। इससे यह प्रकट होता है कि सरकारी

* G. L. Prendergast's Evidence, (1832). Quoted by Nurullah and Naik : *A History of Education in India*. P. P. 17, 18.

आँकड़ों को हम आदर्श रूप नहीं मान सकते और न इन्हें शेष भारत की शिक्षा के लिये मानदण्ड ही मान सकते हैं।

बम्बई प्रान्त में देशी-शिक्षा की शिक्षण-पद्धति का भी उल्लेख मिलता है। प्रधानतः शिक्षक ही विद्यार्थियों को पढ़ाता था। मानीटर-प्रथा यहाँ भी प्रचलित थी। एक अन्य पद्धति भी बम्बई में चल रही थी जिसका वर्णन इस प्रकार मिलता है। "जब एक बालक स्कूल में आता है, तत्काल ही वह अधिक योग्य विद्यार्थी के संरक्षण में रख दिया जाता है। उसका यह कर्त्तव्य होता है कि वह नये बालक को पाठ पढ़ाये और उसकी शिक्षा-प्रगति तथा आचरण की सूचना शिक्षक को दे। बालकों का विभाजन कक्षानुसार न होकर दो-दो के जोड़ों में कर दिया जाता है। प्रत्येक जोड़े में एक छोटा विद्यार्थी तथा एक बड़ा व योग्य विद्यार्थी शिक्षक के रूप में होता है। इन जोड़ों के बैठने की व्यवस्था भी इस प्रकार की जाती है कि कुशल विद्यार्थी के पास ही नये विद्यार्थी को बैठाया जाता है। इस प्रकार जब बहुत से विद्यार्थी समान रूप से ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तो उन्हें एक साथ इकट्ठा बैठाया जाता है और वे सीधे शिक्षक के द्वारा पढ़ाये जाते हैं। इस प्रकार शिक्षक के पास पर्याप्त अवकाश स्कूल के निरीक्षण तथा प्रत्येक विद्यार्थी को व्यक्तिगत रूप से देखने को मिल जाता है।"†

इस पद्धति के द्वारा शिक्षक अकेला अधिक से अधिक विद्यार्थियों की देख भाल कर सकता है। साथ ही यह बड़ी अल्पव्ययी प्रथा है। यही कारण है कि डा० बेल के प्रयत्नों के द्वारा इङ्गलैण्ड ने भी १९ वीं शताब्दी में इस प्रथा को अपनाया और शिक्षा-प्रसार किया।

बंगाल—निम्नतर गंगाघाटी की शिक्षा के विषय में जानकारी प्राप्त करना विशेष महत्त्व की वस्तु हैं, क्योंकि वहाँ प्राचीन तथा मध्य युग में भी शिक्षा के बड़े केन्द्र थे। इसके अतिरिक्त विदेशियों ने भी १८ वीं और १९ वीं शताब्दि में यहीं पर अपने प्रारम्भिक प्रयत्न प्रारम्भ किये थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन से पूर्व भी बंगाल में देशी शिक्षा पर्याप्त रूप से प्रचलित थी। "यह प्रारम्भिक शिक्षा जन साधारण के लिये थी। यह एक ऐसा विशाल आयोजन था जिसमें असंख्य प्रारम्भिक पाठशालायें देश भर में फैली हुई थीं। व्यावहारिक रूप से प्रत्येक गाँव में अपना स्कूल या पाठशाला थी। अकेले बंगाल में, ऐसा कहा जाता है कि, एक लाख ऐसी पाठशालायें थीं।"‡

† Parulekar, R. V.: *Literacy of India in Pre-British Days.* op. cit. p. XIII. Aryabhusan Press, Poona. (1940).

‡ Basu, A. N.: *Education in Modern India*,. P. 5.

वस्तुतः ये आँकड़े विलिमय ऐडम के दिये हुए हैं। श्री ऐडम सन् १८१८ ई० में भारत में एक धर्म प्रचारक के रूप में आये थे। यहाँ आकर उन्होंने संस्कृत और बंगाली भाषाओं का विस्तृत अध्ययन किया। शीघ्र ही राजा राममोहन राय के सम्पर्क से इनमें भारतीय शिक्षा के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया। उन्होंने सन् १८२६ में लार्ड विलियम बैंटिक को देशी शिक्षा व्यवस्था की जाँच कराने के लिए प्रार्थना की। किन्तु कोई परिणाम न होने पर उन्होंने १८३४ ई० में पुनः प्रार्थना की; और इस प्रकार लार्ड बैंटिक की प्रार्थना पर श्री ऐडम ने स्वयं ही जाँच प्रारम्भ कर दी और सन् १८३५-३८ ई० में अपनी तीन रिपोर्टें प्रकाशित कीं। उनकी प्रथम रिपोर्ट तो केवल उनकी प्रथम जाँच का सार मात्र थी। दूसरी रिपोर्ट अधिक विस्तृत थी। यह जिला राजशाही में थाना नत्तौर की शिक्षा का पूर्ण विवरण देती है। श्री ऐडम की तीसरी रिपोर्ट मुर्शिदाबाद, बर्दमान, बीरभूमि, तिरहुत और दक्षिणी बिहार की शिक्षा के विषय में आँकड़े प्रस्तुत करती है।

नत्तौर थाना के विषय में संख्या देते हुए श्री ऐडम ने बतलाया है कि वहाँ की जनसंख्या १,९५,२९६ थी, जिसके लिए २७ स्कूल थे। इनमें २६२ विद्यार्थी पढ़ते थे। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत रूप से दी जाने वाली शिक्षा का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि २३८ गाँवों में १,५८८ ऐसे परिवार थे जो २,३८२ बालकों को प्रारम्भिक शिक्षा देते थे। इस प्रकार व्यक्तिगत शिक्षा का प्रचार पाठशालाओं से अधिक था। शिक्षा बहुत सस्ती थी। स्त्री शिक्षा का कोई अस्तित्व नहीं था। शिक्षकों को ५ रु० से ८ रु० तक मासिक वेतन मिलता था। अपनी तीसरी रिपोर्ट के आँकड़े देते हुए उन्होंने बतलाया है कि बंगाल व बिहार के पाँच जिलों में २,५६७ स्कूल थे जिनमें ६ बालिकाओं के थे। उनमें ३०,९१५ विद्यार्थी पढ़ते थे जिनमें २१४ लड़कियाँ थीं तथा २४२ विद्यार्थी ८ स्कूलों में अँग्रेजी पढ़ते थे। शिक्षा का प्रतिशत श्री एडम के अनुसार उस समय ४.४ था।

इस प्रकार श्री ऐडम के अनुसार सम्पूर्ण बंगाल बिहार में ४ करोड़ की जनसंख्या थी और स्कूलों की संख्या १ लाख थी; अर्थात् प्रति ४०० व्यक्तियों पीछे एक स्कूल था। सर फिलिप हर्टौग ने श्री ऐडम के इन आँकडों को 'काल्पनिक' व 'पौराणिक' और १ लाख संख्या को बिल्कुल अतिशयोक्ति पूर्ण बतलाया है। वास्तव में यह भ्रम 'स्कूल' शब्द की भिन्न-भिन्न व्याख्यायें करने से उत्पन्न होता है। श्री ऐडम ने घरेलू रूप से परिवारों में दी जाने वाली शिक्षा के स्थानों को भी 'स्कूल' में सम्मिलित कर लिया है। वास्तव में श्री ऐडम की संख्याओं को लेकर एक वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ था। किन्तु हम

उनकी सच्चाई में संदेह नहीं कर सकते। श्री परांजपे के कथनानुसार "१९ वीं शताब्दि के प्रारम्भ में भारत के अधिकतर भागों में प्राथमिक शिक्षा एक व्यापक रूप में विद्यमान थी। मद्रास प्रांत में सर टामस मुनरो ने 'प्रत्येक गांव में एक प्राथमिक स्कूल' पाया था। बंगाल में वार्ड ने खोज की कि 'प्रायः सभी गांवों में लिखने-पढ़ने और प्रारम्भिक गणित के स्कूल विद्यमान थे।' मालवा में जहाँ कि लगभग अर्ध शताब्दी से लगातार अराजकता फैली हुई थी मैल्कम ने देखा कि ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत आने के समय प्रत्येक गाँव जिसमें १०० घर हों, एक प्रारम्भिक शिक्षा का स्कूल था।"†

श्री ऐडम के अनुसार इन पाठशालाओं में शिक्षकों की आय बहुत कम होती थी। अधिकांश में इनका व्यय कुछ धनी नागरिकों, जमींदार तथा ताल्लुकेदारों द्वारा उठाया जाता था। धनी लोग अपनी जगह देकर घर पर ही पाठशाला खुलवा देते थे। मुसलमानों में फारसी व अरबी का प्रचार था; तथा हिन्दुओं में बंगला, संस्कृत व हिन्दुस्तानी भी पढ़ते थे। उर्दू का प्रचलन स्कूलों के पाठ्यक्रम में नहीं था, यद्यपि यह शिक्षित मुसलमानों की बोल चाल की भाषा थी। स्त्री शिक्षा के नाम से लोग डरते थे। मुसलमानों में लड़कियों को शिक्षित करना अशुभ समझा जाता था। बहुत से हिन्दू परिवारों में भी यह भ्रांति थी कि पढ़ी, लिखी लड़की विवाहोपरान्त शीघ्र विधवा हो जाती है। लड़कियों की शिक्षा से लोग इतने डरते थे कि यदि कोई बालिका अपने पढ़ते हुए भाई के पास खेलते-खेलते पहुँच जाती थी तो उसका ध्यान शीघ्र ही उधर से हटा कर अन्य कार्यों में लगा दिया जाता था।‡ इतना अवश्य था कि कुछ धनी जमींदार अवश्य छिप कर थोड़ा बहुत ज्ञान बालिकाओं को करा देते थे।

आगरा प्रान्त—मध्ययुग में आगरा शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र रहा था। इसके ध्वंसावशेष १९ वीं शताब्दि में भी विद्यमान थे। प्रान्त के प्रत्येक नगर में अपने स्कूल थे। प्रत्येक परगने में दो या अधिक स्कूल थे और अधिकांश गांवों में भी अध्यापक रहते थे। इस प्रान्त में प्रधानतः लौकिक व उपयोगी शिक्षा प्रदान की जाती थी। लिपि का लिखना, पढ़ना, व्यवहार गणित, महाजनी हिसाब-किताब तथा उर्दू, फारसी और हिन्दी के स्कूल यहाँ पर थे। फारसी स्कूल घरेलू रूप से चलते थे। हिन्दी, कैथी तथा मुड़िया की पाठशालायें भी थीं। हिन्दू और मुसलमान दोनों अध्यापन-कार्य करते थे। फारसी का प्रयोग बहुधा

† *Progess of Education*, Poona, July, 1940. P. 38. Quoted by Nurullah and Naik: *A History of Education in India*. P. 22.

‡ *Adam's Report*, P. P. 187-88.

कचहरी के लिए किया जाता था। गणित में मौखिक गणित, पहाड़े तथा सिक्के और वजन इत्यादि का ज्ञान कराया जाता था। पटवारी लोग कैथी स्कूलों में पैमाइश इत्यादि सीखते थे। लिखने इत्यादि का अभ्यास भी पट्टी पर कराया जाता था, जिस पर काले रंग से रंग कर सफेद खड़िया से लिखा जाता था। जन-साधारण में कृषकों की संख्या अधिक थी। कृषक-बालकों में शिक्षा का प्रचार बहुधा कम था। व्यापारी वर्ग तथा राज-कर्मचारियों में शिक्षा अधिक थी।

देशी शिक्षा की अवनति

१६ वीं शताब्दि में भारत में अंग्रेजों का राज्य पूर्णतः स्थापित हो चुका था। अतः अब यहाँ विदेशी शिक्षा पद्धति को प्रोत्साहन दिया जा रहा था। परिणामतः देशी शिक्षा की अवनति होने लगी। इसके कई कारण थे।

कारण:—प्रथमतः देश की बढ़ती हुई निर्धनता इसका कारण थी। जन-साधारण इतने निर्धन हो चले थे कि शिक्षक के वेतन के लिये वे बालकों की नाम मात्र की फीस तक नहीं दे सकते थे। दूसरा कारण था राज्य की उदासीनता। प्रारम्भिक शिक्षा का जो विशाल जाल देश में फैला हुआ था, सरकार ने उसकी ओर उचित ध्यान नहीं दिया। ऐडम और एलफिन्स्टन जैसे विचारकों के प्रयत्नों, सन् १८५४ ई० की शिक्षा घोषणा तथा 'भारतीय शिक्षा आयोग' की सिफारिशों की अपेक्षाकृत भी देशी प्रारम्भिक शिक्षा के स्कूलों का या तो सुधार की भ्रमात्मक योजनायें बनाकर बध कर डाला गया अथवा अवहेलना के द्वारा उन्हें अपनी मौत मरने को छोड़ दिया गया।

इसके अतिरिक्त अँग्रेजी के प्रचलन ने देशी भाषाओं की उपयोगिता को कम कर दिया। राज्य में पद पाने के लिये अंग्रेजी पढ़ना आवश्यक हो गया। परिणामतः देशी शिक्षा की अवहेलना कर दी गई। सरकारी अधिकृत प्राथमिक स्कूलों के खुल जाने से सरकार का ध्यान देशी प्रारम्भिक स्कूलों व पाठशालाओं से बिलकुल हट गया। उत्तर प्रदेश में यह बात विशेष रूप से की गई।

बिलारी के जिलाधीश श्री कैम्बेल ने सन् १८२३ ई० में लिखा था कि भारतीय जनता में सस्ती शिक्षा दिलाने की भी शक्ति नहीं थी जिसका प्रमुख कारण था उसकी निर्धनता। यूरोपीय देशों में औद्योगिक-क्रान्ति के बाद भारत के लोगों के घरेलू धंधे नष्ट हो गये। देशी राज्यों की समाप्ति के बाद कुछ काल तक देश में अराजकता रही। इससे शिक्षा का संरक्षण उठ गया। भारत का रुपया विदेशों में भी जाने लगा। अतः जनसाधारण की अवस्था और भी अधिक खराब हो गई। अतः "उन अधिकांश गाँवों में जहाँ पहिले स्कूल थे, अब नहीं

हैं और जहाँ बड़े स्कूल थे वहाँ धनिकों के बच्चे शिक्षा पाते हैं। अन्य बालक गरीबी के कारण नहीं आ सकते।"

इसके अतिरिक्त जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, अध्यापकों के वेतन इतने कम थे कि योग्य व्यक्तियों को शिक्षण कार्य के लिये आकर्षित करना कठिन था। शिक्षक बहुधा निम्न ज्ञान स्तर के तथा अदीक्षित होते थे। उनका अज्ञान भी देशी शिक्षा के ह्रास का एक कारण बन गया।

इस प्रकार देशी शिक्षा-पद्धति, जो कि १८ वीं और १९ वीं शताब्दि में भारत में प्रचलित थी प्रायः समाप्त हो गई। इतना अवश्य है कि उस समय इस शिक्षा का देश के लिये बड़ा महत्त्व था। यह प्रणाली भारत की तत्कालीन अवस्था को देखते हुए पूर्ण उपयुक्त थी। यदि वर्तमान शिक्षा-पद्धति को देशी शिक्षा के आधार पर ही विकसित किया जाता; तथा शिक्षा-विभाग के प्रयत्न उस पद्धति के विकास में लग जाते तो आज भारत में हमें अधिक सच्ची, सस्ती व उपयुक्त शिक्षा देखने को मिलती। किन्तु ऐसा न हो सका। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में साक्षरता के प्रतिशत में कोई सराहनीय वृद्धि न हुई। अतः महात्मा गांधी को भी सन् १९३१ ई० में यह बात स्वीकार करनी पड़ी थी कि भारत में आधुनिक काल में साक्षरता १०० वर्ष पूर्व की अपेक्षा कम है।

प्रारम्भिक मिशनरी प्रयत्न

१७ वीं शताब्दि के प्रारम्भ में ही भारत में पश्चिमी देशों के लोगों की सरगर्मियाँ बढ़ने लगी थीं। पुर्तगालियों के भारत में आने के उपरान्त ही डच, फ्रांसीसी, स्पेन निवासी तथा अंग्रेज आने लगे। उन्होंने यहाँ अपनी व्यापारिक कम्पनियाँ स्थापित कीं तथा मुगल काल के अन्त में भारत के सुदूर बन्दरगाहों में आकर अपनी कोठियाँ बनालीं। शीघ्र ही उनका व्यापार बढ़ने लगा। भारत की तत्कालीन राजनैतिक दुर्बल अवस्था से लाभ उठाकर ये कपनियाँ हाथ में अस्त्र लेकर यहाँ अपना साम्राज्य स्थापित करने के लिये संघर्ष करने लगीं। सन् १६०१ ई० में स्थापित हुई ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी इस संघर्ष में भाग लिया और अन्त में भारत में अपना राज्य स्थापित करने में सफल हुई।

इन योरुपीय व्यापारियों के भारत में बस जाने का उद्देश्य न केवल व्यापारिक ही था, वरन् वे धर्म प्रचार भी करना चाहते थे। वे कहते थे कि हम भारत में "ईसाइयों तथा मसालों की खोज में आये हैं।" अतः उन्होंने यहाँ आते ही अपने स्कूल भी स्थापित कर दिये, जिनका उद्देश्य था अपने अधगोरे ईसाई कर्मचारियों के बालकों को शिक्षा देना तथा ईसाई धर्म का इस देश में प्रचार करना। प्रारम्भ में उन्होंने प्राथमिक शिक्षा को ही अपने हाथ में लिया।

ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भी प्रारम्भ में शिक्षा को धर्मप्रचार का साधन बनाया था, किन्तु कालान्तर में राजनैतिक तथा शासन सम्बन्धी कारणों से उसे यह विचार छोड़ कर धार्मिक निरपेक्षता की नीति का आश्रय लेना पड़ा और सन् १८१३ ई० तक इस नीति को यथावत् रक्खा। इस प्रकार यथार्थ में अपनी स्थापना के लगभग १०० वर्ष तक कम्पनी ने देश की शिक्षा के लिये कोई सराहनीय प्रयत्न नहीं किया।

पुर्तगाल—सन् १४९८ ई० में पहिला पुर्तगाली यात्री वास्कोडिगामा कालीकट आकर उतरा था। उसके उपरान्त भिन्न-भिन्न प्रकार की ईसाई मिशनरी टोलियाँ भारत के पच्छिमी समुद्री किनारे पर आकर रोमन कैथलिक धर्म के प्रचार में कार्यशील हो गईं। अतः उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप इस भाग में एक नवीन शिक्षा पद्धति का आविर्भाव हुआ। शिक्षा द्वारा धर्म प्रचार करने के लिये; तथा पुर्तगाली, यूरेशियन और भारतीय धर्म परिवर्तित बच्चों की शिक्षा के लिये, इन्होंने स्कूलों की स्थापना भी की। बम्बई, गोआ, डामन और ड्यू तथा लंका, चिटगाँव और हुगली इनके प्रमुख केन्द्र थे।

वास्तव में पुर्तगालियों को भारत में आधुनिक शिक्षा पद्धति की नींव डालने वाला कहा जा सकता है। इन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा के लिये स्कूल खोले जिनमें धर्म, स्थानीय भाषा, पुर्तगाली, गणित तथा कुछ कारीगरी की शिक्षा दी जाती थी। उच्च शिक्षा के लिए इन्होंने जैसुएट कालेजों की स्थापना की। इनमें लैटिन, धर्म, तर्कशास्त्र और संगीत की शिक्षा तथा पादरियों को ट्रेनिंग दी जाती थी।

भारत में आने वाले प्रथम धर्म-प्रचारकों में सन्त ज़ावियर प्रमुख था। यह जैसुएट धर्म-शाखा का मानने वाला था। जैसुएट पादरी अपने शिक्षा-कार्यों के लिये सर्वविख्यात थे। ज़ावियर ने भारत में इस क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया। सन् १५४२ ई० में वह गाँवों तथा गलियों में पैदल घूम घूमकर ईसाई धर्म का प्रचार करता था। ईसाई धर्म की कुछ पुस्तकें भी उसने प्रत्येक गाँव में रखवा दी थीं। सन् १५७५ ई० में उसने बम्बई के निकट बन्दरा में सेन्ट ऐनी विश्वविद्यालय तथा १५७७ में कोचीन में एक प्रेस स्थापित किया। दूसरा धर्म प्रचारक राबर्ट डी० नोबीली था, जो कि अपने आपको पाश्चात्य ब्राह्मण कहता था तथा भारतीय सन्यासियों की भाँति वेषभूषा और भोजन पकाने के लिये ब्राह्मण रसोइये इत्यादि रखता था। उसने ईसाई धर्म का खूब प्रचार किया।

पुर्तगालियों ने भारत में प्रथम जैसुएट कालेज सन् १५७५ ई० में गोआ में स्थापित किया, जिसमें ३०० विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। १५८० ई० में गोआ तथा अन्य स्थानों में अन्य कालेज भी खुले। बर्नियर ने आगरा में भी एक जैसुएट कालेज का उल्लेख किया है, जिसे सम्राट् अकबर ने जैसुएट पादरियों के प्रभाव में आकर बनवाया था। इसमें लगभग ३० परिवारों के बालक शिक्षा पाते थे। सत्रहवीं शताब्दि में पुर्तगालियों का पतन हो गया। उनके शिक्षा सम्बन्धी प्रयत्न भी समाप्त हो गये। उनके पतन के अन्य कारणों में से धार्मिक बातों में अधिक हस्तक्षेप करना भी एक प्रमुख कारण था, जिसका भारतीयों ने तीव्र विरोध किया। वास्तव में उनके शिक्षा-प्रयत्नों का एक मात्र कारण धर्म-प्रचार था। यह एक निर्विवाद सत्य है कि इन प्रारम्भिक धर्म-प्रचारकों के शिक्षा-कार्य बहुत साधारण कोटि के थे और भारत की वर्तमान शिक्षा-पद्धति के निर्माण में उन्होंने अकिंचन योग दिया था। इनकी धार्मिक नीति के परिणामों से अँग्रेज भी चौकन्ने हो गये। पुर्तगालियों के उपरान्त कुछ भारतीय ईसाइयों ने कुछ समय तक इनके शिक्षा-कार्य को जीवित रखने का प्रयत्न किया, किन्तु उसमें अधिक प्रगति न हो सकी।

डच—सत्रहवीं शताब्दि के प्रारम्भ में भारत में हालैंड वासियों ने भी अपनी कम्पनी स्थापित की। उस समय ये लोग संसार की सर्वप्रथम समुद्री शक्तियों में से थे। बंगाल में चिनसुरा और हुगली नामक स्थानों पर इन्होंने अपने कारखाने खोले। यह बात ध्यान देने योग्य है कि डचों ने प्रारम्भ से ही अपनी नीति कठोर धार्मिक-निरपेक्षता की रक्खी। भारतवासियों में धर्म-प्रचार का भूत इन पर सवार नहीं था। इन्होंने केवल व्यापारिक हितों ही को अपनाया। अपने कर्मचारियों के बालकों के लिये इन्होंने कुछ स्कूल अवश्य खोले जिनमें भारतीय बालकों को पढ़ने की स्वतन्त्रता थी। इन्होंने थोड़ा प्रयास रोमन कैथलिक ईसाइयों को बदलकर उन्हें प्रोटेस्टैंट बनाने का अवश्य किया। शिक्षा द्वारा ईसाइयों में प्रोटेस्टैंट धर्म के गुणों का गान किया। लंका भी इनका केन्द्र था।

फ्रान्सीसी—सन् १६६४ ई० में फ्रांसीसियों ने यहाँ अपनी व्यापारिक कम्पनी स्थापित की तथा माही, यानान, कारीकल, चन्द्रनगर और पाण्डुचेरी में अपनी फैक्टरियाँ चालू कीं। इन्हीं स्थानों पर इन्होंने प्राथमिक स्कूल खोले। पाण्डुचेरी में एक माध्यमिक शिक्षा का स्कूल भी खोला जहाँ फ्रेंच भाषा सिखाई जाती थी। प्रारम्भिक स्कूलों में भारतीय शिक्षकों द्वारा स्थानीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। प्रत्येक स्कूल में एक धर्म-प्रचारक शिक्षा देता

था। गैर-ईसाई बालक भी इन स्कूलों में प्रवेश पाते थे। उन्हें बहुधा भोजन, वस्त्र, पुस्तकें तथा अन्य आवश्यक सामग्री देकर स्कूलों में आने के लिये प्रोत्साहित भी किया जाता था। फ्रांसीसी मिशनरी पुर्तगालियों की भाँति रोमन कैथलिक थे। जिन स्कूलों में धर्म-शिक्षा दी जाती थी वहाँ उनका कार्य महत्त्वपूर्ण रहा। फ्राँसीसियों के पतन के उपरान्त इनकी बस्तियाँ अँग्रेजों के अधिकार में आ गईं और वहाँ की शिक्षा-व्यवस्था भी बदल गई।

डेन—सत्रहवीं शताब्दि में डेनों ने तञ्जौर के निकट तरंगमपाड़ि तथा बंगाल में सीरामपुर में अपने कारखाने स्थापित किये। राजनैतिक दृष्टिकोण से इस जाति का भारत में कोई महत्त्व न बढ़ सका, किन्तु इनके धर्म तथा शिक्षा-प्रचार के कार्य अवश्य महत्त्वपूर्ण हैं। वास्तव में डेन ही भारत में आधुनिक शिक्षा के अग्रणी समझे जाते हैं। आगे चल कर डेन मिशनरियों ने अपने आपको अँग्रेजों में मिला दिया।

सन् १७०६ ई० में डेनों ने अपने उपनिवेश तरंगमपाड़ि (Trancubar) में ज़ीगेनबल्ग तथा प्लूशो नामक दो जर्मन पादरियों को भेजा। सन् १७१६ ई० में ज़ीगेनबल्ग की मृत्यु के उपरान्त उसका कार्य प्लूशो तथा श्वार्ज़ ने जारी रक्खा। डेनमार्क से आर्थिक सहायता के अभाव में इनकी सहायता 'ईसाई धर्म प्रचारक समिति' ने की। डेनों ने वस्तुतः "अपने आपको दक्षिणी भारत में अँग्रेज़ी उपनिवेशों में, जहाँ वे ठहरे, वहीं ठहर कर तथा जहाँ वे आगे बढ़े वहाँ आगे बढ़ कर उनमें मिला दिया।†

ज़ीगेनबल्ग तथा प्लूशो ने आते ही तमिल तथा पुर्तगाली भाषायें सीखीं और अपने कार्य को तञ्जौर, मद्रास, तिनेवली और त्रिचनापल्ली तक विस्तृत कर दिया। इन्होंने शिक्षा द्वारा धर्म-परिवर्तन करके लगभग ५०,००० लोगों को बैप्टिस्ट बनाया।‡ किन्तु इतना अवश्य था कि इन धर्म परिवर्तित भारतियों को अपनी-अपनी जातियों में बने रहने की आज्ञा दे दी।

डेनों ने मुसलमानों के लिये बहुत से प्राथमिक स्कूल खोले। शिक्षा का माध्यम स्थानीय भाषायें ही रक्खा। ज़ीगेनबल्ग ने शुल्ज की सहायता से तमिल में बाइबिल का अनुवाद किया तथा तमिल व्याकरण की रचना की। शुल्ज ने तेलगु में बाइबिल का रूपान्तर किया। एक तमिल शब्द-कोष भी छापा गया। छापे को ये लोग धर्म-प्रचार में खूब प्रयोग करते थे। सन् १७१२-१३ ई० में तमिल तथा रोमन लिपि का एक प्रेस स्थापित किया गया। १७१६ ई० में

† Richer: *A History of Missions in India*, P. 12.
‡ Mukerjee, S. N., *History of Education in India* P. 18.

अध्यापकों की दीक्षा के लिये एक कालेज खोला और दीक्षित शिक्षकों की निखुक्ति मद्रास में तमिल बच्चों को अँग्रेजी तथा बाइबिल पढ़ाने के लिये की। इन मिशनरियों के शिक्षा-प्रयत्नों का वर्णन अगले अध्याय में विस्तार-पूर्वक किया जायगा।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रारम्भिक शिक्षा-प्रयत्न

यद्यपि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना केवल व्यापार के लिये हुई थी, तथापि उस समय की देश की राजनैतिक अवस्था तथा अन्य प्रतिद्वन्द्वी योरुपीय कम्पनियों के कारण उसे अपनी प्रारम्भिक नीति कुछ सीमा तक धार्मिक भी रखनी पड़ी। पुर्तगालियों के प्रभाव को कम करने के लिये अँग्रेजों ने धार्मिक-नीति को भी अपनाया। कम्पनी के ये प्रयास ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिये थे। अपने ईसाई कर्मचारियों के आध्यात्मिक कल्याण तथा भारतीयों में बाइबिल के संदेश को फैलाने के लिये कम्पनी ने भारत में पादरियों को भेजा एवं कुछ भारतीय ईसाइयों को धार्मिक-दीक्षा के लिये इङ्गलैंड भी भेजा, जिससे कि देश लौटने पर वे ईसाई धर्म का प्रचार करके लोगों का धर्म परिवर्तन कर सकें। पीटर नामक एक ईसाई युवक कम्पनी के खर्चे से ईसाई धर्म की शिक्षा प्राप्त करने के लिये इंगलैंड भेजा गया था।† ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में भारत के प्रचारक तैयार करने के उद्देश्य से अरबी-विभाग खोला गया। १६५६ ई० में कम्पनी के डाइरेक्टरों ने भारत में ईसाई धर्म का प्रचार करने की 'सच्ची व शुद्ध भावना' से प्रेरित होकर प्रत्येक जहाज में ईसाई धर्म-प्रचारकों के भेजने की इच्छा प्रकट की। किन्तु कम्पनी ने इस नीति को न अपना कर धार्मिक-तटस्थता की नीति को अपनाने की चेष्टा की। अतः विशाल पैमाने पर धार्मिक नीति के अपनाने के मोह को छोड़ दिया गया। मद्रास में १६७० ई० में पुर्तगाली, अँग्रेज तथा यूरेशियन बच्चों के लिये प्रथम स्कूल खोला गया तथा शिक्षा-कर लगा कर अँग्रेजी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। सन् १६६८ ई० के आज्ञा-पत्र में इंगलैण्ड की संसद ने एक वाक्यांश जोड़ दिया जिसके फलस्वरूप कम्पनी को भारत में अपने कारखानों में धर्म-गुरु तथा अध्यापक रखने का आदेश दिया गया तथा ५०० टन अथवा इससे अधिक वजन के प्रत्येक जहाज में एक पादरी लाने की आज्ञा हुई। इस घोषणा-पत्र में सैनिकों तथा कारखाने के कर्मचारियों के लिये स्कूल खोले जाने की बात भी कही गई। परिणामतः कुछ निशुल्क दातव्य शिक्षालयों की स्थापना की गई। १७१५ ई० में ऐसे स्कूल

† Law N. N., *Promotion of Learning in India* P. 7.

ही १८ वीं शताब्दि के मध्य में इस प्रान्त की शिक्षा-नीति एक नये साँचे में ढल गई। अँग्रेजी स्कूलों का भारत में यह प्रारम्भ था। इनमें अँग्रेजी, हिसाब, तमिल, हिन्दी तथा ईसाई धर्म की शिक्षा दी जाती थी। सरकारी निरीक्षकों द्वारा इनका नियमित निरीक्षण भी होता था।

इनके अतिरिक्त मद्रास में १७८६ ई० में श्रीमती कैम्पबेल ने एक महिला अनाथालय भी खोला जिसके लिये भवन का दान अर्काट के नवाब ने किया था। जनता और सरकार दोनों ने इसके खर्च को चलाया। डा० एन्ड्रयू बेल के नाम से ऐसा ही एक आश्रम लड़कों के लिये भी खोला गया जहाँ उन्होंने 'मानीटर-प्रथा' का परीक्षण प्रथम बार किया। इस प्रकार ईसाई मिशनरियों के प्रयत्नों से मद्रास की शिक्षा को बहुत प्रगति मिली। जिस कार्य का कम्पनी के संचालकों ने सूत्रपात किया था, उसकी पूर्ति मिशनरियों ने की।

इसी प्रकार बम्बई तथा बंगाल प्रान्तों में भी शिक्षा ने प्रगति की। बम्बई में १७१६ ई० में रिचार्ड कौब ने निर्धन योरुपीय प्रौटेस्टेन्ट बालकों के लिये एक स्कूल खोला। शिक्षा की दृष्टि से बंगाल ने पर्याप्त प्रगति की। वास्तव में १७५७ ई० में प्लासी-विजय के उपरान्त कम्पनी ने बंगाल का सम्पूर्ण शासन-कार्य संभाल लिया, किन्तु कम्पनी ने बंगाल की शिक्षा का प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायित्व स्वीकार नहीं किया। वहाँ जो कुछ प्रगति हुई वह सब वैयक्तिक प्रयत्नों के फलस्वरूप हुई। पुराने देशी स्कूलों को कम्पनी ने न तो सहयोग ही दिया और न उन्हें अन्य प्रकार से ही छेड़ा। एक प्रकार से उसकी नीति पूर्ण तटस्थता की थी। पाठशालाओं के लिये पुराने चले आने वाले भूमिदान को उसने अवश्य यथावत् छोड़ दिया। "यह बात स्पष्ट है कि बंगाल में जनता की शिक्षा के लिये सबसे पहले और बड़े से बड़े प्रयत्न न केवल सरकार के द्वारा ही किये गये, अपितु स्वयं जनता के द्वारा भी किये गये।"† हॉवेल ने भी इसी आशय की बात कही है, "भारत में ब्रिटिश शासन-काल में प्रथमतः शिक्षा की अवहेलना हुई, फिर उग्रता और सफलता के साथ उसका विरोध हुआ, तत्पश्चात् एक ऐसी प्रणाली चलाई गई जो कि सर्वमान्य रूप से हानिकारक थी और अन्त में वह अपने वर्तमान स्तर पर रख दी गई।"

इस प्रकार बंगाल में व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा कुछ स्कूलों की स्थापना की गई। वारेन हेस्टिंग्ज ने जो कि स्वयं बंगाली और फारसी भाषाओं का ज्ञाता था, शिक्षा की उन्नति में योग दिया। सन् १७८१ ई० में कलकत्ता मदरसा की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य "मुसलमानों की सन्तानों को राज्य में उत्तरदायी

† Syed Mahmud : *History of English Education in India.*

मद्रास में, १७१८ ई० में बम्बई और १७३१ ई० में कलकत्ता में भी खुले। बाद में तञ्जौर तथा कानपुर में भी दातव्य स्कूल खोले गये, जिनमें भारतीय ईसाइयों को प्रथमता दी जाती थी। इनका उद्देश्य केवल सिपाहियों, ऐंग्लो इण्डियन बच्चों तथा अन्य गरीब बालकों को लिखना, पढ़ना तथा हिसाब सिखाया जाना था। साथ ही ईसाई धर्म के सिद्धान्तों की शिक्षा भी दी जाती थी। इन शिक्षालयों का व्यय बहुधा चंदे, दान व कम्पनी के अनुदान से चलता था।

यह माना जा सकता है कि इस समय तक कम्पनी ने कोई स्पष्ट शिक्षा उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लिया था। जो कुछ भी प्रयास इस ओर हुआ था वह अत्यन्त अपर्याप्त था। १८ वीं शताब्दि के अन्त में कम्पनी ने अपनी नीति में परिवर्त्तन करके मिशनरियों पर प्रतिबन्ध लगा दिये और कम से कम उत्तरी भारत में इनका कठोरता से पालन किया।

संक्षेप में, कम्पनी के शिक्षा-प्रयत्न इस काल में बहुत अपर्याप्त रहे। मद्रास अँग्रेजों का प्रमुख उपनिवेश था। सन् १६७३ ई० में यहाँ एक माध्यमिक स्कूल श्री प्रिंगल की देख-रेख में खोला गया। फ्रैंच, अँग्रेजी तथा स्थानीय भाषाओं के अतिरिक्त 'फिरंगी' भाषा भी शिक्षा का माध्यम थी। आगे चलकर कम्पनी ने सन् १८०० ई० में कलकत्ते में फोर्टविलियम तथा मद्रास में १८१८ ई० में फोर्ट सैंटजार्ज़ नामक कॉलेज अपने कर्मचारियों की आवश्यकताओं के लिये खोले, जहाँ अँग्रेज अफसर भारतीय भाषायें सीखते थे। श्री बसु के अनुसार इन कॉलेजों पर १८२७ ई० में सवा दो लाख रुपया व्यय हुआ। इनके अतिरिक्त डेन मिशनरी शुल्ज ने मद्रास में कुछ पुराने स्कूलों का पुनर्संगठन किया तथा नये स्कूल भी खोले।

मद्रास प्रान्त में शिक्षा-प्रचार के कार्य में श्वार्ज, एक जर्मन मिशनरी, का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसने इस प्रान्त की शिक्षा में अपने जीवन को लगा दिया। श्वार्ज ने तञ्जौर तथा मेरवाड़ के राजाओं को भी प्रभावित करके उनसे तञ्जौर, रामेन्द्रपुरम, तथा शिवगंगा नामक नगरों में अँग्रेजी के प्रचार के लिये स्कूल खुलवा लिये। इसके अतिरिक्त उसने देशी भाषाओं के लिये भी दो स्कूल खोले। आगे चलकर श्री जॉन सलीवन ने श्वार्ज की नीति में परिवर्त्तन करके मातृ-भाषा के स्थान पर शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी करा दिया। इस योजना का समर्थन कम्पनी के संचालकों ने भी किया तथा प्रत्येक स्कूल को आर्थिक सहायता का वचन दिया। भारतीय धनिकों ने भी इसके लिये रुपया दिया। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि मद्रास प्रान्त में तेजी से नये स्कूल बनने लगे। इस तरह फ्रेडरिक श्वार्ज के प्रयत्नों के फलस्वरूप

तथा लाभदायक पदों के लिये योग्य बनाना था, जो कि उस समय भी अधिकांश में एकमात्र हिन्दुओं के अधिकार में थे।† अतः कलकत्ता मदरसा का उद्देश्य अदालतों के लिये अंग्रेजी जजों के सलाहकार बनाने का था। सन् १७८० ई० में संसद ने भारतीय न्यायालयों में अंग्रेजी कानून के स्थान पर भारतीय कानून लागू कर दिया था, जिसकी व्याख्या करने के लिये मुसलमान मौलवियों तथा हिन्दू पण्डितों की आवश्यकता थी।

कलकत्ता मदरसा ने शीघ्र ही ख्याति प्राप्त कर ली और वहाँ काश्मीर, गुजरात तथा कर्नाटक से विद्यार्थी आकर विद्याध्ययन करने लगे। विद्यार्थियों को सरकार की ओर से छात्र-वृत्ति दी जाती थी। दर्शन, कुरान के धर्म सिद्धान्त, कानून, ज्यामिति, गणित, तर्कशास्त्र तथा व्याकरण इत्यादि विषय यहाँ पढ़ाये जाते थे। शिक्षा का माध्यम अरबी तथा शिक्षाकाल ७ वर्ष था।

कलकत्ता मदरसा की भाँति हिन्दुओं के लिये बनारस संस्कृत कालेज की स्थापना भी सन् १७९१ ई० में श्री जोनाथन डंकन के द्वारा हुई। इसके उद्देश्य भी वही थे जो कि कलकत्ता मदरसा के थे। यह हिन्दुओं को हिन्दू कानून की शिक्षा देकर उन्हें अंग्रेज जजों के लिये सलाहकार या सहायक-जज के रूप में हिन्दू कानून की व्याख्या करने के लिये तैयार करता था।

इन दोनों शिक्षा संस्थाओं के खुलने से जहाँ शिक्षा प्रचार हुआ, वहाँ कम्पनी को योग्य राजभक्त भी मिलने लगे। देश के शिक्षित तथा विद्वान् उच्च और मध्यम वर्ग के लोग कम्पनी के विश्वासपात्र स्तम्भ बन गये। इस प्रकार कम्पनी का यह प्रयास देश की दो प्रमुख जातियों, हिन्दू और मुसलमानों को प्रसन्न करने का भी एक साधन रहा।

इसके अतिरिक्त फोर्ट विलियम कालेज (१८०० ई०), जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, सराहनीय कार्य कर रहा था। यहाँ हिन्दू व मुसलमान-कानूनों, इतिहास, अरबी, फारसी, संस्कृत तथा हिन्दुस्तानी की शिक्षा दी जाती थी। बंगाली साहित्य को भी इस कालेज ने बड़ा प्रोत्साहन दिया। डा० कैरे, कोलब्रुक, पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा श्री गिलक्राइस्ट जैसे विद्वान् शिक्षक यहाँ नियुक्त किये गये थे।

इसके अतिरिक्त बहुत से अंग्रेजी स्कूल इस समय बढ़ने लगे। अब भारतीय लोग अँग्रेजी में रुचि दिखाने लगे थे। ब्राउन ने हिन्दुओं के लिये १७८८ ई० में एक कालेज कलकत्ता में खोला। इसी समय बहुत सी महिलाओं ने भी शिक्षा में रुचि दिखलाई और उन्होंने लगभग ६ स्कूल बालिकाओं के लिये भी

† Howell : *Education in India*, P. 1.

खुलवाये। इनमें श्रीमती पिट, श्रीमती लॉसन और श्रीमती कपलैंड के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है कि बंगाल में मिशनरियों का प्रभाव कम था, तथापि जो कार्य शिक्षा-क्षेत्र में बेप्टिस्ट मिशनरी ने किया है उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। इनके प्रमुख नेता वार्ड, केरे तथा मार्शमेन थे। इन्हें "सीरामपुर त्रिमूर्ति" के नाम से पुकारा जाता है। इन्होंने कलकत्ता के उत्तर में १३ मील की दूरी पर एक गाँव सीरामपुर को अपना कार्य-क्षेत्र चुना। इन्होंने १८०० ई० में यहाँ एक छापाखाना खोला और बंगला भाषा में बाइबिल छापी और शीघ्र ही इसका अनुवाद भारत की लगभग ३ दर्जन भाषाओं में कर दिया। इनका धार्मिक जोश इन्हें यहाँ तक ले गया कि ये हिन्दू मुसलमानों के अवतारों और देवताओं को गाली देने लगे। 'हिन्दू और मुसलमानों के नाम संदेश' नाम से इन्होंने पर्चे छापे जिनका काफी विरोध हुआ। सरकार ने इनकी नीति को अपने राज्य-हित में घातक समझ कर इनके प्रेस को जब्त कर लिया तथा इन धर्म-प्रचारकों को नजरबन्द करके कलकत्ता भेज दिया। यह लार्ड मिन्टो का शासन-काल था।

इस घटना के उपरान्त भी बैप्टिस्टों ने अपना कार्य चालू रक्खा। १७९४ ई० में कैरे ने दीनाजपुर में एक स्कूल खोला, तथा जैसौर में भी अपना प्रयत्न किया। १८१० ई० में मार्शमैन की सहायता में उसने 'कलकत्ता-जनहित कारी संस्था' के नाम से एक स्कूल गरीब ईसाइयों के लिये खोला। इस प्रकार १८१७ ई० तक इन लोगों ने लगभग ११५ स्कूल खोले, जो कि प्रायः कलकत्ता के आस-पास ही स्थित थे। बैप्टिस्ट मिशनरी के धर्म-प्रचार में सरकार के बाधा डालने से इंगलैंड में उसकी निंदा की गई। किन्तु वास्तव में सरकार डर रही थी और वह भारतियों को सब भाँति से संतुष्ट रखना चाहती थी। इस मिशनरी के कार्यों में उसने राज्य के लिये आपत्ति देख कर ही यह कड़ा कदम उठाया था। कम्पनी के संचालकों ने ७ सितम्बर, १८०८ ई० को पुनः एक घोषणा करके स्पष्ट कर दिया कि उनकी नीति कठिन धार्मिक-तटस्थता की है। उनकी राय में "यह बात न केवल सरकार के ही हित में है, वरन् स्वयं मिशनरियों के लाभ की भी है कि उनके धार्मिक जोश को अवरुद्ध कर दिया जाय, अतएव उनके कार्यों पर सरकार का नियन्त्रण और निरीक्षण हितकर व आवश्यक है।"

भारत में सरकार की इस नीति की इंगलैंड में तो निंदा हो ही रही थी। वहाँ कहा गया कि कम्पनी की नीति ईसामसीह के धर्मादेशों के प्रतिकूल है

तथा यह भारतियों की शिक्षा की भी अवहेलना कर रही है। परिणामतः १८१३ ई० के आज्ञापत्र में शिक्षा-सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण वाक्यांश जोड़ दिये गये, जिनका उल्लेख आगे किया जायगा।

संसद में आन्दोलन

सन् १७६१ ई० से १८१३ ई० तक का काल इङ्गलैण्ड के इतिहास में एक महत्वपूर्ण काल है। यह वह युग था जब कि देश में औद्योगिक क्रान्ति प्रारम्भ हो गई थी और पूँजीवादी तथा मजदूर दो दल स्पष्ट बनते चले जा रहे थे। मजदूरों की दीन-दशा पर दया दिखाने वाले कुछ धार्मिक तथा परोपकार सज्जनों ने उनकी दशा सुधारने के लिये अपनी आवाज उठाई और सुझाव रक्खे कि लोगों में शिक्षा तथा सदाचार का प्रचार करने और उद्यम के साधन उपलब्ध करने से उनकी हीनावस्था में सुधार हो सकता है। परिणामतः कुछ ऐसी जन-हितकारी व्यक्तिगत संस्थायें बन गईं जो कि इस महान् उद्देश्य को पूरा करने में लग गईं। साथ ही संसद में भी यह आन्दोलन चलाया गया कि वह जनता की शिक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले। १८०७ ई० में इस आशय का एक विधेयक भी प्रस्तुत किया गया, जिसके अनुसार ७ वर्ष से १४ वर्ष तक के बालकों को २ वर्ष तक निःशुल्क शिक्षा देने का प्रस्ताव किया गया। किन्तु यह विधेयक पास न हो सका। सन् १८१५ ई० में एक जाँच-समिति देश में निर्धन बालकों की शिक्षा के विषय में स्थापित की गई। इस समिति ने भी इङ्गलैण्ड तथा वेल्स में निर्धनों की शिक्षा के लिये एक विधेयक तथा कुछ सुधार-प्रस्तावित किये, किन्तु वे भी वापिस ले लिये गये।

इस प्रकार जब इङ्गलैण्ड में शिक्षा-सुधार के लिये ये आन्दोलन चल रहे थे, भारत में भी कम्पनी को भारतियों की शिक्षा को अपने हाथ में लेने के लिये विवश होना पड़ा। उन दिनों इङ्गलैण्ड में भी शिक्षा के राज्य का उत्तरदायित्व न होने से, तथा कुछ आर्थिक-हितों को दृष्टि में रखने के कारण और भारत में अराजकता एवं स्वयं भारतियों के शिक्षा के विषय में उदासीन होने के कारण कम्पनी भी यहाँ शिक्षा का प्रत्यक्ष भार नहीं लेना चाहती थी। किन्तु ब्रिटिश संसद में बर्क, ग्रान्ट और विल्वरफोर्स तथा भारत में लार्ड मिन्टो के प्रयत्नों के फलस्वरूप कम्पनी को शिक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना पड़ा।

उसी समय ब्रिटिश संसद में भी भारतीय शिक्षा में रुचि दिखाई जा रही थी। १७६२ ई० में चार्ल्स ग्रान्ट ने 'ग्रेट ब्रिटेन की एशियाई प्रजा की सामाजिक

दशा का निरीक्षण' नामक रचना में बताया कि "प्रकाश की उत्पत्ति ही अन्धकार के विनाश का साधन है। हिन्दू भूलें इसलिये करते हैं क्योंकि वे अज्ञानी हैं।" उसने अँग्रेजी भाषा, विज्ञान, मशीनरी और भाप शक्ति इत्यादि द्वारा भारतियों की दशा सुधारने के सुझाव रक्खे और इसका उत्तरदायित्व ग्रेट ब्रिटेन के ऊपर रक्खा। ग्रान्ट ने अनुभव किया कि भारत में लोगों का नैतिक स्तर बहुत गिर गया है जिसे शिक्षा और ईसाई धर्म के उपदेशों द्वारा ही सुधारा जा सकता है। "योरप के गये बीते भागों में भी सच्चे, ईमानदार और शुद्ध हृदय वाले व्यक्ति निकल आवेंगे। बंगाल में तो सच्चा और ईमानदार आदमी एक अलभ्य वस्तु है; और मुझे भय है कि जीवन में सर्वाङ्ग रूपेण विशुद्ध आचरण वाला चरित्रवान् व्यक्ति तो दुष्प्राप्य है।.........भारतियों के हाथ में दी हुई शक्ति अत्याचार और अन्याय द्वारा प्रयुक्त होती है। सभी प्रकार के पदों का रुपया कमाने में दुरुपयोग किया जाता है।..............न्याय रुपये से खरीदा जा सकता है। रुपये की शक्ति इतनी प्रबल है कि यहाँ भोलेबाजी से बढ़कर न कोई अपराध है और न सोचा जा सकता है। जिस तिरस्कार या अवहेलना की दृष्टि से हिन्दू उन व्यक्तियों या हितों को देखते हैं जिनसे उनका कोई स्वार्थ नहीं होता, वह योरप-वासियों को उनके प्रति एक अपमान पूर्ण घृणा व क्रोध से भर देता है। भारत में देश-प्रेम तो अज्ञात है।" †

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उन दिनों भारत की अवस्था अच्छी नहीं थी और प्रधानतः राज्य कर्मचारियों में नैतिक भ्रष्टाचार बढ़ रहा था। किन्तु ग्रान्ट का यह विवरण उग्र व अतिशयोक्ति पूर्ण है। उसके इतना कटु होने पर भी उसका कथन इसलिये क्षम्य है कि उसका एकमात्र उद्देश्य भारतवासियों में शिक्षा-प्रचार द्वारा नैतिक जाग्रति करना था और इसी सद्भावना से प्रेरित होकर उसने यह सब लिखा था। "हिन्दुओं की गलतियाँ कभी उनके समक्ष नहीं रखी गईं। हमारे ज्ञान तथा प्रकाश ही उनके लिये उचित औषधि हैं, जो उचित ढंग से तथा धैर्य पूर्वक प्रयोग करने से बड़े आनन्ददायक फल देंगे। ये फल हमारे लिये गर्वास्पद तथा लाभदायक होंगे।" ये विचार उसकी आन्तरिक भावना का स्पष्टीकरण करते हैं। ग्रान्ट ने इस ज्ञान को देने के लिये दो साधन बताये: एक तो देशी भाषाओं द्वारा और दूसरा अँग्रेजी द्वारा। किन्तु उसने अँग्रेजी माध्यम को ही चुना। उसका कहना था कि चरित्रवान् शिक्षकों के नेतृत्व में अँग्रेजी कलायें, साहित्य, दर्शन तथा धर्म भारतियों की

† Quoted by M. R. Paranjape: *A Source book of Modern Indian Education*, P. VIII-IX

विचार-धारा को परिवर्तित कर देंगे। विज्ञानों द्वारा देश की औद्योगिक व आर्थिक उन्नति होगी। इस प्रकार लोगों में "वाह्य सम्पन्नता तथा सामाजिक शान्ति" का प्रादुर्भाव होगा। इन भावनाओं से प्रेरित ग्रान्ट की प्रायः सभी सिफारिशें आगे चलकर मान ली गई। १८१३ ई० के आज्ञापत्र के निर्णय पर उसकी विशेष छाप है। इतना अवश्य है कि ग्रान्ट के प्रयत्न शुद्ध परोपकार की दृष्टि से नहीं थे। उनके पीछे उसकी धर्म-प्रचार तथा भारतियों का धर्मपरिवर्तन करने की मनोवृत्ति भी काम कर रही थी।

इसके पूर्व १७९३ ई० में विल्वरफोर्स ने कम्पनी के चार्टर में शिक्षा-सुधार की एक धारा जोड़नी चाही थी, और ब्रिटिश संसद के समक्ष निम्नलिखित प्रस्ताव रक्खाः—

"ब्रिटिश धारा सभा का यह विशेष तथा अनिवार्य कर्तव्य है कि वह प्रत्येक उचित तथा बुद्धिमत्ता पूर्ण साधन द्वारा भारत में अँग्रेजी राज्य के हित और समृद्धि को बढ़ावे; और इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये ऐसे साधनों को अपनाया जाय जो कि क्रमशः लाभदायक ज्ञान प्राप्त करने में उनकी उन्नति करें तथा उनके धार्मिक तथा नैतिक स्तर को ऊँचा उठावें।"†

किन्तु कम्पनी के संचालकों ने उसे यह कह कर गिरा दिया कि "स्कूल और कालेजों की स्थापना की मूर्खता द्वारा हमने अभी अमेरिका को खोया है। अतः भारत में भी वही मूर्खतापूर्ण कार्य ठीक न होगा।" लायोनिल स्मिथ ने भी यही कहा था कि "शिक्षा जाति तथा धर्म के उन कुसंस्कारों को दूर कर देगी जिनके द्वारा हमने हिन्दुओं को मुसलमानों के विरुद्ध करके भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर रक्खा है। शिक्षा उनके मस्तिष्कों को विकसित करके उनको अपार शक्ति का उन्हें बोध करा देगी।"‡ कम्पनी के संचालकों ने यह कहा कि "हिन्दुओं की अपनी धर्म तथा नैतिकता की एक अनुपम प्रणाली है। अतएव यह एक नितान्त पागलपन होगा कि या तो उनके धर्म परिवर्तन की चेष्टा की जाय अथवा उन्हें इससे अधिक ज्ञान अथवा अन्य कोई ज्ञान का वर्णन दिया जाय जितना कि वे स्वयं जानते हैं।"*

इस प्रकार भारतीय शिक्षा के भाग्य का निर्णय इंगलैण्ड की संसद में किया जा रहा था। भारत में भी लार्ड मिन्टो ने १८११ ई० में संचालकों को भारतीय शिक्षा के पतन की दुख गाथा लिखकर भेजी। उसने लिखा कि "भारत-

---

† H. Sharp : *Selections From Educational Records*. P. 81.

‡ Quoted by M. R. Paranjape : *Source book of Modern Indian Education*.

* H. Sharp. P. 17.

वासियों में विज्ञान तथा साहित्य का उत्तरोत्तर पतन हो रहा है। विद्वानों की संख्या घटने के साथ ही साथ उनके ज्ञान की परिधि भी संकीर्ण होती जा रही है। विज्ञान तथा साहित्य त्याग दिये गये हैं, केवल धार्मिक शिक्षा ही शेष बची है। इसका तत्कालीन परिणाम हुआ है कई ग्रन्थों का विनाश। यदि सरकार ने शीघ्र ही सहायता प्रदान नहीं की तो भय है, कि ग्रन्थों तथा उनकी व्याख्या करने वालों के अभाव में शिक्षा का पुनरुद्धार भी असम्भव हो जायगा।"†

१८१३ ई० का आज्ञा-पत्र

इस प्रकार के आन्दोलन ने भारतीय शिक्षा के प्रश्न को महत्वपूर्ण तथा वाद-विवाद का प्रश्न बना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जब १८१३ ई० में कम्पनी का आज्ञा-पत्र जारी हुआ तो उसमें भारतीय शिक्षा के लिये विशेष धारायें जोड़ दी गईं। इस आज्ञा-पत्र ने मिशनरियों को भी भारत में जाकर शिक्षा प्रचार की स्वतन्त्रता दे दी। यह उनकी बड़ी भारी विजय थी। आज्ञा-पत्र में एक धारा यह जोड़ दी गई कि "कम से कम १ लाख रुपये की धनराशि प्रतिवर्ष अलग रख दी जायगी जिसका उपयोग साहित्य के पुनरुद्धार तथा उन्नति एवं भारतीय विद्वानों के प्रोत्साहन के लिये तथा बृटिश भारतीय क्षेत्रों में भारत-वासियों के अन्तर्गत विज्ञानों का आरम्भ करने तथा उनकी उन्नति करने में लगाया जायगा।"‡ इस धारा ने भारत में राज्य-शिक्षा-पद्धति की नींव डाल दी। मिशनरियों के क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक उतर आने के कारण भारतवासियों में भी स्पर्द्धा जाग्रत हुई और इस प्रकार देश में राजकीय तथा व्यक्तिगत दोनों प्रकार के शिक्षा संगठनों का बीजारोपण हुआ तथा भारत में आधुनिक शिक्षा का एक व्यवस्थित रूप प्रारम्भ हो गया।

---

† *H. Sharp.* P. 19.
‡ *Ibid*, Pt. I. P. 22.

अध्याय ८

संघर्ष का प्रारम्भ

(१८१३–३३ ई० तक)

संघर्ष का कारण

१८१३ ई० के आज्ञा-पत्र के अनुसार कम्पनी ने भारत में अपने शिक्षा-उत्तरदायित्व को आंशिक रूप में स्वीकार तो कर लिया था और "भारतवासियों की शिक्षा तथा उनमें विज्ञान का प्रारम्भ तथा उन्नति के लिये" एवं "साहित्य के पुनरुत्थान व विकास" के लिये एक लाख रुपये की धन-राशि भी अलग सुरक्षित कर दी थी, किन्तु उसने इस रुपये के व्यय करने की विधि निश्चित नहीं की। परिणामतः भारत में शिक्षा की समस्या को लेकर एक विवाद उठ खड़ा हुआ जिसका अन्त वुड के शिक्षा घोषणा-पत्र के साथ १८५४ ई० में ही जाकर हुआ। १८१३ ई० से ३३ ई० तक २० वर्ष का युग तो शिक्षा की दृष्टि से अत्यन्त ही अनिश्चित युग था। वास्तव में कम्पनी के संचालक स्वयं शिक्षा के विषय में अनभिज्ञ तथा उदासीन थे और अधिकांश में भारत-स्थित अँग्रेज अफसरों की नीतियों का समर्थन करते रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि यहाँ निम्नलिखित विषयों पर विवाद उठ खड़े हुए:—

(१) उद्देश्य—पहिला विवाद शिक्षा के उद्देश्य के विषय में था कि यहाँ थोड़े से लोगों में उच्च शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाय अथवा जन-साधारण में प्रारम्भिक शिक्षा का प्रसार किया जाय। इसी में एक उद्देश्य और सम्मिलित था कि प्राच्य शिक्षा और संस्कृति की सुरक्षा की जाय अथवा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञानों को प्रारम्भ करके उनकी उन्नति की जाय।

(२) माध्यम—शिक्षा का माध्यम प्राच्य भाषायें संस्कृत, अरबी और फारसी रक्खा जाय अथवा देशी भाषायें और या फिर अँग्रेजी भाषा रक्खा जाय।

(३) साधन—शिक्षा सरकार का उत्तरदायित्व है अथवा इसे वैयक्तिक

प्रयासों पर छोड़ दिया जाय। इसी में मिशनरियों को शिक्षा प्रसार या धर्म-प्रचार की छूट देने की बात भी उठ खड़ी हुई।

उपर्युक्त प्रश्नों को लेकर देश में प्रमुख तीन विचार-धारायें बहने लगीं। एक विचार-धारा के समर्थकों का यह दृष्टिकोण रहा कि संस्कृत और अरबी भाषा के द्वारा भारतवासियों की प्राचीन सभ्यता की रक्षा की जाय तथा उन्हें इन्हीं भाषाओं के माध्यम के द्वारा यूरोप के नवीन विज्ञानों का भी बोध कराया जाय। इस विचार-धारा के समर्थकों में कम्पनी के पुराने अधिकारी सम्मिलित थे जो कि लार्ड हेस्टिंग्ज तथा मिन्टो के अनुगामी थे। इस विचार-धारा का जोर बंगाल में रहा।

दूसरी विचार-धारा के मानने वालों के अनुसार भारत में शिक्षा का माध्यम देशी व प्रान्तीय भाषायें होना चाहिये था। इनमें मद्रास में मुनरो और बम्बई में माउन्ट स्टुअर्ट एलफिंस्टन थे। मुनरो के अनुसार भारतीय सभ्यता उच्च कोटि की थी जिससे इङ्गलैंड को भी बहुत कुछ सीखना था। उसने लोक सभा (हाउस आव कामन्स) में घोषणा की कि "यदि सभ्यता को ऐसा पदार्थ मान लिया जिसका व्यापार दोनों देशों के मध्य में होने लगे, तो मुझे विश्वास है कि इङ्गलैंड इस पदार्थ के आयात से महान् लाभ उठा सकेगा।"

तीसरा दल ऐसे लोगों का था—यद्यपि यह इस समय अल्पमत में था—जिनमें प्रधानतः कम्पनी के नवयुवक अधिकारी थे। उनके अनुसार भारत में शिक्षा तथा पाश्चात्य विज्ञानों के प्रचार के लिये शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी होना चाहिये था। ये लोग ग्रान्ट के मत के अनुगामी थे। मिशनरी लोग भी इसी नीति के समर्थक थे यद्यपि वे लोग देशी भाषाओं द्वारा भी धर्म प्रचार कर रहे थे और अपने समय को व्यर्थ के विवाद में अधिक नष्ट नहीं कर रहे थे।

उस समय सरकारी मामलों में भारतीय मत का कोई मूल्य नहीं था, तथापि बंगाल में राजा राममोहनराय जैसे सुधारक भी अँग्रेजी भाषा के माध्यम के द्वारा पाश्चात्य विज्ञानों और विचारों के प्रसार करने के पक्ष में थे।

अँग्रेजी माध्यम के समर्थक सभी प्रान्तों में थे, किन्तु बंगाल में उनका प्राधान्य था। आगे चलकर इसी दल की विजय हुई और इन्होंने शिक्षा को अन्तिम रूप दिया; जिसका फल यह हुआ कि भारत में शिक्षा की तीव्र प्रगति को बड़ा आघात लगा। प्रान्तीय भाषाओं के विकास की गति रुक गई और भारत की प्राचीन सभ्यता को एक भयानक धक्का लगा। वास्तव में वे एक ऐसे समाज का निर्माण करने में सफल हो सके जो कि अँग्रेजों तथा "उन करोड़ों प्राणियों के, जिनके कि वे शासक थे, बीच विचार-वाहक (मध्यस्थ) बने, अर्थात्

एक ऐसा वर्ग जो रंग तथा रक्त में भारतीय किन्तु विचारों, रुचियों, नैतिक आदर्शों तथा बुद्धि में अँग्रेज हों।" इस प्रकार प्राचीन भारतीय सभ्यता पर विजय पाकर भारत में अपनी सभ्यता का बीजारोपण करने में यह दल सफल हुआ और इसमें सहायता दी, राजा राममोहनराय जैसे उच्च वर्ग के भारतियों ने जिनका अँग्रेजों से व्यक्तिगत सम्पर्क था और जो भारत के करोड़ों जन-साधारण से अधिक सम्पर्क नहीं रखते थे। इन प्रयत्नों का वर्णन हम आगे करेंगे।

यहाँ दो शब्द मिशनरियों के विषय में कह देना भी वांछनीय होगा। १८१३ ई० के आज्ञा-पत्र के द्वारा भारत का द्वार इंगलैंड की सभी मिशनरियों के लिये उन्मुक्त हो गया था। इन लोगों ने अँग्रेजी भाषा के माध्यम का ही आश्रय लिया। इन्होंने अँग्रेजी आदर्श के असंख्य स्कूल और कालेज खोले जिनके द्वारा शिक्षा के नाम पर ईसाई धर्म का प्रचार किया तथा भारतियों के धर्म परिवर्तन के कार्यक्रम को जारी रक्खा। १८१३ से ३३ ई० तक के इनके शिक्षा-प्रयत्नों का वर्णन हम इसी अध्याय में आगे करेंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तुतः यह एक परीक्षण-युग था। कम्पनी के संचालक भारतीय शिक्षा के विषय में अनभिज्ञ तथा तटस्थ होते हुए भी एक प्रकार से इन भिन्न-भिन्न विचार-धाराओं की उपादेयता का परीक्षण कर रहे थे।

राजकीय प्रयत्न (१८१३-३३ ई०)

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कम्पनी के संचालकों ने ग्रान्ट और विल्वर-फोर्स के प्रस्तावों का विरोध किया था, किन्तु उनके विरोध की अपेक्षाकृत भी १८१३ ई० के आज्ञा-पत्र में शिक्षा के लिये १ लाख रुपये का अनुदान नियत कर दिया गया। इसके लिये ३ जून १८१४ ई० में उन्होंने अपना प्रथम शिक्षा-आदेश जारी किया जिसके द्वारा वे शिक्षा की उन्नति करना चाहते थे। उन्होंने कहा कि "यह धारा दो प्रमुख विचारणीय समस्याएँ उपस्थित करती है:—प्रथम भारतीय विद्वानों को प्रोत्साहन तथा साहित्य का पुनुत्थान व उन्नति; और द्वितीय, भारतीयों में विज्ञानों का प्रचार व उन्नति।" किन्तु संचालकों ने अँग्रेजी प्रकार के स्कूल व कालेजों की स्थापना का विरोध किया और देशी शिक्षा तथा प्राच्य भाषाओं की उन्नति पर जोर दिया। वास्तव में अपने राजनैतिक हितों के लिये वे भारत के प्रभावशाली वर्गों को प्रसन्न रखना चाहते थे। उन्हें भय था कि "सम्मानित तथा सवर्ण हिन्दू उनके शासन और अनुशासन के समक्ष आत्म-समर्पण न करेंगे।"

अतः इस समय उनका उद्देश्य प्राच्य शिक्षा-पद्धति की उन्नति करना था। उन्होंने लिखा "हम समझते हैं कि विद्वान् हिन्दुओं को इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये तथा अपनी विधि से सहमत कराने के लिये उन्हें अपनी चिर-कालीन परम्परा द्वारा अपने घरों पर शिक्षा प्राप्त करने दिया जाय तथा उनके गुणों का विकास करने के लिये उन्हें प्रोत्साहित किया जाय और इस प्रकार के प्रोत्साहन के लिये उन्हें सम्मान-सूचक उपाधियाँ तथा कभी-कभी आर्थिक अनुदान भी दिये जाँय।"

कम्पनी के संचालकों ने भारतीय शिक्षण-विधि तथा उसके साहित्य की सराहना की। उन्होंने लिखा कि "हमें विदित हुआ है कि संस्कृत भाषा में कई उत्तम ग्रन्थ ज्योतिष तथा गणित के हैं जिसमें ज्यामित व बीजगणित भी सम्मिलित है। सम्भव है कि इनका ज्ञान योरपीय विज्ञानों में वृद्धि न कर सके, किन्तु इनके द्वारा भारतियों और हमारे उन कर्मचारियों में सम्पर्क स्थापित हो जायगा जो कि हमारी वेधशालाओं या इंजीनियरी-विभाग में कार्य करते हैं। इस प्रकार के सम्पर्क के द्वारा भारतीय इन तथा अन्य आधुनिक विज्ञानों में प्रगति कर सकते हैं।"

इस प्रकार प्राच्य शिक्षा को प्रोत्साहन देकर वे भारतियों तथा अपने कर्मचारियों की घनिष्ठता को बढ़ाना चाहते थे। ब्रिटिश अफसरों में उन्होंने प्राच्य-शिक्षा के प्रचार पर जोर दिया और यह भी कहा कि जो अफसर संस्कृत पढ़ने के लिये उद्यत हों उन्हें हर प्रकार की प्रथमता दी जाय। गाँव के स्कूलों के अध्यापकों की दशा पर द्रवित होकर उनके सुधार के लिये भी इन्होंने संकेत किया। इस प्रकार उन्होंने एक ऐसी शिक्षा-पद्धति को प्रोत्साहन दिया जिसमें शिक्षण-विधि पूर्णतः प्राच्य थी। अँग्रेजी शिक्षा तथा मुसलमानों की शिक्षा के विषय में भी १८१३ ई० के आज्ञा-पत्र में कोई उल्लेख नहीं था। किन्तु यह सब सामयिक राजनैतिक चालें थीं। वस्तुतः वे केवल सम्मानसूचक उपाधियों तथा थोड़ी बहुत आर्थिक सहायता से आगे और कुछ नहीं करना चाहते थे। उनके इस आज्ञा-पत्र से कोई महत्त्वपूर्ण प्रगति की आशा नहीं की जा सकती थी। "इस आज्ञा-पत्र से अधिक निराशाजनक लेख की कल्पना भी नहीं की जा सकती, और यह एक करुणाजनक ऐतिहासिक सत्य है कि १८१३ ई० के आज्ञा-पत्र की धारा ४३ सन् १८३३ ई० तक बिल्कुल निष्क्रिय रही।" *

* Nurullah & Naik : *History of Education in India*, P. 88. (1951).

शिक्षा-प्रगति

यह बात स्मरणीय है कि कम्पनी के कर्मचारियों ने संचालकों की इस नीति को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने भारत में शिक्षा-प्रसार के अपने कर्त्तव्य को समझा। लार्ड मोइरा ने, जो कि भारत के तत्कालीन गवर्नर-जनरल थे, २ अक्टूबर १८१५ ई० को अपने विवरण में स्वीकार किया कि १ लाख रुपये की धन-राशि जन-साधारण में शिक्षा-प्रचार करने में व्यय की जायगी। उन्हें शिक्षा के विषय में एक अधिक उदार नीति की आवश्यकता प्रतीत हुई। "अँग्रेजों के लिये यह श्रेय की बात होगी कि यह लाभदायक क्रान्ति उनके शासनकाल में हो। भारत की विशाल जनसंख्या के लिये वरदानों का साधन होना एक ऐसी महत्त्वाकांक्षा है जो हमारे देश को शोभा देती है।"† लार्ड मोइरा ने स्पष्ट कर दिया था कि जनता के शिक्षित होने पर ही हम एक दृढ़ शासन की आशा कर सकते हैं। गाँव के अध्यापकों के विषय में उनका विचार था कि किसी भी शिक्षा-योजना में उनके सुधार को प्रथम स्थान देना चाहिये। लार्ड मोइरा ने यह भी प्रस्ताव रक्खा कि शिक्षा को सर्वप्रिय बनाने के लिये प्रत्येक जिले में एक हिन्दुओं तथा एक मुसलमानों के लिये स्कूल खोला जाय।

इस क्षेत्र में सर चार्ल्स मैट्काफ का नाम भारत में सदा आदर के साथ लिया जायगा। उन्होंने ४ सितम्बर, १८१५ ई० को एक उत्तर देते हुए लिखा था कि—

"भारतीयों को शिक्षित बनाने के विरुद्ध तर्क दिये गये हैं, पर एक उदार सरकार के लिये उन पर ध्यान देना कितनी अयोग्यता की बात होगी! ईश्वर ही साम्राज्य देता तथा छीनता है। शासक तो प्रजा के हित-साधन द्वारा शासन के योग्य बनते हैं। अतः यदि हम अपना कर्त्तव्य पालन करें तो भविष्य में चाहे जो परिवर्तन हों, हमें भारतियों से कृतज्ञता तथा भूमण्डल पर प्रशंसा मिलेगी। किन्तु यदि हम अपने स्वार्थ तथा भावी विपत्तियों के सम्भावित डर से अपनी प्रजा को अच्छी बातों से वंचित रखेंगे, तो हमें अपना राज्य रखने का कोई अधिकार नहीं है, हमें अपनी इच्छाओं का विपरीत ही मिलेगा जो सम्भवतः हमारे भाग्य में भी है.......और हमें पतन के साथ ही साथ मानव जाति की घृणा भी मिलेगी।.......मेरा स्वयं का विचार है कि हम भारतियों के लिये जितनी अधिक अच्छी बातें करेंगे उतना ही अधिक वे हमसे स्नेह करेंगे और परिणामतः साम्राज्य की शक्ति तथा आयु बढ़ेगी। अब यह बात सरकार को

† H. Sharp: *Selections From Educational Records*. Vol. I. P. P. 28-29.

बुद्धिमानी पर निर्भर है कि वह निर्णय करे कि यह सलाह केवल काल्पनिक है अथवा सत्य पर आधारित है।"†

इसी बीच में इंगलैंड में समाज-सुधार के आन्दोलन जोर पकड़ रहे थे। वहाँ के अपराध-विधान तथा फैक्टरी कानून में सुधार हुए। सारे देश में सामाजिक उदारता की लहर दौड़ने लगी। शिक्षा में भी महत्त्वपूर्ण सुधार हुए। फलतः उस भावना का भारत-स्थित अँग्रेज शासकों पर भी प्रभाव पड़ा और वे भारत में उदारता-पूर्वक शिक्षा तथा मानव-सुख की वृद्धि में जुट गये। मुनरो, एलफिंस्टन तथा बैंटिक इत्यादि महानुभावों ने भी उसी भावना से प्रेरणा लेकर भारत में शिक्षा-सुधार तथा उन्नति के प्रयास किये। कम्पनी के संचालकों के विचारों में भी परिवर्तन हो गया और उन्होंने उदारता तथा उत्साह-पूर्वक शिक्षा-प्रसार करने के आदेश दिये। अतः इन सभी परिस्थितियों पर दृष्टि रखते हुए हम भिन्न-भिन्न प्रान्तों में इस काल की शिक्षा-प्रगति का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

बंगाल—यहाँ सन् १८१३ से १८२३ ई० तक कोई सराहनीय शिक्षा-प्रयत्न नहीं हो सका। १८२३ ई० में जाकर ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने कर्त्तव्य की सुध ली। फलतः १७ जुलाई, १८२३ ई० के एक प्रस्ताव के अनुसार बंगाल में गवर्नर जनरल ने एक 'लोक-शिक्षा समिति'‡ नियुक्त की, जिसके उद्देश्य "जनता की शिक्षा में सुधार, उनमें हितकारी ज्ञान का प्रचार तथा उनके नैतिक चरित्र को ऊँचा उठाना" इत्यादि थे। कम्पनी ने सारा उत्तरदायित्व व शिक्षा सम्बन्धी अनुदान इसी समिति को हस्तान्तरित कर दिया तथा उसकी सहायता के लिये कुछ स्थानीय समितियाँ भी बनाई। इस प्रमुख 'लोक शिक्षा-समिति' में दस सदस्य थे जिनमें प्रिंसेप तथा विलसन भी, जो कि प्राच्य शिक्षा के समर्थक थे, सम्मिलित थे। वास्तव में इस समिति में बहुमत भी प्राच्य-शिक्षा-प्रणाली के समर्थकों का ही था।

इस समिति ने अपना कार्य प्राच्य शिक्षा को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से ही प्रारम्भ कर दिया और इसके लिये प्रथमतः इसने कलकत्ता मदरसा तथा बनारस संस्कृत कालेज का पुनर्संगठन किया तथा १८२४ ई० में कलकत्ता, आगरा और दिल्ली में प्राच्य शिक्षा के लिये कालेजों का निर्माण कराया। इसके अतिरिक्त १८२४ ई० में कलकत्ता में 'कलकत्ता शिक्षा प्रेस' भी स्थापित किया; और कई संस्कृत, अरबी तथा फारसी के ग्रन्थ छापे तथा बहुत से विज्ञान सम्बन्धी योरुपीय ग्रन्थों का अरबी, फारसी तथा संस्कृत में अनुवाद करा कर छपवाया।

† *Adam's Report*, P. 406.
‡ General Committee of Public Instructions.

ये पुस्तकें स्कूलों में भी पढ़ाई जाने लगीं। समिति ने प्राच्य भाषाओं के विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ भी दीं।

किन्तु 'लोक शिक्षा समिति' अपनी इस नीति पर अधिक दिनों तक न चल सकी। शीघ्र ही इसकी नीति का बड़ा विरोध होने लगा। कम्पनी के संचालकों ने भी इस नीति का समर्थन नहीं किया और १८ फरवरी १६२४ ई० के आदेश के अनुसार समिति की कार्यवाहियों पर एक प्रकार से रोक लगादी। उनकी राय में ऐसे पुस्तकालय अथवा विद्यालय खोलकर जिनका उद्देश्य 'केवल हिन्दू या केवल मुसलमान साहित्य का ही पढ़ाना है' समिति अपने आपको उस साहित्य के पढ़ाने के लिये बाध्य कर रही है "जिसका अधिकांश भाग मूर्खताओं से भरा है तथा एक बड़ा भाग शरारत पूर्ण है, और बचा हुआ एक थोड़ा सा भाग अवश्य ऐसा है जिससे थोड़ी बहुत उपयोगिता प्राप्त हो सकती है।" समिति की राय यह थी कि हिन्दू व मुसलमान यूरोपवासियों से घृणा करते हैं। अतः उनके साहित्य को पढ़ने के लिये तैयार भी नहीं होंगे और जनता की राय भी योरपीय ज्ञान-विज्ञानों के शिक्षण के प्रतिकूल है। किन्तु यह कथन सर्वांश में सत्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि बंगाल में राजा राममोहन राय ने ११ दिसम्बर १८२३ ई० को एक स्मरण-पत्र लार्ड एम्हर्स्ट के लिये लिखा, जिसमें उन्होंने कलकत्ता संस्कृत कालेज के खुलने का विरोध किया। उन्होंने भारत में योरुपीय विज्ञानों तथा गणित इत्यादि के पढ़ाये जाने पर जोर दिया, और कहा कि सरकार को "एक अधिक उदार और बुद्धिमत्तापूर्ण शिक्षा-पद्धति को उन्नत करना चाहिये जिसमें गणित, प्राकृतिक दर्शन, रसायन-शास्त्र, शरीर-विज्ञान तथा अन्य लाभदायक विज्ञान सम्मिलित हों। जिनका शिक्षण निश्चित धनराशि के द्वारा रक्खे हुए ऐसे सज्जनों के द्वारा होना चाहिए जो गुणवान हों तथा योरप में शिक्षा पाये हुए हों।"† उनकी राय में संस्कृत की शिक्षा देश की शिक्षा-प्रगति को रोक कर उसे अज्ञान अँधकार में रखने की एक राजनैतिक चाल थी। किन्तु उनके इस विरोध की कोई परवाह नहीं की गई और संस्कृत-कालेज का निर्माण हो गया। आगे चलकर इसी विचार धारा ने 'प्राच्य-आँग्ल विवाद' का रूप धारण कर लिया।

वास्तव में यह वह युग था जब भारतियों में राजनैतिक चेतनता का बीजरोपण हो चुका था। उनमें अँग्रेजी भाषा तथा पाश्चात्य ज्ञान के लिये एक तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न हो गई थी। जिसके प्रमुख कारण थे मिशनरियों के द्वारा अंग्रेजी की माँग; तथा अँग्रेजी भाषा के शासकों की भाषा होने से उससे उत्पन्न

† H. Sharp : *Selections* Vol. I, p. 101.

होने वाले आर्थिक तथा राजनैतिक लाभ। अतः इन बातों को ध्यान में रखते हुये 'लोक शिक्षा समिति' ने आगरा कालेज तथा कलकत्ता मदरसा में अँग्रेजी की कक्षायें खुलवा दीं और दिल्ली तथा बनारस में जिला अँग्रेजी स्कूल खुलवा दिये। किन्तु ये प्रयत्न अपर्याप्त थे।

बम्बई:—१८१८ ई० में बम्बई प्रेसीडेंसी बनी और पूना के श्री ऐलफिंस्टन को १८१६ ई० में वहाँ का गवर्नर नियुक्त किया गया। श्री ऐलफिंस्टन ने अपना पद संभालते ही अपना ध्यान प्रांत की शिक्षा की ओर दिया। उन्होंने पेशवा के दक्षिणा-फण्ड में से, जोकि ५,००,०००) रु० वार्षिक था, ब्राह्मणीय शिक्षा के प्रसार के लिये पूना संस्कृत कालेज खोला। यह कालेज प्रधानतः बम्बई की प्रभावशाली जाति ब्राह्मणों को प्रसन्न करने के लिये राजनैतिक उद्देश्यों से खोला गया था। १८२३ ई० तक बम्बई सरकार शिक्षा के लिये और कुछ न कर सकी। 'बम्बई-भारतीय-शिक्षा-समिति'† के शिक्षा-अनुदान के लिये प्रार्थना करने पर ऐलफिंस्टन ने १३ दिसम्बर, १८२३ ई० का अपना प्रसिद्ध शिक्षा-विवरण पत्र लिखा जिसके अनुसार उसने निम्नलिखित सात सुझाव रक्खे:—

(१) भारतीय स्कूलों में शिक्षण-विधि का सुधार तथा स्कूलों की संख्या में वृद्धि;

(२) पाठ्य-पुस्तकों की पूर्ति;

(३) निम्न वर्ग के भारतियों को इस शिक्षा से लाभ उठाने के लिए आकर्षित करना;

(४) योरुपीय विज्ञानों तथा उच्च शिक्षा के शिक्षण के लिये स्कूल स्थापित करना;

(५) भारतीय भाषाओं में नैतिक तथा भौतिक विज्ञान पर पुस्तकें लिखवाना तथा उनका प्रकाशन कराना;

(६) ऐसे लोगों के लिए अंग्रेजी स्कूलों की स्थापना करना जो कि अँग्रेजी भाषा का उच्च अध्ययन करने के इच्छुक हैं तथा योरुपीय अनुसंधानों को करने के लिए अँग्रेजी को साधन के रूप में प्रयोग करना चाहते हैं, तथा

(७) भारतियों को ज्ञान की अन्तिम शाखाओं में अध्ययन करने के लिये प्रोत्साहन प्रदान करना।"‡

---

† The Bombay Native Education Society.

‡ Elphinston: *Minutes on Educatoin, Para 7:* Quoted by S. N. Mukerjee.

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऐलफिंस्टन जन-शिक्षा के एक प्रमुख समर्थक थे। उनकी राय में निर्धनों की शिक्षा का भार सरकार पर होना चाहिये। "यह बात सर्वमान्य है कि प्रत्येक देश में गरीबों की समृद्धि अधिकांश में उनकी शिक्षा पर निर्भर है। केवल शिक्षा के ही द्वारा वे लोग बुद्धिमान् हो सकते हैं और उनमें उस आत्मसम्मान की भावना प्रस्फुटित हो सकती है, जो कि अन्य सद्गुणों की जन्मदात्री है; और यदि किसी भी देश में उन गुणों की आवश्यकता है तो वह यही देश (भारत) है।"† यह एलफिंस्टन की बुद्धिमत्ता पूर्ण नीति का ही परिणाम था कि बम्बई प्रान्त में प्रान्तीय भाषा की बहुत उन्नति हुई और यह प्रान्त सदा देशी भाषाओं द्वारा ही शिक्षा पर जोर देता रहा।

ऐलफिंस्टन ने शिक्षा के संगठन के लिये सरकारी प्रयत्नों के साथ ही साथ वैयक्तिक प्रयत्नों को भी प्रोत्साहित किया, क्योंकि सरकार शिक्षा के पूर्ण उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं कर सकती थी। यही कारण था कि उन्होंने सरकार और वैयक्तिक प्रयासों के बीच सहकारिता की भावना पर जोर दिया। 'बम्बई भारतीय शिक्षा समिति' जैसी व्यक्तिगत संस्थाओं के लिये उन्होंने शिक्षा-अनुदान की व्यवस्था की और 'ग्रान्ट-इन-एड' प्रथा को चालू किया। परीक्षा-प्रणाली भी चालू कर दी गई तथा सफल विद्यार्थियों को प्रमाण-पत्र, पारितोषिक और छात्रवृत्तियाँ प्रदान की गईं।

किन्तु एलफिंस्टन के विवरण-पत्र का उनकी कांउसिल में ही घोर विरोध हुआ। वार्डन ने, जोकि कांउसिल का सदस्य था, ऐलफिंस्टन का विरोध किया। वार्डन अँग्रेजी द्वारा केवल उच्च वर्ग के कुछ लोगों को शिक्षित करने के पक्ष में था, अतः उसने प्रान्तीय शिक्षा द्वारा जन-साधारण को शिक्षा देने का विरोध किया। गाँव के देशी प्रारम्भिक शिक्षा के स्कूलों को वह निरर्थक समझता था और इनके स्थान पर प्रत्येक ज़िले में उच्च वर्ग तथा मध्य वर्ग के बालकों के लिए अँग्रेजी शिक्षा के स्कूल खोलने के पक्ष में था। इन्हीं बातों को लेकर आगे चलकर 'ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर विवाद' उठ खड़ा हुआ, जो कि मैकाले के प्रसिद्ध विवरण-पत्र के प्रस्तुत करने पर ही समाप्त हुआ। ऐलफिंस्टन ने बम्बई प्रान्त की शिक्षा में ऐतिहासिक उन्नति की, यद्यपि उन्हें अपनी नीति में पूर्ण सफलता न मिल सकी। ऐलफिंस्टन-वार्डन विवाद को देखते हुए कम्पनी के संचालकों ने ऐलफिंस्टन की सभी सिफारिशों को नहीं माना। सरकार ने 'बम्बई-भारतीय-शिक्षा-समिति' को बम्बई प्रान्त में शिक्षा-संगठन के लिए प्रमुख संस्था स्वीकार कर लिया तथा कोई अन्य सरकारी समिति इस कार्य के लिए नियुक्त नहीं की।

† Elphinston : *Minutes on Education*. Para 43. Quoted by Nurullah & Naik.

'बम्बई भारतीय-शिक्षा समिति' को ६०० रु० प्रति माह की आर्थिक सहायता भी स्वीकार कर ली गई। इसके अतिरिक्त बम्बई प्रान्त में अन्य कोई शिक्षा-कार्य १८१३-३३ ई० के मध्य में न हो सका।

मद्रास—पिछले अध्याय में मुनरो द्वारा मद्रास की शिक्षा की जाँच का उल्लेख हो चुका है। अपनी जाँच के दौरान में मुनरो इसी निष्कर्ष पर पहुँचा था कि शिक्षा के पतन का प्रमुख कारण सरकार की अवहेलना तथा जनता की निर्धनता है। अतः इनको दूर करने के लिए उसने स्कूलों को आर्थिक सहायता दी तथा नये स्कूल खुलवाये। शिक्षकों के प्रशिक्षण तथा उनके लिये आकर्षक वेतनों का भी मुनरो ने प्रबन्ध किया। १० मई, १८२६ ई० के अपने विवरण पत्र में उसने स्कूलों के लिये पाठ्य-पुस्तकें छापने तथा शिक्षकों की दीक्षा के लिये प्रस्ताव किये। ये दोनों कार्य 'मद्रास-स्कूल बुक सोसाइटी' को दे दिये गये और ७०० रु० मासिक का अनुदान भी उसके लिये देना निश्चय किया। उसने २० जिलों में उच्च-कोटि के दो दो स्कूल—एक हिन्दुओं तथा दूसरा मुसलमानों—के लिए खुलवाने पर जोर दिया। बाद में ३०० तहसीलों में क्रमशः एक-एक वर्नाक्यूलर स्कूल हिन्दुओं के वास्ते खोलने की योजना बनाई। इस प्रकार सम्पूर्ण योजना को लागू करने के लिये उसने ४८,०००) रु० वार्षिक की सहायता माँगी। यह धन-राशि सन् १८२८ ई० में स्वीकृत हो गई, किन्तु दुर्भाग्यवश १८२७ ई० में मुनरो की मृत्यु हो जाने से उसके उपरान्त यह योजना अच्छी प्रकार से कार्यान्वित न की जा सकी।

इस शिक्षा-योजना के कार्यान्वित करने के लिए मुनरो ने अपने जीवन-काल में ही जून १८२६ ई० में 'लोक शिक्षा समिति' की स्थापना कर ली थी। इस समिति ने मद्रास में शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए एक नॉर्मल स्कूल खोला। तहसीली स्कूलों की प्रगति भी निराशा-जनक रही। १८३० ई० तक केवल १४ जिलों में ७० तहसीली स्कूल खोले जा सके। इनमें न तो शिक्षकों को वेतन ही ठीक प्रकार से मिल पाता था और न इनका निरीक्षण ही नियमित रूप से होता था।

यद्यपि मुनरो की मृत्यु से उसकी योजना सफल न हो सकी, तथापि इसका एक प्रमुख कारण दूसरा भी है। वास्तव में मुनरो का उद्देश्य शिक्षा द्वारा जनता के नैतिक, मानसिक तथा आर्थिक-स्तर को ऊँचा उठाकर सरकार के कर्त्तव्य को पूरा करना था। "हमें सदा साम्राज्य बनाये रखने का ही स्वप्न न देखना चाहिये, बल्कि भारतियों को ऐसा बना देना चाहिये कि वे अपना शासन इस प्रकार कर सकें कि उससे उनका, हमारा तथा विश्व का कल्याण हो। हमें

अपने प्रयासों के प्रतिफल स्वरूप अपना कर्त्तव्य पूरा करने की भावना तथा इसकी सफलता का श्रेय ही प्राप्त करना चाहिये।"* किन्तु मुनरो अपनी योजना को भलीभांति लागू भी नहीं कर पाया था कि कम्पनी के संचालकों ने अपना २९ सितम्बर, १८३० ई० का आज्ञापत्र भेजा जिसके अनुसार कहा गया कि मद्रास में प्रारम्भिक जन-शिक्षा पर पर्याप्त कार्य किया जा चुका है, किन्तु उच्च शिक्षा के लिये कोई प्रयत्न नहीं किये गये हैं। अतः ऐसी अवस्था में मद्रास सरकार को अपनी नीति को बदल देना चाहिये। आज्ञापत्र में कहा गया कि "तुम्हारी सरकार के प्रथम प्रस्तावों में जनता के किसी भी भाग की उच्च शिक्षा को कोई स्थान नहीं दिया गया है। प्रारम्भिक शिक्षा का सुधार ही उनका उद्देश्य है।............परन्तु जनता की नैतिक तथा मानसिक दशा सुधारने में वही शिक्षा-सुधार अत्यन्त सफल होते हैं, जिनका सम्बन्ध उच्चतर वर्गों से होता है, जिनके पास पर्याप्त अवसर तथा अपने देशवासियों के मस्तिष्कों पर पर्याप्त प्रभाव होता है। बहुसंख्यक वर्गों पर सीधे प्रभाव डालने के स्थान पर इन्हीं उच्च वर्गों के शिक्षा स्तर को ऊँचा करके जनता के विचारों तथा भावनाओं में अधिक व्यापक तथा हितकारी परिवर्त्तन करना सम्भव है। साथ ही तुम्हें ज्ञात है कि हमारी यह उत्कट इच्छा है कि हमें ऐसे भारतियों की आवश्यकता है जो अपने स्वभाव तथा विद्या द्वारा अपने देश के शासन में उच्चतर पदों पर रखने योग्य हों। तुम्हारे प्रान्त की शिक्षा में ऐसे व्यक्ति उत्पन्न करने की क्षमता नहीं। प्रधान प्रान्त (बंगाल) में भारतीय उच्च वर्गों को अँग्रेजी भाषा तथा योरुपीय साहित्य और विज्ञानों की शिक्षा देने का प्रयास किया गया था। वहाँ इन प्रयासों को इतनी सफलता मिली कि उनकी कार्य-अवधि के थोड़े होते हुये भी वह अत्यन्त संतोष-जनक है; तथा ये प्रयास भारतीयों में सभ्य योरुपीय भावनाओं के फैलाने की व्यावहारिकता की आशा का पुष्टीकरण करते हैं। हमारी अभिलाषा है कि इसी प्रकार के प्रयत्न तुम्हारे प्रान्त में भी हों।"†

वास्तव में अँग्रेज शासकों का भारत में प्रमुख हित राजनैतिक था। वे नहीं चाहते थे कि यहाँ के जन-साधारण में उपयोगी शिक्षा का शीघ्र प्रचार किया जाय तथा उनके अन्दर राजनैतिक जागृति उत्पन्न करके उन्हें उनके अधिकारों तथा क्षमताओं से परिचित करा दिया जाय। यही कारण था कि उन्होंने उच्चवर्ग के लोगों को शिक्षित करने का निश्चय किया था। उच्चवर्ग के लोग

* Quoted by K. S. Vakil : *Education in India*.

† H. Sharp : *Selections*, Vol. I, P. 179-80.

बहुधा प्रत्येक देश में निम्नस्तर की कही जाने वाली जनता का शोषण करके उसके ऊपर अपना जीवन निर्भर करते हैं। भारत में भी यही अवस्था थी। इन उच्चवर्ग के लोगों के आर्थिक स्वार्थ भी इसी में थे कि वे अँग्रेजों के इस षड्यंत्र के कार्यवाहक बन कर उनकी नीतियों का समर्थन करें। वस्तुतः ब्रिटिश सरकार एक ऐसे वर्ग का निर्माण करना चाहती थी—जैसा कि कम्पनी के संचालकों के उपर्युक्त विवरण से प्रकट होता है—जो उनके शासन-भवन के स्तम्भ बनकर जनता के शोषण में उन्हें सहायता दें। सरकार इस स्वामिभक्ति के लिये अपने इन 'उच्चवर्ग' के दासों के समक्ष कुछ प्रलोभन रख देती थी और इस प्रकार इन्हें देश पर शासन करने तथा उसका शोषण करने का अस्त्र बनाती थी। इसी नीति को उस ने बंगाल में भी अपनाया था जहाँ उसे पर्याप्त सफलता मिली। अपनी इस सफलता से उत्साहित होकर उसने अपने इस सिद्धान्त को सम्पूर्ण देश पर लागू किया और यही कारण था कि टाम्स मुनरो को, जिसने जन-शिक्षा के लिये एक उदार योजना बनाई थी, कम्पनी ने आदेश दिया कि वह बंगाल की भाँति, जहाँ राजा राममोहन राय जैसे 'देश सेवी' भारतीय शिक्षा के स्थान पर पाश्चात्य 'लाभदायक' शिक्षा को स्थानापन्न करने के लिये संघर्ष कर रहे थे, मद्रास में भी उच्चवर्ग में पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञानों का प्रसार करें। इस प्रकार उच्चवर्ग को शिक्षा देकर यह धारणा करना कि शिक्षा उच्चवर्ग से छन कर निम्न वर्गों तक पहुँच जायगी, भारतीय शिक्षा के इतिहास में 'शिक्षा छनाई का सिद्धान्त'† के नाम से प्रसिद्ध है, जिसका वर्णन आगे चल कर किया जायगा।

गैर-सरकारी प्रयत्न

इस प्रकार देश में १८१३-३३ तक की शिक्षा-प्रगति में राजकीय प्रयत्न अधिक सराहनीय नहीं रहे। शिक्षा एक परीक्षण काल में होकर गुजर रही थी। अतः यह स्वाभाविक ही था कि प्रगति मन्द रहती। किन्तु इन सरकारी प्रयासों के समानान्तर गैर-सरकारी प्रयास भी जारी थे जिन्हें प्रधानतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : १—मिशनरी और २—गैर-मिशनरी। आगे की पंक्तियों में हम इन्हीं का उल्लेख करेंगे।

१—मिशनरी शिक्षा प्रयत्न (१८१३-३३)

सन् १८२३ ई० तक भारत में कम्पनी-सरकार अपने राज्य को दृढ़ और स्थायी करने में इस प्रकार फँसी रही कि शिक्षा की समस्या उसके समक्ष गौण

† Downward Infiltration Theory of Education.

रही। इधर भारत में आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा की माँग उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। १८१३ ई० के आज्ञा-पत्र ने अँग्रेजी मिशनरियों के लिये भारत के द्वार खोल दिये थे। फलतः यहाँ कई धर्मप्रचारक मंडलियाँ आईं और इन्हीं धर्म-प्रचारकों ने अपने धार्मिक उद्देश्यों से भारत में शिक्षा का कार्य अपने हाथ में लिया जिससे जनता की मांग की भी पूर्ति हुई और ईसाई धर्म का प्रचार भी बढ़ा। यह निर्विवाद है कि शिक्षा-प्रचार इनका प्रत्यक्ष उद्देश्य नहीं था। वे तो धर्म परिवर्त्तन करना चाहते थे। अतः शिक्षा के द्वारा ही वे निम्न तथा उच्च-वर्गों के सम्पर्क में आकर उन्हें प्रभावित कर सकते थे। इसके अतिरिक्त धर्म-परिवर्तित लोगों के साथ अपना सम्बन्ध स्थायी करने के लिये भी उनका शिक्षा का प्रबन्ध आवश्यक था। साथ ही उन्हें ऐसे सहायक धर्म-प्रचारक भी तैयार करने थे जो भारतीय जनता में से ही हों। इन सब उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उन्हें शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों को अपनाना पड़ा। किन्तु इतना अवश्य है कि उनके इस प्रयत्न से देश में शिक्षा की बहुत उन्नति हुई। उनकी प्रारम्भिक नीति देशी भाषाओं में शिक्षा देने की थी। देशी भाषाओं में उन्होंने पाठ्य-पुस्तकें, शब्दकोष तथा व्याकरणों की रचना करके एक ऐसा सराहनीय कार्य किया जिसके लिये भारत उनका चिर-ऋणी रहेगा। धर्म-प्रचार के उनके जोश ने शिक्षा-उन्नति में भी उन्हें उसी जोश के साथ लगा दिया। यह बात भी सर्वमान्य है कि उन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप १८१३ ई० के आज्ञा-पत्र में शिक्षा सम्बन्धी धारा जोड़ी गई थी।

इस प्रकार १८१३ ई० के बाद जो मिशनरियाँ भारत में आईं उनमें 'जनरल बैप्टिस्ट मिशन सोसाइटी,' 'लन्दन मिशनरी सोसाइटी,' 'चर्च मिशनरी सोसाइटी,' 'वैसलियन मिशन' तथा 'स्कॉच मिशनरी सोसाइटी' प्रमुख हैं। इन्होंने भिन्न-भिन्न प्रान्तों में अपने कार्य को प्रसारित किया।

बंगाल—जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, बंगाल में सीरामपुर में बैप्टिस्ट मिशन ने धर्म-प्रचार बड़े जोरों से प्रारम्भ किया था। १८१५ ई० में लगभग १५ स्कूल खोले। सीरामपुर का छापाखाना सराहनीय कार्य कर ही रहा था। 'समाचार दर्पण' नामक एक समाचार-पत्र भी उन्होंने निकाला। १८१८ ई० में सीरामपुर कालेज की नींव डाली जिसका प्रमुख उद्देश्य भारतीय तथा अधगोरों को धर्म-प्रचार की दीक्षा देना था। भारत में यह प्रथम मिशन कालेज था। इसके अतिरिक्त 'लंदन मिशनरी सोसाइटी' के एक प्रमुख कार्यकर्त्ता ने चिनसुरा में प्रारम्भिक शिक्षा के ३६ स्कूल खोले जिनमें ३,००० बच्चे पढ़ते थे। 'चर्च मिशनरी सोसाइटी' के कप्तान स्टीवर्ट ने वर्दवान में १०

वर्नाक्यूलर स्कूल खोले जिनमें लगभग १००० बच्चे पढ़ते थे। भवानीपुर तथा बरहमपुर में भी स्कूल खोले गये। १८२० ई० में शिवपुर में बिशप कौलेज की स्थापना हुई। बंगाल में मिशनरियों के कार्यों को १८३० ई० में स्काटलैंड के मिशनरी अलैक्जेंडर डफ के आगमन से बड़ा प्रोत्साहन मिला। उसके अथक प्रयासों से बंगाल में अँग्रेजी शिक्षा का प्रचार भी हुआ। डफ जगद्गुरु भारत को 'मुक्ति' का पाठ पढ़ाने आया था। उसके मतानुसार भारतियों की मोक्ष 'पश्चिम तथा बाइबिल' की कृपा पर ही अवलम्बित थी। १८३५ ई० में एक भाषण में उसने कहा था कि "पाश्चात्य ज्ञान की प्रत्येक शाखा हिन्दू धर्म के किसी न किसी भाग को विध्वंस करेगी, इस प्रकार हिन्दू धर्म के विशाल किन्तु भद्दे भवन में से एक-एक ईंट नीचे गिर जायगी। और जब तक कि हमारी शिक्षा की विशाल योजना पूर्ण होगी, सम्पूर्ण भवन खण्ड-खण्ड होकर धाराशायी हो जायगा; यहाँ तक कि एक खंडित टुकड़ा भी शेष नहीं बचेगा।"* डफ ने कलकत्ता में स्काटिश चर्च कालेज भी स्थापित किया, जहाँ शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी था तथा बाइबिल अनिवार्य थी।

डफ का उल्लेख करते हुए एक अमेरिकन विद्वान ने लिखा है कि, "भारत में निम्न गंगाघाटी में शिक्षा-रूप के विकास में सन् १८३० ई० एक महत्वपूर्ण वर्ष है। इस वर्ष अलैक्जैन्डर डफ, एक उत्साही मिशनरी, भारत आया। बंगाल में उसके मिशनरी स्कूलों के कार्य व प्रयास विशाल थे। उसके अनुगामी उग्र थे तथा शिक्षा को, विशेषतः उच्च शिक्षा को, वह धर्म-प्रचार का यन्त्र समझता था।‡

बम्बई—१८१५ ई० में अमेरिकन मिशन ने बम्बई में एक स्कूल लड़कों के लिये तथा १८२४ ई० में लड़कियों के लिये खोला। कोंकण में १८२२ ई० में 'स्काटिश मिशन' ने अपना कार्य प्रारम्भ किया। १८२९ ई० में डा० विल्सन ने लड़कियों के लिये एक स्कूल बम्बई में खोला। इसके अतिरिक्त सूरत में भी कुछ स्कूल खोले गये। इस प्रकार बम्बई में मिशनरियों का शिक्षा-कार्य इतना व्यापक नहीं था जितना कि बंगाल में।

मद्रास—चर्च मिशन सोसाइटी ने मद्रास में १८१५ से १८३५ ई० तक बहुत से स्कूल खोले। अकेले तिनेवली में १०७ स्कूल थे, जिनमें २८८२ विद्यार्थी पढ़ते थे। १८१७ ई० में हग ने ६ स्कूल खोले, जिनमें २८३ विद्यार्थी पढ़ते थे। 'वैसलियन मिशन' ने भी १८१६ ई० में मद्रास में कुछ स्कूल खोले। इसके अति-

---

* L. S. S. O. Malley—*Modern India and the West* P. 671—*Quoted by* Shri S. N. Mukerjee in *Education in india* P. 55.

‡ Dr. Zellner Aubrey: *Eduction in india*. P. 56. New york. (1951).

रिक्त कुम्भकोणम, चित्तूर, सेलम, कोइम्बटूर, विशाखपट्टणम्, कड़पा तथा बिल्लारी इत्यादि अन्य स्थान मद्रास प्रान्त में और थे जहाँ मिशनरियों ने अपने स्कूल स्थापित किये। डफ (१८३० ई०) तथा जॉन विल्सन (१८२६ ई०) ने भी मद्रास में अपने शिक्षा केन्द्र स्थापित करके ईसाई धर्म का प्रचार किया।

इनके अतिरिक्त अजमेर भी एक प्रमुख केन्द्र था जहाँ ईसाइयों ने 'लंकास्ट्रियन-प्रणाली' पर शासन खोले। सन् १८१३ ई० में वहाँ चार स्कूल थे जिनमें १०० विद्यार्थी थे। चार वर्ष उपरान्त चारों स्कूल मिलाकर एक स्कूल बना दिया गया। इसी प्रकार 'चर्च मिशनरी सोसाइटी' ने बर्दवान, आगरा, मेरठ, बनारस, आजमगढ़ तथा जौनपुर में भी अपने प्रचार-केन्द्र स्थापित करके वहाँ स्कूलों की व्यवस्था की। बम्बई प्रान्त में नासिक भी एक केन्द्र था।

इस प्रकार धर्म प्रचार के लिये मिशनरियों ने शिक्षा को साधन बनाया। उन्होंने पाठ्य-पुस्तकें छापीं, स्कूलों में घण्टे नियत कर दिये। इतवार छुट्टी का दिन था। इससे पूर्व प्रत्येक स्कूल में देशी शिक्षा-पद्धति के अनुसार सम्पूर्ण विषयों तथा कक्षाओं के लिये एक ही शिक्षक रहता था। किन्तु इन्होंने आधुनिक ढँग पर एक से अधिक शिक्षकों के रखने की व्यवस्था की। इस प्रकार इस काल में एक नये शिक्षा संगठन को स्वरूप दिया गया, जिसका श्रेय अधिकांश में मिशनरियों को है।

२—गैर-मिशनरी प्रयास (१८१३-३३)

बंगाल—बंगाल में सरकारी तथा मिशनरी प्रयत्नों के साथ ही साथ जनता का व्यक्तिगत प्रयत्न भी शिक्षा-प्रसार में लगा हुआ था। ब्रह्मसमाज के प्रवर्त्तक राजा राममोहनराय, तथा डेविड हेयर, राधाकान्त देव और सर एडवर्ड हाइड ईस्ट इत्यादि महानुभावों के नाम इस क्षेत्र में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। राजा राममोहन राय प्रथम भारतीय थे जिन्होंने पाश्चात्य सभ्यता, ज्ञान तथा विज्ञानों की सराहना की। इन विज्ञानों के द्वारा वे भारत में भी सांस्कृतिक जागरण लाना चाहते थे। यद्यपि वे संस्कृत तथा बंगाली के भी ज्ञाता थे, किन्तु प्राच्य साहित्य तथा प्राच्य भाषाओं को वे देश के लिये वर्त्तमान परिस्थितियों में अधिक हितकर नहीं समझते थे। राजा राममोहनराय उन प्रथम भारतीयों में से थे जो कि प्राच्य और पाश्चात्य ज्ञान व संस्कृतियों का समन्वय व सामंजस्य चाहते थे। यद्यपि उन्हें विश्वास था कि भारतीय संस्कृति की अपनी मौलिक विशेषताएँ हैं, तथापि उन्होंने यह भी अनुभव कर

लिया था कि इस समय भारतीय ज्ञान-विज्ञानों तथा संस्कृत भाषा के अध्ययन से देश का कल्याण नहीं हो सकेगा। उन्होंने प्राच्य संस्कृति की निन्दा नहीं की और न उसके उन्मूलन की ही इच्छा प्रकट की। उन्होंने तो प्राच्य व पाश्चात्य संस्कृति के सामंजस्य के लिये ही प्रयास किये; और साथ ही भारतवासियों में व्याप्त अज्ञान, अन्ध-विश्वासों तथा प्रतिक्रियावादी परम्पराओं को तोड़ कर उन्हें पश्चिम के वैज्ञानिक व यथार्थवादी संसार के सम्पर्क में लाने के यत्न किये।

डैविड हेयर एक धनी घड़ीसाज था। कलकत्ता के निकट वह एक प्राइमरी स्कूल भी चला रहा था। अपने अनुभव के आधार पर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि अधिकतर भारतीय बालकों में अँग्रेजी पढ़ने की माँग है। सर एडवर्ड हाइड ईस्ट बंगाल के चीफ जस्टिस तथा राजा राममोहनराय के मित्र थे। १४ मार्च, १८१६ ई० को इन लोगों ने एक सभा की जिसमें एक अँग्रेजी स्कूल खोलने की योजना पर विचार किया, जिसका उद्देश्य 'हिन्दुओं के पुत्रों को योरुपीय तथा एशियाई भाषाओं तथा विज्ञानों की शिक्षा देना' था। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिये तत्काल ही ५०,०००) रु० चन्दा कर लिया गया। इस प्रकार २० जनवरी, १८१७ ई० को महाविद्यालय (हिन्दू कालेज) की नींव पड़ी। सन् १८१४ ई० में जाकर इसे सरकारी सहायता भी मिलने लगी। इसमें अँग्रेजी, नीति-शास्त्र, व्याकरण, हिन्दुस्तानी, बंगला, गणित, इतिहास, भूगोल तथा ज्योतिष पढ़ाये जाते थे। कुछ ही दिनों में हिन्दू कालेज ने आशातीत उन्नति कर ली। १८२६ ई० में इस कालेज में १६६ विद्यार्थी, १८२७ ई० में ३७२ तथा १८२८ ई० में ४३७ विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। ‡ यह बात ध्यान देने योग्य है कि इसमें संस्कृत तथा फारसी भाषा का बहिष्कार कर दिया गया। यह वास्तव में एक मूलभूत भूल थी, क्योंकि ऐसा करने से पाश्चात्य और प्राच्य सभ्यताओं के सम्मिश्रण का सुअवसर जाता रहा।

हिन्दू कालेज के अतिरिक्त अन्य प्रयत्न भी किये गये। १८१७ ई० में 'कलकत्ता स्कूल-पुस्तक समाज' स्थापित किया गया जिसने बिना मूल्य या नाममात्र मूल्य पर पुस्तकें छापीं। १८२१ ई० तक लगभग १ लाख २६ हजार पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। सरकार ने भी ७,०००) रु० का दान इस समाज को दिया। १८१६ ई० में 'कलकत्ता विद्यालय समाज' की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य बंगाल प्रान्त में अँग्रेजी तथा बँगला के स्कूल स्थापित करना था। सन् १८२१ ई०

‡ Dr. Zellner Aubrey : *Education in India* P. 52.

तक इस समाज ने ११५ स्कूल खोले जिनमें ३८२८ विद्यार्थी थे। १८२३ ई० में सरकार ने इन स्कूलों की सहायता के लिये ६०००) रु० वार्षिक की स्वीकृति दी। इस प्रकार ये दोनों समाज मिलकर १८३३ ई० तक सराहनीय कार्य करते रहे।

बम्बई—बम्बई प्रान्त में इस काल में शिक्षा-विकास का श्रेय अधिकांश में वैयक्तिक प्रयत्नों को ही है। १८१५ ई० में इंगलैण्ड के चर्च के सदस्यों ने बम्बई राज्य के अन्तर्गत निर्धनों की शिक्षा की उन्नति के लिये एक समाज की स्थापना की जिसका प्रधान उद्देश्य योरुपीय सैनिकों के बच्चों को शिक्षित करना था। इस समाज ने बहुत से स्कूल सूरत, थाना तथा बम्बई में खोले। धर्म के उपदेशों का श्रवण वैकल्पिक होने के कारण बहुत से हिन्दू, पारसी तथा मुसलमान बालक भी इन स्कूलों में जाने लगे। आगे चलकर यह समाज 'बम्बई शिक्षा समाज' के नाम से कार्य करने लगा। सन् १८२० ई० तक इसने चार स्कूल भारतीय बालकों के लिये खोल दिये जिनमें २५० विद्यार्थी थे। सन् १८२० ई० में ऐलफिंस्टन के प्रयत्नों से इस समाज के अन्तर्गत एक समिति स्थापित हुई जिसका नाम 'भारतीय शिक्षालय तथा पाठ्य-पुस्तक समिति' था। इस समिति के दो उद्देश्य थे:—१—भारतीय बालकों के लिये प्रचलित स्कूलों का सुधार तथा नये स्कूल खोलना और २—स्कूल में पढ़ने वाले भारतीय बालकों के लिये पाठ्य-पुस्तकें तैयार करना। बम्बई शिक्षा समाज इस प्रकार शिक्षा की उन्नति कर रहा था। सन् १८२७ ई० में जाकर उसने 'बम्बई भारतीय शिक्षालय-पुस्तक तथा शिक्षालय समाज'† की स्थापना की जो कि १८२७ में 'बम्बई भारतीय शिक्षा समाज'‡ के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस समाज ने भारतीय बालकों की शिक्षा की पर्याप्त उन्नति की। अपनी स्थापना के उपरान्त ही इस समाज ने तत्कालीन शिक्षा अवस्था की जाँच पड़ताल कराई जिसके अनुसार इसने मालूम किया कि उचित पुस्तकों तथा शिक्षकों का अभाव, गलत शिक्षण-विधि तथा धन का अभाव इत्यादि प्रमुख कठिनाइयाँ थीं जो कि प्रान्त की शिक्षा-उन्नति में बाधक थीं। फलतः देशी भाषाओं में अच्छी पाठ्य-पुस्तकों के छपने की व्यवस्था की गई। शिक्षकों की दीक्षा के लिये ६ शिक्षक मराठी, गुजराती, कन्नड़ तथा उर्दू में दीक्षित किये गये। कुछ अँग्रेजी स्कूलों के खोलने की भी समिति ने सिफारिश की। 'बम्बई शिक्षा समाज' ने समिति की इन सिफारिशों को मान लिया तथा सरकार से स्कूल खोलने के लिये सहायता

† Bombay Native Book and School Society.
‡ Bombay Native Education Society.

की माँग की। ऐलफिंस्टन ने अपना एक विवरण-पत्र भी प्रस्तुत किया जिसके फल स्वरूप समाज को ६००) रु० मासिक की सहायता सरकार से प्राप्त हुई। इस सहायता के उपरान्त इसने बड़ी उन्नति की। १८२६ ई० में समाज ने २४ दीक्षित अध्यापकों को अपने वर्नाक्यूलर स्कूलों में से सरकारी प्रायमरी स्कूलों में भेजा। लगभग २ लाख रुपये व्यय करके 'बम्बई शिक्षा समाज' ने लगभग ५० हजार पुस्तकें भी छापीं। अन्त में समाज ने कुछ अँग्रेजी स्कूल भी खोले तथा बम्बई में चिकित्सा तथा इन्जीनियरी की कक्षायें भी प्रारम्भ कीं।

मद्रास—इस प्रान्त में शिक्षा को गैर-मिशनरी प्रोत्साहन बहुत कम मिला। मैसूर का राजा बँगलौर के अँग्रेजी स्कूल के लिये ३५०) रु० वार्षिक सहायता देता था। 'मद्रास शिक्षालय समाज' को सरकार की ओर से ६,०००) रु० वार्षिक सहायता मिलती थी। पच्चयप्पा ने, जोकि एक धनवान् हिन्दू था, अपनी मृत्यु के उपरान्त ४ लाख रु० दान के लिये छोड़ा था, किन्तु इस धन का उपयोग १८४२ ई० में जाकर ही हो सका और गरीब विद्यार्थियों के लिये अँग्रेजी, तमिल तथा तैलुगु के स्कूल खुल सके। बाद में इस धन-राशि में से कुछ छात्रवृत्तियाँ भी प्रदान की गईं।

संयुक्त प्रान्त—इसके अतिरिक्त संयुक्त प्रान्त और दिल्ली में भी व्यक्तिगत दानियों ने शिक्षा के हेतु को आगे बढ़ाया। सन् १८१८ ई० में बनारस में श्री जयनारायण घोषाल ने जयनारायण स्कूल के लिये २० हजार रुपये दान दिये। यह अँग्रेजी स्कूल था जिसमें फारसी, बँगला तथा हिन्दुस्तानी भी पढ़ाई जाती थी। सरकार की ओर से भी इस स्कूल को ३ हजार रु० का वार्षिक अनुदान प्राप्त हुआ। सन् १८२५ ई० में जयनारायण घोषाल के सुपुत्र ने २० हजार रुपये और दान देकर इस स्कूल को सहयोग दिया। सन् १८२४ ई० में आगरा के संस्कृत कॉलेज को आगरा कॉलेज के नाम से संगठित किया गया। इसका श्रेय श्री गंगाधर शास्त्री को है। उन्होंने अपनी १½ लाख की सम्पत्ति, जिसकी वार्षिक आय २० हजार रुपया है, कॉलेज को दान दे दी। आगरा कॉलेज उत्तरी भारत की सबसे पुरानी शिक्षा-संस्थाओं में से है तथा सर तेज बहादुर सप्रू और मोतीलाल नेहरू जैसे उच्च कोटि के विद्वान् व नेता उत्पन्न करने का श्रेय इसे उपलब्ध है। दिल्ली में प्रारम्भिक शिक्षा का प्रोत्साहन व्यक्तिगत रूप से किया गया। इनमें श्री डबल्यू फ्रेजर के प्रयत्न विशेष उल्लेखनीय हैं। सन् १८२६ ई० में नवाब इस्लामइउद्दौला ने दिल्ली कॉलेज के लिए १ लाख ७० हजार रु० का दान देकर उच्च शिक्षा को प्रोत्साहन दिया।

पाश्चात्य-शिक्षा प्रणाली की प्रगति

बंगाल, मद्रास तथा बम्बई प्रान्तों में शिक्षा ने १८२३ ई० के उपरान्त अच्छी प्रगति की। बंगाल में हिन्दू कालेज अँग्रेजी के लिए आन्दोलन कर रहा था। परिणामतः देश में बहुत अँग्रेजी स्कूल खुले। डा० डफ के द्वारा चलाया हुआ पाश्चात्य शिक्षा व सभ्यता प्रचार-आन्दोलन भी अपना प्रभाव उत्पन्न कर रहा था। अँग्रेजी का राजनैतिक व आर्थिक महत्त्व बढ़ता ही जा रहा था। फलतः उच्च व मध्य वर्गों द्वारा इसकी माँग बढ़ी। प्राचीन रूढ़ियाँ व परम्परायें टूटने लगीं और लोगों के विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगे। अँग्रेजी पढ़े हुए भारतीय अपनी प्राचीन सभ्यता से घृणा करने लगे और अपने ही देश में स्वयं को एक विचित्र जीव समझने लगे। 'उन्होंने हिन्दू धर्म का पूर्णतः परित्याग कर दिया।' ये लोग अधिकाँश में हिन्दू कॉलेज के विद्यार्थी थे। उधर छापेखाने ने भी शिक्षा-क्षेत्र में क्रान्ति कर दी। प्राचीन अलभ्य ग्रन्थ अब जन-साधारण के लिये सुलभ हो गये। एक विशाल स्तर पर पाश्चात्य-साहित्य का सृजन हुआ जिसने दीर्घकाल से चली आने वाली जीवन की शुष्कता को नष्ट करके जीवन को एक नवीन समीरण के झकोरों से हरा भरा करके स्फुरित कर दिया। इसके अतिरिक्त एक दल सुधारकों तथा दूसरा रूढ़िबादियों का भी था। सुधारकों ने पाश्चात्य तथा प्राच्य-शिक्षा के मध्यम मार्ग को अपनाया।

बंगाल की भाँति बम्बई तथा मद्रास में भी शिक्षा ने १८२३ ई० के उपरान्त प्रगति की। बम्बई में ऐलिफिंस्टन जैसे योग्य तथा सात्त्विक परोपकारी शासकों के संरक्षण में देशी भाषा व ज्ञान और अँग्रेजी तथा पाश्चात्य विज्ञानों, दोनों की ही आशाजनक उन्नति हुई। बम्बई निवासियों ने ऐलफिंस्टन की स्मृति अमर करने के लिये दो लाख रुपया इकट्ठा करके उसके नाम से एक स्कूल की स्थापना की। कम्पनी के संचालकों ने भी दो लाख रुपया दान दिया और १८३४ ई० में 'ऐलफिंस्टन इंस्टीट्यूट' की स्थापना की गई। मद्रास में भी अँग्रेजी का प्रचार दिन-प्रति-दिन बढ़ता जा रहा था। उधर 'लोक शिक्षा समिति' भी अपनी शिक्षा योजनाओं को कार्यान्वित कर रही थी। कम्पनी के संचालक भी अब राजनैतिक उद्देश्यों से प्रभावित होकर शिक्षा का उद्देश्य 'राजकार्यों के लिए योग्य व्यक्ति उत्पन्न करना' बताने लगे। फलतः अँग्रेजी का प्रचार और भी अधिक बढ़ा। विलियम बैंटिक के गवर्नर जनरल नियुक्त हो जाने पर भारत की शिक्षा-नीति जो अब तक अनिश्चित व अस्थिर थी, स्थिर होने लगी। अपने २६ जून, १८२९ ई० के पत्र में, जो उसने 'लोक शिक्षा समिति' के नाम लिखा था, स्पष्ट कर दिया कि उसका विचार अँग्रेजी को क्रमशः तथा अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण

देश में व्यावहारिक राजभाषा बनाने का है। ऐसा ही हुआ जिसका वर्णन हम आगे के अध्याय में देखेंगे।

१८३३ का आज्ञा-पत्र

बीस वर्ष के उपरान्त कम्पनी ने १८३३ ई० में अपना आज्ञा-पत्र जारी किया। इसके अनुसार भारत में सभी देशों की मिशनरियों को अपने कार्य चलाने की पूर्ण स्वतन्त्रता मिल गई। दूसरे, इस आज्ञा-पत्र ने यह सिद्धान्त भी घोषित कर दिया कि "कोई भी भारतवासी तथा सम्राट् का कोई भी स्वाभाविक प्रजाजन अपने धर्म, जन्म-स्थान, वंश तथा वर्ण के आधार पर किसी भी स्थान तथा पद को प्राप्त करने से रोका न जाय।" इससे अँग्रेजी शिक्षा का प्रचार सभी वर्गों में अबाध गति से बढ़ने लगा। इस पत्र के द्वारा बंगाल के गवर्नर का अधिकार अन्य प्रान्तों की सरकारों पर भी कर दिया गया, जिसके द्वारा उसे अपनी नीतियों को लागू करने का अधिकार भारत के अन्य भागों पर भी मिल गया। शिक्षा-अनुदान को एक लाख रुपये से बढ़ाकर १० लाख कर दिया गया, जिससे शिक्षा के विकास की आशा बँध गई। अन्त में इस आज्ञा-पत्र के द्वारा गवर्नर-जनरल की काउँसिल में एक चौथा सदस्य (कानून सदस्य) भी बढ़ा दिया गया। इस पद पर सर्वप्रथम लॉर्ड मैकाले की नियुक्ति हुई, जिसने भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड़ दिया।

———

HK

HK.

अध्याय ६

संघर्ष की समाप्ति और शिक्षा का आँग्लीयकरण

(१८३५ से १८५३ ई० तक)

प्राच्य-पाश्चात्य शिक्षा विवाद

प्राच्य-शास्त्रीय शिक्षा के समर्थक

१६ वीं शताब्दि के प्रारम्भ से ही एक संघर्ष चला आ रहा था कि भारत में संस्कृत, अरबी तथा फारसी के माध्यम के द्वारा प्राच्य-ज्ञान का प्रचार किया जाय अथवा अँग्रेजी भाषा द्वारा पाश्चात्य साहित्य व विज्ञानों का। 'लोक शिक्षा समिति' में पहिले से ही प्राच्य-शिक्षा समर्थकों का बहुमत था। इनके नेता श्री एच० टी० प्रिंसेप थे जो कि बङ्गाल प्रान्त में शिक्षा विभाग के सचिव थे। मिन्टो तथा विल्सन उनके अन्य साथी थे। प्राच्य-मत के समर्थकों ने १८१३ ई० के आज्ञा-पत्र की ४३ वीं धारा जिसके अनुसार 'एक लाख रुपया साहित्य के विकास तथा विद्वान् भारतवासियों के प्रोत्साहन के लिये और ब्रिटिश भारत के निवासियों में विज्ञानों के प्रचार तथा प्रसार के लिये,'* पृथक् रख दिया था, उसकी व्याख्या इस प्रकार की: "वह साहित्य जिसके विकास का उल्लेख किया गया है उसका अर्थ दो महान् जातियों—हिन्दू-मुसलमानों के साहित्य से है।"... ...विज्ञानों के प्रचार व प्रसार के विषय में भी इन लोगों का मत था कि वे संस्कृत और अरबी फारसी में पढ़ाये जाने चाहिये। उनकी राय में भारत वासियों में पाश्चात्य विज्ञानों के प्रति पर्याप्त घृणा थी। अतः अपने देश की प्राचीन भाषाओं में ही वे स्वीकार किये जा सकते थे। इन उद्देश्यों को ध्यान में

* "........The revival and improvement of literature and the encouragement of the learned natives of India, and for the introduction and promotion of a knowledge of the sciences among the inhabitants of the British territories in India."

—*Charter Act 1813.*
Charter Act

रखते हुए प्राच्य शिक्षा के स्कूलों के द्वारा वे संस्कृत व फारसी के ज्ञान तथा संस्कृति को जीवित रखना चाहते थे। अतः उन्होंने इनके प्रोत्साहन के लिये छात्रवृत्तियाँ दीं; संस्कृत, अरबी-फारसी के अनेक ग्रन्थ छापे तथा अँग्रेजी विज्ञानों और साहित्य-ग्रन्थों के अनुवाद प्राच्य भाषाओं में कराये। अँग्रेजी को वे शिक्षा का माध्यम रखने को तैयार नहीं थे। प्राच्य ज्ञान के प्रचलित स्कूलों जैसे कलकत्ता मदरसा तथा बनारस संस्कृत कालेज जैसी संस्थाओं की भी सुरक्षा चाहते थे। प्रिंसेप के मत में कलकत्ता मदरसा वारेन हैस्टिङ्ग्ज का स्मारक था और इसका तोड़ना विश्वासघात के समान था; तथा यही एक ऐसी संस्था थी जिसके द्वारा बङ्गाल के मुसलमानों से सम्पर्क बना हुआ था। प्रिन्सेप ने यह भी तर्क दिया कि भारतीय कभी भी अँग्रेजी भाषा के विद्वान् नहीं हो सकते। यद्यपि उसका यह कथन असत्य था क्योंकि भारतीय दिन-प्रतिदिन इस बात का प्रमाण देते जा रहे थे कि वे अँग्रेज़ी के प्रकाण्ड पण्डित हो सकते हैं। तो इस प्रकार के कुछ तर्कों के द्वारा इन लोगों ने भारत में शिक्षा का माध्यम संस्कृत, अरबी तथा फारसी रखने की सिफारिश की तथा प्राच्य संस्कृति की सुरक्षा के लिये प्रयत्न किये।

पाश्चात्य शिक्षा के समर्थक

पाश्चात्य शिक्षा के समर्थकों का कहना था कि प्राच्य-शिक्षा-पद्धति ढीली व हानिप्रद है। वे नहीं चाहते थे कि भारत के पुराने ठूँठ पर योरुप की नई कोंपलों की कलम लगाई जाय। अतः उन्होंने अँग्रेजी भाषा के माध्यम के द्वारा पाश्चात्य विज्ञानों और साहित्य का भारतवासियों में प्रसार करने का समर्थन किया। उनका दृढ़ विश्वास था कि भारतीय योरुपीय ज्ञान को सम्पादित करना चाहते हैं तथा अँग्रेजी के लिये भी उनमें बड़ी मांग है। अतः वे चाहते थे कि शिक्षा के लिये संकल्पित सम्पूर्ण धन-राशि पाश्चात्य शिक्षा पर ही व्यय की जाय।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राच्य तथा पाश्चात्य दोनों मतों के समर्थक इस बात पर एक मत थे कि देशी भाषाओं को शिक्षा का माध्यम न बनाया जाय, क्योंकि उनके मतानुसार वे बड़ी 'अविकसित तथा गँवारू' थीं तथा उनमें 'उदार शिक्षा के लिये न तो पर्याप्त साहित्यिक और न वैज्ञानिक ज्ञान' ही था। वे इस बात पर भी एक मत थे कि केवल उच्च और मध्यवर्ग को ही शिक्षित किया जाय, क्योंकि जन-साधारण को शिक्षित करने के लिये सरकार के पास पर्याप्त धन नहीं है, साथ ही उच्चवर्ग के शिक्षित होने से उनके सम्पर्क से जनता के निम्नवर्गों में भी शिक्षा छन-छनकर पहुँच जायगी।

मैकाले का विवरण-पत्र तथा उसके परिणाम

इसी समय जब कि उपर्युक्त विवाद जोरों पर था १० जून, १८३४ ई० को लार्ड मैकाले गवर्नर जनरल की कांउसिल का कानून-सदस्य बनकर आया। यह बड़ा विद्वान्, सफल लेखक तथा धारावाहिक व्याख्यानेदाता था। मैकाले को 'लोकशिक्षा समिति'† का प्रधान भी नियुक्त कर दिया गया। उसकी नियुक्ति के समय से ही भारतीय शिक्षा इतिहास में एक नया अध्याय खुलता है। मैकाले इंगलैंड में उस युग की उपज था जबकि अँग्रेजों के साहस बढ़े हुए थे। वे संसार की सांस्कृतिक और राजनैतिक विजय करने निकल पड़े थे तथा अपनी भाषा और संस्कृति को संसार में सर्वोत्तम समझते थे। मैकाले इन्हीं संस्कारों को लेकर भारत उतरा था।

कानून-सदस्य की हैसियत से सरकार ने उससे यह कानूनी सलाह माँगी थी कि क्या १ लाख रुपये की धनराशि प्राच्य शिक्षाओं के अतिरिक्त और किसी प्रकार भी खर्च की जा सकती है ? तथा १८१३ ई० के आज्ञा-पत्र की शिक्षा-सम्बन्धी धारा की वास्तविक व्याख्या क्या है ? मैकाले से निश्चय ही सम्पूर्ण देश के लिये कोई शिक्षा-नीति नहीं पूँछी गई थी। उसने शिक्षा-समिति की बैठकों में भी भाग नहीं लिया था। किन्तु २ फरवरी, १८३५ ई० को उसने कौंसिल के समक्ष अपना प्रसिद्ध विवरण-पत्र रक्खा। उसके तर्कों के प्रमुख अंशों को हम यहाँ उद्धृत करते हैं।

"लोक शिक्षा समिति के कुछ सदस्यों का मत है कि उनकी शिक्षा-नीति अब तक १८१३ ई० के आज्ञा-पत्र द्वारा निर्धारित हुई है।.......मेरी राय में संसद के कानून का वह अर्थ नहीं लगाया जा सकता जो कि लगाया गया है। उसमें विशेष भाषाओं तथा विज्ञानों का नाम नहीं है। शिक्षा-अनुदान भी "साहित्य के पुनरुद्धार तथा उन्नति और भारतीय विद्वानों के प्रोत्साहन तथा भारतीयों में विज्ञानों का प्रचार व प्रसार" करने के लिये है। तर्क दिया जाता है कि 'साहित्य' से संसद का अभिप्राय 'संस्कृत तथा अरबी साहित्य' से ही हो सकता है तथा भारतीय विद्वान से उनका अभिप्राय न्यूटन के भौतिक शास्त्र तथा मिल्टन के काव्य के ज्ञाताओं से नहीं हो सकता।"........

इस प्रकार मैकाले ने 'साहित्य के पुनरुद्धार' तथा 'भारतीय विद्वान्' शब्दों की उससे भिन्न व्याख्या की जो कि प्राच्य-शिक्षा समर्थक अब तक करते चले आ रहे थे। उसने यह भी धमकी दी कि यदि उसकी ये व्याख्यायें स्वीकार

† "General Committee of Public Instrucations."

नहीं की गई तो वह १८१३ ई० के एक्ट की ४३ वीं धारा में ही संशोधन कराने का प्रस्ताव रक्खेगा।

संस्कृत, अरबी तथा फारसी के शिक्षालयों पर होने वाले व्यय को वह एक निरर्थक दुरुपयोग समझता था। उसके अनुसार कोई भी ऐसा तर्क नहीं दिया जा सकता था जिसके अनुसार एक बार स्थापित हुए इन शिक्षालयों को सरकार न तोड़ सके विशेषतः जबकि वे हानिप्रद हों। उसने कलकत्ता मदरसा की हिन्दू कालेज से तुलना करके दर्शाया कि कलकत्ता मदरसा इतना लाभप्रद नहीं है। "अरबी तथा संस्कृत पुस्तकों पर तीन वर्ष में ६० हजार रुपये व्यय हुए और १ हजार भी वसूल न हो सका। इसके विपरीत 'कलकत्ता पुस्तक समाज' सात आठ इजार पुस्तकें बेच कर २० प्रतिशत लाभ उठा सकता है।" उसने यह भी कहा कि इन अरबी और संस्कृत शिक्षालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थी बिना आर्थिक सहायता दिये हुए नहीं पढ़ सकते, जब कि अँग्रेजी स्कूलों में विद्यार्थी उल्टी फीस देने को तैयार हैं। ऐसी अवस्था में प्राच्य शिक्षालयों को बन्द कर देना चाहिए। उसने कहा, "मेरे मत में वाइसराय को इस रुपये को अरबी और संस्कृत शिक्षा पर व्यय होने से रोकने का उतना ही अधिकार है जितना मैसूर में चीते मारने वालों के पारितोषक को कम करने का।"*

इसके उपरान्त मैकाले शिक्षा के माध्यम के प्रश्न को लेता है। उसने वस्तुतः अँग्रेजी को ही शिक्षा-माध्यम के लिये सबसे उपयुक्त चुना। देशी भाषाओं के विषय में तो उसने कहा कि "भारत के निवासियों में प्रचलित भाषाओं में एक तो साहित्यिक और वैज्ञानिक ज्ञान-कोष का अभाव है, साथ ही वे इतनी अविकसित तथा गँवारू हैं कि जब तक उन्हें किसी वाह्य-भण्डार से सम्पन्न नहीं किया जायगा, उनमें कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अनुवादित नहीं हो सकते। अतः यह सर्वमान्य प्रतीत होता है कि उच्च स्तर की शिक्षा द्वारा उस वर्ग का

* Cf. "The grants which are made from the public purse for the encouragement of literature differ in no respect from the grants which are made from the same purse for other objects of real or supposed utility. We found a sanitorium on a spot which we suppose to be healthy. Do we thereby pledge ourselves to keep sanitorium there if the result should not answer our expectations? We commence the erection of a pier. Is it a violation of the public faith to stop the work if we afterwards see reason to believe that the building will be useless"?

—*Macaulay's Minute.*

बौद्धिक सुधार, जिनके पास इसके लिये साधन हैं, किसी ऐसी भाषा में ही सम्भव है जो उनके बोलचाल की भाषा नहीं है।..........समिति का एक भाग चाहता है कि यह भाषा अँग्रेजी हो तथा दूसरा संस्कृत और अरबी की वकालत करता है। मेरी समझ में प्रश्न यह है कि कौनसी भाषा अधिक सीखने योग्य है?"

इस प्रकार देशी भाषाओं के माध्यम का प्रश्न समाप्त करके उसने अँग्रेजी और संस्कृत इत्यादि में ही विकल्प रक्खा। मैकाले अरबी तथा संस्कृत नहीं जानता था, तथापि अज्ञान, दम्भ और साहसपूर्वक उसने कहा कि "एक अच्छे योरुपीय पुस्तकालय की केवल एक अलमारी भारत तथा अरब के सम्पूर्ण साहित्य के बराबर होगी।" सम्भवतः इससे बड़ा अज्ञानपूर्ण दम्भ नहीं हो सकता। इन भावनाओं के जोश में उसने अँग्रेजी माध्यम के लिए जोरदार अपील की: "भारत में अँग्रेजी शासकों की भाषा है तथा राजधानियों में उच्च वर्ग के भारतीय भी इसे बोलते हैं। साथ ही संभावना है कि पूर्वीय समुद्रों में यह व्यापार की भाषा भी बन जाय। आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका में उन्नतिशील योरुपियों की भी भाषा यही है, जिनका सम्बन्ध दिन प्रतिदिन भारत से बढ़ रहा है। अतः चाहे हम भाषा के महत्त्व पर विचार करें अथवा देश की स्थिति पर, अँग्रेजी ही भारतीयों के लिये सबसे हितकर होगी।"†

भारतीय विज्ञानों तथा साहित्य का परिहास करते हुए मैकाले आगे चलकर कहता है कि—

"अब हमारे सम्मुख प्रश्न केवल यह है कि जब हम इस भाषा (अँग्रेजी) को पढ़ा सकते हैं तो क्या हम उन भाषाओं को पढ़ायेंगे जिनमें सर्वसम्मति से किसी विषय पर भी ऐसी पुस्तक नहीं हैं जिनकी तुलना हमारे ग्रन्थों से हो

† The claims of our own language it is hardly necessary to recapitutlate. It stands pre-eminent even among the languages of the West...........Whoever knows has ready access to all the vast intellectual wealth which all the wisest nations of the earth have created and hoarded in the course of ninety generations. It may safely be said that the literature now extant in that language is of greatrr value than all the literature which three hundred years ago was extant in all the languages of the world together...........In India English is the language spoken by the ruling class. It is spoken by the higher class of natives at the seat of Government. It is likely to become the language of commerce through out the seas of the East."

—*Macaulay's Minute*.

सके ? जब हम योरुपीय विज्ञान पढ़ा सकते हैं तो क्या हम ऐसे विज्ञान पढ़ायेंगे जो खराब हैं; जब हम सच्चा इतिहास तथा दर्शन पढ़ा सकते हैं तो क्या सरकारी रुपये से ऐसे चिकित्सा-सिद्धान्त पढ़ायेंगे जिन पर अँग्रेजों के पशु-चिकित्सकों तक को लज्जा आवेगी अथवा वह ज्योतिष जिस पर स्कूलों की अङ्गरेज बालिकायें हँस पड़ेंगी; इतिहास जिसमें ३० फीट लम्बे राजाओं का वर्णन है जिनके राज्य ३० हजार वर्ष तक चलते थे; और ऐसा भूगोल पढ़ायेंगे जिसमें शीरे और मक्खन के समुद्रों (क्षीर सागर) का वर्णन है ?"

मैकाले तो संस्कृत और अरबी को कानून के लिये भी अध्ययन करने के पक्ष में नहीं था। उसने सुझाव रक्खा था कि हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिये संहिता (कोड) बन जाने चाहिये जिनमें उनके धर्म-सिद्धान्त निहित हों। धर्म के विषय में मैकाले कठोर धार्मिक-निरपेक्षता का पक्षपाती था और भारतियों के धर्म में किसी प्रकार का भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहता था। उसकी राय में यदि संस्कृत व अरबी के द्वारा शिक्षण दिया गया तो "हमें झूठा इतिहास, झूठी ज्योतिष तथा झूठा चिकित्सा-शास्त्र इसलिये पढ़ाने पड़ेंगे क्योंकि उनका सम्मिश्रण एक झूठे धर्म से हो रहा है। हम धर्म के विषय में तटस्थ हैं, और मुझे विश्वास है कि सदा तटस्थ रहेंगे, और धर्म परिवर्तन करने वाले ईसाइयों को कभी खुले रूप में प्रोत्साहन नहीं देंगे। और जब हमारा व्यवहार इस प्रकार का होगा तो क्या हम राज्य-कोष में से लोगों को रिश्वत देकर इस बात के सीखने में उनकी युवावस्था नष्ट हो जाने देंगे कि गधे से छू जाने पर किस तरह शरीर पवित्र करना चाहिये अथवा बकरी के मारने पर पाप-प्रक्षालन के लिये कौन से वेद-श्लोकों का जाप करना चाहिये ?"

इस प्रकार मैकाले ने भारतीय शिक्षा के विषय में अपने उद्गार प्रकट किये। मैकाले का विवरण-पत्र प्रिंसेप के पास उसके मत के लिये भेजा गया। उसने मैकाले के तर्कों को काटने का प्रयास किया और संस्कृत व अरबी के माध्यम तथा प्राच्य शिक्षा के विद्यालयों, विशेषतः कलकत्ता मदरसा के बने रहने के लिये तर्क दिये। कुछ तर्क प्रिन्सेप के वास्तव में उच्चकोटि के थे, किन्तु जब १५ फरवरी १८३५ ई० को उसने भी अपना विवरण-पत्र प्रस्तुत किया, तो उसके तर्क बैंटिक को प्रभावित न कर सके। बैंटिक वास्तव में एक प्रगतिशील सुधारक था। वह दृढ़तापूर्वक भारत में कुछ सुधार करना चाहता था। उसकी राय में अङ्गरेजी भाषा द्वारा शिक्षण भी एक महत्त्वपूर्ण सुधार था, जिसके पक्ष में वह प्रारम्भ से ही था।

बैंटिक की स्वीकृति

७ मार्च १८३५ ई० को बैंटिक ने एक प्रस्ताव पास करके आज्ञा दी कि—

(१) ब्रिटिश सरकार का महान् उद्देश्य योरुपीय साहित्य तथा विज्ञानों का भारत में प्रचार करना है। अतः सारा रुपया केवल अँग्रेजी शिक्षा में ही व्यय किया जाय।

(२) प्राच्य-शिक्षालयों को भंग न किया जाय। उनके आचार्यों तथा विद्यार्थियों को पूर्ववत् वेतन तथा छात्रवृत्तियाँ दी जाँय।

(३) भविष्य में प्राच्य-भाषाओं पर पुस्तकें न छापी जाँय, क्योंकि इनमें पर्याप्त धन व्यय किया जा चुका है।

(४) इस उपाय से बचने वाली सम्पूर्ण धन-राशि को अँग्रेजी भाषा के माध्यम के द्वारा अँग्रेजी साहित्य तथा विज्ञान का भारतियों में प्रचार करने में व्यय किया जाय।

इस प्रकार लार्ड बैंटिक की इस घोषणा ने भारत में अँग्रेजी शिक्षा की नीति को स्थायी स्वरूप दे दिया। भारत सरकार की ओर से यह लगभग प्रथम शिक्षा-घोषणा थी जिसके अनुसार शिक्षा के उद्देश्य, साधन, तथा माध्यम इत्यादि को स्थिर कर दिया गया। यद्यपि उसने अँग्रेजी को माध्यम बनाया, प्राच्य भाषाओं में पुस्तकें छपना भी बन्द करा दिया, किन्तु संस्कृत और अरबी के प्रचलित शिक्षालयों को भंग नहीं किया और न उनकी आर्थिक वृत्तियों को ही समाप्त किया। वास्तव में बैंटिक पहले से ही अँग्रेजी का पक्षपाती था। मैकाले के तर्कों से उसे अधिकृत रूप से शीघ्र निर्णय करने की प्रेरणा मिल गई। इसके अतिरिक्त भारत में सती-प्रथा को बन्द कराने में उसका शिक्षित भारतियों ने साथ दिया ही था। उसका विश्वास था कि अँग्रेजी शिक्षा के प्रचार से देश में सामाजिक जाग्रति होगी और इस प्रकार बहुत सी सामाजिक कुरीतियों का अन्त हो जायगा। अतः अब भारतीय शिक्षित-समाज से समर्थन मिलने की आशा से उसने अँग्रेजी के विषय में अपना निर्णय शीघ्र दे डाला।

आलोचना

मैकाले के विवरण के आधार पर भारत में स्थायी रूप से एक शिक्षा-नीति निर्धारित हो गई, अतः भारतीय शिक्षा के इतिहास में उस विवरण-पत्र का बड़ा महत्त्व है। यहाँ उसकी संक्षिप्त आलोचना देना असंगत न होगा।

वास्तव में मैकाले के विषय में लोगों की भिन्न-भिन्न धारणायें हैं। कुछ लोगों का कथन है कि भारतीय शिक्षा का वह अग्रदूत था, तो कुछ उसे भारत

की गुलामी के लिये उत्तरदायी ठहराते हैं। किन्तु यह दोनों ही मत पक्षपातपूर्ण हैं। वह भारत में आधुनिक शिक्षा का अग्रदूत नहीं कहा जा सकता। उसके १८३४ ई० में आने से पूर्व ही यहाँ शिक्षाजगत में पर्याप्त जागृति हो चुकी थी। ईसाई धर्म-प्रचारकों के कार्यों से यहाँ की शिक्षा पाश्चात्य साँचे में ढलना प्रारम्भ हो गई थी। अतः अँग्रेजी शिक्षा की बड़ी माँग थी। लोकशिक्षासमिति में अँग्रेजी-दल पहिले से ही विद्यमान था। हाँ, इतना अवश्य है कि मैकाले के तर्कों ने सरकार को एक नीति शीघ्र घोषित करने की स्थिति में लाकर रख दिया।

साथ ही मैकाले पर भारत के साथ कुछ अन्य बुराई करने का आरोप लगाना भी सत्य नहीं है। कुछ लोगों का कथन है कि उसने देशी भाषाओं की अवहेलना की। इस विषय में इतना कहा जा सकता है कि उसने देशी भाषाओं को 'अविकसित, अपर्याप्त तथा गँवारू' अवश्य बताया, किन्तु उनके विकास के मार्ग में रोड़े कभी नहीं अटकाये। 'लोकशिक्षासमिति' ने, जिसका मैकाले सभापति था, अपनी रिपोर्ट में कहा है कि, "देशी भाषाओं के प्रोत्साहन तथा विकास में हमें अत्यंत रुचि है। हम नहीं समझते कि ७ मार्च की आज्ञा हमें ऐसा करने से रोकती है और हमने निरन्तर रूप से इसके निर्माण की ओर कदम उठाया है...... देशी भाषाओं के साहित्य का विकास हमारा अन्तिम उद्देश्य है जिसकी ओर हमारे सम्पूर्ण प्रयास जुट जाने चाहिये।"*

ऐसी अवस्था में मैकाले पर देशी भाषाओं के साथ विश्वासघात करने का दोष नहीं लगाया जा सकता। वास्तव में जो सबसे गम्भीर दोष मैकाले पर लगाया जा सकता है वह है प्राच्य-संस्कृति तथा धर्मों का अपमान। उसने भारतीय धर्म, ज्ञान, दर्शन, तथा साहित्य का परिहास किया। वह स्वयं उनके विषय में अज्ञान में था। वह इंगलैंड से अपनी एक विशिष्ट विचारधारा तथा भारतीय सभ्यता के विषय में अपने कुछ पूर्व-निश्चित विचार लेकर उतरा था। अतः बिना अध्ययन के उसने समस्त भारतीय तथा अरबी साहित्य को यूरोप के पुस्तकालय की एक अलमारी के बराबर बता दिया था! संभवतः वेद, उपनिषदों और संस्कृत भाषा के अगाध साहित्य की, जिसकी विद्वान् विदेशियों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है, मैकाले को हवा तक भी नहीं लगी थी। वह प्राच्य-संस्कृति जिसका सृजन भारत में उस समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था जब कि संभवतः श्री मैकाले के पूर्वज बनों में जंगली हिंसक पशुओं की भाँति जीवन बिताते अथवा भेड़ें चराते थे, उन्हें अंधकार तथा अन्ध विश्वासों से पूर्ण

* Trevelyan, C. E.: *On the Education of the People of India.* P. 22-23. (1838).

लगी। भारतीय दर्शन, ज्योतिष तथा चिकित्सा-शास्त्र, जो कि अपनी उच्चता के लिये एक समय आधे भूमण्डल में विख्यात थे, उन पर मैकाले को ऐसा लगा कि उनके विषय में सुनकर अँग्रेजों की लड़कियाँ तक हँसेंगी !

वास्तव में मैकाले भूल गया था कि उस समय भी भारत में जहाँ अँग्रेजी शिक्षा की माँग थी, प्राच्य-भाषाओं के पढ़ने की भी आवश्यकता थी। प्राच्य-पाश्चात्य सभ्यता के सम्मिश्रण का वह एक महान् अवसर था जो कि एक विदेशी शासक के अहंकार व दम्भ तथा अपनी स्वयं की सभ्यता के विषय में अधिक आशावादी होने के कारण एक दीर्घकाल के लिये नष्ट हो गया। वह तो भारत में एक ऐसी जाति उत्पन्न करना चाहता था जो कि "रंग-रूप में तो भारतीय हो किन्तु वेष-भूषा, बातचीत, चिन्तन तथा विचारों में अंग्रेज हो।" वह भारत पर बलात् पाश्चात्य सभ्यता भी थोपना चाहता था। संभवतः मैकाले यह भी भूल गया था कि भारतीय संस्कृति की जड़ें लोगों की आत्मा में इतनी गहरी पहुँच चुकी हैं जिन्हें उखाड़ कर फेंकना असम्भव है। मैकाले पर भारत में शिक्षित लोगों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न करने का पूर्ण उत्तरदायित्व है जो कि पाश्चात्य शिक्षा में पलकर अपने देश की जनता से बिल्कुल अलग हो गया, और जिसने अंग्रेजों के साथ मिलकर भारतीय जनता का सदा शोषण किया। उसका भारतवासियों को अंग्रेज बनाने का स्वप्न भी अधूरा रह गया। संभवतः वह इतिहास के इस महान् सत्य के विषय में पूर्णतः अनभिज्ञ था कि इसी प्रकार भारत में अनेक जातियाँ आईं और उनकी क्षीणधारा यहाँ की सभ्यता के महासागर में सदा के लिये विलीन होकर रह गई। उसके हौसले तो यहाँ तक थे कि भारत की धार्मिक एकता नष्ट होकर खण्डित हो जाय। उसने १८३६ ई० में एक पत्र में अपने पिता को लिखा था—

"हमारे अंग्रेजी स्कूल आश्चर्यजनक गति से बढ़ रहे हैं, यहाँ तक कि स्कूलों में सभी विद्यार्थियों को स्थान देना कठिन है।.........हिन्दुओं पर इस शिक्षा का बड़ा प्रभाव पड़ता है। कोई भी हिन्दू ऐसा नहीं है जिसने अँग्रेजी पढ़कर अपने धर्म से सच्चा लगाव रखा हो। मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि हमारी शिक्षा की यह नीति सफल हो जाती है तो ३० वर्ष के भीतर बंगाल के भले घरानों में एक भी मूर्ति-पूजक शेष नहीं रह जायगा। यह सब कुछ बिना धर्म-प्रचार के किंचित भी धार्मिक हस्तक्षेप के बिना केवल स्वाभाविक तौर से ज्ञान और विचारों के प्रचार से हो जायगा। मैं इसकी सम्भावना से प्रसन्न हूँ।‡

‡ Trevelyan : *Life and Letters of Lord Macaulay*. P. 455.

इस प्रकार धार्मिक तटस्थता का दम्भ करने वाला यह अँग्रेज अधिकारी अपने आन्तरिक जीवन में एक धर्म के विरुद्ध कलुषित व लज्जाजनक प्रचार कर रहा था।

इतना सब होते हुए भी मैकाले ने भारत का कुछ अंशों में हित ही किया। उसने भारत में पाश्चात्य विचारों तथा विज्ञानों के फैलने में सहायता की। जिन कारणों से भारत में राजनैतिक जागृति, वैज्ञानिक चेतना तथा आर्थिक विचार धारायें प्रस्फुटित हुईं उनमें अँग्रेजी भाषा के प्रचार तथा मैकाले को एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है। भारतवासियों ने अँग्रेजी पढ़ी और उससे प्रेरणा लेकर संघर्ष किया और उसमें सफलता मिली। किन्तु एक बात समझ में नहीं आती कि जब बाइबिल जैसी दुरूह पुस्तक का अनुवाद भारत की प्रायः सभी भाषाओं में हो सकता था तो फिर क्या यह आवश्यक था कि सरकार के द्वारा उनके विकास-कार्य को सच्चे रूप से अपने हाथ में लेने पर भी उनमें अच्छे साहित्य का सृजन नहीं हो पाता? क्या ऐसी स्थिति में भी उनका 'गँवारूपन' स्थिर रहता? वास्तव में देशी भाषाओं के प्रश्न को तो टाल ही दिया गया था। संघर्ष तो केवल एक ओर संस्कृत, अरबी और फारसी भाषाओं तथा दूसरी ओर अँग्रेजी भाषा में था। इसमें अँग्रेजी की विजय हुई और देशी-भाषाओं के विकास के प्रश्न को कम से कम उस समय, तो टाल ही दिया गया।

मैकाले नहीं जानता था कि उसके विवरण-पत्र का इतना महत्व बढ़ जायगा। किन्तु इतना अवश्य है कि कुछ अशोभनीय परिहासों के अतिरिक्त उसके कुछ संकल्प वास्तव में सचाई पूर्ण भी थे।

लार्ड आकलैंड की शिक्षा-नीति

लार्ड विलियम बैंटिक के उपरान्त लार्ड ऑकलैंड भारत का गवर्नर-जनरल हुआ। बैंटिक के चले जाने पर प्राच्य शिक्षा के समर्थकों ने पुनः कुछ आपत्ति उठाई, किन्तु ऑकलैंड ने अपनी बुद्धिमानी से उन्हें सन्तुष्ट कर दिया। उसी समय ऐडम, हौगसन तथा विल्किन्सन इत्यादि शिक्षा-शास्त्रियों ने देशी भाषाओं के माध्यम का प्रश्न उठाया। वे लोग अग्रेजी को पूर्णतः सारे देश में शिक्षा का माध्यम बनाने के पक्ष में नहीं थे क्योंकि इससे जनता तक शिक्षा पहुँचाना सम्भव नहीं था।

इन सभी बातों को दृष्टि में रखते हुए ऑकलैंड ने २४ नवम्बर, १८३६ ई० को अपना विवरण-पत्र जारी किया। प्राच्य और आंग्ल विवाद को

अच्छी प्रकार जाँचने के उपरान्त वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यदि कुछ रुपया प्राच्यवादियों को व्यय करने के लिये अधिक दे दिया जाय तो वे शांत हो जाँयगे। अतः उसने संस्कृत और अरबी के शिक्षालयों की आर्थिक सहायता को पूर्ववत् कर दिया और आदेश कर दिया कि यह रुपया पहिले संस्कृत और अरबी के लिये व्यय किया जाय, बाद में, यदि बचे तो, अँग्रेजी के लिये। उसने छात्रवृत्तियाँ भी पूर्ववत् रक्खीं तथा आवश्यक प्राच्य पुस्तकों के भी छपने की आज्ञा कर दी। इस योजना में ३१,०००) रुपया वार्षिक का खर्च था, जिसे देकर उसने एक झगड़ा समाप्त कर दिया।

ऑकलैंड भी शिक्षा छनाई के सिद्धान्त का मानने वाला था उसने इस सिद्धान्त को सरकारी नीति घोषित कर दिया। यह नीति १८७० ई० तक चलती रही। दूसरी माँग अँग्रेजी के समर्थकों की थी। उसको भी ऑकलैंड ने पूरा किया। उसने एक लाख से भी अधिक रुपया अँग्रेजी शिक्षा के लिये स्वीकृत कर दिया और अँग्रेजी भाषा के द्वारा योरुपीय साहित्य, दर्शन, तथा विज्ञानों के प्रचार की व्यवस्था कर दी। उसने यह भी कहा कि सरकार के प्रयत्न केवल उच्च वर्ग के लोगों को सर्वोत्तम शिक्षा देने के ही होने चाहिये। इसी जोश में आकर उसने जन साधारण में शिक्षा-प्रसार के लिये ऐडम के सुझाव यह कह कर रद्द कर दिये कि अभी इनके लिये उपयुक्त समय नहीं आया है। इसका वर्णन हम आगे करेंगे। उसने अंग्रेजी कालेज खोलने की योजना बनाई और ढाका, पटना, बनारस, इलाहाबाद, आगरा, बरेली तथा दिल्ली में कुछ अँग्रेजी कालेज खोले।

शिक्षा माध्यम के विषय में ऑकलैंड का मत था कि अँग्रेजी ही शिक्षा का माध्यम रहे। बम्बई में उस समय कुछ कालेजों में उच्च शिक्षा भी देशी भाषाओं में दी जा रही थी और उचित संरक्षण मिलने पर प्रत्येक प्रान्त में उनका विकास हो सकता था। इस प्रकार उच्च शिक्षा जनता तक पहुंच सकती थी, किन्तु दुर्भाग्यवश यह प्रश्न टाल दिया गया। ऑकलैंड ने कह दिया कि इस समय तो समस्त बंगाल में अँग्रेजी तथा बम्बई में देशी भाषाओं के परीक्षण चल रहे हैं, उनकी और अधिक परीक्षा होनी चाहिये। खेद है वह भारत के लिये देशी भाषाओं का महत्त्व नहीं समझ सका। वास्तव में जन-साधारण में शिक्षा-प्रसार तथा देशी भाषाओं तथा विज्ञानों की उन्नति अँग्रेजों की राजकीय नीतियों के विरुद्ध थी, अतः ऑकलैंड ने भी उसी नीति को अक्षुण्ण रखा। इसके अतिरिक्त बंगाल प्रान्त का प्रभाव शेष प्रान्तों पर हो जाने के कारण

उन्हें भी शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी अपनाने के लिये विवश होना पड़ा। जन-शिक्षा को इससे बड़ा आघात लगा।

ऐडम-योजना तथा उसकी अस्वीकृति

हम ऊपर कुछ कह चुके हैं कि ऐडम की नियुक्ति बंगाल में देशी शिक्षा की अवस्था की जाँच पड़ताल करने के लिये हुई थी और इस सम्बन्ध में उसने तीन प्रतिवेदन प्रस्तुत किये थे। वह एक सच्चा व्यक्ति था और अन्तरात्मा से भारत में शिक्षा-प्रचार द्वारा देश का कल्याण चाहता था। कूटनैतिक हितों से उसकी शिक्षा-नीति मुक्त थी। अतः देश की शिक्षा के विषय में उसने कुछ बुद्धिमता-पूर्ण सुझाव रक्खे।

पहिली बात तो यह थी कि वह जन-शिक्षा में विश्वास करता था, फलतः 'शिक्षा छनाई के सिद्धान्त' का उसने घोर विरोध किया, जिसके अनुसार केवल उच्च-वर्ग को ही शिक्षित करने की सरकारी योजना थी। उसने कहा कि, "छोटे बच्चों को केवल वर्णमाला सीखने के लिये उच्च कालेजों में नहीं भेजा जा सकता। किसी भवन का ऊपरी भाग ऊँचा तथा दृढ़ बनाने के लिये उसकी नींव चौड़ी तथा गहरी होनी चाहिये।"

दूसरे, उसने भारत के प्रचलित देशी स्कूलों को अत्यन्त उपयोगी बताया। उसकी धारणा थी कि सरकार को उन्हीं स्कूलों को संरक्षण देना चाहिये। वही स्कूल देश की शिक्षा-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति दीर्घकाल से करते चले आ रहे थे। अतः किसी भी राष्ट्रीय शिक्षा-योजना को सफल बनाने के लिये देशी स्कूलों की उन्नति करनी चाहिये। ये स्कूल उस नींव के समान थे जिन पर हमें भवन निर्माण करना था। "अतएव शिक्षा-विकास की सभी योजनाएँ जिन्हें सफल व स्थायी बनाना है, इन्हीं देशी स्कूलों पर आधारित होनी चाहिये, जो कि दीर्घकाल से चले आ रहे हैं, लोगों के विचारों के अनुरूप हैं तथा उनमें सम्मान व श्रद्धा का संचार करते हैं।"† इसके लिये ऐडम ने सिफारिश की कि "प्रचलित देशी स्कूल नीचे से लेकर ऊपर तक, हर प्रकार की शिक्षा के एक मात्र साधन हैं जिनके द्वारा जनता का चरित्र ऊँचा उठाया जा सकता है। यदि इन स्कूलों को इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये काम में लाया जायगा तो यही सबसे सादा, सुरक्षित, सर्वप्रिय, मितव्ययी एवं सबसे अधिक प्रभावशाली योजना होगी जिसके द्वारा शिक्षा के विषय में भारतवासियों के मस्तिष्क को जागृत किया जा सकता है जिसकी कि उन्हें आवश्यकता है।"‡

† *Adam's Report.* P. 357-58.

‡ *Ibid,* P. 349-50.

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये ऐडम ने एक योजना भी प्रस्तुत की। योजना में सुझाव दिया गया कि इसके अनुसार पहिले परीक्षण के लिये केवल कुछ जिले चुन लिये जाँय जहाँ शिक्षा की पूर्ण पड़ताल की जाय। फिर शिक्षकों तथा बालकों के लिये देशी भाषाओं में पुस्तकें तैयार कराई जाँय और एक जिला शिक्षा-अधिकारी नियुक्त कर दिया जाय जो कि सम्पूर्ण प्रगति का निरीक्षण करे। इसके उपरान्त शिक्षकों के लिये नार्मल स्कूल स्थापित कर दिये जाँय तथा उनमें अच्छी पुस्तकें वितरित की जाँय, और उन्हीं के आधार पर बच्चों को पढ़ाने का आदेश दिया जाय। तत्पश्चात् शिक्षकों की परीक्षा भी ली जाय और अन्त में शिक्षकों की आय स्थिर कर दी जाय जिससे कि वे ग्रामीण बच्चों को पढ़ाने के लिये गाँवों में बस जाँय। इसके लिये सरकार कुछ भूमिदान इत्यादि दे।

इस योजना का मैकाले ने घोर विरोध किया जो कि अपने हृदय में कुछ भेद तथा मस्तिष्क में एक भिन्न योजना छिपाये बैठा था। उसने इस पर बड़ी बुरी रिपोर्ट दी; परिणामतः जब यह लॉर्ड ऑकलैंड के समक्ष रक्खी गई तो उसने इसे रद्द कर दिया। समिति ने इस योजना को अव्यावहारिक समझा। ऐडम को सरकार के इस रवैये से इतना खेद हुआ कि उसने तत्काल ही त्याग-पत्र दे दिया। इस प्रकार जन-शिक्षा विकास का एक और अवसर जाता रहा।

शिक्षा छनाई का सिद्धान्त*

वास्तव में १९ वीं शताब्दि के प्रारम्भ में ही अँग्रेज शासकों ने अनुभव कर लिया था कि भारत में केवल उच्चवर्ग को ही अपनाया जाय और जन-समूह को अन्धकार में रक्खा जाय। अतः उन्होंने अपनी शिक्षा-नीति को भी इसी प्रकार रक्खा। १८२७ ई० में कम्पनी के संचालकों ने भी इसी प्रकार के आदेश दिये और १८३५ ई० में मैकाले ने भी कहा कि, "वर्तमान समय में हमें ऐसे वर्ग को उत्पन्न करना चाहिये, जो हमारे तथा जनता के बीच में विचार-वाहक बने; एक ऐसा वर्ग जो कि रंग-रूप में भारतीय किन्तु रुचि, विचार, नैतिकता तथा बुद्धि में अँग्रेज हो। इन्हीं लोगों का कार्य यह होगा कि वे देशी भाषाओं को परिष्कृत तथा सम्पन्न करके जनता तक ज्ञान पहुँचने के योग्य बनावेंगे।" ३१ जुलाई, १८३७ ई० को मैकाले ने पुनः लिखा :

"वर्तमान समय में हमारा उद्देश्य निम्नवर्ग के लोगों को प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा देना नहीं है। हमारा उद्देश्य एक ऐसे वर्ग का निर्माण है जो इसके उपरान्त, जैसी हम आशा करते हैं, अपने देश वासियों में उस शिक्षा के जो कि

* The Filtration Theory of Education.

हमने उन्हें दी है, कुछ अंशों को वितरित कर सके। यदि हम शिक्षित बंगालियों का एक ऐसा वर्ग बना सकते हैं तो स्वाभाविक रूप से बिना किसी उग्र परिवर्तन के ही वे क्रमशः वर्तमान अयोग्य शिक्षकों की जगहों पर आकर उन्हें स्थानच्युत कर सकेंगे।"†

वास्तव में इस प्रसिद्ध सिद्धान्त का अभिप्राय था कि "जन-समूह में शिक्षा ऊपर से टपकाई जाय। बूँद-बूँद करके भारतीय जीवन के हिमालय से लाभदायक शिक्षा नीचे बहे जो कि समय पाकर एक चौड़ी तथा विशाल धारा में परिवर्तित हो जाय और जाकर शुष्क विशाल मैदानों का सिंचन करे।"‡ 'बंगाल लोक शिक्षा समिति' ने भी १८३६ ई० में कहा था कि, "हमारे प्रयास सर्वप्रथम उच्च तथा मध्यमवर्ग की शिक्षा पर केन्द्रित रहने चाहिये; इन्हीं विद्वानों के द्वारा ग्रामीण शिक्षालयों में सुधार होगा और शिक्षा के लाभ उन सभी को मिल जावेंगे जो निर्धनता के कारण अभी वंचित हैं।"

इसके अतिरिक्त ईसाई मिशनरियों को भी यही आशा थी कि यदि कुछ उच्च वर्ग के सवर्ण हिन्दुओं को ईसाई धर्म में दीक्षित कर दिया जावे तो वे जन-समूह तक पहुँच कर ईसा के सिद्धान्तों का उनमें प्रचार कर सकेंगे। यही कारण था कि उन्होंने अँग्रेजी स्कूलों का जोरदार समर्थन किया, किन्तु भारतीय बालकों ने उन स्कूलों में शिक्षा के लिये प्रवेश कराया था न कि धर्म के लिये। धर्म तो उनके ही देश में पर्याप्त था। अतः उन्होंने धर्म परिवर्त्तन नहीं किया। यहाँ तक कि बहुधा बाइबिल की कक्षायें सूनी पड़ी रहती थीं। कुछ पिछड़ी जातियों के बालक जैसे हरिजन इत्यादि, कुछ अनाथ तथा कुछ ईसाइयों के बालक अवश्य बैठे रह जाते थे।

आलोचना—इस प्रकार शिक्षा छनाई के सिद्धान्त के द्वारा यह जो कल्पना सरकारी क्षेत्रों में करली गई थी कि कुछ उच्च वर्ग के लोगों के पढ़ाने से वे लोग अपना ज्ञान निम्नवर्ग तथा जन-समूह को देकर शिक्षित कर देंगे, व्यर्थ जान पड़ी। वस्तुतः जो उच्चवर्ग के लोग शिक्षा प्राप्त करते थे, वे अपने स्वार्थों के लिये करते थे, और उच्च पदों पर आसीन होकर जनता से तो पहिले से भी अधिक दूर हो जाते थे।

---

† *Macaulay's Minute* : Quoted by Dr. Zellner : *Education in India.* P. 60. New York (1951).

‡ Mahew Arthur : *The Education of India.* P. 92. (Faber and Gwyer) (1926).

दूसरे, इस सिद्धान्त को देश में लागू करके अँग्रेजों ने हमारे देश में एक ऐसे शिक्षित वर्ग को जन्म दे दिया जो कि अपने ही देश में अपने को अजनवी समझने लगा। अधिकाँश में इन लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा होता था। गरीबों से ये सम्पर्क नहीं रखते थे। दैनिक कार्यों में अँग्रेजी भाषा का व्यवहार करते तथा अफसरी अभिमान में कहीं-कहीं पर जनता के साथ अत्याचार भी करते थे। बृटिश शासन के प्रारम्भ में ही शिक्षा का सुअवसर मिलने से इन लोगों में शिक्षा प्राप्त करने की परम्परा पड़ गई और परम्परागत यही लोग धनवान् बनने तथा उच्च सरकारी पदों पर नियुक्त होने लगे। यहाँ तक कि यह कहना भी अतिशयोक्ति पूर्ण न होगा कि इनमें से अधिकाँश भारत में विदेशी शासकों के स्तम्भ के रूप में राष्ट्रीय आन्दोलनों का विरोध करते रहे। किन्तु इसके विपरीत यह भी सत्य है कि अन्ततोगत्वा यही शिक्षित मध्यम वर्ग था जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन की बागडोर अपने हाथ में सँभाली और विदेशी शासन को नष्ट करने में जन-समूहों का नेतृत्व किया। किन्तु मैकाले की वह अभिलाषा अंशतः अवश्य पूरी हो गई कि वह रंग-रूप के भारतीय किन्तु आचार-विचार में अँग्रेज उत्पन्न करने में सफल हुआ।

ऐडम ने भी इस सिद्धान्त का विरोध करके देशी स्कूलों में जनता की शिक्षा की व्यवस्था कराने का प्रयास किया, किन्तु शासकों के समक्ष उसकी एक भी नहीं चली। क्रमशः इस सिद्धान्त की व्यर्थता प्रमाणित होती गई और अन्त में यह विस्मृति के अंक में विलीन हो गया। लगभग सन् १८७० ई० तक भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में इस सिद्धान्त की छाया पड़ती रही।

शिक्षा-प्रगति (१८३५—५३ ई०)

बंगाल

सरकारी नीति के कारण अब अँग्रेजी का प्रचार बहुत बढ़ गया था। सन् १८३५ ई० में समिति के अन्तर्गत १४ स्कूल थे और वर्ष के अन्त तक ६ और खोल दिये गये; तथा इतने ही स्कूल १८३६ ई० में भी खुलवाये गये। यहाँ तक कि १८३७ ई० तक समिति के अन्तर्गत ४८ स्कूल हो गये जिनमें ५,१९६ विद्यार्थी पढ़ते थे। ऑकलैंड ने सारे प्रान्त को ९ भागों में विभक्त कर दिया तथा प्रत्येक जिले में 'जिला स्कूल' स्थापित कर दिये। १८४० ई० में बंगाल में ऐसे ४० स्कूल थे। इनमें हुगली कॉलेज बहुत प्रसिद्ध था जो कि हाजी मुहम्मद मुहसिन के दान के द्वारा बनवाया गया था। इस प्रकार शिक्षा का विकास होता जा रहा था; यहाँ तक कि स्थिति ऐसी आ गई कि जब कि संस्कृत-अरबी के

स्कूलों में छात्रवृत्ति देने पर भी बालक नहीं जाते थे, अँग्रेजी स्कूलों में फीस देने पर भी जगह नहीं मिलती थी।

१८४१ ई० में 'लोक शिक्षा समिति' भंग कर दी गई जो कि लगभग २० वर्ष से इस क्षेत्र में कार्य कर रही थी। अतः १८४२ ई० में इसके स्थान पर 'शिक्षा परिषद्'† की स्थापना की गई। इसी प्रकार की परिषदें बम्बई और मद्रास में भी बनी।

१८४४ ई० में लॉर्ड हार्डिंग्ज ने एक घोषणा की जिसका प्रभाव शिक्षा पर ऐसा पड़ा कि वह आज तक यथावत् बना हुआ है। उसने कहा कि "सरकारी नौकरियों के लिये ऐसे लोगों को प्रथमता दी जायगी जिन्होंने इस प्रकार स्थापित अँग्रेजी स्कूलों में शिक्षा पाई हो।" उसने दफ्तरों में छोटे-छोटे पदों के लिये भी इसी प्रकार के आदेश कर दिये। इस प्रकार के आदेशों का प्रभाव यह पड़ा कि सारे भारतवर्ष में शिक्षा का उद्देश्य सरकारी पदों की प्राप्ति करना हो गया। उच्च पदों की संख्या इतनी नहीं थी जहाँ सभी शिक्षित भारतियों की खपत हो सके। परिणामतः बहुत से लोग दफ्तरों में क्लर्क या बाबू बनने पर विवश हुए। इस प्रकार योग्य व्यक्तियों का उद्योग-धन्धों व कृषि के उद्यमों में अभाव रहने लगा। यह बुराई आज भी यथावत् बनी हुई है।

इसी दौरान में मिशनरियों ने भी अपने प्रयत्न जारी रक्खे। १८५२ ई० में सम्पूर्ण बंगाल में इनके २२ अँग्रेजी स्कूल हो गये। कुछ व्यक्तिगत स्कूल भी खुले क्योंकि शिक्षा की माँग बढ़ रही थी और सरकारी अँग्रेजी स्कूल उसके लिये पर्याप्त नहीं होते थे। किन्तु इन स्कूलों को कोई सहायता नहीं दी गई।

सन् १८४५ ई० में 'शिक्षा परिषद्' ने कलकत्ता में एक विश्वविद्यालय स्थापित करने का प्रस्ताव भी रक्खा, किन्तु डाइरेक्टरों ने उसे 'असामयिक' कह कर टाल दिया।

प्राथमिक शिक्षा का पतन हो रहा था, तथापि लॉर्ड हार्डिंग्ज ने इस ओर ध्यान दिया और १८४४ ई० में १०१ स्कूल प्राथमिक शिक्षा के लिये खुलवाये। प्रत्येक स्कूल में लिखना, पढ़ना, गणित, भूगोल, बँगला तथा भारत का इतिहास पढ़ाने के लिये एक-एक शिक्षक नियुक्त कर दिया गया। शिक्षकों के लिये १८४७ ई० में एक नार्मल-स्कूल भी खोल दिया गया। प्राथमिक स्कूलों में एक आना प्रति माह फीस भी लगा दी। किन्तु ये स्कूल अधिक दिनों तक न चले। १८५२ ई० में केवल २६ स्कूल बच रहे। लॉर्ड डलहौजी ने भी प्राथमिक शिक्षा के लिये कुछ प्रयत्न किये। उसने ऐडम योजना में कुछ परिवर्त्तन करके

† Council of Education.

आगरा प्रान्त में परीक्षण के अनुरूप देशी स्कूलों को प्रोत्साहन देने की चेष्टा की। शिक्षा-अनुदान भी दिये। किन्तु १८५४ ई० तक केवल ३३ सरकारी प्राथमिक स्कूल बन सके जिनमें १४०० बच्चे पढ़ते थे।

डलहौजी शिक्षा में रुचि लेता था। उसने १८४४ ई० में हिन्दू कालेज कलकत्ता में इंजिनियरी की कक्षा खोली। उसने स्त्री-शिक्षा के लिये भी प्रयास किया। १८२१ ई० में जब से श्रीमती विल्सन ने लड़कियों के लिये एक स्कूल खोला था तब से इस दिशा में कोई कार्य नहीं हुआ। १८४६ ई० में श्री ड्रिंकवाटर बैथ्यून ने स्त्री-शिक्षा में रुचि दिखाई और कलकत्ता में एक स्कूल खोला।

उसी समय शासन-यंत्र में एक परिवर्तन हुआ। १८४३ ई० में शिक्षा संस्थाएँ एक नए बने हुए प्रान्त (उत्तर पश्चिम प्रान्त), जो कि वर्तमान उत्तर-प्रदेश है, को हस्तांतरित कर दी गईं। इसी समय 'शिक्षापरिषद्' ने भी बहुत उन्नति की। १८४३ ई० में इसने पाठ्य-पुस्तकों में सुधार किया तथा योग्य शिक्षक उत्पन्न किये। १८४४ ई० में स्कूल तथा कालेजों के लिये शिक्षा-निरीक्षक नियुक्त किये गये। १८५६ ई० में इसने प्राथमिक शिक्षा को भी अपने हाथ में लिया और १८४३ से १८५४ ई० तक इनकी संख्या २८ से १५१; तथा विद्यार्थियों की संख्या ४,६३२ से १३,१६७ कर दी। १८५४ ई० में इसके अन्तर्गत ५ अँग्रेजी कालेज, एक मेडिकल कालेज, ३ प्राच्य कालेज तथा ४७ अँग्रेजी स्कूल थे। १८५४ ई० में इन सब का व्यय ५ लाख, ९४ हजार, ५०० रु० था।

यहाँ शिक्षा के माध्यम के विषय में भी दो शब्द कहना वांछनीय है। बम्बई में तो यह प्रश्न बड़ा विवादस्पद हो गया था। बङ्गाल में भी यह प्रश्न उठा। श्री के० एम० बनर्जी तथा डा० वैलेन्टाइन जैसे विद्वानों ने मातृभाषा के लिये सिफारिश की, किन्तु अंग्रेज शासकों के सम्मुख किसी भी न चली और इस प्रकार मातृभाषा बहिष्कार कर अँग्रेजी को ही शिक्षा का माध्यम रक्खा गया।

बम्बई

बम्बई में 'भारतीय शिक्षा समाज'† ने अच्छा काम किया था। किन्तु १८४० ई० में इसे भंग करके 'शिक्षा बोर्ड' बना दिया गया। 'बम्बई भारतीय शिक्षा समाज' ने १८ वर्ष के अपने जीवन में ४ अँग्रेजी स्कूल तथा ११५ जिला प्राथमिक स्कूल स्थापित किये थे, जिनमें मातृभाषा के माध्यम के द्वारा लिखना,

† Bombay Native Education Society.

पढ़ना, दर्शन, बीजगणित, ज्यौमित तथा त्रिकोणमिति का शिक्षण दिया जाता था। वास्तव में यह पाठ्य-क्रम आधुनिक माध्यमिक स्कूलों के समान था, किन्तु बम्बई में इनका उद्देश्य मातृभाषा के द्वारा पाश्चात्य ज्ञान का प्रसार करना था।

इनके अतिरिक्त सरकार पूना संस्कृत कालेज, एलफिंस्टन इंस्टीट्यूट तथा पुरन्दर ताल्लुका में ६३ प्राइमरी स्कूल भी चला रही थी। ये पुरन्दर स्कूल इस ताल्लुका के सहायक कलक्टर श्री शॉर्टरीड ने देशी पाठशालाओं के आधार पर स्थापित किये थे, जहाँ लिखना-पढ़ना और हिसाब की प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी। इनके शिक्षक सरकारी कर्मचारी समझे जाते थे। रुपये के अभाव में समाज का कार्य मंद गति से अवश्य चला, किन्तु १८४० ई० तक कुल मिलाकर यह ११५ प्राथमिक स्कूलों का भी संचालन करता रहा। यद्यपि इसने कुछ अँग्रेजी स्कूलों का भी संचालन किया, तथापि प्रधानतः यहाँ शिक्षा का माध्यम मातृभाषा ही रहा, क्योंकि इसके अनुसार जनसमूह तक पाश्चात्य ज्ञान को पहुँचाने के लिये मातृभाषा ही सर्वोत्तम माध्यम था।

शिक्षाबोर्ड:—१८४० ई० में नये शिक्षा बोर्ड ने कार्यभार सम्भाला और १८५७ ई० तक बड़ी योग्यता पूर्वक उसका सम्पादन किया। इस बोर्ड में सभापति के अतिरिक्त ६ सदस्य और होते थे जिनमें ३ 'बम्बई भारतीय शिक्षा समाज' के प्रतिनिधि तथा ३ सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते थे। इस बोर्ड ने 'शिक्षा समाज' की नीति को ही कायम रखा तथा समाज की सभी शिक्षा-संस्थाओं को अपने अधिकार में कर लिया। १८४२ ई० में इसने प्रान्त को ३ भागों में विभक्त करके प्रत्येक को एक यूरोपियन शिक्षा-निरीक्षक तथा भारतीय उपनिरीक्षक के अधिकार में कर दिया। इसने कुछ नये नियम भी बनाये जो कि १ जून, १८४३ ई० से लागू कर दिये गये। बोर्ड ने १८४२ ई० में प्रान्त में स्कूलों की गणना भी कराई तथा ऐडम-योजना का प्रयोग करना चाहा, किन्तु यह योजना कार्यान्वित न की जा सकी, क्योंकि पाश्चात्य ज्ञान पिपासा लोगों में दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। अतः बोर्ड ने देशी स्कूलों की अवहेलना की और उन्हें बन्द करने का दुर्भाग्यपूर्ण निर्णय किया।

शिक्षा का माध्यम:—शिक्षा के माध्यम की ओर से बम्बई प्रान्त ने एक साहसपूर्ण नीति को अपनाया। जबकि बङ्गाल में प्राच्य और पाश्चात्य भाषाओं का संघर्ष चल रहा था, बम्बई ने स्थानीय भाषा को शिक्षा का माध्यम रखा। अँग्रेजी तथा संस्कृत को भी उचित स्थान दिया गया। वास्तव में बम्बई में मातृभाषा तो शिक्षा का माध्यम थी और उसमें उच्चज्ञान भी दिया जाता था, किन्तु

संस्कृत 'क्लासिकल' भाषा के रूप में तथा अँग्रेजी आधुनिक भाषा के रूप में पढ़ाई जाती थी। पाश्चात्य ज्ञान को पाठ्यक्रम में उचित स्थान दिया गया था। इसके अतिरिक्त बम्बई ने 'शिक्षा छनाई के सिद्धान्त' की अवहेलना करके जनसमूहों में शिक्षा का प्रसार किया।

किन्तु १८४३ ई० में सर पैरी के शिक्षा बोर्ड का सभापति नियुक्त हो जाने की अशुभ घटना ने इस प्रान्त में भी शिक्षा जगत में एक गन्दी राजनीति का सूत्रपात कर दिया। सर पैरी उच्चवर्ग को शिक्षा देने का पक्का हिमायती था और मैकाले तथा ऑकलैंड से प्रेरणा लेता था। उसने आँख मीच कर अँग्रेजी भाषा का पक्ष लिया। उसने कहा कि देशी भाषाओं में अँग्रेजी ग्रन्थों का अनुवाद व्यर्थ तथा खर्चीला होता है। जनता में अँग्रेजी की माँग है और हमारी सरकारी नीति भी अँग्रेजी का प्रचार करना है। ऐसी स्थिति में अँग्रेजी ही बम्बई में शिक्षा-माध्यम होना चाहिये। इस प्रश्न को लेकर शिक्षा बोर्ड में दो दल हो गये। पैरी ने दो यूरोपियनों को साथ में लेकर अँग्रेजी दल बनाया। उधर बम्बई इंजीनियरिंग कालेज के प्रिंसीपल कर्नल जर्विस ने ३ भारतियों के साथ मातृ-भाषा दल का निर्माण किया। श्री जर्विस ने कहा कि :

"साधारण शिक्षा का प्रसार उस भाषा के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा में नहीं किया जा सकता जिससे कि व्यक्ति का मस्तिष्क भली भाँति परिचित है।............अतः इसे मैं अपना महान् कर्त्तव्य समझता हूँ कि मातृ-भाषा का प्रसार करूँ।............यदि लोगों के साहित्य की रक्षा करनी है तो यह उनका स्वयं का साहित्य ही होना चाहिये। साहित्य का विषय अधिकांश में पाश्चात्य भले ही हो किन्तु इसका देशी विषय से तादात्म्य हो जाना चाहिये, और उसका स्वरूप एशियाई होना चाहिये।"†

यह संघर्ष १८४८ ई० तक चलता रहा; अन्त में स्थानीय सरकार ने ५ अप्रैल, १८४८ ई० को अपनी आज्ञा जारी करदी जिसके अनुसार अन्त में जाकर यह निश्चय हुआ कि प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा के लिये मातृ-भाषा, तथा उच्च-कालेज शिक्षा के लिए अँग्रेजी भाषा माध्यम रहेगी। केन्द्रीय सरकार के आदेशों के अनुसार अँग्रेजी का इस प्रान्त में भी प्रभुत्त्व बढ़ने लगा।

---

† H. Sharp : *Selections from Edcuational Records*, Vol. II, P. P. 11-13.

इस प्रकार पैरी के समय में बम्बई में देशी शिक्षा की अवहेलना हुई और अँग्रेजी स्कूलों की संख्या दुगुनी हो गई। बड़े-बड़े केन्द्रों में नये अँग्रेजी स्कूलों की स्थापना की गई तथा अहमदाबाद में लड़कियों के एक स्कूल को भी सहायता दी गई। १८५१ ई० में पूना संस्कृत कालेज तथा पूना अँग्रेजी स्कूल को मिलाकर 'पूना कालेज' बना दिया गया जो कि आगे चलकर 'डकन कालेज' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसमें नार्मल विभाग भी जोड़ दिया गया। इसके अतिरिक्त १८५२ ई० में जिला स्कूलों को 'ग्रान्ट-इन-एड' देने के लिए सरकारी आदेश हुए तथा गाँवों में भी सरकार ने स्कूलों को सहायता देकर उच्च शिक्षा के स्कूल खुलवाने का प्रयत्न किया। पैरी के भारत छोड़ने पर देशी शिक्षा की भी उन्नति हुई। १८५४ ई० में सरकार ने ग्रामीण स्कूलों के अध्यापकों का आधा वेतन देना स्वीकार कर लिया और शेष व्यय गाँव वालों पर डाल दिया। इस प्रकार बम्बई में इस दौरान में संतोषजनक प्रगति रही।

मद्रास—१८३३ से १८५३ ई० तक मद्रास की शिक्षा-प्रगति की कहानी बड़ी दुख भरी है। इस दौरान में सरकार की नीति बड़ी अस्थिर रही। व्यक्तिगत प्राथमिक स्कूलों की सहायता बन्द कर दी गई थी और देशी स्कूलों को भी कोई प्रोत्साहन नहीं दिया गया। मुनरो के द्वारा स्थापित जिला तथा तहसीली स्कूलों को १८३६ ई० में बन्द कर दिया गया और उनके स्थान पर मद्रास में अँग्रेजी कालेज; तथा कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण स्थानों पर अँग्रेजी स्कूल खोल दिये गये। १८४१ ई० में मद्रास में एक हाईस्कूल भी स्थापित कर दिया गया। बंगाल की शिक्षा के लिए लिखे हुए मैकाले के विवरण-पत्र का प्रभाव यहाँ भी हो गया था। फलतः इस प्रान्त में भी मातृ-भाषा-स्कूलों का भाग्य-सितारा डूब गया। केन्द्रीय सरकार की ओर से मद्रास सरकार को आदेश मिले कि देशी शिक्षा से हटाकर सम्पूर्ण शिक्षा-अनुदान उच्च अँग्रेजी शिक्षा पर व्यय किया जाय। फलतः अँग्रेजी के माध्यम के द्वारा उच्च पाश्चात्य शिक्षा की उन्नति होने लगी।

मद्रास में एक विश्वविद्यालय खोलने का भी प्रस्ताव हुआ, किन्तु उसके लिये समय अभी उपयुक्त नहीं समझा गया, केवल १८४१ ई० में हाईस्कूल विभाग तथा १८५२ ई० में कालेज विभाग खोल दिया गया। विश्वविद्यालय बोर्ड की अपेक्षा एक शिक्षा-परिषद् की स्थापना करदी गई जो कि १८४७ ई० में जाकर शिक्षा बोर्ड में बदल दी गई। शिक्षा बोर्ड को १ लाख रुपये की

धनराशि दे दी गई, जिसमें से दो अँग्रेजी स्कूल—एक १८५३ ई० में कडलूर तथा दूसरा १८५५ ई० में राजमहेन्द्री में स्थापित किये गये। प्राथमिक शिक्षा के लिए भी २० हजार रुपये सुरक्षित कर दिये गये।

व्यक्तिगत प्रयासों में ईसाई मिशनरियों तथा पच्चयप्पा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। मिशनरियों ने प्रारम्भिक शिक्षा को इस काल में बड़ा प्रोत्साहन दिया। उनके प्रयत्नों का उल्लेख करते हुए १८५४ ई० के आज्ञा-पत्र में कहा गया है कि मद्रास में जहाँ सरकार के प्रयत्न सन्तोषजनक नहीं रहे वहाँ ईसाई धर्म-प्रचारकों ने तमिल शिक्षा का बहुत प्रचार किया।

उत्तर-पश्चिम आगरा प्रान्त—१८४० ई० में भारत सरकार ने उत्तर-पश्चिम प्रदेश आगरा व अवध की सभी शिक्षा संस्थाओं का प्रबन्ध बंगाल सरकार से हटाकर प्रान्तीय सरकार के अधिकार में कर दिया। उस समय तक यहाँ अँग्रेजी शिक्षा के कुछ स्कूल स्थापित हो चुके थे जिनमें आगरा, दिल्ली तथा बनारस के कालेज प्रमुख थे। प्रारम्भ से ही इस प्रान्त ने एक भिन्न नीति को अपनाया जिसके अनुसार 'शिक्षा छनाई के सिद्धान्त' को ठुकरा कर मातृ-भाषा में शिक्षा देने का निश्चय हुआ।

सन् १८४३ ई० में श्री जैम्स टॉम्सन, जो कि भारत में आधुनिक प्राथमिक शिक्षा के प्रवर्त्तक माने जाते हैं, यहाँ के गवर्नर नियुक्त हुए। १८४५ ई० में उन्होंने जिलाधीशों के नाम आदेश जारी करके शिक्षा की पड़ताल कराई और उसके साथ ही ऐडम-योजना के आधार पर जन-समूह की प्राथमिक शिक्षा के लिए एक नवीन योजना बनाई। उन्होंने ज्ञात किया कि प्रान्त में अँग्रेजी तथा मिशनरी स्कूलों को छोड़ कर हर प्रकार के केवल ७,६६६ स्कूल थे जिनमें प्रान्त के २० लाख लड़कों में से केवल ७०,८२६ लड़के पढ़ते थे, अर्थात् प्रान्त में ३·७ प्रतिशत साक्षरता थी।

नवम्बर, १८४६ ई० में श्री टॉम्सन ने भारत सरकार के समक्ष एक विस्तृत योजना रक्खी जिसका उद्देश्य वर्नाक्यूलर शिक्षा का पुनर्संगठन था। इस योजना के अनुसार २०० घरों वाले प्रत्येक गाँव में एक स्कूल स्थापित करने और अध्यापकों के वेतन के लिये जागीरें लगा देने का प्रस्ताव किया। संचालकों ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया; अतः श्री टॉम्सन को अप्रैल १८४८ ई० में दूसरी योजना प्रस्तुत करनी पड़ी जो कि स्वीकृत कर ली गई। इसके अनुसार देशी स्कूलों का सुधार किया गया और आदर्श तहसीली स्कूल खोलने की योजना बनी। इस स्कूल के लिये १०) रु० से २०) रु० प्रतिमाह का एक प्रधान

अध्यापक रक्खा गया। पाठ्य-क्रम में हिन्दी-उर्दू, लिखना, पढ़ना तथा हिसाब के साथ-साथ इतिहास, भूगोल तथा ज्यामिति रक्खे गये। इन स्कूलों के लिये १८५० ई० में ५० हजार रुपया वार्षिक देना स्वीकृत हुआ। १८५३ ई० में इनमें विद्यार्थियों की संख्या ५ हजार थी। ये मिडिल स्कूलों के समान थे। सर्व प्रथम यह योजना ८ जिलों : बरेली, शाहजहाँपुर, आगरा, मथुरा, मैनपुरी, अलीगढ़, फर्रुखाबाद तथा इटावा में चलाई गई। इन जिलों के विज़िटर जनरल श्री स्टुअर्ट रीड थे, जो मैनपुरी के जिलाधीश थे। इन्होंने ८ जिलों में पड़ताल कराई जिनमें ५० कस्बे, १४,५७२ गाँव, ३,१२७ स्कूल थे जिनमें २७,८५३ विद्यार्थी थे। इन स्कूलों में से बीस स्कूलों में अँग्रेजी भी पढ़ाई जाती थी।

इन स्कूलों के निरीक्षण की भी व्यवस्था की गई। जिसके अनुसार आठ जिलों के लिये एक विज़िटर जनरल जिसे १,०००) रु० मासिक वेतन मिलता था, प्रत्येक जिले के लिये एक जिला विज़िटर तथा उसके नीचे परगना विज़िटर रक्खे गये। परगना विज़िटर को २०-४०) रु० मासिक मिलते थे। इनका काम देशी स्कूलों का निरीक्षण करना तथा लोगों को 'सलाह, सहायता तथा प्रोत्साहन' देना था।

हल्क़ाबन्दी स्कूल—तहसीली स्कूलों की स्थापना के अतिरिक्त देशी-शिक्षा के विकास के लिये एक साधन और सोचा गया जो 'हल्काबन्दी स्कूल' के नाम से विख्यात है। १८५१ ई० में मथुरा के कलक्टर श्री अलैक्जैंडर ने एक योजना बनाई। उन्होंने एक परगने को लिया और उसकी मालगुजारी तथा जनसंख्या को लेकर शिक्षा योग्य बच्चों की संख्या तथा उन पर होने वाले व्यय के आँकड़े निकाल लिये। और क्योंकि धन के अभाव में प्रत्येक गाँव में स्कूल खोलना असम्भव था अतः कुछ गाँवों का एक-एक हलका या क्षेत्र बना लिया गया और उसके केन्द्र में एक स्कूल स्थापित कर दिया, जिससे प्रत्येक गाँव से यह स्कूल २ या २½ मील से अधिक दूर न पड़े। ये स्कूल प्रारम्भिक शिक्षा के लिये थे। इन स्कूलों के खर्च के लिये जमींदारों से उनकी मालगुजारी का १ प्रतिशत लिया गया। शीघ्र ही यह योजना सात अन्य पड़ौसी जिलों में फैल गई और १८५४ ई० तक स्कूलों की संख्या ७५८ हो गई जिनमें १७,००० बालक पढ़ते थे। कुछ समय बाद यह योजना बंगाल में भी चालू की गई।

उच्चशिक्षा के दृष्टिकोण से भी इस प्रान्त ने प्रगति की। १८५४ ई० तक आगरा, दिल्ली तथा बनारस के सरकारी कालेजों के विद्यार्थियों की संख्या

६७६ हो गई। १८५२ ई० में सेन्ट जौंस कालेज आगरा की नींव पड़ी और उसी वर्ष आगरा में एक नार्मल स्कूल भी खुला। १८५३ ई० में जयनारायण घोषाल स्कूल बनारस-कालेज बना दिया गया। इस प्रकार १८५४ ई० तक आगरा प्रान्त में ४ हजार कुल स्कूल हो गये जिनमें ५३,००० विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। १८५४ ई० के आज्ञा-पत्र ने भी इस योजना को अन्य प्रान्तों में लागू करने तथा योग्य विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देने की सिफारिश की।

पंजाब—पंजाब प्रान्त नया ही बना हुआ था। इसकी स्थापना १८४६ ई० में हुई थी। अतः यहाँ शिक्षा की अभी कोई प्रगति नहीं हुई थी। यहाँ पहिले से ही हिन्दी, उर्दू और गुरुमुखी के कुछ देशी स्कूल स्थित थे। उर्दू का प्रचार इस प्रान्त में बहुत था और अधिकांश हिन्दू बालक भी उर्दू पढ़ते थे। सन् १८४६ ई० में अमृतसर में सरकार ने एक अँगरेजी स्कूल खोला, जिसमें हिन्दी, उर्दू, अँग्रेजी, फारसी, अरबी और संस्कृत पढ़ाई जाती थी। लाहौर में भी शिक्षा ने प्रगति की। लड़कियों में भी यहाँ शिक्षा का प्रचार था। बाद में आगरा प्रान्त की भाँति ४ नार्मल स्कूल, ६० तहसीली स्कूल, लाहौर में एक कालेज खोलने तथा १ विज़िटर जनरल नियुक्त करने, एवं १२ जिला तथा ५० परगना विज़िटरों की नियुक्ति की प्रार्थना की गई जो जून १८५४ ई० में स्वीकृत हो गई।

उपसंहार

इस प्रकार इस युग की समाप्ति के साथ ही साथ लगभग अर्द्ध-शताब्दि से चला आने वाला शिक्षा-माध्यम का संघर्ष समाप्त हो गया और भारतीय शिक्षा पूर्णतः अँगरेजी रंग में रँग गई। यद्यपि शिक्षा प्रगति सन्तोषजनक नहीं रही, तथापि कुछ निश्चित सिद्धान्तों का प्रस्थापन अवश्य हो गया। उदाहरणतः सरकार को जनता को शिक्षित करने का उत्तरदायित्व स्वीकार करना पड़ा, शिक्षा-निरीक्षण की व्यवस्था हुई तथा सरकार को अपनी शिक्षा नीति खुले रूप से घोषित करनी पड़ी। इसके अतिरिक्त शिक्षा छनाई के सिद्धान्त का प्रचार; देशी शिक्षा, प्राच्य तथा मातृ-भाषाओं की अवहेलना; पाश्चात्य ज्ञान तथा अँग्रेजी का प्रचार; शिक्षा में राज्य द्वारा धार्मिक तटस्थता की नीति तथा व्यक्तिगत प्रयासों का प्रोत्साहन इत्यादि कुछ इस युग की अन्य विशेषताएँ हैं। इन्हीं विशेषताओं को लेकर प्रत्येक प्रान्त ने अपने-अपने प्रयत्न जारी रक्खे और अपने-अपने प्रयोग किये। इस युग की समाप्ति तक सरकार

को विदित हो गया कि देश की शिक्षा के प्रश्न को टाला नहीं जा सकता और उसमें किसी निश्चित योजना की आवश्यकता है। शिक्षा के माध्यम तथा प्राच्य-पाश्चात्य विवाद इत्यादि के संघर्ष प्रायः समाप्त हो चुके थे। अतः अब सरकार इस बात के लिये सन्नद्ध हो गई कि भारत में शिक्षा की कोई सुविस्तृत योजना बनाई जाय। परिणाम स्वरूप १८५४ ई० में वुड का शिक्षा-घोषणा-पत्र देश के सम्मुख आया।
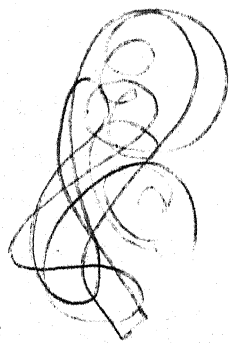
अध्याय १०

वुड का शिक्षा घोषणा-पत्र (१८५४ ई०)

भूमिका

कम्पनी का आज्ञा-पत्र प्रति २० वर्ष उपरान्त बदलता था। इस प्रकार १७९९, १८१३, १८३३ ई० में वह बदल चुका था और प्रत्येक अवसर पर कुछ न कुछ परिवर्तन तथा विकास कम्पनी की शिक्षा-नीति में हो जाते थे। अतः जब १८५३ ई० में भी आज्ञा-पत्र को बदलने का अवसर आया तो भारतीय शिक्षा में कुछ स्थायी नीति ग्रहण करने की आवश्यकता स्पष्ट प्रकट हो रही थी, अतएव एक संसदीय समिति स्थापित की गई जिसने भारतीय-शिक्षा की प्रगति की जाँच की। इस समिति ने ट्रैविलियन, पैरी, मार्शमैन, डफ, विल्सन, केमरन, तथा सर फ्रैडरिक हैलीडे इत्यादि महानुभावों की साक्षी तथा भारतीय शिक्षा के विषय में उनके वक्तव्य लिये। ये सभी सज्जन भारतीय शिक्षा से गहरा सम्बन्ध रखते थे, जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में वर्णन कर चुके हैं। इन लोगों ने अधिकारियों को यह बात स्पष्टतः बता दी कि भारत की शिक्षा आवश्यकताओं को टाला नहीं जा सकता और न भारतीय जनता को शिक्षित करने में कोई राजनैतिक हानि ही है। इन सभी प्रयत्नों के फल-स्वरूप १८५४ ई० में 'वुड का शिक्षा घोषणा-पत्र' प्रकाशित हुआ। चार्ल्स वुड 'बोर्ड ऑव कन्ट्रोल' का प्रधान था। अतः यह आज्ञा-पत्र उसी के नाम से विख्यात हो गया। यह कहा जाता है कि यह आज्ञा-पत्र जॉन स्टुअर्ट मिल के हाथों से लेखबद्ध हुआ था। कुछ भी हो, वुड का शिक्षा घोषणा-पत्र भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक महान् महत्त्व रखता है। इसके उपरान्त भारतीय शिक्षा में एक नये युग का प्रारम्भ होता है। यहाँ हम संक्षेप में इसकी प्रमुख बातों को देंगे।

आज्ञा-पत्र की सिफारिशें

सर्वप्रथम इस आज्ञा-पत्र में कम्पनी की शिक्षा-नीति के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला गया है। इसके अनुसार अन्य उत्तरदायों की अपेक्षा कम्पनी के ऊपर

भारतीय शिक्षा का उत्तरदायित्व सर्वप्रथम माना गया है; अतः इसका प्रसार उसका पवित्र कर्त्तव्य है।† इसके उपरान्त आज्ञापत्र में प्राच्य-पाश्चात्य विवाद का भी उल्लेख है। वह संस्कृत व अरबी की शिक्षा की निन्दा नहीं करता, अपितु उनके थोड़े से ज्ञान को अच्छा समझता है। किन्तु अन्त में लॉर्ड मैकाले की भाँति पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान को ही भारतीयों के लिये उपयुक्त समझकर कहता है कि "हम यह जोरदार शब्दों में घोषणा करते हैं कि जिस शिक्षा का हम भारत में प्रसार करना चाहते हैं उसका उद्देश्य योरुपीय उच्च कला, विज्ञान दर्शन तथा साहित्य अर्थात् संक्षेप में योरुपीय ज्ञान है।"

शिक्षा के माध्यम के विषय में प्रथमतः वह यह व्यक्त करता है कि किस प्रकार अच्छी पुस्तकों के अभाव में देशी भाषाओं को माध्यम नहीं बनाया जा सका और विवश होकर अँग्रेजी माध्यम रखना पड़ रहा है, किन्तु केवल अँग्रेजी को ही माध्यम रखना हानिकारक है, अतः इसके समानान्तर देशी भाषाओं को भी माध्यम के रूप में प्रयोग किया जाना चाहिये।‡ "इसलिये हम अँग्रेजी तथा देशी दोनों ही प्रकार की भाषाओं की ओर शिक्षा के माध्यम के लिये देखते हैं जिससे वे भी साथ-साथ यूरोपीय ज्ञान को फैलाने में सहायक हों। अतः यह हमारी इच्छा है कि भारतीय शिक्षालयों में वे दोनों ही फले फूलें।"

इस प्रकार कुछ प्रश्नों का सिंहावलोकन करने के उपरान्त आज्ञा-पत्र ने अपनी सिफारशें की हैं जिन्हें हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख करते हैं।

१—शिक्षा विभाग—इस आज्ञा-पत्र के अनुसार प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा-विभाग स्थापित करने की सिफारिश की गई। यह भी कहा गया कि प्रत्येक

† "Among many subjects of importance, none can have a stronger claim to our attention than that of education. It is one of our most sacred duties, to be the means as far as in us lies, of conferring upon the natives of India those vast moral and material blessings which flow from the general diffusion of useful knowledge, and which India may, under Providence, derive from her connexion with England."

‡ "In any general system of education, English language should be taught where there is a demand for it; but such instruction should always be combined with a careful attention to the study of the vernacular language of the district, and with such general instruction as can be conveyed through that language........" *Wood's Despatch.*

प्रान्त में इस विभाग का सर्वोच्च अधिकारी जन-शिक्षा-संचालक† नियुक्त कर दिया जाय तथा उसकी सहायता के लिए अन्य छोटे निरीक्षक नियुक्त कर दिए जाँय।

२—**विश्वविद्यालय**—दूसरी सिफारिश उसने भारत में कलकत्ता, बम्बई और यदि आवश्यक हो तो मद्रास में विश्वविद्यालय खोलने की की। यह सोचा गया कि, "भारत में अब विश्वविद्यालयों की स्थापना का वह समय आ गया है जबकि नियमित तथा उदार शिक्षा को प्रोत्साहित किया जाय।.........शिक्षा-परिषद् ने लन्दन विश्वविद्यालय को आदर्श मानने का प्रस्ताव किया था और हम उससे सहमत हैं।"‡ अतः भारत में तीनों विश्वविद्यालयों को लन्दन विश्वविद्यालय के आदर्श पर जो कि केवल परीक्षा-संस्था थी, स्थापित करने के लिये कहा गया। यह भी कहा गया कि विश्वविद्यालय के लिये "चांसलर, वाइस चांसलर तथा फेलो होंगे जिनको मिलाकर सीनेट बनेगा। सीनेट नियम बनायेगा जो सरकार स्वीकृत करेगी। विश्वविद्यालय के आय-व्यय का प्रबन्ध भी सीनेट ही करेगा। वही विज्ञानों और कलाओं के विभिन्न भागों में परीक्षकों को नियुक्त करके परीक्षाओं का आयोजन करेगा। विश्वविद्यालय का काम अपने से सम्बन्धित कालेजों के विद्यार्थियों को परीक्षाओं के बाद डिग्रियाँ प्रदान करना होगा।.........डिग्री परीक्षाओं में धार्मिक विषय न होंगे।.........जिन विषयों के पढ़ाने का प्रबन्ध कालेजों में होगा उनके लिये विश्वविद्यालय प्रोफेसरों की नियुक्त करेंगे जैसे कानून इत्यादि।.........सिविल इंजिनियरिंग के प्रोफेसर भी विश्वविद्यालयों में नियत किये जा सकते हैं और सिविल इंजिनियरिंग की उपाधियाँ भी योजना में सम्मिलित की जा सकती हैं।"

३—**जन-समूह की शिक्षा का विस्तार**—आज्ञापत्र में यह बात स्वीकार की गई कि अब तक जन-साधारण की शिक्षा की पूर्णतः अवहेलना की गई थी और सरकार का ध्यान अधिकांश में उच्च वर्ग के लोगों के लिये उच्च शिक्षा का प्रबन्ध करने में ही लगा रहा था जिसमें राज-कोष का वह अधिकांश भाग चला जाता था जो कि शिक्षा के लिये नियत किया जाता था। अतः उन्होंने कहा कि,

† The Director of Public Instruction.

‡ "The rapid spread of a liberal education among the natives of India since that time, the high attainments shown by the native candidates for Govt. Scholarships and by native students in private institutions, the success of the Medical Colleges, and the requirements of an increasing European and Anglo Indian pupulation, have led us to the conclusion that the time is now arrived for the establishment of universities in India." *Wood's Despatch.*

"अब हमारा ध्यान सम्भवतः उस अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न की ओर जाना चाहिये, जिसकी अभी तक, हमें स्वीकार करना पड़ता है, अवहेलना की गई है; अर्थात् जीवन के सभी अङ्गों के लिये व्यावहारिक शिक्षा उन जन साधारण को किस प्रकार दी जाय जो कि स्वयं बिना सहायता के कुछ भी लाभदायक शिक्षा पाने में पूर्णतः अशक्त हैं। हमारी इच्छा है कि सरकार की अधिक सक्रिय योजनाएँ भविष्य में इस ओर लगा दी जाँय जिसकी प्राप्ति के लिये हम अधिक व्यय स्वीकार करने के लिये तैयार हैं।" इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये अधिक हाई-स्कूल, मिडिल स्कूल तथा प्राथमिक स्कूलों की सिफारिश आज्ञा-पत्र ने की। इन भिन्न-भिन्न स्तर के शिक्षालयों की शिक्षा को एक दूसरे से सम्बन्धित करने के लिये छात्रवृत्तियों का भी उल्लेख किया गया। इस प्रकार देशी प्रारम्भिक स्कूलों को शिक्षा का आधार मान लिया गया और सम्पूर्ण शिक्षा-भवन को इनके ऊपर ही निर्मित करने का प्रस्ताव किया गया। 'शिक्षा छनने के सिद्धान्त को' सिद्धान्ततः बुरी तरह ठुकरा दिया गया।

४—सहायता-अनुदान—इस आज्ञा-पत्र के द्वारा भारतीय शिक्षालयों को शिक्षा-अनुदान (ग्रान्ट-इन-एड) देने का प्रस्ताव किया गया। "भारतियों की शिक्षा के लिये यथेष्ट साधन जुटाने में सरकार की असमर्थता तथा उन प्रयासों से मिल सकने वाली सहायता पर, जिसको सरकार ने अभी तक प्रोत्साहित नहीं किया है, विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि इस दिशा में भारतीय जनता की शिक्षा-आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये सरकारी प्रयासों के साथ-साथ शिक्षित और धनी वर्गों की उदारता तथा प्रयासों को मिला देना चाहिये। अस्तु हमने भारतवर्ष में सहायता-अनुदान-प्रथा अपनाने का निश्चय किया है। यह अनुदान, सहायता प्राप्त स्कूलों में धार्मिक तटस्थता पर आधारित होगा। उन सभी संस्थाओं को सहायता प्रदान की जायगी, जो अच्छी लौकिक-शिक्षा (धर्म रहित) देते हों, जो यथेष्ट स्थानीय प्रबन्ध में चलते हों और जिनके प्रबन्धक स्कूलों के सरकारी-निरीक्षण तथा सहायता-अनुदान सम्बन्धी नियमों को स्वीकार कर लें।.........हमारा मत है कि सहायता केवल उन्हीं स्कूलों को प्रदान की जाय जो विद्यार्थियों से कम से कम कुछ शुल्क अवश्य लेते हों।"

इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न उद्देश्यों जैसे शिक्षकों के वेतन की तरक्की के लिये, पुस्तकालय के लिये, भवन निर्माण के लिये, छात्रवृत्ति तथा विज्ञान-कक्ष इत्यादि के लिये अलग-अलग अनुदान देने का वचन भी दिया गया। इन अनुदानों को कालेजों से लेकर देशी प्राथमिक स्कूलों तक देने की व्यवस्था की गई।

यहाँ यह बात विशेषतः उल्लेखनीय है कि इस सहायता-अनुदान-प्रथा पर आज्ञा-पत्र में बड़ा जोर दिया गया है। सम्भवतः इसका अभिप्राय भारत में मिशनरियों की सहायता करना था। क्योंकि उस समय व्यक्तिगत रूप से शिक्षा-क्षेत्र में प्रधानतः मिशन ही थे और शायद उन्हें प्रारम्भिक शिक्षा के लिये प्रोत्साहित करने की यह सरकारी नीति थी। इसके अतिरिक्त आज्ञा-पत्र में कहा गया है कि निरीक्षकों को सहायता-प्राप्त स्कूलों में "उन धार्मिक सिद्धान्तों की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखना चाहिये जो कि किसी स्कूल में पढ़ाये जा रहे हों।" आगे चलकर उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि, "ये स्कूल सभी भारतियों के लिये हैं अतः किसी विशेष धर्म का उनमें पढ़ाया जाना अवाँछनीय है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि यह ठीक है कि बहुत से ईसाई-शिक्षालयों में बाइबिल रक्खी रहती है और लोगों को उसे पढ़ने की सुविधा है, साथ ही यदि कक्षा से बाहर कोई विद्यार्थी शिक्षक से ईसाई-धर्म के सम्बन्ध में अपनी धार्मिक शङ्काओं का समाधान करना चाहे तो हमें कोई आपत्ति नहीं। क्यों कि हम नहीं चाहते कि कोई यह कहे कि सरकार धर्म प्रचार करके अपनी स्थिति का अनुचित लाभ उठा रही है" अस्तु, सहायता-अनुदान की योजना इस आज्ञा-पत्र के द्वारा बहुत व्यापक बना दी गई।

५—शिक्षकों का प्रशिक्षण—इस पत्र के द्वारा संचालकों ने अपनी इच्छा प्रकट की कि जितना शीघ्र हो सके प्रत्येक प्रेसीडैन्सी में शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिये स्कूल स्थापित कर दिये जाँय। इसके लिये उन्होंने इंगलैण्ड की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए उसी प्रकार की प्रशिक्षण संस्थाओं की स्थापना की सिफारिश की जैसी कि इंगलैण्ड में स्थापित की गई थीं। इन संस्थाओं का जो अभाव इंगलैण्ड में था उससे भी अधिक "यह अभाव भारत में अनुभव किया गया, क्योंकि यहाँ शिक्षण-कार्य के लिये उचित प्रकार से 'प्रशिक्षित शिक्षक' मिलना अधिक कठिन हो रहा है। अतः जितनी शीघ्र हो सके हम भारत की प्रत्येक प्रेसीडैन्सी में शिक्षकों के लिये प्रशिक्षण-विद्यालय तथा कक्षायें स्थापित करना चाहते हैं।" उन्होंने शिक्षकों को दीक्षाकाल में छात्रवृत्ति देने पर भी जोर दिया।* साथ ही कानून, चिकित्सा और इंजीनियरी में भी औद्योगिक-प्रशिक्षण की सिफारिश की।

---

* "Our wish is that the profession of school-master may, for the future, afford inducements to the natives of India such as are held out in other branches of the public service."

—*Wood's Despatch*

६—स्त्री शिक्षा—अन्त में आज्ञा-पत्र में स्त्री शिक्षा पर भी जोर दिया गया। "हमने पहले ही कह दिया है कि जिन संस्थाओं को सहायता मिलेगी उनमें लड़कियों के स्कूल भी हैं और इस दिशा में जो प्रयत्न किये जा रहे हैं उनके प्रति हम अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट किये बिना नहीं रह सकते हैं। गवर्नर जनरल की घोषणा से, जो बङ्गाल के गवर्नर के लिये की गई है, हम पूर्णतया सहमत हैं कि भारतीय स्त्री-शिक्षा को सरकार की स्पष्ट तथा मैत्रीपूर्ण सहायता मिलनी चाहिये।"

इस प्रकार उच्च शिक्षा के लिये अँग्रेजी तथा माध्यमिक और प्रारम्भिक शिक्षा के लिये मातृभाषा का माध्यम, विश्वविद्यालयों की स्थापना, शिक्षा सहायता-अनुदान प्रथा; शिक्षकों का प्रशिक्षण; धार्मिक तटस्थता; औद्योगिक शिक्षा तथा स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन; शिक्षित व्यक्तियों के लिये नौकरी तथा जन समूह में शिक्षा प्रसार इत्यादि कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिफारिशें हैं जो कि इस महान् पत्र में की गई हैं। अब हम संक्षेप में इसके गुण-दोषों का विवेचन करेंगे।

आलोचना

(क) गुण—इस ऐतिहासिक-पत्र ने भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक नवीन किन्तु शानदार युग का सूत्रपात किया। जेम्स ने तो इसे "भारत में अँग्रेजी शिक्षा का मैग्ना कार्टा" तक कह डाला है! वास्तव में इसके द्वारा कुछ बातें मूलतः स्वीकार कर ली गईं, जैसे शिक्षा देना सरकार का उत्तरदायित्व है। इस पत्र ने एक अत्यन्त विशद व विस्तृत शिक्षा-योजना देश के समक्ष रक्खी जो कि प्रायः शिक्षा के प्रत्येक अङ्ग से सम्बन्धित है। प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा, स्त्री-शिक्षा, औद्योगिक शिक्षा तथा अध्यापकों की दीक्षा इत्यादि ऐसी योजनायें थीं जिनका सर्वांश में सम्पादन आज तक भी नहीं हो सका है।

(१) पहिला काम जो इस आज्ञा-पत्र ने किया वह था भारत में उच्च शिक्षा के लिये विश्वविद्यालयों की स्थापना की सिफारिश करना। हाई स्कूल के उपरान्त उच्च शिक्षा को अत्यन्त आवश्यकता प्रतीत हो रही थी। अतः इनकी स्थापना उचित समय पर ही हुई। यद्यपि उस समय इनकी संख्या अपर्याप्त थी, तथापि इनसे एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति हुई।

(२) प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा-विभाग स्थापित करके प्रथम बार शिक्षा को राज्य के अन्तर्गत एक सुसङ्गठित तथा सुव्यवस्थित स्वरूप दिया गया। शिक्षा संचालक तथा निरीक्षक और उपनिरीक्षकों की नियुक्ति करके सरकार के ऊपर शिक्षा

की देख-रेख का भार भी डाल दिया गया। इससे शिक्षा की श्रेष्ठता बढ़ी और साथ ही विकास भी हुआ।

देशी स्कूलों, मिडिल तथा हाई स्कूलों को प्रोत्साहन देकर लोक-शिक्षा के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया। शिक्षा छनाई के सिद्धान्त की निन्दा की गई। अँग्रेजी राज्य के अन्तर्गत शिक्षा-क्षेत्र में उस समय यह एक क्रान्तिकारी कदम था। इसके बाद जनता की साधारण शिक्षा द्रुत गति से बढ़ी, यद्यपि आज भी वह आशा तथा आवश्यकता से कम है। साथ ही शिक्षकों की दीक्षा तथा विद्यार्थियों और शिक्षक दोनों को ही छात्रवृत्तियाँ देकर प्रोत्साहित करने से बड़ा लाभ हुआ। अच्छे व योग्य अध्यापकों के अभाव में शिक्षा का मानदण्ड नीचा रहता था और शिक्षक अध्यापन की ओर आकर्षित नहीं होते थे, किन्तु अब उन्हें कुछ प्रेरणा मिली जिससे अत्यन्त लाभ हुआ। निर्धन विद्यार्थियों की छात्रवृत्ति की व्यवस्था करके प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय तक की शिक्षा में एक श्रृङ्खला स्थापित कर दी गई।

सहायता-अनुदान-प्रथा ने तो शिक्षा-प्रसार को बड़ा प्रोत्साहन दिया। वैयक्तिक प्रयास, जो कि शिक्षा क्षेत्र में अपर्याप्त था, इस प्रथा के कारण क्षेत्र में उतर आया और शिक्षा-प्रबन्ध अधिकांश में जनता के हाथों में पहुँचने लगा; यद्यपि वैयक्तिक प्रबन्धकों ने इसका दुरुपयोग किया जो हम आगे चल कर देखेंगे।

(ख) दोष—इन सब गुणों के होते हुए भी इस आज्ञा-पत्र में कुछ भारी दोष भी हैं। एक दोष यह है कि इसने देश में शिक्षा का उद्देश्य "पुस्तकें पढ़ना तथा परीक्षा में पास होकर सरकारी नौकरी ढूँढ़ना" कर दिया। शिक्षा एक प्रकार से पूर्णतः नौकरशाही के अधिकार में आगई। उसमें उन्मुक्त विकास की प्रेरणा का अभाव हो गया। जिस प्रकार सरकार का एक व्यापार विभाग है, एक कृषि-विभाग है उसी प्रकार एक शिक्षा-विभाग भी हो गया जिसके कार्यों को अधिकारी लोग अन्यमनस्क रूप से पूरा करने लगे। लालफीतावाद ने शिक्षा की उन्मुक्त प्रगति को बड़ा धक्का पहुँचाया और शिक्षा-प्रणाली का लचीलापन नष्ट हो गया। देश में राष्ट्रीय चेतना के उत्पन्न होने पर अँग्रेज़ी सरकार को शिक्षा के विषय में बड़ी कटु आलोचनाएँ सुननी पड़ीं।

विश्वविद्यालयों का ढाँचा एक दम विदेशी रक्खा गया। प्रधानतः इन विश्वविद्यालयों की जड़ें इंगलैंड में थीं और पत्तियाँ भारत में। सम्भवतः इस आज्ञा-पत्र के प्रणेता यह बात भूल गये कि अतीत काल में भारत में भी उच्चकोटि के विश्वविद्यालय थे जो देश-विदेश से विद्यार्थियों को आकर्षित

करते थे। इसके अतिरिक्त इस आज्ञा-पत्र के अनुसार सीनेट में सभी सदस्यों के सरकार के द्वारा मनोनीत करने का दुष्परिणाम यह हुआ कि सीनेट में अधिकांश में जो कुछ चुने हुए तथाकथित बड़े लोग पहुँच जाते थे वे बहुधा शिक्षा-विज्ञान के मर्मज्ञ नहीं होते थे।

अन्त में, सरकारी पदों का लालच देकर विदेशी शिक्षा को प्रोत्साहन देने का दोष भी बहुधा इस आज्ञा-पत्र के ऊपर लगाया जाता है। इसके प्रणेताओं ने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि "वे असंख्य रिक्त स्थान जिनको कि लगातार भरना पड़ता है, शिक्षा के प्रचार में सहायक हो सकते हैं।" इस तरह अँग्रेजी शिक्षा प्राप्त युवकों को सरकारी पदों के लिये प्रथमतः देने का अभिप्राय यह हुआ कि भारत के युवकों तथा उनके अभिभावकों की यही अभिलाषा रहने लगी कि शिक्षा के उपरान्त उन्हें कोई सरकारी उच्च पद मिल जाय। यह कुप्रवृत्ति आज भी भारत में उसी प्रकार बढ़ी हुई है। परिणामतः देश में शिक्षितों में बेकारी बहुत बढ़ रही है और जिनको कुछ नौकरी इत्यादि मिल भी जाती है वह बहुधा एक सभ्य व सन्तुष्ट जीवन व्यतीत करने के लिये बिल्कुल अपर्याप्त होती है। और यदि यह मान भी लिया जाय कि इस आज्ञा-पत्र के रचयिताओं का उद्देश्य यह नहीं था कि वह दफ्तरों के लिए केवल क्लर्क या बाबू उत्पन्न करें तथापि स्वर्गीय श्री परांजपे के शब्दों में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि "उनका उद्देश्य यह भी नहीं था कि शिक्षा नेतृत्व के लिये हो, शिक्षा भारत के औद्योगिक विकास के लिये हो, शिक्षा मातृभूमि की रक्षा के लिये हो; संक्षेप में वह शिक्षा हो जिसकी कि एक स्वतन्त्र राष्ट्र के नागरिकों को आवश्यकता है।"

उपसंहार

आज हमें यह मानना पड़ेगा कि इन दोषों के होते हुए भी इस आज्ञा-पत्र ने भारत में आधुनिक शिक्षा का रूप स्थिर करने से बहुत योग दिया है। उसके रचयिताओं का उद्देश्य सच्चा था। किन्तु खेद का विषय है कि भारत सरकार इसके अनुसार अपना कर्त्तव्य पालन करने में असफल रही। सरकार ने इन सिफारिशों के अनुसार ईमानदारी से काम नहीं किया। फलतः हम आज भारत की शिक्षा में बहुत से दोष पाते हैं। लोक-शिक्षा पर आज्ञा-पत्र के जोर देने की अपेक्षा भी उसकी उपेक्षा की गई। मातृभाषा को उचित स्थान स्कूलों और कालेजों में लगभग एक शताब्दि व्यतीत होने पर आज तक नहीं मिला। उच्च शिक्षा में आज भी अँग्रेजी का प्राधान्य है और आज वह हमारे लिये एक स्वाभाविक व अनिवार्य बुराई बन कर हमारे जीवन पर छा गई है।

औद्योगिक शिक्षा का विकास बहुत दिनों तक टाला गया और आज भी समय की माँग को देखते हुए एक प्रकार से अपर्याप्त चला आ रहा है ।

इस पत्र के प्रकाशित होने के बाद ही यहाँ तीन विश्वविद्यालय स्थापित हो गये प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा विभाग बन गया; वहाँ शिक्षा संचालक नियुक्त हो गये और शिक्षा-सहायता-अनुदान प्रत्येक प्रान्त के स्कूल और कालेजों में लागू हो गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि वुड के इस शिक्षा सम्बन्धी घोषणा-पत्र का भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक विशेष स्थान है। इसके अन्तर्गत तत्कालीन शिक्षा-समस्याओं का मौलिक विवेचन किया गया। किन्तु आज के भारत में देश की स्थिति बहुत कुछ बदल गई है और इन परिवर्त्तित परिस्थितियों में इस घोषणा-पत्र का कोई विशेष उपयोग नहीं है।

अध्याय ११

शिक्षा की प्रगति (१८५४-१८८२ ई०)

भूमिका

१८५४ ई० के आज्ञा-पत्र के अनुसार प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा-विभाग की स्थापना हो गई। सन् १८५७ ई० में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालय भी स्थापित कर दिये गये। शिक्षा-योजनाओं के लिये सरकार ने आर्थिक-सहायता भी में बढ़ा दी। वस्तुतः १८५७ ई० के प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के उपरान्त कम्पनी का शासन भारत में समाप्त हो गया और ब्रिटिश संसद ने भारत का राज्य भार संभाला। कम्पनी के समय में आधुनिक शिक्षा का आरम्भ अवश्य हो चुका था, किन्तु अपने शासन को पुष्ट करने में वह इतनी व्यस्त रही कि शिक्षा की समस्या उसके समक्ष गौण रही। १८५५ ई० तक केवल १,४७४ शिक्षा संस्थाएँ कम्पनी के अन्तर्गत हो सकीं। किन्तु इस समय तक सिद्धान्ततः भारत में अँग्रेजी शिक्षा के उद्देश्य, साधन और माध्यम का प्रश्न बहुत कुछ स्पष्ट हो चुका था।

१८५४ ई० के उपरान्त क्रमशः शिक्षा का भारतीयकरण होता जा रहा था। आज्ञा-पत्र के आदेशों के अनुसार सरकार का उद्देश्य यह था कि शिक्षा को क्रमशः व्यक्तिगत संस्थाओं के हाथों में सौंप कर सरकार धीरे-धीरे उस क्षेत्र से पूर्णतः निकल आवे। फलतः माध्यमिक तथा कालेज शिक्षा के क्षेत्र में वैयक्तिक प्रयास को बहुत प्रोत्साहन दिया गया। अब तक केवल ईसाई मिशन ही व्यक्तिगत साधन थे, किन्तु अब भारतियों ने भी अधिकतर शिक्षा को अपने हाथ में ले लिया। इतना अवश्य है कि यद्यपि आज्ञा-पत्र में शिक्षा के विकास के लिये वैयक्तिक साधन को प्रोत्साहन देने की बात कही गई थी, किन्तु शिक्षा-विभाग ने सदा इस नीति की अवहेलना की और शिक्षा को वैयक्तिक प्रबन्ध में जाने से भरसक रोका। १८५७ ई० के विद्रोह के उपरान्त ब्रिटिश संसद भारतीय मिशनरियों को शंका की दृष्टि से देखने लगी। अतः रानी विक्टोरिया की

घोषणा में १८५८ ई० में सरकार की धार्मिक तटस्थता को स्पष्ट शब्दों में दुहरा दिया गया। ऐसी अवस्था में शिक्षा का प्रबन्ध प्रधानतः शिक्षा विभाग ने अपने हाथ में रक्खा और इस प्रकार १८५८-८२ ई० तक राजकीय विद्यालयों की देश में बाढ़ सी आ गई। १८५५ ई० में जब उनकी संख्या १,४०६ थी तो १८८२ ई० में वह १५,४६२ हो गई। इतना अवश्य है कि मिशनरी स्कूलों के साथ सरकार का रुख बहुत कड़ा हो गया और शिक्षा-विभाग उनके साथ स्पर्द्धा करने लगा। इसका परिणाम यह निकला कि मिशनरियों ने इङ्गलैंड और भारत में यह आन्दोलन चलाना प्रारम्भ कर दिया कि भारत में शिक्षा संचालन १८५४ ई० के घोषणा-पत्र के अनुसार नहीं हो रहा है। शिक्षा के धर्म-विहीन होने की इन लोगों ने विशेष रूप से शिकायत की। इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि १८८२ ई० में प्रथम 'भारतीय शिक्षा कमीशन' की नियुक्ति हुई जिसका उल्लेख आगे चलकर किया जायगा। इस अध्याय में हम १८५४ से १८८२ ई० तक की शिक्षा-प्रगति का वर्णन करेंगे।

(क) विश्वविद्यालय तथा उच्च शिक्षा

पिछले पृष्ठों में उल्लेख किया जा चुका है कि १८४५ ई० में कलकत्ता में विश्वविद्यालय स्थापित करने की माँग को सरकार ने पहले टाल दिया था, किन्तु अब यह माँग अधिक नहीं टल सकती थी। भारत में कालेज तो पहिले से ही थे; यद्यपि जिस संस्था से हम वर्तमान युग में कालेज का अर्थ लेते हैं वह १८५७ ई० से पूर्व नहीं था। इस प्रकार के पादरियों के कालेज मद्रास और बंगाल में कार्य-शील थे। इनकी संख्या बंगाल में ७ और मद्रास में दो थी। सरकारी कालेजों में ३ प्रेसीडैन्सियों में तीन मैडिकल कालेज तथा रुड़की में एक इञ्जिनियरी कालेज (१८४७ ई०) उल्लेखनीय हैं। अब घोषणा-पत्र के अनुसार १८५७ ई० में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में नियमित विश्वविद्यालय खुल गये। इन विश्वविद्यालयों के लिये अलग-अलग अधिनियम पास किये गये यद्यपि तीनों प्रायः एक ही प्रकार के थे। अधिनियम के अनुसार विश्वविद्यालय का प्रबन्ध सीनेट के अन्तर्गत रक्खा गया, जिसमें कुलपति प्रान्त का गवर्नर, उपकुलपति गवर्नर द्वारा दो वर्ष के लिये मनोनीत तथा 'फैलो' होते थे। 'फैलो' की अधिकतम संख्या नियत नहीं की गई थी। 'फैलो' भी दो प्रकार के रक्खे गये। एक तो अपने पद की हैसियत से (Ex-officio) तथा दूसरे साधारण। प्रथम प्रकार के 'फैलो' में चीफ जस्टिस, विशप, गवर्नर की कार्यकारिणी के सदस्य, प्रान्त का शिक्षा-संचालक, तथा सरकारी कालेजों के प्रिंसीपल सम्मिलित होते थे। साधारणतया 'फैलो' की मृत्यु, त्यागपत्र तथा स्थाई रूप से भारत छोड़ने पर ही

उसका स्थान रिक्त समझा जाता था। अधिकांश में ये 'फैलो' जनता के बड़े कहलाने वाले लोगों में से बिना उनकी शिक्षा-योग्यता का ध्यान रक्खे हुए नियुक्त कर लिये जाते थे। ज्ञान का वास्तविक स्रोत तथा शिक्षा की रीढ़ शिक्षक इस संगठन में कोई महत्व नहीं रखता था। इस नीति का शिक्षा पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ा। विश्वविद्यालय के दिन प्रतिदिन के कार्यों का संचालन करने के लिये एक 'सिंडीकेट' का निर्माण कर दिया जाता था, किन्तु यह 'सिंडीकेट' अधिनियम के द्वारा उत्पन्न नहीं हुई थी।

यह बात स्मरणीय है कि यद्यपि घोषणा-पत्र में विश्वविद्यालयों को सीधे शिक्षा प्रदान करने का कार्य भी सौंपा गया था, किन्तु इस अधिनियम के अनुसार वे केवल परीक्षा लेने तथा प्रमाण-प्रत्र बाँटने के यंत्र बने रहे। ये विश्वविद्यालय कला, कानून, चिकित्सा तथा सिविल इंजिनियरी के प्रमाण-पत्र बाँटते थे। एक प्रकार की प्रवेशिका परीक्षा (मैट्रीक्यूलेशन) स्थापित कर दी गई थी और इसमें उत्तीर्ण होने वाला विद्यार्थी ही विश्वविद्यालय में प्रवेश पा सकता था। इस प्रवेशिका-परीक्षा को पास करने के उपरान्त निम्नकोटि के सरकारी पद भी मिल सकते थे। इसके अतिरिक्त प्रवेशिका और बी० ए० के बीच में २ वर्ष की एक इंटरमीडिएट कक्षा भी थी।

१८५७-८२ ई० में उच्च शिक्षा ने अच्छी प्रगति की। इधर माध्यमिक शिक्षालयों की संख्या भी तेजी से बढ़ रही थी। अतः उन विद्यार्थियों के लिये उच्च-शिक्षा के लिये कालेजों का खोलना आवश्यक हो गया। कलकत्ता में प्रवेशिका के परीक्षार्थियों की संख्या दुगुनी हो गई। सरकार ने भी कालेजों के प्रति अपना दृष्टिकोण अपेक्षाकृत उदार रक्खा। फलतः जबकि १८५७ ई० में कालेजों की संख्या २७ थी, १८८२ ई० में ७२ हो गई। कलकत्ता तथा मद्रास में प्रैसीडैंसी कालेज खुले। इसी समय १८६५ ई० में पंजाब में एक विश्वविद्यालय खोलने के लिये आन्दोलन चला। इस प्रकार १८६६ ई० लाहौर यूनीवर्सिटी कॉलेज की स्थापना हुई जो १८८२ ई० में जाकर पंजाब विश्व-विद्यालय के रूप में विकसित हुआ। यहाँ मातृभाषा के माध्यम के द्वारा यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान पढ़ाये जाते थे तथा प्राच्य-भाषाओं को भी पर्याप्त प्रोत्साहन दिया गया। उत्तर-प्रदेश में भी एक विश्वविद्यालय स्थापित करने का प्रश्न गवर्नर म्योर ने १८६९ ई० में उठाया था और एक किराये के भवन में १८७२ ई० में 'सैन्ट्रल कालेज' की स्थापना कर दी, जिसका शिलारोपण १८७३ ई० में लार्ड नौर्थब्रुक ने किया था।

इन राजकीय कालेजों के अतिरिक्त लगभग ३४ गैर-सरकारी कालेज भी खुले। इनमें दो विशेष उल्लेखनीय हैं। एक तो सन् १८६४ ई० में लखनऊ के ताल्लुकेदारों ने लार्ड कैनिङ्ग की कृपाओं से अनुगृहीत होकर कैनिङ्ग कालेज खोला, जिसमें अँग्रेजी के साथ ही प्राच्य विभाग भी खुला था। एक प्रकार से यह कालेज आधुनिक लखनऊ विश्वविद्यालय का प्रारम्भ था। दूसरा कालेज 'मुस्लिम ऐंग्लो ओरिएन्टल कालेज', अलीगढ़ था। इसकी स्थापना सर सैयद अहमद खाँ ने १८७४ में मुसलमानों में पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार करने के लिए की थी। मद्रास में भी पच्चयपा स्कूल तथा विशाखापट्टणम् स्कूलों को कालेजों का रूप दे दिया गया। बंगाल में मैट्रोपोलिटन कालेज १८७८ ई०, सिटी कालेज १८७६ ई० तथा अलबर्ट कालेज १८८१ ई० में स्कूलों से विकसित होकर कालेज बन गये। इनके अतिरिक्त १८७० ई० में राजकोट कॉलेज तथा १८७२ ई० में मैयो कालेज अजमेर, डैली कालेज इन्दौर, १८७६ ई० तथा एचीसन कालेज लाहौर १८८६ ई० में राजकुमारों के लिये स्थापित हुए। एक इन्जिनियरी कालेज भी कलकत्ता में खोला गया। इसके अतिरिक्त प्रायः सभी कालेज केवल कला में ही शिक्षा देने के लिये खोले गये।

आलोचना:—इस प्रकार बनने वाले विश्वविद्यालयों में कई त्रुटियाँ थीं, क्योंकि उनकी स्थापना सरकार ने की थी। अतः उनके प्रबन्ध में अफसरों का बहुमत सदा रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि इन विश्वविद्यालयों का उद्देश्य उच्च शिक्षा न होकर केवल कुछ शिक्षित व्यक्ति तैयार करना था जो कि सरकारी मशीन के पुर्जे बन सकें। अन्यथा प्राचीन काल में भारतीय विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा जीवन को महान्, दिव्य तथा अमर बनाने को के लिए होती थी। जो कुछ वे विद्यार्थी पढ़ते थे वह उनके जीवन में काम आता था। किन्तु इन आधुनिक विश्वविद्यालयों ने भारत में एक ऐसी भयानक परम्परा को जन्म दिया जो आज तक अपना विषाक्त प्रभाव भारतीय उच्च शिक्षा के क्षेत्र में बनाये हुए है; अर्थात् विश्वविद्यालयों में कुछ वर्ष शिक्षा पाने के उपरान्त विद्यार्थी को कागज का प्रमाण-पत्र मिलने लगा। यही उसकी वास्तविक योग्यताओं का प्रतीक था। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी उसने विद्यालय में पढ़ा वह आसानी से भुलाया जा सकता था। यह आवश्यक नहीं था कि वह अपने ज्ञान तथा विद्वता को मस्तिष्क में रखकर जीवन में अग्रसर होवे। केवल इन कागजी प्रमाण-पत्रों के बल पर हमारे शिक्षित युवक क्रमशः अपनी संस्कृति, परम्परा और साधारण जनता से दूर होने लगे।

कर दी और सरकारी स्कूल खोले, जब कि बङ्गाल ने देशी स्कूलों को प्रोत्साहन दिया। मद्रास ने एक मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। १८८२ ई० में बम्बई में केवल ७३ सहायता प्राप्त देशी स्कूल थे और ३,६५४ स्कूल शिक्षा-विभाग द्वारा संचालित थे। बङ्गाल में २८ स्कूल शिक्षा-विभाग के और ४७,३७४ सहायता-प्राप्त देशी स्कूल थे। मद्रास में १,२६३ सरकारी और १३,२२३ देशी स्कूल थे। आसाम में भी ७ सरकारी स्कूल स्थापित हो गये। इसके अतिरिक्त पश्चिमोत्तर आगरा प्रान्त (उत्तर-प्रदेश) अपनी 'हलका बन्दी योजना' के आधार पर ही बढ़ता रहा। १८८२ ई० में वहाँ ६,१७२ बिना सहायता प्राप्त देशी स्कूल, तथा २४३ सहायता प्राप्त प्राथमिक स्कूल थे। कुर्ग ने भी बम्बई का अनुकरण किया। पंजाब में १३,१०६ देशी तथा ३७८ सहायता प्राप्त स्कूल थे। मध्यप्रान्त में देशी स्कूलों को बहुत प्रोत्साहन मिला, किन्तु वहाँ की शिक्षा व्यवस्था शिथिल थी। बरार ने भी बम्बई का अनुकरण किया और वहाँ १८८२ ई० में ४६७ शिक्षा-विभाग के तथा २०६ सहायता प्राप्त और २०७ गैर-सहायता प्राप्त स्कूल थे। यहाँ देशी स्कूलों को भी प्रोत्साहन दिया गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ प्रान्तों के अतिरिक्त देशी स्कूलों को अधिक प्रोत्साहन नहीं मिला। फलतः धीरे-धीरे यह स्कूल या तो समाप्त हो गये अथवा सरकारी स्कूलों में विलीन हो गये।

जहाँ तक स्थानीय-कर लगाने का प्रश्न था यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण था। वास्तव में यह स्थानीय-कर केवल शिक्षा ही के लिये नहीं थे अपितु इनमें जनहित की अन्य चीजें भी सम्मिलित थीं जैसे पुलिस तथा सड़क व चिकित्सा इत्यादि। अतः एक तो इसकी आय में से शिक्षा का भाग नियत करना एक प्रमुख प्रश्न था; दूसरे, यह स्थानीय-कर अन्य प्रान्तों में तो लागू हो सकता था, किन्तु बंगाल में स्थायी-बन्दोबस्त के कारण यह नहीं लगाया जा सकता था। गाँवों में तो भूमि की मालगुजारी ही इस कर का आधार थी और स्थायी-बन्दोबस्त होने से इसमें आपत्ति थी क्योंकि इस प्रबन्ध में मालगुजारी नियत थी और उस पर अन्य कर नहीं लगाये जा सकते थे। पश्चिमोत्तर प्रान्त (उत्तर प्रदेश) में तो श्री टाम्सन ने पहिले से ही अपनी योजना के अनुसार १ प्रतिशत कर मालगुजारी पर लगा दिया गया था। १८६६ ई० तक यह शिक्षा-कर मालगुजारी का भाग बन गया था। १८७१ ई० में इसकी पुनः जाँच कर ली गई।

इसी प्रकार पंजाब में भी १८५७ ई० में भूमि पर स्थानीय-कर लागू कर दिया और १८७१ ई० में इसकी पुनः जाँच की गई। धीरे-धीरे यह योजना सभी

प्रान्तों ने स्वीकार करली। अवध में १८६१ ई० में मालगुजारी पर २½ प्रतिशत कर लगा दिया जिसका १ प्रतिशत शिक्षा के लिये नियत कर दिया गया। मध्य प्रान्त में १८६२ ई० में १ प्रतिशत कर लगा दिया गया जो बाद में २ प्रतिशत कर दिया गया। बम्बई ने १८६३ ई० में ६¼ प्रतिशत स्थानीय-कर लगा दिया जिसका ⅓ केवल शिक्षा को नियत कर दिया। इसी प्रकार सिन्ध ने १८६५ ई० में, मद्रास ने १८६६ तथा आसाम ने १८७६ ई० में इसी प्रकार के स्थानीय-कर लगाये, जिनका कुछ उचित अंश प्राथमिक शिक्षा के लिये नियत कर दिया गया।

गाँवों के अतिरिक्त नगरों में मकानों पर इस प्रकार का कर लगाया गया जिसका प्रबन्ध नगरपालिकाओं को सौंप दिया गया। किन्तु इन नगर-पालिकाओं ने सन्तोषजनक कार्य नहीं किया, और उस समय प्राथमिक शिक्षा में कुछ अधिक योग न दे सकीं। परिणामतः गाँवों से जो रुपया भूमि की मालगुजारी पर कर के रूप में इकट्ठा किया जाता था उसका अधिकांश नगरों में व्यय होने लगा। अतः आगे चल कर भारतीय शिक्षा कमीशन ने गाँव और नगरों के स्थानीय करों को अलग-अलग करने की सिफारिश की। कहीं-कहीं पर यह कर माध्यमिक तथा कालेज शिक्षा पर भी व्यय कर दिया जाता था यद्यपि इसका उद्देश्य प्राथमिक शिक्षा का विकास था। यहाँ तक कि कुछ प्रान्तों में तो शिक्षा कर को शिक्षा के अतिरिक्त अन्य कार्यों में भी व्यय किया गया। अन्त में १८७१ ई० में जाकर ही इस विषय में निश्चित आदेश हुए।

बंगाल में यद्यपि स्थानीय शिक्षा-कर नहीं लगाया गया था, तथापि वहाँ सरकारी अनुदान के कारण देशी प्राथमिक शिक्षा का खूब विकास हुआ तथा 'सर्किल-स्कूल-प्रथा' चालू की गई जो कालान्तर में नार्मल स्कूल प्रथा में परिवर्तित हो गई।

इस प्रकार १८७१ ई० से १८८२ ई० तक प्राथमिक शिक्षा का भारत में पर्याप्त विकास हुआ। परिणामतः १८८२ ई० में यहाँ ८२,९१६ स्कूल थे, जिनमें लगभग २१ लाख बालक शिक्षा पाते थे, जबकि १८७१ ई० में केवल १६,४७३ स्कूल थे जिनमें ६½ लाख बालक थे। तथापि भारत की जन-संख्या को देखते हुए साक्षरता का प्रतिशत बहुत नीचा था। वास्तव में धनाभाव, सरकार की नीति तथा उदासीनता इत्यादि कुछ ऐसे कारण थे जिनके कारण प्राथमिक शिक्षा में आशाजनक परिणाम उपलब्ध न हो सके। देश की जन-संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही थी, किन्तु शिक्षा विकास बहुत मंदगति से हो रहा था।

अतः शिक्षा क्षेत्र में किसी अधिक उदार और जागृत नीति की आवश्यकता थी। १८५७ ई० के विप्लव के उपरान्त सरकारी अफसरों ने ईसाई पादरियों के प्रति भी अपना रुख कड़ा कर दिया था और सरकारी शिक्षालय एक प्रकार से ईसाई मिशनरी शिक्षालयों से प्रतिस्पर्द्धा करने लगे थे। फलतः पादरियों ने भारत तथा इंगलैंड में एक आन्दोलन खड़ा कर दिया। उन्होंने सरकारी अफसरों को नास्तिक तथा स्कूलों को 'ईश्वर विहीन' और 'अधार्मिक' कहा। इन्हीं सब कारणों के फलस्वरूप १८८२ ई० का प्रसिद्ध 'भारतीय शिक्षा कमीशन' नियुक्त हुआ।

————

अध्याय १२

भारतीय शिक्षा कमीशन तथा उसके उपरान्त शिक्षा-प्रगति

(१८८२ ई०–१९०४ ई०)

(क) भारतीय-शिक्षा कमीशन

भूमिका

हम पिछले अध्याय में संकेत कर चुके हैं कि १८५४ ई० के आज्ञा-पत्र के उपरान्त भारत में ईसाई पादरियों को 'सहायता-अनुदान-प्रथा' के कारण जो आशा बँधी थी वह पूरी न हो सकी। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस युग में सरकारी शिक्षा-विभाग की नीति ऐसी रही जिससे कालेज की उच्चशिक्षा तथा माध्यमिक शिक्षा की अधिक उन्नति हुई और प्राथमिक शिक्षा की अवहेलना की गई, किन्तु इसके साथ ही पादरियों ने भी एक आन्दोलन चलाया। वास्तव में वे भारत में शिक्षा के द्वारा धार्मिक प्रचार कर रहे थे। अतः शिक्षा-संस्थाओं पर अपना पूर्ण अधिकार चाहते थे। यही कारण था कि वे शिक्षा-विभाग द्वारा खोले हुए राजकीय स्कूलों को नहीं चाहते थे। साथ ही सरकार की धार्मिक तटस्थता की नीति भी उन्हें अरुचिकर प्रतीत होती थी। अतः वे आन्दोलन करने लगे कि भारत में शिक्षा-नीति १८५४ ई० के आज्ञा-पत्र के विरुद्ध जा रही है। इस आन्दोलन की लपटें इंगलैंड तक पहुँच गई और वहाँ भी 'जनरल काउंसिल ऑव एजूकेशन इन इंडिया', नामक एक संगठन बना लिया गया जिसमें लॉर्ड हैलीफैक्स तथा लार्ड लारेंस जैसे व्यक्ति सम्मिलित थे। १८८२ ई० के प्रारम्भ में जब लार्ड रिपन भारत के वायसराय पद पर नियुक्त हुए तो इस संगठन के प्रतिनिधियों ने अपना एक शिष्ट-मण्डल उनसे मिलने भेजा जिसने भारतीय शिक्षा की जाँच करने की प्रार्थना की।

लार्ड रिपन ने उत्तर दिया कि :

"१८५४ ई० के आज्ञा-पत्र ने वास्तविक भारतीय शिक्षा-नीति को स्पष्टतः तथा जोरदार शब्दों में निर्धारित कर दिया है और मेरी इच्छा भी इसी नीति पर चलने की रहेगी।............भारत पहुँचने पर यह मेरा कर्त्तव्य होगा कि इस प्रश्न की पूर्ण जाँच वहाँ उपलब्ध सूचना के आधार पर करूँ। किन्तु मैं नहीं कह सकता कि मेरे ऊपर पक्षपात का दोष लगेगा यदि मैं यह स्वीकार करूँ कि इस समय भी भारत के निर्धनों में प्राथमिक शिक्षा के विकास व प्रसार की आप की इच्छा के साथ मेरी पूर्ण सहानुभूति है। इंगलैंड में यह प्रश्न कई वर्षों से मेरे लिये विशेष अनुराग का रहा है; और भारत पहुँचने पर भी यह कम न होगा।"†

नियुक्ति

तदनुसार भारत आने पर ३ फरवरी, १८८२ ई० को लार्ड रिपन ने विलियम हंटर की अधीनता में, जो कि वाइसराय की कार्य-कारिणी के सदस्य थे, प्रथम भारतीय शिक्षा-कमीशन की नियुक्त की। श्री हंटर के इस कमीशन के चेयरमैन होने के कारण कभी-कभी इसका नाम 'हंटर कमीशन' भी लिया जाता है। चेयरमैन के अतिरिक्त इसमें अन्य २० सदस्य और थे जिनमें भारतीय प्रतिनिधि सैयद महमूद, भूदेव मुकर्जी, आनन्दमोहन बोस, के० टी० तैलंग इत्यादि तथा पादरियों के प्रतिनिधि मद्रास के डा० मिलर थे। श्री बी० एल० राइस, शिक्षा संचालक मैसूर, इसके मंत्री नियुक्त हुये।

उद्देश्य

जैसा कि पूर्व विदित है, १८५४ ई० के आज्ञा-पत्र की प्रमुख नीति, जैसा कि स्टार्क ने कहा है, सरकार के प्रयत्नों को उच्च शिक्षा से हटा कर जन-साधारण की प्राथमिक शिक्षा की ओर ले जाने की थी। साथ ही भारत में प्राथमिक शिक्षा के विकास के लिये जनता में सरकार की तत्कालीन नीति से कुछ असन्तोष भी था और इंगलैंड में भी १८८० ई० में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लिये 'ऐलीमैन्टरी एज्यूकेशन ऐक्ट' पास हो चुका था। अतः इस कमीशन ने भी भारत में प्राथमिक शिक्षा की जाँच को प्रथमता दी। विश्व-विद्यालय शिक्षा, औद्योगिक तथा योरुपीय शिक्षा इत्यादि विषय इसकी जाँच के विषय नहीं थे। संक्षेप में कमीशन को निम्नलिखित बातों की जाँच करनी थी : (१) प्राथमिक शिक्षा की अवस्था तथा उसके विकास के उपाय; (२)

† Stark: P. 105.

सरकारी शिक्षालयों की अवस्था तथा उनकी आवश्यकता; (३) मिशनरी शिक्षालयों का भारतीय शिक्षा में स्थान तथा (४) वैयक्तिक प्रयास के प्रति सरकार की नीति। सहायता-अनुदान-प्रथा की जाँच भी कमीशन को सौंपी गई। इसके अतिरिक्त माध्यमिक तथा कालेज शिक्षा के विषय में भी कमीशन ने अपने सुझाव दिये।

इस आयोग का वास्तविक उद्देश्य "विशेषतः उस विधि की जाँच करना था जिसके अनुसार सन् १८५४ ई० के घोषणा-पत्र के सिद्धान्तों को कार्यान्वित किया गया था; तथा उस घोषणा-पत्र में निहित नीति को भविष्य में भी अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये ऐसे सुझाव देना था जो कि कमीशन के मतानुसार वांछनीय हों।*"

इस प्रकार नियुक्ति के उपरान्त कमीशन ने लगभग दो माह तक कलकत्ता में अपनी बैठकें कीं और तदुपरान्त ८ माह तक सारे देश का भ्रमण किया। इस कठिन परिश्रम के उपरान्त कमीशन ने अपनी ६०० पृष्ठों की रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसके साथ में कुछ प्रान्तीय रिपोर्टें भी थीं। इस प्रकार भारतीय शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास देते हुए उन्होंने भावी-शिक्षा-विकास के लिये बहुत से महत्त्वपूर्ण सुझाव रक्खे।

सिफारिशें

यहाँ संक्षेप में हम कमीशन के द्वारा की गई सिफारिशों का वर्णन करते हैं। यहाँ एक बात स्मरणीय है कि प्रायः कमीशन ने उन्हीं बातों को कुछ घटा-बढ़ाकर दुहराया जिन्हें १८५४ ई० के आज्ञा-पत्र द्वारा कुछ वर्ष पूर्व ही स्वीकार कर लिया गया था।

देशी शिक्षा—कमीशन ने देशी शिक्षालय का अभिप्राय उस स्कूल से लिया 'जोकि भारतवासियों द्वारा भारतीय प्रणालियों के आधार पर संचालित हो।' इन स्कूलों के विकास, संरक्षण तथा इन्हें नये ढाँचे में सम्मिलित करने के लिये कमीशन ने सिफारिश की। यह बात अनुभव की गई कि अनन्त काल की कठिनाइयों और बाधाओं का सामना करते हुए भी देशी स्कूल आज तक जीवित हैं, यह उनकी 'सजीवता तथा सर्वप्रियता' का द्योतक है।† मद्रास और

* Quoted by Dr. Zellner Aubrey : *Eduction in India* P. 85.

† "........Admitting, however, the comparative inferiority of indigenous institutions, we consider that efforts should now be made to encourage them. They have survived a severe competetion, and have thus proved that they possess both vitality and popularity." *Report*, P. 68.

बंगाल के उदाहरणों ने यह भी सिद्ध कर दिया था कि इन देशी स्कूलों को आधुनिक आवश्यकताओं के अनुरूप ढालना संभव है। अतः कमीशन ने कहा कि "देशी स्कूलों को यदि सरकार सुझावों के अनुसार स्वीकार कर लेती है तथा सहायता देती है तो अवश्य ही उनकी शिक्षण प्रणाली में सुधार की आशा की जा सकती है और इस प्रकार वे सरकार द्वारा संचालित राष्ट्रीय शिक्षा में एक महत्त्वपूर्ण स्थान की पूर्ति कर सकते हैं।"†

इन स्कूलों के प्रबन्ध के लिए कमीशन ने ऐसे जिला बोर्ड तथा म्युनिसिपल बोर्ड, जिनमें भारतियों का प्रतिनिधित्व हो, निर्माण करने की सिफारिश की तथा उनके पाठ्यक्रम में किसी प्रकार का भी हस्तक्षेप करने का निषेध किया। इन स्कूलों के शिक्षकों को प्रशिक्षण देकर उत्साहित करने का सुझाव भी रक्खा। अन्त में इनका पाठ्यक्रम, पाठ्य-विधि तथा परीक्षा इत्यादि के मानदण्ड के लिये प्रत्येक प्रान्त को स्वतन्त्र रखा गया। पाठ्यक्रम में कुछ उपयोगी विषयों के सम्मिलित करने के लिये कुछ विशेष आर्थिक सहायता प्रदान करने की व्यवस्था की। इस प्रकार जो देशी शिक्षा इतने दिनों से उचित संरक्षण के अभाव में प्रायः जर्जरित हो चुकी थी पुनः संरक्षण का आश्वासन पाकर प्रगति करने लगी। किन्तु इतना अवश्य है कि कमीशन ने जिस 'परीक्षाफल के अनुसार वेतन' प्रथा (Payment by Results system) को माध्यमिक व कालेजीय-शिक्षा के लिये बुरा बताया था उसी को देशी शिक्षा के लिये स्वीकृत करके देशी शिक्षा के क्षेत्र में एक ऐसी परम्परा को जन्म दिया जिसके कारण प्रायः सभी प्रान्तों में प्राथमिक शिक्षा में 'सहायता-अनुदान-प्रथा' के नियमों के ऊपर उपर्युक्त नियम का आधिपत्य हो गया जिससे देशी स्कूलों की स्वाभाविक प्रगति में कुछ बाधा पड़ी।

प्राथमिक शिक्षा :—प्राथमिक शिक्षा के विषय में शिक्षा-कमीशन ने सबसे अधिक रुचि दिखलाई। वास्तव में यह उनकी जाँच का प्रमुख विषय था।‡

---

† *Indian Education commission* (1882) *Report*, P. 68.

‡ "It is the desire of the Governar-General-in-Council that the Commission should specially bear in mind the great importance which the Government attaches to the subject of primary education. The development of elementary education was one of the main objects contemplated by the Despatch of 1854.........the principal object, therefore of the enquiry of the Commission should be 'the present state of elementary education throughout the Empire, and the means by which this can everywhere be extended and improved." *Resolution of the Government of India, 1882.*

अतः उन्होंने निर्भीक होकर स्वीकार किया कि "जबकि शिक्षा के प्रत्येक विभाग में राजकीय संरक्षण का औचित्य स्वीकार किया जा सकता है........तो जनसमूह की शिक्षा, इसकी उपलब्धि, प्रसार तथा उन्नति तो शिक्षा-प्रणाली का वह भाग है जिसके लिये सरकार के अथक प्रयास भूतकाल की अपेक्षा एक बृहत्तर पैमाने पर प्रारम्भ किये जाने चाहिये।" इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये कमीशन के प्राथमिक शिक्षा के विभिन्न अंगों जैसे नीति, संगठन, पाठ्यक्रम, शिक्षकों का प्रशिक्षण तथा आर्थिक व्यवस्था इत्यादि के विषय में अपनी सिफारिशें प्रस्तुत की।

प्राथमिक शिक्षा की नीति के विषय में घोषणा करते हुए कमीशन ने सिफारिश की कि इसे मातृभाषा के द्वारा दिये जानी वाली ऐसी शिक्षा समझना चाहिये जो कि जन-साधारण के जीवन के व्यावहारिक पक्ष से सम्बन्धित हो न कि विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने के लिये एक साधन मात्र। इसके अतिरिक्त सरकार को चाहिये कि इसे पहिले से भी कहीं अधिक संरक्षण प्रदान करे। सरकारी निम्नपदों पर नियुक्ति में ऐसे लोगों को प्रमुखता दी जाय जो लिखना-पढ़ना जानते हों। तथा ऐसे जिलों में जो शिक्षा के दृष्टिकोण से पिछड़े हुए हों, जैसे वे स्थान जहाँ आदिवासी रहते हों, वहाँ शिक्षा विभाग के प्रयत्नों तथा उदार आर्थिक सहायता द्वारा प्राथमिक शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाय।

संगठन के विषय में कमीशन ने सारा प्रबन्ध जिला तथा म्युनिसिपल बोर्डों को सौंप दिया। इन स्थानीय बोर्डों का निर्माण लार्ड रिपन ने 'काउन्टी काउंसिल्स आव इंगलैंड' के आधार पर कराया था। इंगलैंड में भी प्राथमिक शिक्षा काउन्टी काउंसिलों (जिला-परिषदों) के आधीन करदी गई थी। इसी प्रकार भारत में भी 'लोकल सेल्फ गवर्नमेन्ट एक्ट' के पास होने पर जिला बोर्ड का निर्माण हुआ और ग्रामीण प्राथमिक शिक्षा का भार इन पर डाल दिया गया। शिक्षा का सम्पूर्ण दायित्व—व्यय, निरीक्षण, प्रबन्ध तथा विकास इन्हीं बोर्डों को दिया गया। इस प्रकार की व्यवस्था से सरकार एक प्रकार से प्राथमिक शिक्षा के भार से, जो कि उसका प्रथम कर्त्तव्य था, मुक्त हो गई। पाठ्यक्रम इत्यादि के लिये सभी प्रान्तों को अपनी अपनी परम्परा अनुकरण करने की स्वतंत्रता दी गई।

प्राथमिक शिक्षा की आर्थिक व्यवस्था के लिये कमीशन ने कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव रखे। प्रथमतः जिलाबोर्ड तथा म्युनिसिपल बोर्डों को आदेश दिये गये कि वे प्राथमिक शिक्षा के लिये अलग फंड निर्धारित करदें। इसके अतिरिक्त प्राथमिक शिक्षा सम्बन्धी नगरों तथा गाँवों के हिसाब भी पृथक्-पृथक् कर दिये जाँय

जिससे गाँवों की धनराशि नगरों पर व्यय न हो सके। साथ ही स्थानीय फंड के व्यय के विषय में कमीशन ने यह निश्चित कर दिया कि वे एक मात्र प्राथमिक शिक्षा पर ही व्यय किये जाँय। अन्त में स्थानीय फंड में उचित आर्थिक सहायता प्रदान करना भी प्रान्तीय सरकारों का कर्त्तव्य है ऐसी सिफारिश भी कमीशन ने की। किन्तु इस सहायता की धनराशि अनिश्चित ही रही। इस प्रकार प्राथमिक शिक्षा का भार प्रधानतः स्थानीय फंड पर ही रहा, प्रान्तीय सरकार का शिक्षा अनुदान तो एक गौण सहायता के रूप में ही रहा, तथापि स्थानीय फंड में सहायता देने में प्रान्तीय सरकारों के समक्ष यह आदर्श रक्खा गया कि वे कम से कम स्थानीय धनराशि का $\frac{1}{3}$ अथवा कुल व्यय का $\frac{1}{3}$ प्रदान करें। किन्तु यह कहना व्यर्थ है कि यह सहायता भारतीय जनसंख्या के आकार को देखते हुए कितनी अपर्याप्त थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राथमिक शिक्षा के लिये आर्थिक व्यवस्था करने में कमीशन का उद्देश्य उसके लिये वर्तमान परिस्थितियों में अधिक से अधिक सुविधा प्रदान कराने का रहा। अतः उन्होंने घोषणा की कि, "प्राथमिक शिक्षा को सम्पूर्ण जन-शिक्षा का वह भाग घोषित कर देना चाहिये जोकि शिक्षा के निमित्त निर्धारित स्थानीय फंड पर अपना एकमात्र विशेषाधिकार तथा प्रान्तीय आय पर भी एक बहुत बड़ा अधिकार रखती है।"

इसके अतिरिक्त कमीशन ने शिक्षकों के लिये अधिक नार्मल स्कूल खोलने पर भी जोर दिया जिससे एक डिवीजनल इन्सपेक्टर के अन्तर्गत कम से कम एक नार्मल स्कूल हो जाय।† पाठ्यक्रम के विषय में कमीशन ने पर्याप्त उदारता दिखलाई। उन्होंने प्रत्येक प्रान्त को अपनी-अपनी आवश्यकताओं के अनुसार स्वतंत्रता दे दी और सम्पूर्ण देश के लिये एक सा ही पाठ्यक्रम निश्चित नहीं किया। पाठ्यक्रम में उन्होंने कुछ व्यावहारिक व जीवनोपयोगी विषय जैसे बहीखाता, क्षेत्रमिति, भौतिक विज्ञान तथा कृषि और चिकित्सा में उनकी उपयोगिता इत्यादि और सम्मिलित कर दिये।

† "………We recommend that the supply of Normal Schools, whether Government or aided, be so localised as to provide for the local requirements of all Primary Schools, whether Government or aided, within the division under each inspector………we recommend that the first charge on Provincial funds assigned for primary education be the cost of its direction and inspection, and the provision of an adequate supply of Normal Schools." *Indian Education Commission Report*, P. 132.

माध्यमिक शिक्षा—माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में कमीशन ने शिक्षा-विस्तार तथा तत्कालीन माध्यमिक शिक्षा के दोषों के दूर करने के साधनों को बताया। शिक्षा-प्रसार के लिए उसने सिफारिश की कि इस क्षेत्र में से सरकार को क्रमशः पूर्णतः निकल आना चाहिए और माध्यमिक शिक्षा को योग्य तथा समर्थ भारतवासियों के हाथों में सौंप देना चाहिए और उनकी सहायता के लिए शिक्षा सहायता-अनुदान-प्रथा का उदारता तथा बुद्धिमत्ता पूर्ण प्रयोग होना चाहिये। प्राथमिक शिक्षा को सरकार का प्रमुख कर्त्तव्य समझा गया था अतः माध्यमिक शिक्षा को कुछ कम महत्त्व दिया गया। कमीशन ने सिफारिश की कि सहायता-अनुदान द्वारा जहाँ तक हो सके माध्यमिक शिक्षा में सहायता देकर सरकार शीघ्र उसके उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाये। तथापि यह भी निश्चय हुआ कि सरकार प्रत्येक ऐसे जिले में एक हाई स्कूल आदर्श-स्कूल के रूप में रक्खे "जहाँ जन-हित के लिये ऐसे स्कूल रखना आवश्यक हो, और जहाँ जनता स्वयं सहायता-अनुदान के आश्रय पर ही स्कूल चलाने के लिये पर्याप्त रूप से प्रगतिशील तथा धनवान न हो।"† किन्तु ऐसा स्कूल जिले में एक से अधिक नहीं हो सकता। जिले की सम्पूर्ण शिक्षा आवश्यकता की पूर्ति के लिये जनता स्वयं इसका उत्तरदायित्व ले। इसके लिये प्रोत्साहन देने के लिये कमीशन ने यह भी सिफारिश की कि व्यक्तिगत शिक्षालयों के प्रबन्धक राजकीय-विद्यालयों की अपेक्षा बालकों से कम फीस ले सकते हैं।

माध्यमिक शिक्षालयों में शिक्षा सुधार के लिये कमीशन ने हाई-स्कूल शिक्षा को दो भागों में बाँट दिया : (१) 'अ' कोर्स तथा (२) 'ब' कोर्स। प्रथम कोर्स विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने के लिये था। दूसरा एक व्यावहारिक शिक्षा-कोर्स था जिसमें व्यापारिक, असाहित्यिक तथा उपयोगी विषय पढ़ाये जाने को थे। शिक्षा के माध्यम के विषय में कमीशन ने बड़ी असंतोषजनक सिफारिशें कीं। इसने माध्यमिक स्कूलों में मातृभाषा के प्रयोग का कोई उल्लेख तक न किया। संभवतः कमीशन अँग्रेजी के पक्ष में था। मिडिल स्कूलों के लिये भी इसने कोई निश्चयात्मक नीति निर्धारित नहीं की और स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार इसे स्कूल के प्रबन्धकों पर ही छोड़ दिया।

उच्च शिक्षा—जैसा कि कहा जा चुका है कि कमीशन को विश्वविद्यालय तथा उच्च शिक्षा की अवस्था की जाँच करने से निषेध कर दिया गया था, किन्तु इसने कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव कालेज शिक्षा के लिये भी रक्खे। कमीशन ने यह तो घोषित कर ही दिया था कि सरकार को शीघ्र ही उच्च शिक्षा के उत्तरदा-

† *Indian Education Commission, Report* P. 254.

यित्व से मुक्त हो जाना चाहिये। इसके लिये प्रत्येक कालेज को सहायता देने में "सहायता दर; शिक्षकों की संख्या, कालेज संचालन-व्यय का परिमाण, कालेज की कार्यक्षमता तथा उस स्थान की आवश्यकताओं" का ध्यान रखना चाहिये। आवश्यकता पड़ने पर विशेष सहायता जैसे भवन, फर्नीचर, पुस्तकालय तथा विज्ञान का सामान इत्यादि के लिये देने की भी व्यवस्था की गई। बिना फीस पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या नियत कर दी गई। शिक्षा समाप्त होने पर उनके रोजगार की सिफारिश तथा योग्य विद्यार्थियों को विदेशों में शिक्षा प्राप्त करने के लिये सुविधा प्रदान करने की और भारत में विभिन्न कालेजों में एक ऐसे विस्तृत पाठ्य क्रम के लागू करने की जोकि विद्यार्थियों के रुचि-वैचित्र्य के लिये लाभदायक हो सके, कमीशन ने सिफारिश की।

इसके अतिरिक्त प्रधानाध्यापक अथवा किसी अन्य शिक्षक के द्वारा नैतिक उपदेशों की एक व्याख्यानमाला जारी करने का सुझाव भी कमीशन ने रक्खा और एक ऐसी पाठ्य पुस्तक की रचना का आदेश दिया जो मानव-धर्म के मूल-भूत सिद्धान्तों तथा प्रकृति-धर्म पर आधारित हो। किन्तु कमीशन ने वैयक्तिक कालेजों को राजकीय कालेजों की अपेक्षा कम फीस स्वीकार करने का अधिकार देकर एक अवांछनीय स्पर्द्धा तथा अयोग्य और निम्नकोटि की शिक्षा-संस्थाओं को जन्म दिया।

मिशनरी प्रयास :—१८५४ ई० के आज्ञापत्र से पादरियों को यह आशा बँधी थी कि भारतीय शिक्षा-क्षेत्र में उन्हें एकाधिकार प्राप्त हो जायगा और अन्ततः वे ही सम्पूर्ण देश की शिक्षा आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे। ऐसा न होने पर उन्होंने इङ्गलैंड में आन्दोलन किया था जिसके फलस्वरूप इस कमीशन की नियुक्ति हुई थी। किन्तु इस कमीशन की सिफारशों ने तो उनकी आशाओं पर तुषारापात ही कर दिया। इस विषय में कमीशन की सिफारिशें बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। प्राथमिक शिक्षा को स्थानीय बोर्डों के अन्तर्गत कर देने से पादरियों को अधिक आपत्ति नहीं हुई थी, क्योंकि उनके अधिकार में प्राथमिक शिक्षा तो नाम मात्र को ही थी। किन्तु कमीशन की इस सिफारिश ने कि, माध्यमिक तथा कालेजीय शिक्षा-क्षेत्र से सरकार को व्यक्तिगत प्रबन्धकों के हाथों में उसे सौंप कर शीघ्र ही हट जाना चाहिये, पादरियों के हृदयों में एक बुझती हुई आशा को पुनः जगा दिया। किन्तु ऐसा भी न हो सका। कमीशन ने इस विषय में बहुत सावधानी से काम लिया और इस बात को स्पष्ट कर दिया कि "व्यक्तिगत प्रयास का अभिप्राय स्वयं जनता के प्रयास से है। यदि शिक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति शिक्षा साधनों से करनी है तो स्वयं भारतवासी ही

:सके सबसे महत्त्वपूर्ण साधन हो सकते हैं।" उन्होंने यह भी कहा कि, "भारत जैसे देश में जिसमें शिक्षा की आवश्यकताएँ विभिन्न हैं, हम किसी भी ऐसे तरीके के विरुद्ध हैं जिसके द्वारा सम्पूर्ण उच्च शिक्षा को केवल एक दल के हाथ में ही सौंप दिया जाय, और विशेषतः एक ऐसे दल के हाथ में जो चाहे जितना उदार और सच्चा हो, जन समूह की विभिन्न भावनाओं के साथ सहानुभूति नहीं रख सकता हो।............साथ ही हम एक मत होकर यह लिख देना आवश्यक समझते हैं कि शिक्षा-विभाग के प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व का शिक्षा-क्षेत्र में से हट जाने का अर्थ यह नहीं होता है कि हम उसे मिशनरियों के हाथ में सौंप दें। शिक्षा-विभाग द्वारा संचालित उच्च-शिक्षालय कदापि पादरियों के प्रबन्ध में नहीं जाने चाहिये।"† इस प्रकार पादरियों की स्थिति को वैयक्तिक प्रयास में जनता द्वारा संगठित शिक्षालयों की तुलना में एक निम्नतर कक्षा दी गई। इससे भारतीय जनता को विदित हो गया कि जब तक वह स्वयं शिक्षा का अधिकतर उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लेती है, राष्ट्रीय शिक्षापद्धति में विकास और सुधार की आशा नहीं।

सरकार का शिक्षा क्षेत्र से क्रमिक पलायन :—कमीशन की नीति यह थी कि सरकार क्रमशः जन-शिक्षा के भार से मुक्त हो जाय और उसे स्वयं भारतीय जनता के हाथों में सौंप दे, क्योंकि सरकार ने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि शिक्षा पर व्यय करने के लिये उसके पास धन का अभाव था। अतः जनता को अपना धन अपनी शिक्षा के लिये लगाना चाहिये। इस तरह जो सरकारी धन बचेगा वह अधिक स्कूलों को सहायता प्रदान करने में व्यय किया जा सकेगा। अतः जहाँ तक प्राथमिक शिक्षा का सम्बन्ध था उसे स्थानीय बोर्डों के अन्तर्गत कर दिया गया और माध्यमिक तथा कालेजीय शिक्षा को शिक्षा-विभाग की देखरेख में व्यक्तिगत संस्थाओं को हस्तांतरित कर देने की व्यवस्था की गई। इस प्रकार नये खुलने वाले शिक्षालयों को सब प्रकार से सहायता देने का वचन दिया गया और राजकीय-शिक्षालयों को स्थानीय प्रबन्धकों को देने पर उनके सभी कागजपत्र, भवन, पुस्तकें तथा अन्य सामान भी प्रबन्धकों को हस्तांतरित करने की सिफारिश की गई तथा उनके अधिकारों को सुरक्षित रक्खा गया। इस प्रकार कमीशन ने सरकार को राष्ट्रीय-शिक्षा के उत्तरदायित्व से मुक्त कर दिया।

सहायता-अनुदान-प्रथा:—व्यक्तिगत शिक्षालयों के लिये कमीशन ने अनुदान प्रथा के सुधार तथा विकास पर विशेष जोर दिया। इस विषय में कमीशन ने

† *Indian Education Commission Report*. P. 452.

भिन्न-भिन्न प्रान्तों में चालू-अनुदान-प्रथा के निर्मों का अध्ययन किया। बम्बई में 'परीक्षा-फल के अनुसार वेतन' प्रथा* मद्रास में 'वेतन-अनुदान-प्रथा'† तथा उत्तरी भारत और मध्यप्रान्त में 'नियत कालीन-प्रथा'‡ प्रचलित थीं। इन सब प्रथाओं का अध्ययन करके कमीशन ने प्रत्येक प्रान्त को इस विषय में स्वतन्त्रता दे दी तथा कुछ सर्वमान्य कसौटी नियत करके प्रत्येक प्रान्त को आदेश दे दिये। इनके अनुसार सरकारी और गैर-सरकारी का भेद भी मिटा दिया गया, अनुदान-नियम अधिक उदार कर दिये गये; आन्तरिक प्रबन्ध में हस्तक्षेप निषिद्ध कर दिया गया तथा प्रबन्धकों की सहायता तथा पथ-प्रदर्शन के लिये कुछ ऐसे शिक्षा-अधिकारी नियुक्त कर दिये गये जो उनके विश्वासपात्र बन सकें।

विशिष्ट शिक्षा—इन सब बातों के अतिरिक्त कमीशन ने कुछ विशेष प्रकार की शिक्षा जैसे स्त्री शिक्षा, मुसलमानों की शिक्षा, धार्मिक शिक्षा, राजकुमारों की शिक्षा; प्रौढ़ शिक्षा, आदिवासियों की शिक्षा तथा धार्मिक शिक्षा इत्यादि पर भी अपने विचार प्रकट किये। उदाहरण के लिये स्त्री शिक्षा के लिए कमीशन ने लड़कियों के स्कूलों को उदार सहायता, अध्यापिकाओं को वेतन-अनुदान, उनके लिए नार्मल स्कूल, लड़कियों की प्राथमिक शिक्षा के लिये सरल पाठ्यक्रम तथा निरीक्षण के लिये अलग निरीक्षिकायें नियुक्त करने की सिफारिशें कीं। * मुसलमानों में हिन्दुओं की अपेक्षा कम शिक्षा पाकर उनके लिए विशेष सुविधाओं की सिफारिश की गई। अतः मुसलमान विद्यार्थियों के लिये अधिक छात्रवृत्ति, मुसलमान नार्मल स्कूल, मुसलमान शिक्षा-निरीक्षक तथा मुसलमानी विशेष मिडिल तथा हाई स्कूलों की स्थापना की सिफारिश की। धार्मिक शिक्षा-क्षेत्र में कठोर धार्मिक तटस्थता की पूर्वनीति का समर्थन किया; साथ ही नैतिक शास्त्र पर एक पाठ्य-पुस्तक की रचना तथा व्याख्यानमाला की सिफारिश की।

---

* Payment by Results system.

† Salary Grant system.

‡ Fixed Period system.

* "........It will have been seen that female education is still in an extremely backward condition, and that it needs to be fostered in every legitimate way......Hence we think it expedient to recommend that *public fnnds of all kinds—local, municipal and provincial—should be chargeable in an equitable proportion for the support of girls' schools as well as for boys' schools."* *Report of the Indian Education Commission (1882)*. P. 545.

राजकुमारों तथा सरदारों के लड़कों के लिए विशेष शिक्षालय खोलने को कहा। प्रौढ़-शिक्षा ने भी उनका ध्यान आकर्षित कर लिया था और उसके लिए रात्रि-पाठशालाओं की सिफारिश की। आदिवासियों के लिये प्राथमिक शिक्षा की सिफारिश की।

आलोचना

कमीशन की सिफारिशों के अनुसार प्राथमिक शिक्षा को स्थानीय बोर्डों और नागरपालिकाओं को दे दिया गया। माध्यमिक शिक्षा के लिए वैयक्तिक स्कूलों को खूब प्रोत्साहन दिया गया। सरकार ने यद्यपि अपनी शिक्षा संस्थाओं को स्थानीय प्रबन्धकों को नहीं दिया, तथापि अधिक विद्यालय खोलना बन्द कर दिया। इस प्रकार धार्मिक-शिक्षा के विषय में की गई सिफारिशों को छोड़कर सरकार ने उसकी सभी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया।

अधिकांश में कमीशन ने १८५४ ई० के आज्ञा-पत्र की नीति का ही समर्थन किया। शिक्षा-विभाग का निरीक्षण-कार्य बढ़ जाने से स्कूलों पर उसका अनुचित अधिपत्य भी हो गया। किन्तु इससे राजकीय और अराजकीय प्रयत्नों में पारस्परिक साम्य तथा सहकारिता की भावना भी उत्पन्न हो गई और यह भी प्रमाणित हो गया कि इस सहकारिता के आधार पर प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय-स्तर तक शिक्षा सङ्गठन करने की सम्भावना है। हाई स्कूल में औद्योगिक शिक्षा की सिफारिश करके कमीशन ने यह संकेत किया कि हमारी शिक्षा आवश्यकता से अधिक पुस्तकीय होती जा रही थी।

(ख) शिक्षा-प्रगति (१८८२–१६०४ ई०)

(१) विश्वविद्यालय तथा कालेज शिक्षा

भारतीय शिक्षा कमीशन की सिफारिशों के उपरान्त देश में कालेजों की बहुत वृद्धि हुई। सन् १८८२ ई० में पंजाब तथा १८८७ ई० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना हो गई थी। पंजाब विश्वविद्यालय की स्थापना लाहौर यूनीवर्सिटी कालेज, जिसमें प्राच्य ज्ञानशाखा भी सम्मिलित थी, से विकसित होकर हुई थी। इसमें एक लॉ कालेज भी सम्मिलित कर दिया गया। एक विशेष बात इस विश्वविद्यालय के विषय में उल्लेखनीय है वह यह है कि इसमें भाषा का माध्यम अँग्रेजी न रख कर मातृ-भाषा रखा गया। अरबी, फारसी तथा संस्कृत में उच्च उपाधियों के वितरण की व्यवस्था भी इसमें की गई।

जहाँ तक इलाहाबाद विश्वविद्यालय का सम्बन्ध है इसकी स्थापना का प्रश्न १८६६ ई० में भी उठा था। १८७२ ई० में संयुक्तप्रान्त के गवर्नर श्री म्योर ने किराये के मकान में एक केन्द्रीय कालेज की स्थापना इलाहाबाद में कर दी थी। १८८२ ई० में पंजाब में विश्वविद्यालय की अलग स्थापना हो जाने के कारण यह आवश्यक समझा गया कि संयुक्त प्रान्त के लिये भी एक विश्वविद्यालय अनिवार्य है। अब तक यहाँ के कालेजों का सम्बन्ध कलकत्ता विश्वविद्यालय से था जो कि प्रबन्ध तथा पाठ्यक्रम की कठिनाइयों के कारण अब असम्भव प्रतीत होता था। अतः १८८७ ई० में एक विशेष कानून के द्वारा इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। इसमें परीक्षाओं के अतिरिक्त पढ़ाने की भी व्यवस्था रक्खी गई।

इस प्रकार भारत में पाँच विश्वविद्यालय १९ वीं शताब्दि के अन्त तक हो गये। इनके पाठ्य-क्रम प्रायः एकसे थे। कुछ समय उपरान्त मद्रास को छोड़ कर सभी ने विज्ञान की कक्षायें भी खोल दीं और बी० एस-सी० की उपाधि देना प्रारम्भ कर दिया।

शिक्षा कमीशन की सिफारिशों का अप्रत्यक्षरूप से कालेजों के विकास पर भी प्रभाव पड़ा। एक तो माध्यमिक स्कूलों के खुलने तथा उनमें विद्यार्थियों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई संख्या के कारण यह आवश्यक हो गया कि उनकी उच्च शिक्षा के लिए नये कालेज खोले जायँ। अधिकतर विद्यार्थी कालेजों में जाना भी चाहते थे क्योंकि उच्च शिक्षा के उपरान्त ही वे सरकारी उच्च पद पाने की आशा करते थे। दूसरे, कमीशन ने भारतीय शिक्षा में व्यक्तिगत प्रयास को भी प्रोत्साहन दिया था, अतः शिक्षित भारतीयों ने इस ओर आश्चर्यजनक प्रगति की, यहाँ तक कि उनके द्वारा संचालित कालेजों की संख्या मिशनरियों के कालेजों से भी अधिक बढ़ गई। सन् १९०२ ई० में जब कि ईसाई कालेजों की संख्या ३७ थी तो भारतीयों के कालेजों की संख्या ४२ थी। इस प्रकार कालेजों की संख्या बढ़ती जा रही थी। १८८२ ई० में ६८ कालेजों से लेकर १९०२ ई० में इनकी संख्या १७९ हो गई। इनमें से १३६ कालेज ब्रिटिश भारत में थे जिनमें १२ कालेज स्त्री-शिक्षा के लिए थे। ईसाइयों ने कमीशन तथा सरकार की नीति से दुखी होकर उच्च शिक्षा की ओर अधिक रुचि नहीं दिखलाई। अतएव अधिकांश में ये कालेज भारतवासियों द्वारा ही संचालित रहे।

इस दौरान में १८८५ ई० में भारत में 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना तथा उसके उपरान्त राष्ट्रीय आन्दोलन भी शिक्षा-प्रसार में

अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। 'कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन रिपोर्ट' में इसका उल्लेख मिलता है:—

"ये सहस्त्रों विद्यार्थी जो कि दो पीढ़ियों से बंगाल के योग्यतम सुपुत्र हैं, अँग्रेजी भाषा पढ़ना सिखाये गये। इस भाषा की व्यावहारिक उपयोगिता के कारण प्रथमतः इसे अध्ययन करने के उपरान्त वे अँग्रेजी साहित्य-सरोवर से जलपान करने लगे जो कि वस्तुतः स्वतन्त्रता का साहित्य है। वेकन, मिल्टन लॉक, बर्क, वर्डसवर्थ तथा बाइरन की विचारधाराएँ उनके मष्तिष्कों में बह रही थी जिनमें स्वराज्य का संदेश था। (इन युवकों के) प्राचीन आदर्श स्वतंत्रता तथा व्यक्तिगत साहस प्रदर्शन के न होकर आत्म-समर्पण तथा आत्म-त्याग के थे। ऐसे विचारों ने जो कि प्राच्य विचारधारा में आत्मसात् नहीं हो सकते थे, लोगों के हृदय में एक व्याकुलता भरदी। इन विचारों के राजनैतिक परिणामों से हमारा यहाँ सम्बन्ध नहीं है। किन्तु राजनैतिक विचार मानसिक हलचलों से अलग नहीं किये जा सकते; और १८८२ ई० के उपरान्त आने वाली पीढ़ी ने इन नवीन विचारधाराओं का शक्तिशाली प्रभाव शिक्षा प्रणाली के विकास में देखा।"*

इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन ने भारतीय शिक्षा विकास को इस युग में काफी प्रगति दी। अब तक जो हाईस्कूल थे वे बढ़कर कालेज हो गये। भारतीय यह समझ गये थे कि उनके चरित्रों का निर्माण वे स्वयं ही कर सकते हैं। यद्यपि अब तक अधिकतर कालेजों तथा हाई स्कूलों में अँग्रेज प्रिंसीपल तथा प्रधान अध्यापक रहते थे और योग्य भारतीयों का अभाव होने के साथ ही साथ उन्हें अयोग्य भी समझा जाता था किन्तु सर आर० पी० परांजपे जैसे उद्भट विद्वानों ने इस ओर भी पथ-प्रदर्शन किया। इस प्रकार कुछ त्यागी भारतीय विद्वानों ने उच्च सरकारी पदों पर न जाकर कालेजों तथा उच्च शिक्षा के स्कूलों का संचालन अपने हाथ में लेकर शिक्षा प्रसार में महान् योग दिया। १८८० ई० में पूना में फर्ग्युसन कालेज की स्थापना प्रसिद्ध देश भक्त बालगंगाधर तिलक, चिपलांकर तथा श्री अगारकर के प्रयत्नों से हो ही चुकी थी। सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कलकत्ता में रिपन कालेज का भार संभाला। उधर आर्य समाज आन्दोलन भी देश में जागृति तथा उद्बोधन का प्राण फूँक रहा था। अतः १८८६ ई० में लाहौर में दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज की स्थापना हुई जो कि शीघ्र ही उत्तरी भारत का एक प्रमुख कालेज हो गया। सन् १८९८ ई० में श्रीमती ऐनीवेसेंट ने बनारस में सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की नींव

* Quoted by Dr. Zellner.

जो कि आगे चलकर आज बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

आलोचना:—इस प्रकार कालेजों के बढ़ने से विद्यार्थियों की संख्या भी बढ़ी किन्तु शिक्षा का स्तर कुछ गिर गया। रुपया तथा अच्छी पुस्तकों का अभाव, अपर्याप्त भवन तथा अनुभवहीन शिक्षक—इन सभी बातों ने मिलकर शिक्षा के मानदण्ड को अवश्य गिरा दिया। साथ ही विद्यार्थियों में केवल पुस्तकीय ज्ञान को प्रधानता देने की प्रवृत्ति का विकास होने लगा और उनकी सूक्ष्म निरीक्षण की मौलिकता जाती रही। १८८५ ई० में श्री इलबर्ट ने कहा था कि "ज्यों २ कालेज की शिक्षा बढ़ती जाती है त्यों त्यों उस प्रतीक का मूल्य जिसका कि यह बोध कराती है गिरता जा रहा है।" इसके पूर्व १८७१ ई० में एक प्रिंसीपल ने भी कलकत्ता में यह संकेत किया था कि तत्कालीन शिक्षा से एक प्रकार के ग्रेजुएट, जो केवल 'रटने की मशीन' कहे जा सकते हैं, तेजी से बढ़ रहे हैं। उसने कहा कि :

"बंगाल में बहुत दिनों से शिक्षा का अर्थ अधिकांश में एक अपाच्य ज्ञान का रटना ही लगाया जा रहा है। उच्च गुणों की अवहेलना करके केवल स्मृति का ही विकास किया जा रहा है, अतः विद्यार्थियों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया है जो कि, कुछ अच्छे अपवादों को छोड़कर, रटे हुए पुस्तकीय ज्ञान के अतिरिक्त न तो मौलिकता और न निरीक्षण शक्ति अथवा स्वयं निर्णय शक्ति ही रखते हैं।"

वास्तव जो बात बंगाल के विषय में तब कही गई थी वह भारत के अन्य प्रान्तों के विषय में भी पूर्णतः लागू होती थी और दुर्भाग्य से आज भी अधिकांश में वह पूर्ववत् बनी हुई है। इसी प्रकार की चेतावनी कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति लार्ड लैंसडान ने भी १८८६ ई० में दी थी :—

"मुझे भय है कि हमें यह बात नहीं छिपानी चाहिये कि यदि हमारे स्कूल और कालेज वर्तमान रूप से ही भारतीय युवकों को शिक्षा देते रहे तो हमें आज से भी अधिक यह शिकायत सुनने का अवसर आ सकता है कि हम प्रति वर्ष ऐसे युवकों को पैदा कर रहे हैं जिन्हें हमने मानसिक शक्तियों से तो सुसज्जित कर दिया है, जो कि स्वयं एक प्रशंसा की बात है, किन्तु व्यवहारतः यह उनके लिये बिल्कुल व्यर्थ है क्योंकि जिन लोगों ने इस प्रकार की शिक्षा पाई है उनके लिये अनुकूल पेशों का देश में पूर्ण अभाव है।"*

---

* Quoted by Siqueira, T. N.: *The Education in India*. P. 74. (Oxford University Press). 1939.

इस प्रकार यह उच्च शिक्षा अपनी समृद्धि तथा विस्तार के साथ ही साथ देश में एक ऐसे शिक्षित वर्ग को जन्म देती जा रही थी जो कि वाह्याभ्यांतर से एक ही टकसाल के ढले हुए सिक्के के समान थे, जिनमें प्राकृतिक विभिन्नता का तुलनात्मक अभाव था तथा जो स्मृति के यन्त्र की भाँति व्यवहार करते हुए दृष्टिगोचर होते थे। परीक्षा की बुराई इस प्रकार भारतीय शिक्षा-प्रणाली में जड़ पकड़ती जा रही थी कि ऐसा प्रतीत होने लगा था कि विद्यार्थी 'शिक्षा जीवन के लिये' नहीं अपितु 'शिक्षा परीक्षा के लिये' पा रहे हैं। यहाँ तक कि १९०२ ई० में भारतीय विद्यालय कमीशन ने कहा कि "वह महानतम निकृष्ट बुराई जो कि भारतीय विश्वविद्यालयों में पाई जाती है वह यह है कि शिक्षण परीक्षा के आधीन है न कि परीक्षा शिक्षण के।" शिक्षा के आकस्मिक विस्तार से कालेजों का स्तर गिर गया। शिक्षा में व्यापारिक प्रवृति का समावेश भी इसी काल में हुआ जो आज अपनी भयानक सीमाओं को छू रही है और वर्तमान भारतीय शिक्षा-शास्त्रियों के सम्मुख मानो एक प्रकार की चुनौती है।

यहाँ एक बात का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। जबकि शिक्षा के विकास के साथ ज्ञान का मानदण्ड गिरता जा रहा था और अधिकाँश कालेजों की कार्य-क्षमता का पतन होता जा रहा था, वहाँ कुछ उच्चकोटि के भारतीय नेताओं की राय में यह आवश्यक था कि चाहे शिक्षा का मानदण्ड गिर जाय किन्तु उसका विस्तार आवश्यक है। वस्तुतः उनकी धारणा थी कि शिक्षा केवल उच्च वर्ग के लिये ही न होकर जन-समूह के लिये उपलब्ध हो सके और साक्षरता-प्रतिशत बढ़ जाय। उनका यह भी अनुमान था कि समय पाकर शिक्षा के मानदण्ड तथा कालेजों की कार्य-क्षमता को बढ़ाया भी जा सकता है। जैसा कि श्री गोपालकृष्ण गोखले के निम्नलिखित व्याख्यान से प्रकट होता है :—

श्रीमान जी, मेरा विचार है—और यह मेरे लिये एक गम्भीर विश्वास की बात है—कि भारत की वर्तमान परिस्थिति में सभी प्रकार की पाश्चात्य शिक्षा अमूल्य तथा लाभदायक है। यदि परिस्थितियों को देखते हुए यह सर्वोत्तम प्रकार की है तो और भी अच्छा। किन्तु यदि यह सर्वोत्तम नहीं भी है तो इस कारण इसकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। मेरा विश्वास है कि लोगों का जीवन—चाहे राजनैतिक या सामाजिक या औद्योगिक या मानसिक क्षेत्र में—एक सामूहिक इकाई है।........मेरे विचार में भारत की वर्तमान अवस्था में अँग्रेजी शिक्षा का महान्‌तम कार्य इतना विद्या को प्रोत्साहन देना

नहीं है जितना कि भारतीय मस्तिष्क को पुरानी दुनियाँ के विचारों के बन्धन से मुक्त कराना तथा पश्चिम के जीवन, विचार तथा चरित्र के सर्वोच्च गुणों का तादात्म्य करना है। इसके लिये न केवल सर्वोत्तम शिक्षा ही अपितु हर प्रकार की पाश्चात्य शिक्षा लाभदायक है।"† अन्त में हम १६ वीं शताब्दि के भारतीय विश्वविद्यालयों के विषय में इन शब्दों के साथ समाप्त करते हैं कि—

"यह कहा जा सकता है कि विश्वविद्यालय अपने क्षेत्र में बड़े संकीर्ण थे और उच्चशिक्षा की व्याख्या भी वे बड़े संकीर्ण ढंग से करते थे। उनके विरुद्ध यह भी तर्क दिया जा सकता है कि वे अन्वेषण और मौलिक चिन्तन को प्रोत्साहित करने में असफल रहे और उच्च विद्वान तथा वैज्ञानिक उत्पन्न न कर सके। किन्तु इस सम्बन्ध में हमें यह न भूल जाना चाहिये कि उनकी स्थापना बिल्कुल भिन्न उद्देश्यों से हुई थी और जो लोग उनके अस्तित्व के उत्तरदायी थे उनकी इच्छा कालान्तर में होने वाले आलोचकों से भिन्न थी।"‡

(२) माध्यमिक शिक्षा

इस युग में माध्यमिक शिक्षा ने सराहनीय प्रगति की। कमीशन की रिपोर्ट के उपरान्त प्रथम दशक में उन्नति की गति अधिक तीव्र रही। सन् १८८२ ई० में स्कूलों की संख्या ३,९१६ थी जो कि १९०२ ई० में ५,१२४ हो गई और विद्यार्थियों की संख्या भी २,१४,०७७ से बढ़कर ५,९०,१२९ हो गई। व्यक्तिगत प्रयास को बहुत प्रोत्साहन मिला। कमीशन की राय के प्रतिकूल माध्यमिक शिक्षा पर शिक्षा-विभाग ने पुनः अपने प्रयत्नों को अधिक केन्द्रित रक्खा; फलतः प्राथमिक शिक्षा की आशातीत व वाँछनीय प्रगति में बाधा पड़ी।

माध्यमिक शिक्षालयों में कुछ शिक्षालय तो सरकारी आर्थिक सहायता अनुदान पा रहे थे और कुछ बालकों की फीस तथा थोड़े से चन्दे से ही गुजारा कर रहे थे। इन शिक्षालयों की अवस्था असन्तोष जनक थी। शिक्षा विभाग भी इनमें अधिक हस्तक्षेप नहीं कर सकता था।

कमीशन ने 'ब' कोर्स में कुछ औद्योगिक अथवा व्यापारिक विषयों के पढ़ाने की व्यवस्था की थी, किन्तु १९ वीं शताब्दी के अन्त तक भी वह वैकल्पिक-पाठ्यक्रम अधिक सर्वप्रिय न हो सका; और अभी तक माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में

† *Gokhale's Speeches.* P. P. 234-35. (Ed. 1920).

‡ A. N. Basu : *University Education in India,* (Past and Present). P. 44.

'मैट्रीक्युलेशन' परीक्षा का बोलबाला था। इतना अवश्य है कि प्रायः सभी प्रान्तीय सरकारों ने कुछ न कुछ व्यावहारिक शिक्षा अपने यहाँ पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर दी थी। १८८८ ई० में मद्रास ने कुछ टैक्निकल पाठ्यक्रम प्रारम्भ कर दिया था। १८६७ ई० में बम्बई ने 'स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट' परीक्षा प्रारम्भ करदी जिसके प्राप्त करने पर ही विश्वविद्यालय में प्रवेश हो सकता था। बम्बई के 'स्कूल फाइनल कोर्स' में भौतिक विज्ञान, अर्थशास्त्र, कृषि तथा मैन्युअल ट्रेनिंग भी सम्मिलित कर दिये गए। सरकारी नौकरी में जाने के लिये इस परीक्षा को अनिवार्य करके सर्वप्रिय करने की चेष्टा बम्बई में की गई। इसी प्रकार १८६४ ई० में इलाहाबाद में 'स्कूल फाइनल परीक्षा' प्रारम्भ की गई। पंजाब विश्वविद्यालय ने क्लर्क-सम्बन्धी तथा व्यापारिक-शिक्षा प्रारम्भ की। इसी प्रकार १६०० ई० में बंगाल ने भी क्लर्क तथा इंजिनियर तैयार करने के लिये विशिष्ट शिक्षा का आयोजन किया। इस प्रकार प्रायः प्रत्येक विश्वविद्यालय ने इस पाठ्यक्रम की योजनाओं को कार्यान्वित करने की चेष्टा की, किन्तु जैसा कहा जा चुका है, मैट्रीक्युलेशन परीक्षा की प्रधानता रही और १६०२ ई० में इसमें २३००० परीक्षार्थी बैठे, जबकि औद्योगिक पाठ्यक्रम में केवल २००० विद्यार्थियों ने परीक्षा दी।

इसके अतिरिक्त १६०२ ई० तक भारत में छः कॉलेज खुल चुके थे। संयुक्त प्रान्त में इलाहाबाद में शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिये कॉलेज खोला गया। मद्रास विश्वविद्यालय ने भी एल० टी० परीक्षा की व्यवस्था की।

इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति हो रही थी। किन्तु यह दुख की बात है कि शिक्षा के माध्यम के विषय में कमीशन की नीति ढिलमिल होने के कारण भारत के किसी भी प्रान्त में मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम न बनाया जा सका। इससे बड़ी क्षति हुई और प्रान्तीय भाषाओं के विकास को बड़ा आघात लगा। साथ ही माध्यमिक शिक्षालयों में अँग्रेजी का प्रभुत्व जम गया और ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे मानों शिक्षा का उद्देश्य केवल अँग्रेजी भाषा सीखना ही है। इससे विद्यार्थियों के स्वाभाविक मानसिक विकास पर भी रोक लग गई, क्योंकि जितना समय उन्हें विषय को बोधगम्य करने में लगता था उससे अधिक समय विदेशी भाषा के समझने में नष्ट हो जाता था; और उसके उपरान्त भी विद्यार्थियों में आत्म-विश्वास उत्पन्न नहीं हो पाता था। इससे उनका स्वाभाविक विकास रुक जाता था।

(३) प्राथमिक शिक्षा

जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है, प्राथमिक शिक्षा के लिये शिक्षा कमीशन ने इङ्गलैंड की 'काउन्टी काउन्सिलों' के आधार पर भारतीय नगरों में नगर-पालिकाएँ तथा ग्रामों के लिये जिला बोर्डों की स्थापना की सिफारिश की थी और प्राथमिक शिक्षा को उन्हीं के अन्तर्गत रख दिया गया था। इस व्यवस्था से प्राथमिक शिक्षा को कुछ प्रगति अवश्य मिली, किन्तु आशाजनक परिणाम उपलब्ध नहीं हो सके। इन स्थानीय बोर्डों के अधिकार और कर्त्तव्यों को संहिताबद्ध कर दिया गया। देशी पाठशालायें जोकि अनन्तकाल से अपनी जर्जरित अवस्था में देश भर में चली आ रही थीं, वे भी इन्हीं स्थानीय बोर्डों को दे दी गईं। इतना अवश्य है जहाँ जनता के पिछड़े हुए होने के कारण बोर्डों को यह अधिकार न दिया जा सका वहाँ सरकारी पाठशालायें खोली गईं।

स्थानीय बोर्डों के प्राथमिक शिक्षा के निमित्त व्यय करने के लिये नियम बना दिये गये और उनकी आय को केवल प्राथमिक शिक्षा पर ही व्यय करने की व्यवस्था की गई। प्रान्तीय सरकारों ने स्थानीय बोर्डों को अनुदान देने के नियम भी बना लिये। बम्बई सरकार ने आधा व्यय देना स्वीकार कर लिया। मद्रास ने अपनी आय का ५ प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करने का निश्चय किया इसी प्रकार बंगाल, संयुक्तप्रान्त, पंजाब, आसाम तथा मध्यप्रान्त ने अपने-अपने नियम बनाकर प्राथमिक शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। शिक्षा-अनुदान के नियमों में भी सभी प्रान्तों ने सुधार करके उन्हें प्राथमिक शिक्षा के अधिक अनुकूल बना दिया।

यहाँ बड़े खेद के साथ यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अँग्रेजों ने भारत में कुछ ऐसी नीति अपनाई जिसने भारत के गाँवों की जड़ों को हिला दिया। उनका सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक ढाँचा टूट गया। जो गाँव अब तक देश में शासन के धरातल थे उनके ऊपर एक नया शासन थोपा गया और भारतीय ग्राम केन्द्रीय और प्रान्तीय शासनों की केवल निर्जीव इकाई मात्र रह गये जिनकी नीति का निर्धारण केन्द्र से होता था। इस ग्रामीण प्रजातन्त्र के नष्ट हो जाने का प्रभाव भारत के देशी शिक्षालयों पर भी पड़ा। शिक्षा अब अधिक से अधिक सरकार द्वारा नियंत्रित हो चुकी थी। १९ वीं शताब्दि के समाप्त होते-होते भारत में अनन्तकाल से चला आने वाला देशी शिक्षा का संगठन नष्ट होकर सदा के लिये विलीन हो गया। कुछ स्कूल सरकारी अफसरों

की अवहेलना से नष्ट हो गये, कुछ सरकारी स्कूलों में विलीन होकर उनका प्रमुख अंग बन गये और कुछ उनसे स्पर्द्धा में पराजित होकर सदा के लिये नष्ट हो गये। गाँव में इन देशी पाठशालाओं के संरक्षक भी नहीं रह गये। वहाँ की बढ़ती हुई निर्धनता ने लोगों का ध्यान शिक्षा तथा आत्मोन्नति से हटाकर केवल 'अस्तित्व के लिये संघर्ष' तक सीमित कर दिया। "बहुत से मध्यम वर्ग के लोग जो कि व्यापार अथवा कृषि में लगे हुए थे नौकरी के लिये आकर नगरों में बस गये। इस प्रकार देहात उजड़ कर वीरान हो गये, गाँव पाठशालाओं के संरक्षक विलीन हो गये और इस प्रकार देशी शिक्षा-पद्धति टूट कर खंड-खंड हो गई।"

इस प्रकार देश में आधुनिक प्रकार की प्राथमिक शिक्षा-पद्धति की जड़ें जम गईं। स्थानीय बोर्डों ने इस काल में अपना व्यय प्राथमिक शिक्षा पर बढ़ाया। यद्यपि सरकार की नीति व्यवहार में अब भी प्राथमिक शिक्षा की अवहेलना करने की थी और उसका व्यय भी प्राथमिक शिक्षा के लिये नहीं बढ़ा। उदाहरण के लिये सन् १८८१-८२ ई० में यह १६·७७ लाख रुपया था, जबकि १६०१-२ ई० में १६·६२ लाख रुपया रहा। इस प्रकार यह सिद्ध है कि प्राथमिक शिक्षा को सरकार उचित प्रोत्साहन देने में असफल रही। स्थानीय बोर्डों का व्यय २४·६ लाख १८८२ ई० से बढ़कर १६०२ ई० में ४६·१ लाख रुपया हो गया। किन्तु भारत की जन-संख्या और अशिक्षा को देखते हुए यह धन-राशि भी अपर्याप्त थी। अधिकाँश में इन बोर्डों की आर्थिक अवस्था भी सोचनीय थी और इनका प्रबन्ध भी बड़ा बुरा था। जहाँ अच्छे निरीक्षण तथा अच्छी शिक्षा के कारण प्राथमिक शिक्षा का मान-दण्ड ऊँचा हुआ वहाँ उसके विस्तार में सराहनीय प्रसार नहीं हो सका। सन् १८८६ और १६०२ ई० के बीच में प्राथमिक शिक्षा में विद्यार्थियों की वृद्धि केवल ६,६०,००० थी, जबकि वही वृद्धि १८७१ ई० और १८८६ ई० के मध्य में २० लाख थी। शताब्दि के अन्त में जब कि प्राथमिक शिक्षा का प्रसार सुदूर देहातों में करना पड़ा, उसके प्रसार की गति बड़ी मन्द रही। इस संघर्ष में केवल अच्छे स्कूल जीवित रह सके; इससे शिक्षा का स्तर तो ऊँचा हो सका किन्तु विकास अवरुद्ध हो गया।

मिशनरी प्रयास

इन्टर कमीशन की रिपोर्ट के उपरान्त ईसाई मिशनरियों का यह भ्रम दूर हो गया कि व्यक्तिगत प्रयास में शिक्षा-क्षेत्र में उनका प्राधान्य रहेगा और इस प्रकार शिक्षा के द्वारा वह भारतवासियों का धर्म परिवर्तन करने में सफल हो सकेंगे। वास्तव में इस दृष्टि से उन्हें बड़ी निराशा हुई अतः उन्होंने अपनी

शिक्षा-नीति को बदल दिया। उन्होंने अपना ध्यान उच्च शिक्षा से हटाकर जन-समूह की शिक्षा की ओर लगाया और अपना प्रचार कार्य अधिकाँश में आदि-वासियों और पहाड़ी जातियों में प्रारम्भ कर दिया। इस ओर उन्हें कुछ सफलता भी मिली है और वास्तव में गत ६० वर्ष में भारत में ईसाई आबादी में आश्चर्य-जनक वृद्धि हुई है। भारतीय ईसाइयों के लिये उन्होंने कुछ अच्छे कॉलेज और हाई स्कूलों को यथावत् बना रहने दिया। इसी काल में उन्होंने कुछ अच्छे कॉलेज भी स्थापित किये जैसे इण्डियन क्रिश्चियन कॉलेज, इन्दौर (१८८४ ई०); मुरे कॉलेज, स्यालकोट (१८८६ ई०); क्राइस्ट चर्च कॉलेज, कानपुर (१८९२ ई०); तथा गौर्डन कॉलेज, रावलपिण्डी (१८९३ ई०)। इस काल में मिशनरी पादरियों को बोध हो गया कि स्कूल में पढ़ाना कोई धर्म-प्रचार का कार्य नहीं है।

(ग) लार्ड कर्जन की शिक्षा नीति

भूमिका

२० वीं शताब्दी का उषाकाल भारतीय शिक्षा के इतिहास में सर्वदा स्मरण रहेगा। यह वह समय था जबकि देश में राष्ट्रीयता की लहर दौड़ रही थी। भारतवासियों के हृदयों में अपनी संस्कृति, सभ्यता तथा भाषा और साहित्य के प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया था। इस जागृति का प्रभाव शिक्षा पर भी पड़ा। भारतवासी अनुभव करने लगे कि उनकी शिक्षा राष्ट्रीय होनी चाहिये। इसी पृष्ठभूमि के साथ सन् १८९९ ई० में लार्ड कर्जन भारत के वाइसराय नियुक्त हुए। ऐसा कहा जाता है कि उनमें लार्ड डलहौजी के सब गुण वर्तमान थे। जिस प्रकार लार्ड डलहौजी ने भारतीयों को अप्रसन्न कर दिया था उसी प्रकार लार्ड कर्जन का स्वभाव भी भारतीयों से मेल न खा सका। कर्जन ने आते ही भारत में कुछ सुधार लागू करने चाहे जिनसे भारतवासी सशंक हो उठे। श्री अनाथ नाथ बसु कर्जन के विषय में लिखते हैं कि "स्वभाव से वे उदार व स्वेच्छाचारी शासक थे तथा शिक्षा द्वारा कठोर शासन में विश्वास करने वाले कठोर साम्राज्यवादी थे। वे केन्द्रीयकरण तथा कार्य-क्षमता के पुजारी भी थे।" उस समय शिक्षा की अवस्था अच्छी नहीं थी। "१८९७ से १९०२ ई० तक का काल भारतीय शिक्षा के इतिहास में सबसे अधिक अप्रगतिशील था; विद्यार्थियों की वृद्धि बहुत कम थी, स्कूलों की संख्या भी घट गई थी। वह समय आपत्ति—दो भयानक दुर्भिक्ष और एक सर्वव्यापी महामारी—का था।"† अतः

† *Progress of Education in India, 1912-17, Seventh Quinquennial Review*. Vol. I, P. 22.

लार्ड कर्जन ने भारत में आते ही सितम्बर, १६०१ ई० एक गुप्त कान्फ्रेंस शिमला में बुलाई जिसमें केवल प्रान्तीय जन-शिक्षा संचालकों ने भाग लिया। कर्जन स्वयं सभापति बने। यहाँ वाइसराय ने भारतीय शिक्षा सम्बन्धी प्राथमिक शिक्षा से से लेकर विश्वविद्यालय तक सभी समस्याओं पर विचार विनिमय किया और अपनी नई शिक्षा-नीति की योजना बनाई जिसके अनुसार भारतीय शिक्षा-क्षेत्र में सरकार का नियन्त्रण बढ़ना चाहिये था। इस कान्फ्रेंस में भारतीय मत को प्रतिनिधित्व नहीं मिला था। अतः भारतीय शिक्षित समाज इसे सन्देह की दृष्टि से देख रहा था। यहाँ तक कि ईसाई मिशनरियों के प्रतिनिधि सम्मिलित किये गये थे। लार्ड कर्जन ने यद्यपि एक परम्परागत नीति का अनुसरण किया था, किन्तु अब समय बदल चुका था। इस नीति का प्रभाव यह हुआ कि राष्ट्रीय विचार-धारा और अधिक जोर पकड़ गई। १६०२ ई० में भारतीय विश्व-विद्यालय कमीशन की नियुक्ति हुई और १६०४ ई० में शिक्षा-नीति सम्बन्धी सरकारी प्रस्तावों का प्रकाशन हुआ। सन् १६०४ ई० में भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम पास हो गया। सन् १६०५ ई० में लार्ड किचनर से कुछ राजनैतिक मतभेद हो जाने के कारण लार्ड कर्जन स्वदेश वापिस लौट गये। आगे हम लॉर्ड कर्जन के शिक्षा सुधारों का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

भारतीय विश्वविद्यालय कमीशन (१६०२ ई०)

२७ जनवरी, सन् १६०२ ई० को इस कमीशन की नियुक्ति हुई जिसने उसी वर्ष जून में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। वास्तव में विश्वविद्यालय क्षेत्र में इस समय सुधार की आवश्यकता थी। उनकी स्थापना के उपरान्त उनके सुधार के अब तक कोई प्रयत्न नहीं किये गये थे। इसी बीच में भारत में कालेजों और माध्यमिक शिक्षालयों की संख्या बढ़ गई थी और विश्वविद्यालयों को उनका भार कठिन प्रतीत होने लगा था। लन्दन विश्वविद्यालय का भी १८६८ ई० में पुनर्संगठन कर दिया गया था। अतः यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि भारत में भी विश्वविद्यालयों के संगठन, प्रबन्ध तथा कार्य-प्रणाली में सुधार किया जाय। इसके अतिरिक्त भारत में विश्वविद्यालयों का संगठन लन्दन विश्वविद्यालय को आदर्श मान कर हुआ था। किन्तु अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया था कि इस प्रकार के विश्वविद्यालय जोकि केवल परीक्षा लेने भर के लिये हैं अधिक उप-योगी नहीं है। अतः लन्दन विश्वविद्यालय भी बदला जा चुका था। भारतवर्ष में भी इस बात की आवश्यकता का अनुभव होने लगा कि अब केवल ऐसे विश्वविद्यालय ही नहीं चाहिये जो कि परीक्षाओं का प्रबन्ध करके उपाधि वित-रण कर देते हैं। शिक्षा के पाठ्यक्रम में भी यह बात अनुभव होने लगी कि

केवल पुस्तकीय ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है। समय की माँग थी कि औद्योगिक व व्यावसायिक शिक्षा का प्रबन्ध हो जिससे शिक्षा व्यावहारिक जीवन के लिये अधिक उपयुक्त होकर यथेष्ठ रूप से हितकर हो सके। अतः इस कमीशन की नियुक्ति "ब्रिटिश भारत में स्थित विश्वविद्यालयों की अवस्था तथा भावी उन्नति की जाँच करने के लिये; तथा ऐसे प्रस्तावों पर विचार करने के लिये जो कि उनके विधान तथा कार्य-प्रणाली को सुधारने के लिये बनाये गये हैं अथवा बनाये जा सकते हैं; और गवर्नर-जनरल की परिषद् को उन साधनों के लिये सिफारिश करने के लिये जो कि विश्वविद्यालयों के शिक्षण-स्तर को उठा सकें और विद्या की उन्नति कर सकें"† की गई।

यह दुर्भाग्य की बात थी कि शिमला कान्फ्रेंस की भाँति कर्जन ने इस कमीशन में भी कोई भारतीय सम्मिलित नहीं किया। भारतीयों की भावना को इससे बड़ा आघात पहुँचा। उन्होंने अनुभव किया कि सम्भवतः सरकार उनकी उठती हुई राष्ट्रीय भावनाओं को कुचलने के लिये उसकी प्रगति को रोककर पूर्णतः उसका नियन्त्रण करना चाहती है। अन्त में कुछ समय बाद इस कमीशन में डा० गुरुदास बनर्जी तथा सैयद हसन बिलग्रामी के नाम भी जोड़ दिये गये, किन्तु भारतीय भावना को मनोवैज्ञानिक आघात तो लग ही चुका था।

विश्वविद्यालयों में शिक्षा तथा प्रबन्ध के सुधार के लिए कमीशन ने बहुत से सुझाव रक्खे। संक्षेप में कमीशन की सिफारिशें निम्नलिखित रूप से रक्खी जा सकती हैं—

(१) विश्वविद्यालयों के प्रबन्ध का पुनर्संगठन।

(२) विश्वविद्यालयों द्वारा सम्बन्धित कालेजों का कड़ा निरीक्षण तथा सम्बन्ध के नियमों में कड़ाई।

(३) विद्यार्थियों के रहने के स्थान और अवस्थाओं का समुचित प्रबन्ध।

(४) विश्वविद्यालयों द्वारा निश्चित मर्यादा के अन्तर्गत शिक्षण कार्य प्रारम्भ कर देना।

(५) पाठ्य-क्रम तथा परीक्षा-विधि में महत्वपूर्ण परिवर्तन।

ये ही सिफारिशें भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम १६०४ ई० का आधार थीं, जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस कमीशन का उद्देश्य वास्तव में कुछ क्रान्तिकारी परिवर्तन करने का नहीं था वरन् वर्तमान प्रणाली को ही पुनर्संगठित करना तथा मजबूत बनाना था। फीस की निम्नतर दर निश्चित करने तथा द्वितीय श्रेणी के इन्टरमीडियेट कालेजों

† *Indian Universities Commission Report.*

के तोड़ने की सिफारिश करके कमीशन ने कुछ भारतीयों को भी विरुद्ध कर लिया। इतना अवश्य है कि विश्वविद्यालयों के बिखरे हुए तत्वों को संगठित करके उन्हें सुदृढ़ और सुसंगठित बनाने के लिए कमीशन ने अत्यन्त लाभदायक सिफारिशें कीं और यदि लार्ड कर्जन की नीति से भारतवासियों को मनोवैज्ञानिक असंतोष न हो गया होता तो येही सिफारिशें स्वागत के साथ स्वीकार की जातीं, किन्तु समय चक्र तेजी से घूम रहा था।

सरकारी प्रस्ताव और शिक्षा नीति—(१६०४ ई०)

११ मार्च, १६०४ ई० को लार्ड कर्जन ने सरकारी शिक्षा-नीति को प्रस्ताव के रूप में प्रकाशित कर दिया। यह एक महत्त्वपूर्ण विवरण था। तत्कालीन भारतीय शिक्षा के दोषों को इसने सूक्ष्मदृष्टि से देखा और उनका ठीक-ठीक चित्रण किया। बहुत सी बातें तो आज भी यथावत् हमारी शिक्षा के भाल पर कलङ्क बिन्दु के समान लगी हुई हैं। प्रस्ताव में कहा गया कि "परिमाण की दृष्टि से हमारी वर्तमान शिक्षा के दोष सर्वविदित हैं"। "पाँच गाँवों में से चार गाँव बिना किसी स्कूल के हैं। चार लड़कों में से तीन बिना किसी भी प्रकार शिक्षा पाये हुए ही बढ़ते हैं और ४० में से केवल एक बालिका किसी भी प्रकार के स्कूल में पढ़ने जाती हैं।" शिक्षा की उत्तमता की दृष्टि से प्रस्ताव में प्रमुख निम्नलिखित दोष बतलाये गये :

(१) उच्चशिक्षा सरकारी नौकरी पाने के एक मात्र उद्देश्य से ही प्राप्त की जाती है, इस प्रकार शिक्षा का क्षेत्र अकारण संकीर्ण कर दिया जाता है और जो सरकारी नौकरी पाने में असफल रहते हैं, वह दुर्भाग्य से अन्य उद्यम पाने के अयोग्य हो जाते हैं।

(२) परीक्षाओं को आवश्यकता से अधिक प्रभुत्व दे रक्खा है।

(३) पाठ्यक्रम शुद्ध पुस्तकीय है।

(४) स्कूलों और कालेजों ने विद्यार्थियों की बुद्धि का विकास बहुत कम और स्मृति का विकास बहुत अधिक हो जाता है; फलतः गहन विद्वता के स्थान पर केवल यन्त्रवत् पुनरावृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है।

(५) अँग्रेजी को प्रमुखता देने से मातृभाषाओं का विकास रुकता है।

(६) टैक्निकल शिक्षा की अवहेलना हो रही है, किन्तु जो कुछ भी टेक्निकल शिक्षा उपलब्ध है वह केवल कतिपय उच्च सरकारी पदों के लिये लोगों को दीक्षित करने के लिये है। वास्तव

में ऐसी टेक्निकल शिक्षा की आवश्यकता थी जो जन साधारण के लिये उपयोगी हो और जिससे देश का भी आर्थिक विकास हो।

प्रस्ताव में यह भी आवश्यक समझा गया कि अधिक उपयोगी कृषि-कालेज खोले जाँय तथा भारतीय कलाओं और दस्तकारियों की भी उन्नति की जाय। शिक्षकों को अधिक संख्या में दीक्षित करने पर भी जोर दिया गया। स्त्री-शिक्षा की ओर भी प्रस्ताव की दृष्टि गई और कहा गया कि सरकार को स्त्री-शिक्षा पर अधिक व्यय करना चाहिये तथा अध्यापिकाओं की ट्रेनिङ्ग के लिये अधिक स्कूल तथा बालिकाओं के लिये सरकार की ओर से आदर्श पाठशालायें खुलनी चाहिये। इन पाठशालाओं के निरीक्षण तथा सुप्रबन्ध के लिये निरीक्षकों की संख्या बढ़ाने पर भी जोर दिया गया।

इस प्रकार इस प्रस्ताव के द्वारा प्राथमिक, माध्यमिक और विश्व-विद्यालय-शिक्षा का पूर्ण निरीक्षण करने के उपरान्त उनकी उन्नति के लिये सरकारी नीति की घोषणा की गई।

प्राथमिक शिक्षा के विषय में प्रस्ताव में स्वीकार किया गया कि यद्यपि इसमें विकास हुआ है किन्तु भारत की जन-संख्या को देखते हुए वह अपर्याप्त है। यह भी स्वीकार किया गया कि सरकार ने माध्यमिक शिक्षा की तुलना में इसकी अवहेलना की है। प्राथमिक शिक्षा-प्रसार को सरकार का प्रथम कर्तव्य बतलाया गया और उनके सुधार के लिये सुझाव रक्खे कि एक तो, स्पष्ट आर्थिक नीति का अनुकरण किया जाय। राजस्व में से प्रथम भाग शिक्षा पर व्यय किया जाय। स्थानीय बोर्डों को अपनी शिक्षा सम्बन्धी धन राशि केवल प्राथमिक शिक्षा पर ही व्यय करनी चाहिये न कि उच्च शिक्षा पर। दूसरे, शिक्षण विधि को अनुकूल सरल व उपयोगी बनाया जाय। तीसरे, अध्यापकों के वेतन में वृद्धि की जाय।

माध्यमिक शिक्षा के विषय में सरकारी प्रस्ताव में कहा गया कि अब तक माध्यमिक शिक्षा में वृद्धि तो संतोषजनक हुई है, किन्तु इसके साथ ही साथ ऐसे स्कूलों की संख्या बढ़ गई है जिनमें न योग्य शिक्षक हैं, न फर्नीचर न अन्य सामान और न पुस्तकालय व भवन इत्यादि की उचित व्यवस्था। शिक्षण-स्तर तथा कार्य क्षमता का भी पतन हुआ है। अतः प्रस्ताव में निरीक्षण, नियन्त्रण और आर्थिक सहायता द्वारा उनके स्तर को उठाने की सिफारिश की गई। स्कूलों को स्वीकृति तथा सहायता-अनुदान देने के नियमों में भी कड़ाई कर दी गई और फीस, विद्यार्थियों की संख्या, छात्रावास, विज्ञान

का सामान, योग्य शिक्षकों की नियुक्ति इत्यादि सम्बन्धी कुछ नियम बना दिये गये जिनकी अवहेलना करने पर इन स्कूलों के परीक्षार्थियों का विश्व-विद्यालय-प्रवेश तथा सरकारी परीक्षाओं में बैठने का निषेध कर दिया गया। इन नियमों की कठोरता की भारतीय मत ने तीव्र आलोचना की और सरकार पर अभियोग लगाया कि वह शिक्षा प्रसार को रोकने तथा उन शिक्षा केन्द्रों को, जो कि राष्ट्रीय आन्दोलन के श्रोत हैं, नष्ट करने की सरकार की चाल है।

माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में भी सुधार प्रस्तावित किये गये। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न शिक्षा के माध्यम का उठाया गया। यह कहा गया कि "प्राथमिक शिक्षा में अँग्रेजी का न तो कोई स्थान है और न होना चाहिये। जब तक बालक ने मातृभाषा में प्राथमिक शिक्षा पाकर उसका ज्ञान परिपक्व नहीं कर लिया है तब तक उसे अँग्रेजी पढ़ने की आज्ञा नहीं मिलनी चाहिये।" इस प्रकार यह बात स्वीकार की गई कि लगभग १३ वर्ष की उम्र के उपरान्त ही बालक को अँग्रेजी पढ़नी चाहिये। माध्यमिक शिक्षा के लिये प्रस्तात में मातृभाषा पर जोर दिया गया। "यदि शिक्षित वर्ग ही अपनी मातृभाषाओं की अवहेलना करेंगे तो अवश्य ही वे केवल देशी बोलचाल भी भाषा मात्र रह जायगीं जिनका अपना कोई साहित्य नहीं होगा।"

इसी प्रकार विश्वविद्यालय शिक्षा के दोषों का भी प्रस्ताव में संक्षेप में विवेचन किया गया, क्योंकि यह प्रश्न विश्वविद्यालय कमीशन के अधीन कर दिया गया था। तथापि उनकी परीक्षा-विधि, सीनेट का आकार तथा सिंडीकेट के अधिकार इत्यादि पर कुछ प्रकाश डाला।

उपर्युक्त विवरण से प्रकट होता है कि लार्ड कर्जन ने तत्कालीन भारतीय शिक्षा के गुण-दोषों का विवेचन बिल्कुल ठीक ही किया था। "किन्तु दुर्भाग्य से यद्यपि रोग का निदान ठीक था, प्रस्तावित औषधि न तो उचित ही थी और न सामयिक ही। लार्ड कर्जन ने जो बहुत सी बातें कहीं उनके कहने में वे सही थे, किन्तु जिस विधि से वे सुधार कराना चाहते थे उसने शिक्षित भारतीयों के मस्तिष्कों में गम्भीर सन्देह उत्पन्न कर दिया। उन्हें भय हुआ कि यह सुधार-कार्य कुछ राजनैनिक उद्देश्यों को अपनी आड़ में छिपाये हुए हैं।" *

भारतीय विश्व-विद्यालय अधिनियम (१९०४ ई०)

जैसा कि पीछे लिखा जा चुका हैं, १९०२ ई० में विश्वविद्यालय कमीशन की नियुक्त हुई थी। इस कमीशन की सिफारिशों में थोड़ा बहुत परिवर्तन

* A. N. Basu : *Education in Modern India*. P. 64.

करने के उपरान्त उन्हीं के आधार पर १६०२ ई० में इम्पीरियल लैजिस्लेटिव कार्उसिल में एक विधेयक 'भारतीय विश्वविद्यालय विधेयक' के नाम से प्रस्तुत किया गया जो कि २१ मार्च, १६०४ ई० को कानून बन गया। यद्यपि भारतीयों ने इस का भयंकर विरोध किया और स्व० गोपाल कृष्ण गोखले ने तो इसकी धज्जियाँ ही उड़ा दीं, किन्तु अन्त में बहुमत से यह पास हो गया।

इस कानून के द्वारा विश्व-विद्यालयों के संगठन तथा शासन में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गये। इन परिवर्तनों को ७ भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) विश्व-विद्यालयों के कार्य का विस्तार कर दिया गया और उन्हें प्रोफेसर तथा लैक्चरर नियुक्त करने और अनुसन्धान के लिये सुविधा जुटाने का अधिकार प्रदान कर दिया गया।

(२) दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन इस अधिनियम ने सीनेट को एक उपयुक्त आकार का बनाने का सुझाव देकर किया। सन् १८५७ ई० के कानून के द्वारा विश्व-विद्यालयों के लिये 'आजीवन-फैलो' सरकार के द्वारा नियुक्त करने का अधिकार था, किन्तु गत ५० वर्षों में इस अधिकार का उपयोग बुद्धिमत्ता-पूर्ण न होने के कारण सीनेटों का आकार बड़ा विशाल हो गया था। इस अधिनियम के द्वारा यह निश्चित हो गया कि 'फैलो' न ५० से कम और न १०० से अधिक होंगे, और इनकी अवधि आजीवन न हो कर केवल ५ वर्ष के लिये होगी।

(३) तीसरा परिवर्तन था चुनाव-सिद्धान्त का प्रारम्भ कर देना। इसके अनुसार निश्चय हुआ कि बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता विश्व-विद्यालयों में २० तथा अन्य में १५ 'फैलो' चुने जायेंगे।

(४) चौथा परिवर्तन था सिन्डीकेटों की कानूनी स्वीकृति तथा विश्व-विद्यालय के अध्यापकों का सिन्डीकेट में प्रतिनिधित्व।

(५) पाँचवाँ परिवर्तन इस एक्ट के द्वारा यह किया गया कि विश्व-विद्यालयों से कालेजों का सम्बन्ध स्थापित करने के नियम कड़े कर दिये गये और नियमित रूप से सम्बन्धित कालेजों के स्तर को ऊँचा उठाने के लिये सिन्डीकेटों द्वारा उनके निरीक्षण की व्यवस्था की गई।

(६) छठवाँ परिवर्तन सीनेट के द्वारा बनाये जाने वाले नियमों को सरकार में निहित करने का था। अब तक यह अधिकार केवल सीनेट को ही प्राप्त था, केवल सरकार से स्वीकृति लेने की आवश्यकता होती थी। किन्तु इस

एक्ट के द्वारा यह नियम बना दिया गया कि सीनेट के बनाये हुए नियमों की स्वीकृति के अतिरिक्त सरकार आवश्यक होने पर उनमें घटा बढ़ा भी सकती है; और यदि एक निश्चित समय तक सीनेट नियम बनाने में असफल रहती है तो सरकार नियम भी बना सकती है।

(७) अन्त में, गवर्नर जनरल की परिषद् को यह अधिकार भी दे दिया गया कि वह भिन्न-भिन्न विश्व-विद्यालयों की प्रादेशिक क्षेत्र-सीमा को भी निर्धारित कर दे। १८५७ ई० के कानून में यह प्रश्न अनिश्चित रह गया था; जिसका परिणाम यह हुआ कि कुछ अनियमित कार्यवाहियाँ हो गई थीं। उदाहरणतः कुछ कालेज दो विश्व-विद्यालयों से सम्बन्धित हो गये; अथवा कुछ अन्य कालेज किसी विश्व-विद्यालय के क्षेत्र में होते हुए और ही किसी दूसरे से सम्बन्धित हो गये इत्यादि। इस अधिनियम की २७ वीं धारा में कहा गया कि 'गवर्नर जनरल-इन-काउंसिल' अपने साधारण अथवा असाधारण आदेश द्वारा विश्व-विद्यालयों की सीमा निर्धारित कर देगा जिसके अनुसार कालेजों का सम्बन्ध उनसे स्थापित होगा।

भारतीय मत

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि 'भारतीय विश्व-विद्यालय विधेयक' का धारा-परिषद् में प्रचंड विरोध किया गया था। स्व० गोखले, जो कि धारा-परिषद् के सदस्य थे, उन्होंने अपने ऐतिहासिक व्याख्यानों के द्वारा भारतीय मत को प्रकट किया। वास्तव में प्रथमतः जब लार्ड कर्जन ने विश्व-विद्यालयों के सुधार की घोषणा की थी तो भारत में उसका बड़ा स्वागत हुआ था; किन्तु शिमला कान्फ्रेन्स में भारतवासियों का न लिया जाना और इसके प्रतिकूल ईसाई प्रतिनिधि डा० मिलर, जो कि क्रिश्चियन कालेज मद्रास के प्रिन्सीपल थे, उनकी उपस्थिति तथा कान्फ्रेन्स के निर्णयों को गुप्त रखना इत्यादि ऐसे कार्य थे जिनसे भारतवासी इन शिक्षा-सुधारों को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। उन्हें भय होने लगा कि सरकार देश की शिक्षा को योरुपवासियों के हाथ में देना चाहती है। यद्यपि यह सन्देह आगे चलकर निराधार सिद्ध हुआ, क्योंकि प्रायः सभी विश्व-विद्यालयों में सीनेट में भारतीयों की संख्या योरुपवासियों से अधिक रही। यही कारण था कि आगे चलकर भारतीयों का विरोध इस बात में कुछ ढीला पड़ गया।

इसके अतिरिक्त कमीशन में भी भारतीयों की अवहेलना और जस्टिस गुरूदास बनर्जी तथा सैयद हसन बिलग्रामी के नामों का बाद में जोड़ा

जाना और कमीशन की रिपोर्ट प्रस्तुत करने की जल्दबाजी इत्यादि भी कुछ ऐसी हरकतें थीं जिनसे भारतवासी चौंक उठे। इन सुधारों से जो उन्हें आशा बँधी थी वह छिन्न-भिन्न हो गई। उन्हें प्रतीत हुआ कि इनके उपरान्त भी शिक्षा क्षेत्र में कुछ "विशेषज्ञों का संकीर्ण, तर्कहीन और अल्पव्ययी शासन" जीवित रहेगा।

साथ ही चुनाव सिद्धान्त का स्वागत हुआ, किन्तु चुने हुए स्थानों की संख्या को अपर्याप्त बतलाया गया। 'फैलो' सदस्यों की संख्या के नियत करने में भी भारतवासियों को यही भय हुआ कि उसके द्वारा सरकार विश्वविद्यालयों की सीनेट में योरुपवासियों का बहुमत करना चाहती है। विश्वविद्यालयों द्वारा कालेजों के सम्बन्ध स्थापित करने के नियमों की कड़ाई का तीव्र विरोध हुआ, क्योंकि लोगों को भय हुआ कि इसके द्वारा उच्च-शिक्षा क्षेत्र में सरकार भारतीयों के व्यक्तिगत प्रयास को कुचलना चाहती है। अन्त में, सबसे अधिक विरोध सरकार की उस नीति का हुआ जिसके द्वारा उसने इस अधिनियम में सीनेट के बनाये हुए नियमों में हस्तक्षेप तथा विश्वविद्यालय के आन्तरिक शासन को अपने हाथ में लेने की साज़िश की थी। उन्हें डर हुआ कि सरकार उच्च-शिक्षा पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण करके उसकी प्रगति को रोकना चाहती है। वस्तुतः यह विरोध शिक्षा-क्षेत्र में बहुत दिनों तक चलता रहा जो कि १६२१ ई० में जाकर ही शान्त हुआ।

आलोचना

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने सम्पूर्ण गुण और दोषों के साथ इस अधिनियम ने वास्तव में भारतीय उच्च-शिक्षा में प्रशंसनीय सुधार किये। विश्वविद्यालयों का शासन अधिक कार्यशील और कुशल बना दिया गया। कुछ विश्वविद्यालयों ने शिक्षण-कार्य भी प्रारम्भ कर दिया। पुस्तकालयों की स्थापना हो गई। निम्नकोटि के कालेज या तो सुधार करके उच्चस्तर पर आ गये अथवा समाप्त हो गये। सीनेट का आकार नियत कर दिया गया तथा सिंडीकेट को कानूनी स्वीकृति प्रदान कर दी गई। जैसा भय किया गया था कि वैयक्तिक प्रयास को कुछ आघात लगेगा, निराधार सिद्ध हुआ। यद्यपि नियमों की कठोरता के कारण कालेजों की संख्या १६०४ से १६१२ ई० तक कम हो गई; किन्तु उनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। १६०२ ई० में विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित कालेजों की संख्या १६२ थी जो कि १६०७ ई० में १७४ ही रह गई। किन्तु इससे विद्यार्थियों की संख्या पर कोई प्रभाव नहीं प्राप्त

पड़ा। कुल मिलाकर कालेजों की कार्यक्षमता में वृद्धि हुई और शिक्षा का स्तर ऊँचा उठा।

विश्वविद्यालय अधिनियम के दोषों का उल्लेख इन शब्दों से अच्छा नहीं किया जा सकता "इसने विश्वविद्यालय शिक्षा-प्रणाली को बदलने तथा उसे उचित आधार पर रखने का कोई प्रयास नहीं किया। यद्यपि नए विश्वविद्यालयों की अत्यन्त आवश्यकता थी, किन्तु इसके द्वारा उनका निर्माण नहीं हुआ, और अन्त में, विश्वविद्यालयों के शासन में इसने सरकार के हाथों में इतना नियंत्रण रख दिया कि कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन ने भारतीय विश्वविद्यालयों को 'संसार के सबसे अधिक सरकारी शासित विश्वविद्यालय' कह कर पुकारा है।"†

उपसंहार

इस प्रकार हन्टर कमीशन से लेकर लार्ड कर्जन तक भारतीय शिक्षा ने प्रगति की। जिस प्रकार हन्टर कमीशन ने केवल प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा को प्रधानता दी थी, उसी प्रकार विश्वविद्यालय कमीशन ने प्रधानतः विश्वविद्यालय की शिक्षा के विषय तक ही अपने को सीमित रक्खा। इस युग में भारतीय शिक्षा का आधुनिक रूप पर्याप्तः निखर गया और अपने अन्तिम स्वरूप में उपस्थित होने लगा। हन्टर कमीशन का उद्देश्य शिक्षा का विस्तार तथा उसे जन-समूह के लिये सुलभ बनाना था। विश्वविद्यालय कमीशन तथा अधिनियम का उद्देश्य उच्च-शिक्षा का पुनर्संगठन तथा उसको ठोस बनाना था। कर्जन अपनी सद्भावनाओं की अपेक्षाकृत भी भारत में सर्वप्रिय न हो सके। शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण की उनकी नीति का जनमत ने निरादर किया। यदि कर्जन का स्वभाव भारतीय जनता के मनोनुकूल होता और लोग उनके राजनैतिक उद्देश्यों की ओर से सशंक न हो गये होते तो जो कुछ भी शिक्षा क्षेत्र में सुधार हुआ उसका श्रेय अवश्य उन्हें मिलता। उधर रूस-जापान युद्ध में जापान की विजय ने भारतवासियों के हृदय में राष्ट्रीयता की भावनाओं को और अधिक उभाड़ दिया था। साथ ही कर्जन के द्वारा बंगाल-विभाजन के कार्य ने तो भारत में एक बार को राष्ट्रीयता का झंझावात ही उत्पन्न कर दिया जिसने एक प्रकार से बृटिश शासन की जड़ें ही उखाड़ कर रख दीं। इस प्रकार से उत्पन्न हुए स्वदेशी आन्दोलन की आँधी में भारत को एक नवीन राष्ट्रीय

† Nurullah and Naik : *History of Education in India*. P. 260 (1943 Ed.)

स्फूर्ति का संदेश मिला। यहाँ इतना अवश्य कहेंगे कि लार्ड कर्जन की सुधार योजनाओं ने भारतीय शिक्षा-क्षेत्र में एक नवीन चेतना उत्पन्न कर दी। फलतः भारतीय जनता सरकार की शिक्षा योजनाओं को एक आलोचनात्मक दृष्टि से देखना सीखीं। इसके अतिरिक्त लार्ड कर्जन का वह आदेश जिसके द्वारा विद्यार्थियों को राजनैतिक सभाओं में भाग लेने पर कठोर दंड की धमकी दी गई थी, देश में राजनैतिक चेतना उत्पन्न, करने में अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ।

अध्याय १३

स्वदेशी आन्दोलन और शिक्षा-प्रगति

(१६०५-१६२० ई०)

(क) स्वदेशी आन्दोलन

आन्दोलन का प्रभाव

लार्ड कर्ज़न की नीति ने देश के राष्ट्रीय नेताओं को रुष्ट कर दिया। उसके शिक्षा-सुधार निश्चय ही राजनैतिक उद्देश्यों से प्रभावित थे। अतः राष्ट्रीय नेताओं का ध्यान इधर आकर्षित होना स्वाभाविक ही था। रूस-जापान युद्ध में जापान की विजय ने यह सिद्ध कर दिया था कि एशिया की सभ्यता भी संसार में अपना महत्त्व रखती है। भारत की राष्ट्रीय भावनाओं को इससे बड़ी प्रेरणा मिली। परिणामतः भारत में जापानी शिक्षा-प्रणाली के अध्ययन की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। जापानी शिक्षा-प्रणाली के ऊपर भारत में एक सरकारी रिपोर्ट भी प्रकाशित हुई तथा बहुत से भारतवासी जापान में शिक्षा प्राप्त करने भी गये। इसके अतिरिक्त १६०६ ई० में सरकार की ओर से कलकत्ता में 'जापान की शिक्षा प्रणाली' नामक एक सामयिक रिपोर्ट और निकली। इस साहित्य ने भी भारतीय तरुणों को क्रान्तिकारी भावनाओं से भर दिया और वह भारतीय शिक्षा-प्रणाली के सुधार की आवाज को ऊँचा करने लगे। इसी समय एशिया के अन्य भागों से भी इसी प्रकार के परिवर्तन के समाचार भारत आने लगे। फारस में १६०५ ई० में स्वेच्छाचारी शासन स्थापित हो गया था। तुर्की तथा चीन में भी उत्तरदायी शासन के आन्दोलन सफल हो रहे थे। इसके पूर्व भारत में बंगाल-विभाजन आन्दोलन जोर पकड़ ही चुका था। इस प्रकार ये सब घटनायें मिलकर 'स्वदेशी आन्दोलन' के रूप में फूट पड़ीं। सर्वप्रथम १६०५ ई० में बंगाल में ही इसका सूत्रपात हुआ और वहाँ से इसकी चिनगारियाँ सम्पूर्ण देश में फैल गईं।

इस आन्दोलन का मूलभूत विचार था विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार। विदेशी वस्तुओं के स्थान पर स्वदेशी वस्तुओं के उपभोग ने देश में औद्योगिक शिक्षा की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया और उच्च-कोटि के भारतीय-नेता देश में एक प्रकार की राष्ट्रीय-शिक्षा के प्रचार की कल्पना व योजना करने लगे। इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि बंगाल में 'राष्ट्रीय शिक्षा परिषद्' की स्थापना हुई। इस आन्दोलन के प्रमुख नेता सर गुरुदास बनर्जी, रासबिहारी घोष तथा डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर थे। इस परिषद् ने राष्ट्रीय शिक्षा के लिये एक विस्तृत योजना बनाई। प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय तक की शिक्षा का सुधार इसका उद्देश्य था। इस परिषद् ने कलकत्ता में एक 'नैशनल कालेज' भी स्थापित किया और श्री अरविंद को इसका प्रथम प्रिंसीपल बनाया गया। कुछ ही समय में लाखों रुपये भी इकट्ठे कर लिये गये। साथ ही कलकत्ता में एक 'टेक्निकल इन्स्टीट्यूट' भी खोला गया जो कि आगे चलकर 'जादवपुर कालेज ऑव इंजीनियरिंग एण्ड टेक्नोलॉजी' के रूप में विकसित हुआ। थोड़े ही समय में सम्पूर्ण बंगाल में राष्ट्रीय स्कूलों का एक जाल सा बिछ गया। इन स्कूलों में मातृभाषा के माध्यम के द्वारा उपयोगी विषयों में शिक्षा दी जाती थी। देश के अन्य भागों में भी इन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित स्कूलों का निर्माण हुआ तथा प्राचीन भारतीय सभ्यता व संस्कृति का पुनुरुत्थान करने के लिये गुरुकुलों की स्थापना भी हुई।

वस्तुतः भारतीय शिक्षा-पद्धति को सुधारने के लिये यह प्रथम आन्दोलन था; किन्तु ज्यों-ज्यों स्वदेशी आन्दोलन ढीला पड़ता गया, राष्ट्रीय शिक्षा-आन्दोलन में भी शैथिल्य आता गया। 'नैशनल कालेज' भी बन्द हो गया और अन्य स्कूल भी धीरे-धीरे नष्ट हो गये। केवल जादवपुर टेक्निकल कालेज आज भी उस शानदार आन्दोलन की स्मृति दिला रहा है। यह इस बात का द्योतक है कि देश में औद्योगिक शिक्षा की माँग थी। वस्तुतः यह सम्पूर्ण आन्दोलन ही राजनैतिक-आर्थिक था। शिक्षा-सुधार की यह लहर एक बार को देश के कौने-कौने में फैल गई थी। वृन्दावन और हरिद्वार के गुरुकुलों से वेद मंत्रों की ध्वनियाँ भारत के अतीत का गौरव गान गुंजरित करती थीं तो उधर शान्तिनिकेतन के ब्रह्मचारी प्राच्य संस्कृति को विश्व के समक्ष लाने के लिये कविसम्राट् के चरणों में बैठे तपस्या कर रहे थे। इधर वाइसराय की परिषद् के गगन चुम्बी भवनों में भारत के महान् नेता श्री गोखले की सिंह-गर्जना भारतीय जनवाणी का प्रतिनिधित्व कर रही थी।

उसी समय की एक महत्त्वपूर्ण घटना १९०६ ई० में मुस्लिम लीग की स्थापना है, जिसका भारतीय शिक्षा में एक ऐतिहासिक महत्त्व है। इसकी स्थापना कुछ अमीर तथा उच्च शिक्षा प्राप्त मुसलमानों ने अपने राजनैतिक तथा आर्थिक हितों की सुरक्षा के लिये की थी। लार्ड कर्जन के उपरान्त लार्ड मिन्टो भारत के वाइसराय हुए। उन्होंने सर्व प्रथम देश में हिन्दू-मुसलिम साम्प्रदायिकता के विष बीज बोये। 'मिन्टो-मॉर्ले सुधार' के नाम से जो वस्तु भारत में आई उसने देश की राजनैतिक तथा सामाजिक अवस्थाओं को प्रभावित करने के अतिरिक्त तत्कालीन शिक्षा पर भी अपना प्रभाव डाला। इस साम्प्रदायवाद की नीति को अँग्रेज शासकों का वरदान प्राप्त था। परिणाम इसका यह हुआ कि देश में मुसलमान नेताओं ने अपने लिये अलग स्कूल, अलग विश्वविद्यालय तथा सरकारी स्कूलों में अपने लिये अलग स्थान नियत कराने का नारा बुलन्द किया। इस प्रकार भारतीय शिक्षा में जातीयवाद के बीज बो दिये गये जो कि आगे जाकर एक भयानक अभिशाप सिद्ध हुए।

गोखले का विधेयक

सन् १९०४ ई० की सरकारी नीति के कारण देश में प्राथमिक शिक्षा का पर्याप्त प्रसार हुआ, किन्तु भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ-साथ इसकी माँग भी बढ़ती जा रही थी। स्वदेशी आन्दोलनों तथा राजनैतिक जागृति ने जनसाधारण की शिक्षा की ओर देश में रुचि उत्पन्न कर दी थी। उस समय भारत में केवल ६ प्रतिशत साक्षरता थी और स्कूल जाने योग्य लड़कों के केवल २३·८ प्रतिशत तथा लड़कियों के २·७ प्रतिशत स्कूलों में जाते थे!

ऐसी परिस्थितियों में गोखले ने सरकार तथा जनता का ध्यान इस ओर आकर्षित किया और प्राथमिक शिक्षा के निशुल्क तथा अनिवार्य बनाने की माँग सरकार के समक्ष प्रस्तुत की। उन्होंने जनता को यह भी चेतावनी दी थी कि अशिक्षित देश सभ्यता की दौड़ में कभी भी आगे नहीं बढ़ सकते। अतः भारतीय जन-साधारण को अनिवार्यतः शिक्षित किया जाय। इधर १९०६ ई० में बड़ौदा नरेश ने अपने सम्पूर्ण राज्य में प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य करदी। अतः भारत के अन्य भागों को भी इस क्रान्तिकारी कदम से प्रेरणा मिली। १९ मार्च, सन् १९१० ई० को स्वर्गीय गोखले ने इम्पीरियल धारा परिषद् में निम्न-लिखित प्रस्ताव रक्खा।

"इस परिषद् की सिफारिश है कि प्रारम्भिक शिक्षा को निःशुल्क तथा अनिवार्य बनाने का कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिये, और निश्चित प्रस्ताव बनाने

के लिये सरकारी और गैर-सरकारी अधिकारियों का एक संयुक्त कमीशन शीघ्र नियुक्त करना चाहिये।"

इसके अनुसार श्री गोखले ने बताया कि केवल ६ वर्ष से १० वर्ष तक के लड़कों के लिये ही शिक्षा अनिवार्य की जाय और वह भी उस क्षेत्र में जहाँ पहिले से ही ३३ प्रतिशत लड़के स्कूलों में शिक्षा पा रहे हों। शिक्षा की तत्कालीन अवस्था का वर्णन करते हुए श्री गोखले ने बड़ा मार्मिक चित्र उपस्थित किया तथा उसके सुधार के बड़े ठोस सुझाव रक्खे। खर्च के विषय में उन्होंने बताया कि यह स्थानीय संस्थाओं तथा सरकार में १ : २ के अनुपात से बँट जाना चाहिये। शिक्षा के लिये एक अलग सैक्रेटरी नियुक्त करने की भी उन्होंने माँग की तथा बजट में शिक्षा की प्रगति के वर्णन करने का सुझाव रक्खा।

अन्त में सरकार के आश्वासन पर यह प्रस्ताव वापिस ले लिया गया, किन्तु इसके उपरान्त भी कोई आशाजनक प्रगति प्राथमिक शिक्षा में न हुई। १९१० ई० में भारत सरकार ने 'शिक्षा विभाग' तो स्थापित कर दिया, किन्तु शिक्षा को पूर्णतः प्रान्तीय सरकार के क्षेत्र के अन्तर्गत ही रक्खा। १९१० ई० से पूर्व शिक्षा गृह-विभाग के अन्तर्गत थी। इस नये शिक्षा-विभाग में स्वास्थ्य तथा भूमि को भी सम्मिलित रक्खा गया था।

प्राथमिक शिक्षा के विस्तार के लिये सरकार की धीमी प्रगति को देखकर १६ मार्च, १९११ ई० को श्री गोखले ने अपना ऐतिहासिक विधेयक प्रस्तुत किया। यह विधेयक व्यक्तिगत था तथा अत्यन्त ही विनम्र और सादा था। इस का उद्देश्य "देश की प्राथमिक शिक्षा प्रणाली में क्रमशः अनिवार्यता के सिद्धान्त का प्रारम्भ करना" था। प्रथमतः इसके अनुसार स्थानीय बोर्डों के उन क्षेत्रों में जहाँ पहिले से ही लड़के-लड़की एक निश्चित प्रतिशत में स्कूल जाते हैं, कानून लागू करना था। इस प्रतिशत को गवर्नर जनरल अपनी परिषद् में नियत करेंगे। इसके अतिरिक्त इस अधिनियम को लागू करने का अधिकार पूर्णतः स्थानीय बोर्डों पर छोड़ दिया गया। साथ ही यदि स्थानीय बोर्ड इसे अपने क्षेत्र में लागू करना चाहें तो पहिले सरकार की अनुमति लें। स्थानीय बोर्डों को शिक्षा-कर लगाने की अनुमति दी जाने की भी व्यवस्था की गई। ६-१० वर्ष तक के बालकों के अभिभावकों के लिये आवश्यक कर दिया गया कि वे अपने लड़कों को स्कूल भेजें। लड़कियों पर भी इसे कालान्तर में लागू करने की बात कही गई। नियम भंग करने पर अभिभावकों के लिये दण्ड-व्यवस्था भी की गई। साथ ही खर्च के लिये स्थानीय बोर्डों को प्रान्तीय सरकारों से अनुदान का उल्लेख भी किया गया। वस्तुतः इस योजना का आर्थिक स्वरूप ही इसको

स्वीकार अथवा अस्वीकार किये जाने के लिये अधिकांश में उत्तरदायी था। अतः श्री गोखले ने स्वयं इसको अपनी भूमिका में स्पष्ट करने का प्रयास किया था।

"यह बात स्पष्ट है कि इस विधेयक की सम्पूर्ण क्रिया प्रथमतः अनिवार्य शिक्षा जहाँ कहीं भी लागू की जाय उसके व्यय के उस भाग पर निर्भर है जोकि सरकार सहन करने को उद्यत है। मुझे विदित है कि इंगलैंड में संसदीय-अनुदान प्रारम्भिक शिक्षा के कुल व्यय का ⅔ है। स्काटलैंड में इससे भी अधिक तथा आयरलैंड में तो प्रायः सम्पूर्ण ही है। मेरा अनुमान है कि हमें यह कहने का अधिकार है कि भारत में नये व्यय का कम से कम ⅔ भाग सरकार उठाये।"†

इस प्रकार विधेयक के प्रस्तुत हो जाने पर स्थानीय सरकारों, विश्व-विद्यालयों तथा कुछ अन्य व्यक्तिगत संस्थाओं से मत-संग्रह के लिये इसको घुमाया गया। अन्त में दो दिन के घमासान संघर्ष के उपरान्त १६ मार्च, १९१२ ई० को इसे १३ मतों के विरुद्ध ३८ मतों से गिरा दिया गया। सरकारी सदस्यों के अतरिक्त जमींदार सदस्यों ने भी अपने गोरे स्वामियों का साथ देकर राष्ट्र की शिक्षा प्रगति को एक महान् क्षति पहुँचाई। सरकार इस नम्र विधेयक को भी पास न कर सकी। वस्तुतः अस्वीकर करने के तर्क बड़े ही निरर्थक व सार-हीन थे। उदाहरण के लिये कहा गया कि यह कदम समय से पूर्व तथा अनाव-श्यक था। यह भी कहा गया कि जनता अनिवार्यता के सिद्धान्त के प्रतिकूल है। तथा अनिवार्यता शिक्षा-सिद्धान्त के प्रतिकूल भी है; प्रान्तीय सरकारें अनिवार्य शिक्षा के पक्ष में नहीं हैं; कुछ भारतीय अल्पसंख्यक शिक्षित वर्ग भी इसके विरुद्ध हैं और स्थानीय बोर्ड भी इस समय नवीन योजना के लिये अधिक कर न लगावेंगे तथा प्रबन्ध और संगठन की दृष्टि से इसमें अनेक शासन सम्बन्धी असुविधायें हैं इत्यादि-इत्यादि बहाने सरकार ने लगा कर विधेयक को गिरा दिया। श्री गोखले ने कहा कि इसे १५ सदस्यों की एक प्रवर समिति‡ के पास ही भेज दिया जाय, किन्तु सब व्यर्थ हुआ। सरकार की ओर से सर हारकोर्ट बटलर ने, जो सरकारी प्रवक्ता था, विधेयक का तीव्र विरोध किया और कहा कि देश अभी इस सुधार के लिये तैयार नहीं है। श्री गोखले ने धारा प्रवाह व्याख्यानों के द्वारा अपने अकाट्य तर्क प्रस्तुत किये किन्तु उन्हें निराश होना पड़ा। यह एक शानदार पराजय थी!

† *Gokhale's Speeches* (1920 Ed.) P. P. 618-19.
‡ Select Committee.

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस असफलता की अपेक्षाकृत भी बाद में श्री गोखले के विधेयक के सिद्धान्तों को सरकार व्यावहारिक रूप प्रदान करने लगी। अधिकतर शिक्षित भारतवासी अनिवार्य निशुल्क शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव करने लगे। केन्द्र में शिक्षा विभाग स्थापित हो गया। प्राथमिक शिक्षा के आन्दोलन को सम्पूर्ण देश में एक तीव्र प्रगति मिली। १६१२ ई० में सीमाप्रान्त में प्राथमिक शिक्षा निशुल्क कर दी गई। संयुक्तप्रान्त, पंजाब, आसाम तथा मध्यप्रान्त में भी नाम-मात्र शुल्क पर इसे अधिक विस्तार के साथ चालू कर दिया गया।

भारत सरकार की १६१३ ई० की शिक्षा-नीति

देश में शिक्षा की माँग के सर्वप्रिय होने के कारण भारत सरकार को अपनी नीति को दुहराने की आवश्यकता अनुभव हुई। श्री गोखले के विधेयक के विरोध करने के कारण सरकार के लिये भी आवश्यक हो गया कि वह अपनी शिक्षा-नीति को स्पष्ट करे। इसके अतिरिक्त १६११ ई० के दिल्ली दरबार के उपरान्त देश में कुछ शासन सम्बन्धी परिवर्तन भी हुए। विभाजित बंगाल पुनः संयुक्त कर दिया गया। अतः शिक्षा क्षेत्र का पूर्ण अवलोकन व निरीक्षण करने के लिये २१ फरवरी, १६१३ ई० को सरकार ने शिक्षा-नीति पर अपना प्रसिद्ध प्रस्ताव पास किया।

इस प्रस्ताव के अनुसार निम्नलिखित सिफारिशें की गई :—

(१) लोअर प्राइमरी स्कूलों का विस्तार किया जाय जहाँ लिखने पढ़ने के अतिरिक्त ड्राइंग, गाँव का नकशा, प्रकृति निरीक्षण तथा शारीरिक व्यायाम की शिक्षा प्रदान की जाय।

(२) साथ ही उचित स्थानों पर अपर प्राइमरी स्कूलों की स्थापना की जाय और आवश्यकता पड़ने पर लोअर प्राइमरी स्कूलों को अपर प्राइमरी कर दिया जाय।

(३) सहायता प्राप्त व्यक्तिगत स्कूलों के स्थान पर बोर्ड स्कूल खोले जाँय; तथा मकतब और पाठशालाओं को उदारता पूर्वक आर्थिक सहायता दी जाय। व्यक्तिगत स्कूलों का प्रबन्ध तथा निरीक्षण अधिक अच्छा किया जाय।

(४) भारत के बहुत से भागों में इस समय यह संभव नहीं है कि गाँव तथा नगरों के लिये भिन्न-भिन्न पाठ्यक्रम रक्खा जाय तथापि नगरों में भूगोल, पर्यटन इत्यादि के बढ़ाये जाने की संभावना है।

(५) शिक्षक उसी वर्ग के हों जिनके कि बालक हैं। वह मिडिल पास हों तथा एक साल की ट्रेनिंग लिये हुए हों। छुट्टियों में प्राथमिक शिक्षकों के ज्ञान को नवीन करने के लिये उन्हें कोर्स दुहराने की सुविधा प्रदान की जाय।

(६) दीक्षित अध्यापकों को १२) रु० प्रतिमास से कम न मिलना चाहिये। उनकी तरक्की तथा पैंशन अथवा प्रौविडैंट फंड की व्यवस्था की जाय।

(७) किसी भी अध्यापक से ५० से अधिक विद्यार्थियों को न पढ़वाया जाय। सामान्यतः उनकी संख्या ३० या ४० हो।

(८) मिडिल तथा माध्यमिक वर्नाक्युलर स्कूलों की दशा में सुधार किये जाँय तथा उनकी संख्या में वृद्धि की जाय।

(९) स्कूलों के भवन स्वच्छ, विस्तृत तथा अल्पव्ययी हों।

(१०) प्राथमिक शिक्षा के अतिरिक्त स्त्री-शिक्षा पर भी इस प्रस्ताव में जोर दिया गया। बालिकाओं के लिये विशेष तथा व्यावहारिक उपयोगिता के पाठ्यक्रम को तैयार करने के सुझाव रखे। प्रस्ताव में यह स्पष्ट कर दिया गया कि लड़कियों की शिक्षा में परीक्षा का महत्त्व अधिक न बढ़ने पावे। अध्यापिकाओं तथा निरीक्षि-काओं की संख्या बढ़ाई जावे।

(११) माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में सरकार के पूर्ण पलायन का प्रस्ताव में विरोध किया गया; साथ ही सरकारी स्कूलों के बढ़ाने का भी निषेध कर दिया गया। वर्तमान स्कूलों को आदर्श बना रहने दिया जाय तथा व्यक्तिगत स्कूलों को उचित सहायता-अनुदान द्वारा प्रोत्साहित किया जाय। परीक्षा-विधि तथा पाठ्यक्रम के सुधार की भी सिफारिश की गई।

(१२) विश्वविद्यालय शिक्षा में और अधिक विस्तार का आयोजन किया गया। देश की माँग तथा आवश्यकताओं को देखते हुए पाँच विश्वविद्यालयों तथा १८५ कालेजों को अपर्याप्त बतलाया गया। इसके अतिरिक्त १९०४ ई० से चले आने वाला वह नियम जिसके अनुसार विश्वविद्यालयों को हाईस्कूलों को स्वीकृति देने का अधिकार प्रदान कर दिया गया था, उसमें कुछ दोष आ जाने के कारण प्रस्ताव ने सुझाव रक्खा कि हाईस्कूल तथा विश्वविद्यालयों में उचित श्रम-विभाजन किया जाय। अतः विश्वविद्यालयों को

स्कूलों को स्वीकृति प्रदान करने के उत्तरदायित्व से मुक्त करके उसे प्रान्तीय सरकारों के अधिकार में रक्खा जाय। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों में शिक्षण तथा परीक्षा के दो कार्यों को भी अलग-अलग करके शिक्षण करने वाले विश्वविद्यालयों की स्थापना पर जोर दिया। साथ ही उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में औद्योगिक महत्त्व के विषयों का समावेश और इच्छुक विद्यार्थियों के लिये अनुसन्धान की अधिक सुविधायें प्रदान करने की सिफारिश की। विद्यार्थियों के चरित्र तथा छात्रावास-जीवन पर भी प्रस्ताव में सुझाव रक्खे गये।

आलोचना

इस प्रकार उपर्युक्त सुझावों को देखने से प्रतीत होता है कि माध्यमिक तथा कालेज शिक्षा में चलने वाला तर्क कि शिक्षा के विस्तार को बढ़ाया जाय अथवा उसकी किस्म का सुधार किया जाय, प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में भी आ गया। इतना अवश्य है जहाँ सरकार शिक्षा की किस्म का सुधार करना चाहती थी वहाँ उसके विस्तार के विषय में भी सजग थी, जैसा कि उपर्युक्त सिफारिशों से प्रकट होता है।

माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में ये सुझाव अत्यन्त महत्त्व रखते थे। १९१३ ई० के उपरान्त १९२१ ई० तक भारत में जो सर्वाङ्गीण शिक्षा-विकास हुआ उसका श्रेय इस प्रस्ताव को ही है, जिसका पर्यवेक्षण हम तत्कालीन 'शिक्षा प्रगति' नामक शीर्षक के अन्तर्गत आगे करेंगे। इतना अवश्य है कि सन् १९१४ ई० में विश्वयुद्ध की घोषणा तथा भारत सरकार के उस युद्ध में भाग लेने के कारण १९१३ ई० के प्रस्ताव के अधिकतर सुझाव एक पवित्र आशा के रूप में ही रहे। युद्ध के उपरान्त १९१७ ई० में भारत सरकार ने कलकत्ता विश्वविद्यालय की शिक्षा के विषय में जाँच पड़ताल करने के लिये एक कमीशन की नियुक्ति की जो कि भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

(ख) कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन (१९१७ ई०)

नियुक्ति

प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व भारत सरकार ने लार्ड हैल्डेन के सभापतित्व में एक विश्वविद्यालय कमीशन नियुक्त करने का प्रयास किया था, किन्तु विश्वयुद्ध तथा लार्ड हैल्डेन की अस्वीकृति के कारण यह संभव न हो सका। युद्ध के उपरान्त सरकार ने १९१७ ई० में एक 'छोटा किन्तु शक्तिशाली' कमीशन

नियुक्त किया। यह कमीशन प्रधानतः कलकत्ता विश्वविद्यालय की अवस्था की जाँच करने तथा उसकी समस्याओं को रचनात्मक विधि से सुलझाने के लिये नियुक्त किया गया था।

१४ सितम्बर, १६१७ ई० को भारत सरकार ने एक प्रस्ताव प्रकाशित किया, जिसके अनुसार इस कमीशन की नियुक्ति की। डा० माइकेल सैडलर, वाइस चांसलर लीड्स विश्वविद्यालय, इसके सभापति नियुक्त हुए। यही कारण है कि इतिहास में यह 'सैडलर कमीशन' के नाम से भी विख्यात है। इसके अतिरिक्त अन्य सदस्य डा० ग्रेगरी, प्रोफे० रैमजेम्योर, सर हार्टोग, श्री हार्नेल, डा० ज़ियाउद्दीन अहमद तथा सर आसुतोष मुकर्जी थे।

यद्यपि इस कमीशन की नियुक्ति केवल कलकत्ता विश्वविद्यालय के लिये ही हुई थी, किन्तु तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से यह भी व्यवस्था करदी गई थी कि कमीशन भारत के अन्य विश्वविद्यालयों की अवस्था का अध्ययन भी कर सकता है यही कारण है कि इस कमीशन की रिपोर्ट का अखिल भारतवर्षीय महत्त्व है। लगभग १७ माह के कठिन श्रम के उपरान्त १६१६ ई० में कमीशन ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करदी। यह रिपोर्ट १३ भागों में विभाजित है और भारतीय माध्यमिक, कालेजीय तथा विश्वविद्यालय शिक्षा के विषय में एक अत्यन्त ही विस्तृत, महत्त्वपूर्ण तथा रचनात्मक विवरण प्रस्तुत करती हैं। प्राथमिक शिक्षा को इस रिपोर्ट में स्पर्श नहीं किया गया हैं, किन्तु माध्यमिक शिक्षा पर, जो कि वस्तुतः उच्च शिक्षा का धरातल है, अच्छी विवेचना की गई है।

सिफ़ारिशें

कमीशन की राय में विश्वविद्यालय शिक्षा में सुधार करने के लिये माध्यमिक शिक्षा में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता थी। अतः कमीशन ने इसके लिये निम्नलिखित सुझाव रक्खे।

(१) इन्टरमीडियेट कक्षाओं को विश्वविद्यालयों से अलग कर दिया जाय; और बी० ए० की उपाधि प्राप्त करने के लिये ३ वर्ष के पाठ्यक्रम की व्यवस्था कर दी जाय। विश्वविद्यालय में प्रवेश इंटर पास करने पर हो न कि मैट्रिक पास करने पर।

(२) प्रथम उद्देश्य के लिये इण्टरमीडियेट कालेजों की स्थापना की जाय, जहाँ कला, विज्ञान, चिकित्सा, इंजीनियरी, कृषि, वाणिज्य तथा अध्यापकी की शिक्षा प्रदान की जाय।

(३) हाईस्कूल तथा इण्टरमीडियेट बोर्ड की स्थापना प्रत्येक प्रान्त में की जाय, जिसमें सरकार, विश्वविद्यालय, हाई स्कूल तथा इण्टर-मीडियेट कालेजों के प्रतिनिधि सम्मिलित होकर माध्यमिक शिक्षा का प्रबन्ध करें। माध्यमिक शिक्षा के विषय में इस बोर्ड को अधिकांश में शिक्षा-विभाग के नियन्त्रण से मुक्त रखने की सिफारिश की गई।

इस प्रकार नवीन बोर्ड का निर्माण करने में कमीशन का उद्देश्य यह था कि विश्वविद्यालयों को माध्यमिक शिक्षा के भार से मुक्त करके इस योग्य बना दिया जाय कि वे अपना ध्यान पूर्णतः उच्च शिक्षा पर दे सकें। साथ ही शिक्षा-विभाग और विश्वविद्यालयों के बीच में पड़ी हुई मतभेद की गाँठ भी टूट जाय। इन इण्टर-कालेजों में कमीशन ने शिक्षा का माध्यम मातृभाषा रखने पर जोर दिया।

इसके उपरान्त कमीशन ने कलकत्ता विश्वविद्यालय की समस्याओं का अध्ययन किया और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इस विश्वविद्यालय का आकार अत्यन्त बढ़ गया है यहाँ तक कि इससे सम्बन्धित कालेजों तथा उनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या इतनी बढ़ गई है कि एक विश्वविद्यालय इनका प्रबन्ध नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में कमीशन ने ३ सुझाव रक्खेः—

(१) ढाका में एक शिक्षा देने वाला स्थानीय विश्वविद्यालय स्थापित किया जाय।

(२) कलकत्ता नगर के शिक्षा साधनों का पुनर्संगठन इस विधि से किया जाय कि कलकत्ता में भी वास्तविक शिक्षण कार्य करने वाले एक विश्वविद्यालय का निर्माण हो सके।

(३) नगर के आस-पास के कालेजों का विकास इस प्रकार किया जाय कि उच्च शिक्षा के सम्पूर्ण साधनों को एकत्रित करके कुछ थोड़े से स्थानों पर ही विश्वविद्यालय-केन्द्रों के क्रमिक विकास को प्रोत्साहित करने की सम्भावना हो सके।

साधारण रूप से विश्वविद्यालयों के आन्तरिक शासन तथा संगठन पर भी कमीशन ने अपने विचार प्रकट किये। जैसे—

(१) विश्वविद्यालय आवश्यकता से अधिक सरकारी नियन्त्रण में हैं अतः इससे मुक्त करने के लिये शिक्षकों को विश्वविद्यालयों के विषयों में अधिक अधिकार प्रदान किये जाँय।

(२) विश्वविद्यालयों के शासन नियम सरल कर दिये जाँय।

(३) योग्य विद्यार्थियों के लिये 'पास कोर्स' के अतिरिक्त 'आॅनर्स कोर्स' भी नियत कर दिये जाँय; तथा इन्टर के बाद डिग्री कोर्स ३ वर्ष का कर दिया जाय।

(४) आन्तरिक शासन के लिए सीनेट के स्थान पर एक प्रतिनिधि-कोर्ट तथा सिंडीकेट के स्थान पर छोटी सी कार्यकारिणी-परिषद् बना दी जाय।

(५) प्रोफेसरों तथा रीडरों की नियुक्ति विशेष समितियों द्वारा की जाय जिनमें बाहर के विशेषज्ञ भी सम्मिलित हो सकें।

(६) एकेडेमिक प्रश्नों को सुलझाने के लिये एकेडेमिक-परिषद् तथा अध्ययन बोर्ड स्थापित कर दिये जाँय जो कि परीक्षा, पाठ्य-क्रम, उपाधि-वितरण तथा अनुसन्धान इत्यादि के प्रश्नों को सुलझायें।

(७) भिन्न-भिन्न विभागों (Faculties) की स्थापना की जाय।

(८) एक वैतनिक उप कुलपति नियुक्त किया जाय।

(९) मुसलमानों में शिक्षा की पिछड़ी अवस्था को देखते हुए उन्हें हर प्रकार की विशेष सुविधा दी जाँय।

(१०) प्रत्येक विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों के स्वास्थ्य की देख भाल करने के लिये स्वास्थ्य शिक्षा-संचालक की नियुक्ति की जाय।

इन सिफारिशों के अतिरिक्त कमीशन ने स्त्री-शिक्षा अध्यापकों का प्रशिक्षण, औद्योगिक शिक्षा तथा टैक्नोलौजी और विज्ञानों के उचित शिक्षण के विषय में भी जोरदार सिफारिशें कीं। 'शिक्षा' विषय को बी० ए० तथा इण्टर कक्षाओं के पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने तथा विश्वविद्यालयों में शिक्षा-विभाग खोलने की सिफारिश की। १५ और १६ वर्ष से ऊपर अवस्था वाली पर्दानशीन युवतियों के लिये उचित पर्दा करने की व्यवस्था पर जोर दिया। स्त्री-शिक्षा के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय में एक 'स्पेशल बोर्ड आव् वीमेन्स एज्यूकेशन' की स्थापना करने तथा उसे स्त्रियों की आवश्यकतानुसार उनके लिए विशेष पाठ्य-क्रम नियत करने का अधिकार देने के लिये कहा। विश्वविद्यालयों के पारस्परिक सम्बन्धों में अधिक साम्य तथा सहयोग उत्पन्न करने के लिए एक अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड स्थापित करने की भी सिफारिश की।

आलोचना

इस प्रकार कमीशन ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के सुधार के लिए अपने सुझाव रक्खे। किन्तु इनका महत्व सम्पूर्ण देश की शिक्षा के लिये है। इस कमीशन के सुझावों के फलस्वरूप भारतीय विश्वविद्यालयों में महान् सुधार हुआ उनमें एक नवीन जीवन का संचार हुआ। विश्वविद्यालय अब विद्या के केन्द्र बनने लगे। इन सुझावों ने न केवल भावी विश्वविद्यालयों का ही स्वरूप स्थिर किया अपितु पूर्व स्थित विश्वविद्यालयों का भी नये दृष्टिकोण से पुनर्संगठन किया। विश्वविद्यालय शिक्षा पर इस कमीशन ने एक नया प्रकाश डाला। तथा उसे वास्तविक जीवन के अधिक निकट लाकर रख दिया। मातृभाषाओं की उन्नति हुई तथा अन्वेषण को प्रोत्साहन मिला। विश्वविद्यालयों का आन्तरिक संगठन व शासन पर्याप्त रूप से सुधर गया। वास्तव में यह रिपोर्ट आज भी विश्वविद्यालय शिक्षा पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। उच्च शिक्षा के प्रायः सभी अंगों पर विचार करके कमीशन ने अपने तर्कयुक्त तथा रचनात्मक सुझाव दिये।

यह रिपोर्ट लन्दन विश्वविद्यावल के हैल्डेन कमीशन की रिपोर्ट से प्रभावित हुई थी। भारत में भी 'विश्वविद्यालय कालेजों' 'कंस्टीच्युऐंट एन्ड इनकोर्पोरेटेड कालेज' 'रीडर', 'कोर्ट तथा 'एकेडैमिक कांउसिल' इत्यादि की स्थापना इंगलैंड के हैल्डेन-कमीशन के आधार पर ही देखने को मिलती है।

इतना अवश्य है कि कमीशन के उद्देश्य उच्च होते हुए भी उसकी कुछ सिफारिशें समय से पूर्व ही थी। ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज के आदर्श पर कलकत्ता विश्वविद्यालय का संगठन उत्तम होते हुए भी उस समय व्यावहारिक नहीं था। माध्यमिक शिक्षा पर से शिक्षा विभाग का नियन्त्रण हटाकर बोर्ड के अन्तर्गत कर देना भी समय से पूर्व था। इंटर कालेजों का परीक्षण भी सफल नहीं हुआ। यही कारण है कि उत्तर प्रदेश में इंटरमिडियेट कालेजों को तोड़ कर उच्चतर माध्यमिक शिक्षालय बनाने की योजना सरकार ने लागू की है जिसका आगे वर्णन करेंगे। किन्तु यह सब दोष तुच्छ हैं और रिपोर्ट की महानता को किसी भी प्रकार कम नहीं करते। इसके आधार पर भारत में मैसूर, पटना, बनारस, अलीगढ, ढाका, लखनऊ तथा हैदराबाद में स्थानीय विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई; तथा उच्च व माध्यमिक शिक्षा का पुनर्संगठन हुआ भारतीय शिक्षा के इतिहास में यह रिपोर्ट एक युग-निर्माणक विवरण के रू में सदा अमर रहेगी।

(ग) शिक्षा-प्रगति (१९०५-१९२० ई०)

(१) विश्वविद्यालय शिक्षा

सन् १९०४ ई० के विश्वविद्यालय कानून ने भारत के पाँच विश्वविद्यालयों का पुनर्संगठन कर दिया। सीनेट तथा सिंडीकेटों की पुनः व्यवस्था करके 'फेलो' सदस्यता को ५ वर्ष तक के लिये कर दिया। विश्वविद्यालयों के आन्तरिक सुधार के अतिरिक्त परीक्षा-विधि, शिक्षण-विधि तथा पाठ्यक्रम में संतोषजनक सुधार किये गये। विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित कालेजों का भी अधिकार उन्हें मिल जाने के कारण इन कालेजों के प्रबन्ध तथा शिक्षा-स्तर में उन्नति हुई। कालेजों में सर्वांगीण उन्नति के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। इतना अवश्य है कि नियमों की कठोरता के कारण कला-कालेजों की संख्या १९०२ ई० में १४५ से घट कर १९१२ ई० में १४० रह गई किन्तु उनमें अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि हुई। आसाम तथा बंगाल में कालेज के विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि हुई। १९१० ई० में पेशावर में भी इस्लामिया कालेज की स्थापना हुई।

कालेज शिक्षा को प्राप्त करने का उद्देश्य अब इतना सरकारी नौकरी प्राप्त करना नहीं रह गया था, क्योंकि शिक्षितों की संख्या में अपरिमित वृद्धि हो रही थी। रोजगार का कोई अन्य साधन या विकल्प न होने के कारण कालेजों में उच्च-शिक्षा के लिये विद्यार्थियों की वृद्धि होने लगी। औद्योगिक शिक्षा के कालेजों के अभाव में भी अधिकतर विद्यार्थी निरुद्देश्य कला व विज्ञान के कालेजों में प्रवेश पाने लगे। "विद्यार्थियों की संख्या में यह निरुद्देश्य वृद्धि एक शुभ प्रगति न होकर एक रोग का चिन्ह था।"

इस युग में कालेजों की आर्थिक अवस्था में सुधार होने लगा। सरकार ने अनुदान भी बढ़ा दिया था। किन्तु, १९०५ ई० में इससे पूर्व पंजाब विश्वविद्यालय को ३० हजार रु० वार्षिक प्राच्य शिक्षा कालेज के लिये मिलता था। विश्वविद्यालों की उन्नति के लिये ५ लाख रुपये वार्षिक का अनुदान भारत सरकार ने और स्वीकार कर लिया। कालेजों के विकास के लिये इसमें से कुछ धनराशि अलग नियत कर दी गई। १९०७ से १९१२ ई० तक के काल में २·४५ लाख वार्षिक अनुदान सम्बन्धित-कालेजों के लिये और प्रदान किया गया। इधर ...क की आय में भी आशाजनक वृद्धि होने से आर्थिक अवस्था पर स्वस्थ प्रभाव ...ड़ा। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सकार ने २७½ लाख का अनुदान भवन निर्माण

के लिये विश्वविद्यालयों को १९०४ से १९१२ ई० तक दिया जिससे सीनेट भवनों का निर्माण कराया गया। सन् १९१२ ई० के उपरान्त भवन-निर्माण के लिये सरकार ने उदारता पूर्वक सहायता दी।

शिक्षा की उत्तमता तथा पाठ्यक्रम की दृष्टि से भी आशाजनक सुधार हुआ। १९०४ ई० के अधिनियम के अनुसार ही शिक्षण-कार्य की अनुमति विश्वविद्यालयों को मिल चुकी थी। कलकत्ता ने उत्तर-ग्रेजुएट शिक्षण पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। बम्बई में ऑनर्स की व्यवस्था की गई। विदेशों से भी विशेषज्ञों को बुलाकर सामयिक भाषणों का प्रबन्ध विश्वविद्यालयों में हो गया और सर टी० हालैंड, प्रोफेसर रैमजे म्योर, डा० डैनियल जोन्स तथा प्रोफेसर आर्मस्ट्रोंग जैसे विद्वानों को शीत-ऋतु में विशेष भाषणों के लिये निमन्त्रित किया गया। अध्ययन विषयों में विज्ञान, वाणिज्य, अर्थशास्त्र तथा प्रयोगात्मक-मनो-विज्ञान में अनुसंधान का विशेष आयोजन किया गया।

१९१३ ई० के प्रस्ताव के उपरान्त १९१५ ई० के कानून के अनुसार बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित किया गया, जो कि १९१७ ई० में भलीभांति कार्य करने लगा। इस विश्वविद्यालय की स्थापना का श्रेय प्रधानतः स्व० पं० मदनमोहन मालवीय को है। १९१६ ई० में मैसूर विश्वविद्यालय; १९१७ ई० में पटना; १९१८ ई० में उसमानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद, जिसमें उच्च शिक्षा का माध्यम उर्दू रक्खा गया तथा १९२० ई० में ढाका, लखनऊ तथा अलीगढ़ विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई। इस प्रकार १९१६ ई० से १९२१ ई० तक इनकी संख्या ५ से १२ हो गई। अधिकांश में ये सभी विश्वविद्यालव स्थानीय हैं, जहाँ विद्यार्थियों के निवास व शिक्षण दोनों की उचित व्यवस्था है।

इस प्रकार शिक्षण-विश्वविद्यालयों की स्थापना से उच्च शिक्षा में बहुत सुधार हुआ। वास्तव में भारत जैसे विशाल देश के लिये इस प्रकार के विश्वविद्यालयों का बड़ा महत्व है, किन्तु धनाभाव के कारण अभी बहुत दिनों तक सम्बन्धक-विश्वविद्यालयों* की भी आवश्यकता रहेगी।

(२) माध्यमिक शिक्षा

लार्ड कर्जन की शिक्षा नीति के कारण माध्यमिक शिक्षा में सरकारी नियंत्रण अधिक बढ़ गया इस कारण उसकी कुशलता में तो वृद्धि हुई, किन्तु

* Affiliating Universities.

परिमाण घट गया। सभी प्रकार के व्यक्तिगत तथा राजकीय सहायता प्राप्त शिक्षालयों को सरकार ने स्वीकृति प्रदान करने की व्यवस्था की। शिक्षा-विभाग की स्वीकृति के अतिरिक्त विश्वविद्यालयों द्वारा भी उन्हें स्वीकृति मिलती थी यदि उन्हें मैट्रिक परीक्षा के किये विद्यार्थी भेजने हों। इस प्रबन्ध के कारण माध्यमिक शिक्षा पर दुहरा नियंत्रण हो जाने से उसके प्रसार में बाधा उपस्थित हुई। शिक्षा-विभाग के द्वारा स्वीकृति मिलने पर माध्यमिक स्कूलों को सहायता अनुदान मिलने लगा, विद्यार्थियों को सरकारी ऐन्ट्रेंस परीक्षा में भेजने का अधिकार मिल गया तथा विद्यार्थियों को सरकारी छात्रवृत्ति मिलने की संभावना हो गई। साथ ही अस्वीकृत शिक्षालयों के विद्यार्थियों को स्वीकृत-शिक्षालयों में हस्तान्तरित करने का निषेध कर दिया गया। इस साधन से अस्वीकृत स्कूलों पर भी एक प्रकार से रोक लग गई। वास्तव में लार्ड कर्जन ने शिक्षा-क्षेत्र में चली आने वाली उन्मुक्त-नीति† का उन्मूलन करके उसे राजकीय नियंत्रण में कर दिया। इसका भारतीय मत ने बहुत विरोध किया और इसका सम्बन्ध सरकार की राजनैतिक चालों से जोड़ दिया। इससे माध्यमिक शिक्षा का भारत जैसे निर्धन और परतंत्र देश में स्वच्छन्द विकास रुक गया था। राजकीय स्कूलों को अवश्य उदार सहायता दी गई। तथापि इस नीति का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि शिक्षा की उत्तमता व कुशलता बढ़ गई, क्योंकि अस्वीकृत शिक्षालय स्वीकृत होने के लिये तथा सरकारी सहायता लेने के लिये अपनी अवस्था में सुधार करने लगे।

इस प्रकार १६०४ ई० से १६१२ ई० तक माध्यमिक शिक्षा के विद्यार्थियों की संख्या तो बढ़ी, किन्तु शिक्षालयों में कोई संतोषजनक वृद्धि नहीं हुई। १६१३ ई० की शिक्षानीति के अनुसार स्कूलों की संख्या में तीव्र वृद्धि हुई। विद्यार्थियों की संख्या इस प्रकार बढ़ रही थी कि पूर्वस्थित स्कूलों के द्वारा उनकी पूर्ति असम्भव हो उठी। सन् १६१७ ई० में राजकीय स्कूलों की संख्या २३७ लड़कों के लिये तथा २० स्कूल; लड़कियों के लिये थी। इसी समय यह प्रश्न भी जोर पकड़ गया कि या तो सरकार राजकीय हाई स्कूलों को बन्द करदे अथवा उन्हें व्यक्तिगत प्रबन्धों को सौंप दे जिससे कि एक विशाल धन-राशि इस प्रकार मुक्त होकर व्यक्तिगत रूप से शिक्षा का प्रसार करने में सहायक हो सके। किन्तु यह मांग आज तक विद्यमान है। प्रत्येक जिले में सरकार की ओर से एक स्कूल आज भी चल रहा है जोकि अब श्रेष्ठता की दृष्टि से किसी भी प्रकार के विशेषा-

† Laissez Faire Policy.

धिकारों का दावा नहीं कर सकता। यहाँ तक कि बहुत से राज्यों में सरकारों ने राजकीय और व्यक्तिगत विद्यालयों के बीच में एक प्रकार का पक्षपातपूर्ण वर्ताव कर रक्खा है। माध्यमिक स्कूलों में शिक्षा के माध्यम का प्रश्न अभी अन्तिम रूप से हल नहीं हो सका था। 'स्कूल फाइनल' परीक्षाओं का प्रचार बढ़ गया था। अतः मैट्रिक-परीक्षा के पाठ्यक्रम के लचीले तथा आवश्यक रूप से वैकल्पित न होने के कारण भिन्न २ प्रांतों मे 'स्कूल फाइनल परीक्षा' की योजनायें बनाईं जिनका संचालन शिक्षा-विभाग को सौंपा गया। बम्बई में इसका प्रचार खूब बढ़ा। यू० पी० में 'स्कूल लीविंग सार्टीफिकेट परीक्षा' का का संगठन किया गया। पंजाब, बंगाल, मद्रास, ब्रह्मा तथा मध्य प्रदेश में भी इसी प्रकार की योजनायें १९११ ई० में बनीं। विज्ञान और वाणिज्य के अध्ययन पर भी जोर दिया गया। १९१३ ई० में बिहार तथा उड़ीसा में भी इसी प्रकार की योजना बनी, किन्तु वह कार्यान्वित न हो सकी।

(३) प्राथमिक शिक्षा

जैसा हम देखते आ रहे हैं १८५४ ई० से ही भारत सरकार देश में प्राथमिक शिक्षा की प्रगति की योजनायें बनाती आ रहीं थीं, किंतु इस दिशा में अभी तक आशाजनक प्रगति नहीं हुई थी। १९ वीं शताब्दि के अन्त में दुर्भिक्ष तथा भूचालों के कारण सरकार का ध्यान उधर लग जाने से शिक्षा को आघात पहुँचा था। १९०४ ई० में लार्ड कर्जन के प्रस्ताव के अनुसार "भारत सरकार ने इस प्रस्ताव को स्वीकार किया कि देश में प्राथमिक शिक्षा का क्रियात्मक विस्तार सरकार का प्रथम महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है।" अतः स्थानीय बोर्डों में सुधार करके उनके प्रयत्नों को केवल प्राथमिक शिक्षा पर केन्द्रित किया गया। लार्ड कर्जन के प्रस्ताव का प्रभाव यह हुआ कि देश में प्राथमिक शिक्षा का विस्तार होने लगा और असंख्यों अपर प्राइमरी तथा लोअर प्राइमरी स्कूलों की स्थापना हुई। भारत-सरकार ने शिक्षा अनुदान १९०५ ई० में ४० लाख से बढ़ाकर अब ७५ लाख कर दिया और साथ ही ३५ लाख रुपये का पुनरावर्ती अनुदान भी प्रति वर्ष देना स्वीकार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि १९०२ से लेकर १९१२ ई० तक प्राथमिक स्कलों की संख्या दुगुनी हो गई।

सन् १९०४ ई० के प्रस्ताव के अनुसार 'परीक्षाफल के अनुसार वेतन' की कुप्रथा को १९०६ ई० में भङ्ग कर दिया गया और शिक्षा-अनुदान के नियमों में सुधार कर दिया गया। अब तक सरकारी सहायता कुल व्यय की $\frac{1}{3}$ होती थी, किन्तु लार्ड कर्जन ने उसे $\frac{1}{2}$ कर दिया। इससे प्राथमिक शिक्षा के विस्तार के

साथ-साथ उसकी श्रेष्ठता भी बढ़ी। इसके अतिरिक्त लार्ड कर्जन ने पाठ्य-क्रम के सुधार, अध्यापकों का प्रशिक्षण तथा शिक्षणविधि में सुधार इत्यादि पर भी जोर देकर प्राथमिक शिक्षा की उन्नति की।

१६०६ ई० में बड़ौदा में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा लागू हो जाने के कारण तथा सम्पूर्ण देश की राजनैतिक चेतना और स्वदेशी आन्दोलन के कारण भी प्राथमिक शिक्षा ने प्रगति की। जनता समझने लगी कि बिना साक्षरता तथा शिक्षा का प्रतिशत बढ़े हुए वह उन्नति नहीं कर सकती। इधर प्रसिद्ध नेता श्री गोपालकृष्ण गोखले के प्रयास और उनके विधेयक इत्यादि ने प्राथमिक शिक्षा का प्रश्न देश के लिये एक महत्वपूर्ण प्रश्न बना ही दिया था। यद्यपि श्री गोखले का विधेयक गिरा दिया गया था, किन्तु सरकार उसके औचित्य तथा जनता में प्राथमिक शिक्षा के लिये दिन प्रतिदिन बढ़ने वाली माँग को नहीं ठुकरा सकती थी, अतः उसने इसके लिये अब अधिक उदारता पूर्वक सहायता देना प्रारम्भ कर दिया। १६०७ से १६१२ ई० तक बालकों की संख्या ४ से ५ लाख तक हो गई। अब प्राथमिक शिक्षा व्यावहारिक रूप से सभी प्रान्तों में प्रायः निशुल्क हो गई।

१६११ ई० में दिल्ली दरबार के समय सम्राट् जार्ज पंचम ने, जब कि श्री गोखले के विधेयक पर बहस हो रही थी, ५० लाख रुपया राजकोष से प्राथमिक शिक्षा के लिये प्रतिवर्ष देना स्वीकार किया; इससे भी प्रगति में सहायता मिली।

१६१३ ई० के शिक्षा-प्रस्ताव के द्वारा भी सरकार ने लोक-शिक्षा को प्रथमता दी। इसके अनुसार अधिकतर लोअर प्राइमरी स्कूलों को अपर प्राइमरी बना दिया तथा बोर्ड की ओर से प्राथमिक स्कूलों की स्थापना हुई। शिक्षकों की दशा तथा उनकी दीक्षा में सुधार करने की भी व्यवस्था की गई। १६१३ ई० की शिक्षा-नीति का परिणाम यह हुआ कि १६१७ ई० तक प्रायः सभी प्रान्तों:—जैसे बम्बई, यू० पी०, पंजाब, मध्यप्रान्त, सीमाप्रान्त व आसाम में बोर्ड के स्कूल स्थापित हो गये। बालिकाओं के लिये अलग व्यवस्था की गई। बङ्गाल, बिहार, उड़ीसा तथा मद्रास में इन बोर्ड स्कूलों ने कोई उन्नति नहीं की; वहाँ तो व्यक्तिगत स्कूलों का ही बाहुल्य रहा। बंगाल में सरकार ने 'पंचायती स्कूलों' की स्थापना की योजना बनाई जिसके अनुसार १०.४ वर्ग मील के क्षेत्र में एक आदर्श स्कूल स्थापित किया गया। यू० पी० में २५ वर्ग मील के क्षेत्र में एक प्राथमिक स्कूल खोला गया।

इस प्रकार प्राथमिक शिक्षा ने प्रगति तो की किन्तु यह संतोषजनक नहीं थी। गोखले के उपरान्त उनके कार्य को श्री बालगंगाधर तिलक तथा विट्ठलभाई पटेल ने ले लिया। तिलक ने अपने समाचार पत्र 'केसरी' द्वारा निशुल्क अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की माँग को बड़े प्रभावशाली शब्दों में आगे बढ़ाया। १६१७ ई० तक स्कूलों में जाने योग्य बालकों के केवल ३३ प्रतिशत बालक प्राथमिक स्कूलों में जा रहे थे। १६१२ से १६१७ ई० तक के पंच-साला में अनुपाततः ८ वर्गमील के क्षेत्र से केवल १ बालक शिक्षा के लिये जाता था!

१६१८ ई० के उपरान्त देश में प्राथमिक शिक्षा ने पुनः प्रगति करना प्रारम्भ कर दिया। विश्वयुद्ध के कारण जो अवरोधन उत्पन्न हो गया था वह अब हट गया। १६१८ ई० में 'बम्बई प्राथमिक शिक्षा कानून' पास किया गया जिसके अनुसार कुछ नगरपालिकाओं को ६ से ११ वर्ष तक के बालकों के लिये अनिवार्य शिक्षा प्रारम्भ करने की अनुमति मिल गई। इसी प्रकार अन्य प्रान्तों में भी इसी प्रकार के कानून बने और १६१६ ई० में पंजाब, यू० पी०, बंगाल तथा बिहार-उड़ीसा ने 'प्राथमिक शिक्षा कानून' को कार्यान्वित करना प्रारम्भ कर दिया। १६२० ई० में मध्यप्रान्त और मद्रास ने भी ये कानून पास कर दिये।

उपसंहार

इधर कुछ राजनैतिक हलचलों का भी शिक्षा पर साधारण रूप से तथा प्राथमिक शिक्षा पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा। १६१७ ई० में रूस की राज्य-क्रान्ति के समाचार भारत में भी आने लगे और इसका भारतीय शिक्षा पर गहरा प्रभाव पड़ा। इधर भारत में १६१६ ई० में रौलट बिल का भारतीय जनमत के विरुद्ध पास हो जाना तथा जनता द्वारा उसका बहिष्कार, उसके उपरान्त जनरल ओ० डायर द्वारा जलियाँनवाला बाग की दुखद घटना, युद्ध के उपरान्त आने वाली मँहगाई और बेकारी तथा सबसे महत्त्वपूर्ण घटना महात्मा गाँधी द्वारा संचालित १६१६-२१ ई० का 'असहयोग आन्दोलन' जिसके कारण विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूलों का बहिष्कार कर दिया, इत्यादि ऐसी घटनायें हैं, जिनका भारतीय शिक्षा पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था। भारत सरकार ने इन आन्दोलनों को देखकर यह अनुभव कर लिया था कि "योरोपीय इतिहास तथा विचारधारा की शिक्षा का अनिवार्य परिणाम है स्वराज्य की इच्छा; और आज भारत में जो शिक्षित वर्ग की ओर से माँग

रक्खी जा रही है वह हमारे १०० वर्षों के कार्यों का स्वाभाविक तथा ठीक परिणाम है।"† इस सबका फल यह हुआ कि १९१९ ई० में मांटेग्यू-चैम्स-फोर्ड सुधार हुए और भारत का विधान परिवर्तित कर दिया गया। इन सुधारों के प्रकाश में शिक्षा ने जो प्रगति की उसका वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा।

---

† Dumbell. P. 94. Quoted by Dr. Zellner : *Education in India* P. 146-47.

अध्याय १४

द्वैध शासन के बाद शिक्षा-प्रगति

(१६२१-३७ ई०)

(क) मारट-फोर्ड सुधार

भूमिका

१६१७ ई० में भारतमन्त्री श्री मांटेग्यू ने तत्कालीन वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड के साथ भारत का दौरा किया और तत्कालीन राजनैतिक तथा वैधानिक परिस्थितियों का अध्ययन करके १६१८ ई० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। १६१६ ई० में यह सुधार ब्रिटिश संसद द्वारा स्वीकृत हुए तथा १६२१ ई० से कार्यान्वित होने लगे। १६१६ ई० के अधिनियम के द्वारा भारत के प्रान्तों में दोहरा शासन स्थापित हो गया। इससे पूर्व केन्द्रीय सरकार ही अखिल-भारत-वर्षीय महत्त्व के सुधारों से सम्बन्ध रखती थी और इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार की समितियाँ तथा कमीशन इत्यादि की नियुक्ति करती थी। शिक्षा के क्षेत्र में भी केन्द्रीय सरकार नये सुधारों को लागू करती थी। किन्तु मांटफोर्ड सुधारों के द्वारा स्थिति बदल गई। प्रान्तीय सरकारें दो भागों में विभाजित हो गई—सुरक्षित तथा हस्तान्तरित। स्वास्थ्य तथा शिक्षा इत्यादि विषय प्रान्तीय मन्त्रियों को हस्तान्तरित कर दिये गये। ये मन्त्री धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी होते थे। भारतीय जन-प्रिय मन्त्रियों को स्वायत्त-शासन का यह प्रथम पाठ था। प्रान्तीय शिक्षा हस्तान्तरित विषय तो हो गया किन्तु यूरोपियनों की शिक्षा तथा कुछ केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्रों जैसे सीमाप्रान्त, अजमेर, कुर्ग, दिल्ली, बिलोचिस्तान इत्यादि की शिक्षा केन्द्र के नियन्त्रण में ही रही। राजकुमारों के शिक्षालय तथा दिल्ली, अलीगढ़ और बनारस के विश्वविद्यालय भी केन्द्रीय सरकार के आधीन रहे।

मारट-फोर्ड सुधारों से शिक्षा को पर्याप्त प्रगति मिली। भारतीय मन्त्रियों ने उत्साहपूर्वक शिक्षा-प्रसार के कार्य को अपने हाथों में लिया। प्रान्तीय धारा-

सभाओं ने भी शिक्षा-अनुदान की मांगों को सहर्ष स्वीकृत किया और देश में जन-शिक्षा प्रसार के अपने उत्तरदायित्व का अनुभव किया। स्थानीय बोर्डों के उत्तरदायित्व भी बढ़ गये और प्रायः सभी प्रान्तों में प्राथमिक-शिक्षा उन्हें हस्तान्तरित करदी गई। मांट-फोर्ड रिपोर्ट में भी तत्कालीन भारतीय अवस्था के विषय में स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया गया कि :—

"गत वर्षों में हमारी शिक्षा-नीति का उद्देश्य, बिना उन परिणामों पर विचार किये हुये जो कि आम जनता की शिक्षा की अवहेलना से उत्पन्न हो सकते हैं, उन थोड़े से व्यक्तियों को संतुष्ट करना था जो अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे। वास्तव में हमने एक ऐसे संकीर्ण शिक्षित वर्ग को तैयार कर दिया है, जिन्हें उन्नति की अभिलाषा है; और हम उनकी प्रगति को पूर्णतः नहीं रोक सकते जब तक कि जन-साधारण के लिये शिक्षा उपलब्ध नहीं है।...........हम शिक्षा को व्यावहारिक नहीं बना सके।..........हमको स्वीकार करना चाहिये कि शिक्षित भारतीय पूर्णतः हमारी ही रचना है, और यदि शिक्षा की अच्छाइयों का श्रेय हम अपने ऊपर लेते हैं तो हमें उसकी दुर्बलताओं के उत्तरदायित्व को भी स्वीकार करना चाहिए।"

कुछ बाधायें

मांट-फोर्ड सुधारों से प्रान्तों का शासन दोहरा हो गया। शिक्षा का उत्तरदायित्व भारतीय मन्त्री पर आ तो गया किन्तु उसके अधिकार उसे नहीं मिले। आर्थिक प्रश्न सुरक्षित विषय रक्खा गया था। अतः वित्त-विभाग अँग्रेज मन्त्रियों के हाथों में था जो कि भिन्न-भिन्न प्रान्तों में केवल गवर्नर के प्रति उत्तरदायी थे। इस प्रबन्ध के कारण शिक्षा मन्त्री अपनी शिक्षा योजनाओं पर आवश्यकतानुसार रुपया व्यय नहीं कर सकते थे। इससे उनकी योजनायें भी निरर्थक रहती थीं।

दूसरे, केन्द्रीय सरकार ने अब अपने राजस्व का कोई भी भाग शिक्षा पर देना बन्द कर दिया। इससे प्रान्तीय सरकारों को बहुत आर्थिक क्षति उठानी पड़ी।

तीसरे, गवर्नरों के अधिकार आवश्यकता से अधिक थे, और डा० ज़ैलनर के शब्दों में उनके द्वारा पूर्ण 'वीटो' शक्ति का प्रयोग किया जाता था और वह अपनी इच्छानुसार किसी भी विकास सम्बन्धी अधिनियम को 'अनावश्यक' कह कर अस्वीकृत कर सकते थे।

चौथी कठिनाई यह थी कि शिक्षा-विभाग की भारतीय-शिक्षा-सेवा* के उच्च पदाधिकारी भारत मन्त्री के अधिकार में रहते थे। इन उच्च अफसरों की भारतीय जनप्रिय मन्त्रियों से नहीं बनती थी। परिणामतः सभी शिक्षा योजनायें अधिकांश में सफल नहीं हो पाती थीं। अतः १६२४ ई० में भारतीय-शिक्षा-सेवा की भर्ती बन्द कर दी गई।

इसके अतिरिक्त अन्त में देश में राष्ट्रीय आन्दोलनों के कारण १६१६ ई० के विधान में लोगों का विश्वास नहीं था। वे इसे एक धोखा मात्र समझते थे। परिणामतः शिक्षा मंत्री के पद पर कभी-कभी जनता का वास्तविक प्रतिनिधि भी नहीं पहुँच पाता था। अतः उसे व्यवस्थापिका का सहयोग नहीं मिल पाता था। साथ ही केन्द्र का नियंत्रण उठ जाने से अखिल भारतवर्षीय महत्त्व अथवा अन्तर्प्रान्तीय महत्त्व की समस्यायें भी नहीं हल हो पाती थीं और उनके विषय में केन्द्र कोई एकसी नीति निर्धारित नहीं कर पाता था। इससे प्रान्तों का, जहाँ तक शिक्षा से सम्बन्ध है, केन्द्र से ही सम्बन्ध विच्छेद नहीं हुआ, अपितु प्रान्तों में पारस्परिक साम्य को भी क्षति पहुँची। इस प्रकार इन कठिनाइयों में भारतीय मंत्रियों को विभिन्न प्रान्तों में एक दोहरे शासन के अन्तर्गत रहकर शिक्षा विकास करना पड़ा। परिणामतः हम इस युग में संतोषजनक प्रगति नहीं कर सके।

राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव

जैसा कि पिछले अध्याय में संकेत किया जा चुका है, युद्ध के उपरान्त अंग्रेजी सरकार ने भारतवासियों को उनकी युद्ध की सेवाओं के प्रतिकारस्वरूप जलियानवाला का गोलीकांड, पंजाब का फौजी शासन, देशव्यापी दमन तथा १६१६ ई० का विधान दिया था। इन सब घटनाओं ने देश में राष्ट्रीय आन्दोलन को जन्म दिया। महात्माजी ने १६२१ ई० में 'असहयोग आन्दोलन' प्रारम्भ कर दिया जिसके फलस्वरूप असंख्यों विद्यार्थी स्कूल और कालेजों को छोड़ आये। वे ऐसे स्कूलों में नहीं पढ़ना चाहते थे जहाँ एक विदेशी ज्ञान व संस्कृति अथवा भाषा पढ़ाये जाँय और राष्ट्रीय भावनाओं को कुचला जाय। अतः अँग्रेजी स्कूलों का खुले रूप से बहिष्कार होने लगा।

किन्तु ऐसे विद्यार्थियों के लिये समुचित शिक्षा की व्यवस्था करना भी नेताओं का कर्त्तव्य था। अतः अल्पकाल में ही देश भर में राष्ट्रीय विद्यालयों, विद्यापीठ और गुरुकुल इत्यादि का जाल सा बिछ गया। इनमें पूना, अहमदा-

* Indian Education Service.

बाद, लाहौर, पटना, बनारस इत्यादि के विद्यापीठ और अलीगढ़ का जमिया मिलिया स्लामिया जो कि १९२५ ई० में दिल्ली पहुँच गया, अधिक प्रसिद्ध हैं। इन राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं का वर्णन यथास्थान किया जायगा।

इस प्रकार एक बड़ी संख्या में विद्यार्थियों के सरकारी अथवा सरकार द्वारा स्वीकृत और सहायता प्राप्त शिक्षालयों को छोड़ देने से इनमें विद्यार्थियों की संख्या बहुत घट गई। "१९२१ ई० में उपस्थिति के प्रतिशत सारे देश में ८·६ (कालेज), ५·१ (हाई स्कूल) तथा ८·१ (मिडिल स्कूल) में कमी हुई।" इसके अतिरिक्त फीस तथा परीक्षा शुल्क इत्यादि की आर्थिक क्षति भी रही।

इस आन्दोलन से शिक्षा के क्षेत्र में लाभ भी हुआ। एक तो साधारण जनता में एक राष्ट्रीय चेतना आ गई। शिक्षा में लोग अधिक रुचि दिखाने लगे। देश के धनवान लोग शिक्षा प्रचार के लिये आर्थिक सहायता देने के लिए प्रोत्साहित हो गये। जनता एक उत्साह, आशा और महत्वाकांक्षा से भर गई और शिक्षा के विकास के लिये कुछ त्याग करने की भावना से पूर्ण हो गई। कांग्रेस इस समय तक देश की प्रमुख राजनैतिक संस्था बन चुकी थी। उसने करांची में १९३१ ई० में निशुल्क अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। जन साधारण के लिये प्रारम्भिक शिक्षा को सस्ता, व्यावहारिक तथा उपयोगी बनाने के लिये १९३७ ई० में महात्मा गांधी ने वर्धा शिक्षा-योजना को जन्म दिया जिसके अनुसार किसी हस्तकार्य के द्वारा प्राथमिक शिक्षा देने की बात थी। यद्यपि यह आन्दोलन अर्ध-राजनैतिक था, किन्तु देश की शिक्षा को समय और आवश्यकता के अनुसार ढालने, आवश्यक परिवर्तन करने और व्यापक बनाने में बहुत सहायक हुआ। वर्तमान शिक्षा-पद्धति के दोष एकदम प्रकाश में आ गये और लोगों ने समझ लिया कि अब तक चली आने वाली शुद्ध साहित्यिक शिक्षा जो कि हमें जीवन में व्यर्थ बना देती है अवश्य ही बदल जानी चाहिये। भारतीय तरुणों को भी विदित हो गया कि उन्हें अच्छे प्रकार की शिक्षा प्राप्त करके राष्ट्र-निर्माण के कार्य में महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित करना है।

अन्त में प्रान्तीय शिक्षा मंत्रियों को भी इन हलचलों से प्रेरणा मिली। उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रान्तों में प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य करने के लिये कानून पास किये। माध्यमिक स्कूल तथा विश्वविद्यालय खुले जिनका वर्णन हम आगे चलकर करेंगे। इधर १९१९ ई० के शासन-विधान से उत्पन्न हुई राजनैतिक तथा वैधानिक परिस्थितियों का अध्ययन करने के लिये १९२७ ई०

में 'साइमन कमीशन' की नियुक्ति हुई। इस कमीशन को भारतीय शिक्षा के विषय में भी अपना प्रतिवेदन देने की आज्ञा हुई थी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये कमीशन ने एक सहायक-समिति (Auxiliary Committee) नियत की, जिसके सभापति सर हर्टाग थे जो कि सैडलर कमीशन के भी सदस्य रह चुके थे और १६२१ ई० में ढाका विश्वविद्यालय के उपकुलपति भी थे। यह समिति 'हर्टाग समिति' के नाम से विख्यात है।

हर्टाग-समिति की रिपोर्ट

हर्टाग समिति ने सितम्बर १६२६ ई० में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसमें तत्कालीन भारतीय शिक्षा की सभी अवस्थाओं का विशद वर्णन है। समिति ने इस बात को स्वीकार किया था कि १६१७ और १६२७ ई० के दशक में शिक्षा में बहुत उन्नति हुई। विकास के साथ ही साथ शिक्षा की उत्तमता में भी आशाजनक सुधार हुआ। "शिक्षा साधारण रूप से राष्ट्रीय महत्व की एक प्रथम बात तथा 'राष्ट्र-निर्माण' का एक अनिवार्य साधन समझी जाने लगी है। व्यवस्थापिकाओं द्वारा इधर जो ध्यान दिया गया है वह इसी बात का प्रमाण तथा लक्षण है। शिक्षा-विभाग के जन-प्रिय मंत्री के नियंत्रण में हस्तान्तरण हो जाने से जनता में भी शिक्षा के प्रति रुचि उत्पन्न हुई है और इसे जनता की वर्तमान आवश्यकताओं और मत के अनुरूप भी बना दिया है। शिक्षा के विकास का स्वागत न केवल सरकारी अधिकारियों और धनिक वर्ग ने ही किया है, अपितु वे जातियाँ जो शिक्षा में अब तक पिछड़ी हुई थीं; जैसे मुसलमान इत्यादि अब अपने बच्चों के लिये शिक्षा की आवश्यकता तथा संभावना के प्रति सचेत हो गई हैं। यह आन्दोलन पिछड़ी हुई जातियों तथा आदिवासियों तक में फैल चुका है और इसने शिक्षा को अधिकार के रूप में माँगने के लिये एक वृहत्तर वर्ग को जाग्रत कर दिया है।"†

प्राथमिक शिक्षा—यद्यपि इस प्रकार शिक्षा में प्रगति हो रही थी, तथापि समिति देश में साक्षरता की प्रगति से संतुष्ट नहीं थी। उसकी राय में शिक्षा में पर्याप्त अपव्यय (Waste) और अवरोधन (Stagnation) उत्पन्न हो गया था। प्राथमिक शिक्षा की अवहेलना करके उच्च-शिक्षा को बढ़ावा दिया जा रहा था। ग्रामीण-शिक्षा के मार्ग में कुछ कठिनाइयों के होने के कारण साक्षरता की गति बड़ी मन्द थी। प्रधानतः ये कठिनाइयाँ थीं ग्रामीण जनता की निर्धनता, अशिक्षा, आवागमन के साधनों का अभाव,

† *Hartog Committee Report*, p. 31.

मौसमी बीमारियाँ, धार्मिक तथा जातीय अंधविश्वास तथा कृषि-कार्य में बच्चों का समय से पूर्व ही लग जाना इत्यादि। समिति की राय में प्रान्तीय सरकारों द्वारा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लिये क्रियात्मक कदम उठाने का अभाव भी एक महत्त्वपूर्ण कारण था जिससे साक्षरता में आशाजनक प्रगति नहीं हो पा रही थी।

प्राथमिक शिक्षा के विषय में समिति ने आगे चल कर कहा कि "प्राथमिक-शिक्षा प्रणाली में, जो कि हमारी राय में साक्षरता और मताधिकार सिखाने का प्रमुख साधन है, बहुत ज्यादा अपव्यय है। जहाँ तक हमें विदित है प्राथमिक स्कूलों की संख्या में जितनी वृद्धि हुई है साक्षरता उसी अनुपात से नहीं बढ़ी है, क्योंकि इन प्राथमिक स्कूलों में बहुत ही थोड़े विद्यार्थी कक्षा ४ तक पहुँचते हैं, जिनमें हमें साक्षरता की आशा कर सकें।..................यह स्मरणीय है कि वर्तमान ग्रामीण परिस्थितियों में तथा देशी भाषाओं में उपयुक्त साहित्य के अभाव में स्कूल छोड़ने पर बालक के लिये साक्षरता प्राप्त करने के बहुत कम अवसर रह जाते हैं, और वास्तव में साक्षरों के भी निरक्षर हो जाने की बहुत संभावना रहती है।" इस प्रकार साक्षर बनने के लिये समिति की राय में कम के कम चार वर्ष अवश्य लगने चाहिये। किन्तु भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के कारण बालक पहिली या दूसरी कक्षा पास करके बीच में ही पढ़ना छोड़ देते थे। १९२२-२३ ई० में ब्रिटिश भारत में कक्षा १ में पढ़ने वाले प्रति १०० विद्यार्थियों में तीन वर्ष बाद कक्षा ३ या ४ में केवल १९ विद्यार्थी ही रह जाते थे। इसके लिये समिति ने वही दो प्रधान कारण 'अपव्यय' तथा 'अवरोधन' बतलाये। 'अपव्यय' से अभिप्राय था प्राथमिक शिक्षा के पूर्ण होने के पूर्व ही बच्चों को पढ़ाने से रोक लेना। समिति के मतानुसार जो रुपया या समय उन पर व्यय हुआ वह नष्ट हो गया, क्योंकि वे साक्षरता भी प्राप्त न कर सके। 'अवरोधन' का अभिप्राय था बच्चे का एक ही कक्षा में १ वर्ष से अधिक रह जाना।

लड़कियों की शिक्षा में भी समिति ने अपव्यय की शिकायत की। कक्षा १ में पढ़ने वाली प्रति १०० बालिकाओं में से केवल १४ ही कक्षा ४ तक आ पाती थीं। अर्थात् हमारे शिक्षा प्रयत्नों के ८०% प्रतिशत से भी अधिक प्रयत्न व्यर्थ नष्ट हो जाते थे।

समिति की राय में नगरों में तो प्राथमिक शिक्षा की समस्या इतनी उग्र नहीं थी, किन्तु उसने स्वीकार किया कि गांवों में "स्कूल बहुत छोटे-छोटे हैं; पर्याप्त शिक्षक रखने पर व्यय अधिक होता है। जब तक शिक्षकों को विशेष रूप

से प्रशिक्षित किया तथा चुना न जायगा, गाँवों का जीवन उनके लिये आकर्षक नहीं बन सकेगा। अध्यापिकायें गांवों में तब तक नहीं रह सकतीं जब तक कि स्थिति अनुकूल न हो जाय; शिक्षक अकेले रह जाते हैं तथा प्रशासन, निरीक्षण और देखभाल की कठिनाइयाँ भी बढ़ जाती हैं; और बच्चों की उपस्थिति नियमित रूप से अधिक समय तक रखना अत्यन्त दुस्तर हो जाता है।" ऐसे स्थानों में प्राथमिक शिक्षा की समस्या बड़ी दुरूह थी। ऐसी अवस्था में अपव्यय होना अनिवार्य था। समिति के मतानुसार इस दुरुपयोग के प्रमुख कारण थे। (१) अपव्यय तथा अवरोधन (२) छात्रों का बीच में ही पढ़ना छोड़ देने से पुनः निरक्षरता; (३) प्रौढ़शिक्षा के लिये सुविधाओं का अभाव, (४) शिक्षालयों का अनियमित वितरण जिसके कारण "ऐसे दीर्घ क्षेत्र विद्यमान थे जहाँ एक भी स्कूल नहीं, जबकि कुछ छोटे क्षेत्रों में इतने छोटे-छोटे स्कूल थे जो बच्चों को बुलाने के लिये भयंकर स्पर्द्धा कर रहे थे;" (५) ५०० की जनसंख्या के गाँवों में स्कूल न खुल सकने की असुविधा; (६) वर्तमान, स्कूलों से पर्याप्त लाभ न उठा सकना, अर्थात् बहुत से प्रान्तों में स्कूल तो पर्याप्त थे किन्तु वे अधिक विद्यार्थियों को प्रवेश के लिये आकर्षित नहीं कर सकते थे। इस प्रकार स्कूलों में विद्यार्थियों की संख्या कम होने से धन व प्रयास का बड़ा दुरुपयोग होता था; (७) एक शिक्षक वाले स्कूल—ऐसे स्कूल जहाँ केवल एक ही शिक्षक हो। वह प्रत्येक कक्षा के बच्चों के साथ प्रत्येक विषय में पूर्ण रूप से न्याय नहीं कर सकता। अतः यह सब प्रयत्न व्यर्थ जाता है। (८) उचित शिक्षण का अभाव, (९) निरीक्षण का अभाव; (१०) अनुपयुक्त पाठ्यक्रम—ऐसा पाठ्यक्रम जो कि वास्तविक जीवन तथा सच्ची परिस्थितियों से कोई सम्बन्ध नहीं रखता है; (११) तथा ऐसे प्राथमिक स्कूलों की स्थापना जो कि कुछ समय बाद टूट जाते हैं।

प्राथमिक शिक्षा के इन सब दोषों को दूर करने के लिये समिति ने निम्नलिखित सिफारिशें की जिन्हें संक्षेप में इस प्रकार रक्खा जा सकता है:—

(१) शिक्षा विस्तार की नीति के स्थान पर शिक्षा के ठोस (Consolidation) करने की नीति का अनुसरण किया जाय।

(२) प्राथमिक शिक्षा की न्यूनतम अवधि ४ वर्ष हो।

(३) प्राथमिक शिक्षकों की सामान्य शिक्षा का स्तर ऊँचा उठना चाहिए। उनके लिये प्रशिक्षण तथा 'रिफ्रैशर कोर्स' की उचित सुविधा दी जाय। उनकी ज्ञान-वृद्धि के लिये शिक्षा-सम्मेलन हों तथा उनकी दशा में सुधार करने के लिए उनके वेतन बढ़ाये जाँय और नोकरी की दशाओं में भी सुधार किये जांय।

(४) प्राथमिक स्कूलों का पाठ्यक्रम अधिक उदार व उपयुक्त बनाया जाय। "एक ऐसा स्कूल जिसमें पर्याप्त विद्यार्थी हों और जो पड़ौस की परिस्थितियों से सीधा सम्पर्क रखता हो, वह आगे आने वाली पीढ़ी को स्वास्थ्य रक्षा, शरीर विज्ञान, सफाई, मितव्ययता तथा आत्म निर्भरता के अच्छे पाठ पढ़ा सकता है।"

(५) स्कूल के घंटे तथा छुट्टी के दिन ऋतु तथा स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप होने चाहिये।

(६) प्राथमिक स्कूलों में निम्नतम कक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिये और जो अवरोधन व अपव्यय वहाँ फैला है उसे दूर करने के लिये दृढ़ प्रयत्न करने चाहिये।

(७) ग्राम-सुधार का कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिये और स्कूल से उसका सम्बन्ध स्थापित कर देना चाहिये।

(८) प्राथमिक शिक्षा के राष्ट्रव्यापी-महत्त्व का विषय होने के कारण भारत सरकार को इसके प्रसार का पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना चाहिये तथा उसे पूर्णतः स्थानीय बोर्डों को सुपुर्द करके निश्चिन्त न हो जाना चाहिये।

(९) सरकार का निरीक्षण-स्टाफ बढ़ जाना चाहिये।

(१०) शिक्षा को अनिवार्य करने की योजना पर बिना सोचे समझे जल्दबाजी में कदम उठाना हानिकारक है। अतः इस पर पर्याप्त विचार के उपरान्त उसका आधार बना कर ही कार्यान्वित करना चाहिये।

माध्यमिक शिक्षा—प्राथमिक-शिक्षा पर प्रत्येक दृष्टिकोण से विचार करने के उपरान्त समिति ने माध्यमिक-शिक्षा के प्रश्न को हाथ में लिया। माध्यमिक शिक्षा के विषय में हर्टाग समिति का मत था कि इसने संतोषजनक प्रगति की है। "माध्यमिक-शिक्षा के क्षेत्र में कुछ बातों, जैसे शिक्षकों की दशा, योग्यता, नौकरी की परिस्थितियों तथा प्रशिक्षण में सुधार तथा स्कूल के सामाजिक-जीवन को विस्तृत बनाने में उन्नति हुई है। किन्तु यहाँ भी संगठन सम्बन्धी बड़े दोष हैं। माध्यमिक शिक्षा के सम्पूर्ण क्षेत्र में आज भी वही विचारधारा प्रबल है कि प्रत्येक लड़का जो कि माध्यमिक स्कूल में प्रवेश करता है, उसे विश्वविद्यालय में अवश्य ही पढ़ना चाहिये; और मैट्रीक्यूलेशन तथा विश्वविद्यालय परीक्षाओं में एक बड़ी संख्या में लड़कों का असफल होना एक बड़ा भारी अपव्यय है।" इस दुरुपयोग के दो प्रमुख कारण समिति ने बताये :—

(१) प्रारम्भिक अवस्थाओं में कक्षाओं में आसानी से तरक्की दे देना, तथा

(२) आवश्यकता से अधिक संख्या में अयोग्य विद्यार्थियों का उच्च शिक्षा के लिये जाना। माध्यमिक शिक्षा के सुधार के लिये भी समिति ने सुझाव रक्खे कि मिडिल स्कूलों का पाठ्य-क्रम अधिक विस्तृत हो जिससे अधिकांश बालकों की आवश्यकतायें यहीं पर पूर्ण हो जाया करें। मिडिल स्कूल के बाद विद्यार्थियों को 'औद्योगिक' तथा 'व्यापारिक' क्षेत्रों में बाँट देना तथा हाईस्कूल में वैकल्पिक विषयों को रख देना चाहिये।

विश्वविद्यालय शिक्षा—विश्वविद्यालय शिक्षा की प्रगति से तो समिति को हर्ष हुआ, किन्तु उसमें भी कुछ दोषों का आभास उसे मिला। "बहुत से विश्व-विद्यालय तथा कालेजों की पाठन-विधि तथा मौलिक अनुसंधान में उन्नति हुई है तथा कुछ में पहिले से भी अधिक सामाजिक-जीवन की शिक्षा प्रदान की जाती है। किन्तु भारतवर्ष में यह विश्वास अब भी प्रचलित है कि विश्वविद्यालयों का मुख्य कार्य परीक्षायें पास कराना है। हमारी इच्छा है कि विश्वविद्यालय सहिष्णु, आत्म-विश्वासी तथा उदार नागरिकों के निर्माण को अपना प्रमुख कर्त्तव्य मानें। जो विश्वविद्यालयों की शिक्षा से समुचित लाभ उठाने के अयोग्य हैं, ऐसे विद्यार्थियों के उनमें भर जाने से विश्वविद्यालयों के कार्य में बड़ी बाधा पहुँची है।"

अतः कमेटी ने विश्वविद्यालयों के उत्थान के लिये सिफारिशें कीं कि विश्वविद्यालयों को शिक्षा का स्तर ऊँचा रखना चाहिये तथा प्रवेशिका-परीक्षा (Entrance Examination) के विद्यार्थियों के साथ कुछ कड़ाई का व्यवहार करना चाहिये जिससे अयोग्य विद्यार्थी उच्च-शिक्षा को न जा सकें। इसके अति-रिक्त समिति ने प्रमुख विश्वविद्यालों में 'ऑनर्स कोर्स' तथा अच्छे पुस्तकालयों की स्थापना और ट्यूटोरियल कक्षाओं के प्रारम्भ करने की भी सिफारिशें कीं।

स्त्री-शिक्षा—लड़कियों की शिक्षा के विषय में समिति ने अनुभव किया कि अभी अवस्था बड़ी असंतोष-जनक है। गांवों में उनकी शिक्षा की समुचित व्यवस्था नहीं है। लड़कों और लड़कियों की शिक्षा के अनुपातों में आश्चर्य-जनक अन्तर है। बालिकाओं की माध्यमिक शिक्षा का क्षेत्र भी बड़ा सीमित है। योग्य व प्रशिक्षित अध्यापिकाओं का बड़ा अभाव है। इस दिशा में समिति ने सिफारिशें कीं कि लड़कियों का पाठ्यक्रम उनकी आवश्यकताओं के अनुकूल होना चाहिये। अधिक प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों की आवश्यकता है। अध्यापिकाओं तथा

निरीक्षिकाओं की पर्याप्त नियुक्ति होनी चाहिये। धीरे-धीरे लड़कियों की प्राथमिक शिक्षा को भी अनिवार्य बनाया जा सकता है। लड़कियाँ भावी मातायें हैं अतः उन्हें प्रथमता दी जाय। अन्त में हर्टाग समिति ने अनुभव किया कि केन्द्रीय सरकार का प्रान्तीय सरकारों को सत्ता हस्तान्तरित करने का कार्य बड़ी जल्दी में कर दिया गया। वास्तव में केन्द्रीय सरकार अपने आपको देश की शिक्षा के उत्तरदायित्व से कभी भी मुक्त नहीं कर सकती है। अतः समिति ने दिल्ली में एक केन्द्रीय-शिक्षा-समिति खोलने की सलाह दी। इसके अतिरिक्त उसने प्रान्तीय शिक्षा-संचालकों के कार्यों की सराहना करते हुए उनकी सहायता के लिये प्रान्तीय प्रमुख कार्यालयों में अधिक स्टाफ बढ़ाने तथा अधिक निरीक्षक और उपनिरीक्षक बढ़ाने की सलाह दी। केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्रों में शिक्षा-कमिश्नर के स्थान पर शिक्षा-सैक्रेटरी की नियुक्ति तथा संचालकों की नियमित सभायें करने की भी सिफारिशें की गईं।

उपसंहार

हर्टाग समिति की रिपोर्ट भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक प्रमुख महत्त्व रखती है। वस्तुतः इसने तत्कालीन शिक्षा-नीति को एक स्थाई स्वरूप प्रदान किया और शिक्षा को ठोस तथा विस्तृत बनाने का प्रयास किया। सरकारी क्षेत्रों में तो इस रिपोर्ट का बड़ा स्वागत हुआ और इसे 'सरकारी प्रयत्नों की दीपिका' समझा गया। परिमाण की तुलना में शिक्षा की किस्म में सुधार करने के समिति के सुझाव का भी वहाँ बड़ा स्वागत हुआ। वस्तुतः यह रिपोर्ट ही एक प्रकार से सरकारी अधिकारियों की प्रतिनिधि नीति हो गई। अतः भिन्न-भिन्न प्रान्तों में शिक्षा के स्तर को ऊँचा करने की आड़ में उसके व्यापक प्रसार को रोका गया।

किन्तु गैर-सरकारी क्षेत्रों में इस रिपोर्ट की कटु आलोचना हुई। शिक्षा का प्रसार रोकने के लिये इसे सरकार की एक चाल बतलाया गया। देश में राष्ट्रीय चेतना के फैलने से प्रत्येक सरकारी नीति पर संदेह किया जाने लगा। देश के प्रमुख नेताओं ने शिक्षा के विस्तार को अधिक प्रमुखता दी और कहा कि यदि विस्तार हो जायगा तो स्तर को बाद में उठाया जा सकता है। देश की वास्तविक आवश्यकता तो सर्वव्यापी साक्षरता थी। इसके अतिरिक्त समिति के कुछ आँकड़ों की प्रामाणिकता पर भी संदेह किया गया।

इतना निश्चय है कि जो प्रगति १६२२-२७ ई० में हुई थी वह १६२७ ई० के उपरान्त न हो सकी। इसका एक प्रमुख कारण १६३०-३१ ई० का विश्व-व्यापी आर्थिक संकट भी था जिसकी छाया भारतीय बजट पर भी पड़ी।

परिणामतः केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों को राष्ट्र-निर्माणक विषयों में निर्दय-तापूर्वक कटौती करनी पड़ी थी। निम्नलिखित आँकड़ों से प्रकट होता है कि सरकार ने प्रारम्भ में शिक्षा पर अपना व्यय बढ़ाकर किस प्रकार कम कर दिया जोकि अन्त में ही जाकर बढ़ सका:—

वर्ष	सरकारी व्यय (लाखों में)
१६२६–२७	११६३ लाख
१६३०–३१	१३६१ ,,
१६३१–३२	१२४६ ,,
१६३२–३३	११३५ ,,
१६३५–३६	११८४ ,,
१६३६–३७	१२३६ ,,

इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि १६३०–३१ ई० में व्यय घट गया और उत्त-रोत्तर घटता ही गया यहाँ तक कि १६३७ ई० में जाकर ६ वर्ष पहिले से भी कम रहा। किन्तु जहाँ सरकारी व्यय घटता जा रहा था व्यक्तिगत जनता का शिक्षा पर व्यय बढ़ता जा रहा था। वास्तव में जनता में अदम्य उत्साह था और वह शिक्षा के लिये सर्वस्व बलिदान करने को उद्यत प्रतीत होती थी जैसा कि निम्नलिखित संख्याओं से प्रकट होता है:—

साधन	१६०१-२	१६१६-१७	१६२१-२२	१६३१-३२	१६३६-३७
			संख्या	लाख रुपयों में	
सरकारी व्यय	१०३	३६२	६०२	१,२४६	१,२३६
गैर-सरकारी:					
(अ) जिला बोर्ड	५६	१७४	१६८	२८०	२५७
(आ) नगर पालिकायें	१५	४६	७६	१५८	१७८
(इ) फीस	१२७	३१६	३८०	६२३	७११
(ई) अन्य साधन	६७	१६५	३०८	४१२	४२४
योग	४०१	१,१२६	१,८३७	२,७१६	२,८०६

नोटः—ये आँकड़े केवल ब्रिटिश भारत के हैं।†

† Nurullah & Naik : *History of Education in India*, P. 621. (Ed. 1951).

इतना अवश्य है कि आर्थिक कठिनाइयों के होते हुए भी शिक्षा का विकास देश में हो रहा था। शिक्षा के स्तर को उठाने तथा उसे ठोस करने की सिफारिशों का अधिक प्रभाव शिक्षा-क्षेत्र में वैयक्तिक साधनों पर नहीं पड़ा। उनका शिक्षा को व्यापक रूप देने का प्रयास जारी था। परिणामतः प्राथमिक, माध्यमिक तथा कालेज इत्यादि सभी क्षेत्रों में शिक्षालयों की संख्या में वृद्धि हुई, जो निम्नलिखित तालिका से प्रकट होती है:—

शिक्षा संस्थाओं के प्रकार	संस्थाओं की संख्या		विद्यार्थियों की संख्या	
	१६२१-२२	१६३६-३७	१६२१-२२	१६३६—३७
१. विश्वविद्यालय........	१०	१५	संख्या अप्राप्त	६,६६७
२. कला कालेज........	१६५	२७१	४५,४१८	८६,२७३
३. व्यावसायिक कालेज....	६४	७५	१३,६६२	२०,६४५
४. माध्यमिक शिक्षालय....	७,५३०	१३,०५६	११,०६,८०३	२२,८७,८७२
५. प्राथमिक शिक्षालय....	१,५५,०१७	१,६२,२४४	६१,०६,७५२	१,०२,२४,२८८
६. विशेष शिक्षालय........	३,३४४	५,६४७	१,२०,६२५	२,५६,२६६
स्वीकृत संस्थाओं का योग............	१,६६,१३०	२,११,३०८	७३,६६,५६०	१,२८,८८,०४४
७. अस्वीकृत संस्थायें........	१६,३२२	१६,६४७	४,२२,१६५	५,०१,५३०
महायोग	१,८२,४५२	२,२७,६५५	७८,१८,७२५	१,३३,८६,५७४

नोटः—यह संख्या केवल ब्रिटिश भारत की है।†

इस प्रकार हमें विदित होता है कि १६२२ से १६३७ ई० तक विद्यालयों तथा विद्यार्थियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही थी, किन्तु भारत की जन-संख्या और निरक्षरता को देखते हुए यह संख्या अपर्याप्त थी। हर्टाग समिति की भी कुछ महत्वपूर्ण सिफारिशों पर ध्यान नहीं दिया गया जैसे शिक्षकों के वेतन में वृद्धि, निरीक्षकों की नियुक्ति, पाठ्यक्रम में सुधार तथा प्रौढ़-शिक्षा की व्यवस्था आदि केवल पवित्र आशायें ही रहीं।

† *Nurullah & Naik* : P. 619.

केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड*

प्रान्तीय शिक्षा-नीति का सम्बन्ध केन्द्रीय नीति से जोड़ने तथा शिक्षा-सम्बन्धी महत्वपूर्ण विषयों पर सलाह देने के लिए १६२१ ई० में 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड' की स्थापना हुई। किन्तु आर्थिक संकट के कारण इसे भंग कर दिया गया। हर्टांग समिति की सिफारिश के फलस्वरूप 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड का' १६३५ ई० में पुनः संगठन किया गया। इस बोर्ड में सभी प्रान्तों के सदस्य थे। १६३५ ई० में प्रथम बैठक में ही बोर्ड ने देश की शिक्षा समस्याओं पर विचार किया और शिक्षा में आमूल परिवर्तन करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास किये। इसने शिक्षा के लिए कक्षाओं का पुनः वर्गीकरण किया और शुद्ध साहित्यिक शिक्षा के स्थान पर व्यावसायिक व औद्योगिक शिक्षा पर जोर दिया। प्रस्ताव में कहा गया कि स्कूलों में वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में आमूल क्रान्ति करने के लिए यह आववश्यक है कि विद्यार्थियों को केवल व्यावसायिक और विश्वविद्यालय के प्रवेश की ही शिक्षा नहीं देनी चाहिये, अपितु उपयुक्त कक्षा पर पहुँचने के अन्त में उन्हें इस योग्य बना दिया जाय कि वे किसी भी उद्यम में अथवा किसी विशेष व्यावसायिक शिक्षालय में चले जाँय। इसके लिये बोर्ड ने निम्नलिखित स्टेजों की सलाह दी।

(१) **प्राथमिक स्टेज**—जिसका उद्देश्य कम से कम स्थायी साक्षरता और कुछ सामान्य शिक्षा प्रदान करना हो।

(२) **निम्न माध्यमिक स्टेज**—इसमें साधारण शिक्षा के लिए एक ऐसा पाठ्य-क्रम हो जो अपने आप में ही पर्याप्त हो। यही शिक्षा उच्च माध्यमिक तथा विशेष व्यवसायिक शिक्षा का आधार हो।

(३) **उच्चतर माध्यमिक स्टेज**—इसमें ऐसे शिक्षालय सम्मिलित होंगे जिनमें अपनी-अपनी आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न 'कोर्स-अवधि' हो। ये शिक्षालय मुख्यतः ५ प्रकार के होंगे: (१) कला तथा विज्ञान में विद्यार्थियों को विश्वविद्यालयों के लिये तैयार करने वाले शिक्षालय; (२) ग्रामीण क्षेत्रों के अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए; (३) कृषि-प्रशिक्षण के लिए; (४) क्लर्कों के प्रशिक्षण के लिए तथा (५) चुने हुए टैक्निकल विषयों में प्रशिक्षण देने के लिए शिक्षालय जो कि प्रबन्धकों के परामर्श से चुने जाँयगे।

इसके अतिरिक्त बोर्ड ने एक प्रस्ताव के द्वारा यह भी सलाह दी कि निम्न-माध्यमिक स्टेज के अन्त में प्रथम सरकारी परीक्षा ली जाय। इस योजना

* Central Advisory Board.

के निर्माण तथा पुनः संगठन करने के लिए सरकार से कहा गया कि वह इस विषय में शिक्षा विशेषज्ञों की राय ले।

बुड-ऐबट रिपोर्ट

केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड के अन्तिम प्रस्ताव के अनुसार व्यावसायिक शिक्षा पर सलाह देने के लिए १९३६ ई० में श्री ऐबट तथा बुड की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त किया गया। श्री ऐबट इंगलैंड की शिक्षा बोर्ड के टैक्निकल स्कूलों के भूतपूर्व चीफ इन्सपैक्टर थे; तथा श्री एस० एच बुड इंगलैंड की शिक्षा-बोर्ड के 'डाइरैक्टर ऑव इंटैलिजैंस' थे। इन लोगों ने १९३३-३७ ई० में भारत की यात्रा की और १९३७ ई० में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जो कि दो भागों में विभाजित है। श्री बुड ने भारतीय सामान्य शिक्षा तथा संगठन का अध्ययन किया और अपने सुझाव रक्खे; तथा श्री ऐबट ने जो कि व्यावसायिक शिक्षा में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विशेषज्ञ थे, भारतीय अवस्थाओं और साधनों का बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण किया और कुछ व्यावहारिक व मूल्यवान सुझाव रक्खे।

सामान्य शिक्षा के विषय में श्री बुड ने कहा कि प्राथमिक पाठशालाओं में दीक्षित-अध्यापकों का प्रबन्ध किया जाय तथा बालिकाओं की शिक्षा पर विशेष जोर दिया जाय। प्राथमिक स्कूलों के पाठ्य-क्रम में विशेष परिवर्त्तन की आवश्यकता है। इसमें पुस्तकीय शिक्षा के स्थान पर क्रियात्मक साधन द्वारा शिक्षा दी जाय। इसके अतिरिक्त ग्रामीण मिडिल स्कूलों में पाठ्य-क्रम ग्रामीण आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुकूल हो साथ ही मातृभाषा शिक्षा का माध्यम हो और मिडिल स्कूलों में यथासंभव अँग्रेजी न पढ़ाई जाय। माध्यमिक शिक्षालयों में अवश्य अँग्रेजी को आवश्यक विषय कर दिया जाय। आर्ट और क्राफ्ट को प्रोत्साहित किया जाय और उसे प्रारम्भिक तथा माध्यमिक पाठ्य-क्रम में सम्मिलित कर दिया जाय। इस विषय के लिये हाई स्कूलों में योग्य शिक्षक रक्खे जाँय। प्राथमिक तथा मिडिल स्कूलों के शिक्षकों के लिये मिडिल पास करने के उपरान्त ३ वर्ष का प्रशिक्षण कोर्स रक्खा जाय।

इस प्रकार श्री बुड ने माध्यमिक शिक्षा के संगठन, नियन्त्रण और पाठ्य-क्रम का एक प्रकार से पुनः संगठन करने की सिफारिश की।

श्री ऐबट ने व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा के पुनः संगठन के विषय में लिखते हुए सिफारिश की कि प्रत्येक स्थान की आवश्यकताएँ विभिन्न होती हैं, अतः प्रत्येक प्रान्त में व्यावसायकि शिक्षा का रूप वहाँ की परिस्थितियों

के अनुसार ही स्थिर करना चाहिये। उन्होंने यह भी कहा कि व्यावसायिक शिक्षा इतनी अधिक न हो जाय जिससे देश में उद्योगों का तदनुसार विकास न होने के कारण कहीं बेकारी फैल जाय। व्यावसायिक शिक्षा भी सामान्य शिक्षा के समान ही मनुष्य की शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक दशाओं का सुधार करती है। वास्तव में सामान्य शिक्षा व्यावसायिक शिक्षा का अनुरूप है। व्यावसायिक शिक्षा सामान्य शिक्षा के बिना अपूर्ण है और जितने भी व्यावसायिक विषय हैं उनका प्रारम्भ सामान्य शिक्षालयों में ही होता है। किन्तु इस समानता की अपेक्षा भी दोनों शिक्षाओं के लक्ष्य व साधन भिन्न-भिन्न हैं। अतः दोनों के स्कूल भी अलग-अलग होने चाहिये।

इस दृष्टिकोण से कुछ सामान्य शिक्षा पाने के उपरान्त ही व्यावसायिक शिक्षा प्रारम्भ करनी चाहिए। इस शिक्षा के संगठन के लिये उद्योगपतियों को पूर्ण सहयोग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त कुटीर-उद्योग धन्धों तथा कृषि के लिये भी शिक्षण की पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिये।

श्री ऐबट ने बतलाया कि देश में संगठित वृहत्स्तर के उद्योगों में तीन प्रकार के श्रमिकों के प्रशिक्षण की आवश्यकता है: निर्देशक या प्रबन्धक, निरीक्षक और यंत्र-चालक। इनमें निरीक्षकों की शिक्षा का बड़ा महत्त्व है और उनके लिए शिक्षालयों की व्यवस्था होनी चाहिए। यंत्र पर कार्य करने वाले व्यक्ति काम से छुट्टी पाने पर अवकाश के घंटों में प्रशिक्षण लें।

साथ ही रिपोर्ट में सिफारिश की गई कि प्रत्येक प्रान्त में व्यावसायिक-शिक्षा-सलाहकार-समितियों की स्थापना कर दी जाय जिनके अन्तर्गत इंजिनियरी, कपड़ा व्यवसाय, कृषि, कुटीर-उद्योग तथा वाणिज्य की शिक्षा सम्बन्धी उपसमितियाँ बना दी जाँय, जोकि प्रत्येक प्रान्त में व्यावसायिक शिक्षा के संगठन तथा पाठ्यक्रम इत्यादि की पूर्ण रूप से उत्तरदायी हों।

व्यावसायिक शिक्षा का आधार सामान्य शिक्षा होना चाहिये। अतः कम से कम मिडिल पास विद्यार्थी ही जूनियर-व्यावसायिक स्कूलों में प्रवेश पा सकें तथा उच्चतर माध्यमिक शिक्षा पास विद्यार्थी सीनियर-व्यावसायिक स्कूलों में प्रविष्ट किये जाँय। इन जूनियर व्यावसायिक स्कूलों के शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी जो कि २ वर्ष में अपना पाठ्यक्रम समाप्त करेंगे, वे उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के समकक्ष माने जायँगे। जूनियर स्कूल पास विद्यार्थी सीनियर स्कूल में भी प्रविष्ट हो सकेंगे अथवा किसी विशेष उद्योग में विशेषयोग्यता प्राप्त कर लेंगे। जो सीनियर व्यावसायिक स्कूलों के पास विद्यार्थी होंगे वे इन्टर कालेज के समकक्ष माने जायेंगे। इनका पाठ्यक्रम भी २ वर्ष का होगा। जो व्यक्ति पहले से ही कुछ

व्यवसायों में नौकरी कर रहे हैं उनके लिये अर्धसामयिक (Part time) शिक्षालय खोल देने चाहिए।

कृषि-शिक्षा के लिये रिपोर्ट में कहा गया कि इसके लिये शिक्षालय सीमित हों। प्राथमिक तथा माध्यमिक विद्यालयों में कृषि का विषय वैकल्पिक कर दिया जाय। वाणिज्य भी इसी प्रकार वैकल्पिक विषय किया जा सकता है।

भिन्न २उद्योगों के लिए विशिष्ट स्कूलों के खोलने के स्थान पर रिपोर्ट में बहुउद्योगीय (Polytechnic) स्कूल, जहाँ पर एक ही शिक्षालय में बहुत से व्यवसायों की शिक्षा दी जाती हो, खोलने की सिफारिश की।

इनके अतिरिक्त आर्ट और क्राफ्ट की शिक्षा पर भी जोर दिया तथा दिल्ली में एक व्यावसायिक प्रशिक्षण कालेज (Vocational Training College) खोलने की भी सिफारिश की गई।

इस प्रकार देश की परिस्थिति और वास्तविक आवश्यकताओं को देखते हुये भी वुड-ऐबट रिपोर्ट एक विशेष माँग की पूर्ति करती है।

अब आगे हम इन रिपोर्टों तथा अन्य परिवर्तन और हलचलों के प्रकाश में हुई देश की शिक्षा-प्रगति का क्रमशः अध्ययन करेंगे।

(ख) शिक्षा-प्रगति (१९२१-३७ ई०)

१—विश्वविद्यालय तथा उच्च शिक्षा

इस काल में विश्वविद्यालय-शिक्षा में संतोषजनक विस्तार व सुधार हुआ। अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड तथा ५ नये विश्वविद्यालयों का निर्माण; पुराने विश्वविद्यालयों का पुनःसंगठन; अनुसंधान की सुविधायें; सैनिक शिक्षा की व्यवस्था तथा कुछ राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों का प्रादुर्भाव इत्यादि इस युग की कुछ विशेष घटनायें हैं, जिनसे हमें उच्च शिक्षा के विकास का अनुमान होता है।

अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड

भारत में विश्वविद्यालयों की संख्या बढ़ने पर यह आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि इन सभी विश्वविद्यालयों में पारस्परिक साम्य तथा सहयोग स्थापित करने के लिये किसी ऐसी संस्था का निर्माण किया जाय जोकि विभिन्न विश्वविद्यालयों के कार्यों को समानता प्रदान करके उनमें ऐक्य उत्पन्न करे। कलकत्ता कमीशन ने भी इसकी सिफारिश की थी, साथ ही १९२१ ई० में साम्राज्य के अन्तर्गत हुई विश्वविद्यालय काँग्रेस और तदुपरान्त इङ्गलैंड में भारतीय विद्यार्थियों के निमित्त बनी हुई लिटन-समिति ने भी इसकी स्थापना का समर्थन

किया। फलतः १६२४ ई० में शिमला में अखिल भारतीय विश्वविद्यालय कान्फ्रेंस में इस अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड की स्थापना कर दी गई जिसका प्रधान कार्यालय बँगलौर में रक्खा गया।

इस बोर्ड में सभी विश्वविद्यालयों के प्रतिनिध सम्मिलित हैं। अपनी स्थापना के उपरान्त इसने विश्वविद्यालय शिक्षा सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को हल किया है। भिन्न-भिन्न शिक्षा-केन्द्रों में इसकी वार्षिक बैठकें होती हैं। इसके अतिरिक्त बोर्ड की पंचवर्षीय कान्फ्रेंस भी उच्च शिक्षा के पेचीदे मसलों को हल करने के लिये होती हैं। भारतीय विश्वविद्यालय-पुस्तिका (A Handbook of Indian Universities) नामक इसका एक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन भी है।

इस बोर्ड के प्रमुख कार्य संक्षेप में इस प्रकार है—एक अन्तर्विश्वविद्यालय संगठन तथा सूचना केन्द्र के रूप में कार्य करना; अध्यापकों का आदान-प्रदान; विश्वविद्यालयों में पारस्परिक सहयोग तथा साम्य उत्पन्न करना; भारतीय विद्यार्थियों को विदेशी विश्वविद्यालयों के विषय में परामर्श देना तथा उनकी उपाधियों को मान्य कराना, अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलनों में अपने प्रतिनिधि भेजना तथा विश्वविद्यालयों के हित में अन्य आवश्यक कार्य करना इत्यादि। इतना अवश्य है, जैसा कि सर राधाकृष्णन कमीशन का मत है, बोर्ड ने एक सलाहकारी संस्था की तरह कार्य तो अवश्य किया है, किन्तु इसका प्रभाव इतना शक्तिशाली नहीं रहा है जितना कि होना चाहिए था। "वाइस चांसलरों की संयुक्त आवाज की परामर्श को जो कि वास्तव में अब बोर्ड का स्वरूप हो गया है, विश्वविद्यालयों ने बहुधा नहीं माना है।"†

नवीन विश्वविद्यालयों की स्थापना

प्रत्येक प्रान्त में कम से कम एक विश्वविद्यालय स्थापित करने की नीति तथा शिक्षण-विश्वविद्यालय स्थापित करने की दृष्टि से इस काल में ५ विश्वविद्यालय स्थापित किये गये; यथा—दिल्ली (१६२२), नागपुर (१६२३), आन्ध्र (१६२६), आगरा (१६२७) तथा अण्णामलै (१६२६)।

(१) दिल्ली—दिल्ली विश्वविद्यालय प्रारम्भ में एक सम्बन्धक विश्वविद्यालय (Affiliating University) के रूप में स्थापित हुआ था, जिसमें सेन्ट स्टीफैंस कालेज, हिन्दू कालेज तथा रामजस कालेज सम्मिलित थे। १६२७ ई० में एक विशेष समिति द्वारा इस प्रश्न पर विचार किया गया कि इसे सम्बन्धक विश्वविद्यालय बनाया जाय अथवा संघीय (Federal) विश्वविद्यालय।

† *Report of the University Commission* (1948-49) Vol. I. p. 29.

अन्त में १९३४ ई० में भारत सरकार ने निश्चय किया कि यह संघीय (Federal) विश्वविद्यालय रहेगा। किन्तु कुछ कालेजों का सम्बन्ध भी इससे बना रहा।

(२) **नागपुर**—नागपुर विश्वविद्यालय मध्यप्रान्त के लिये स्थापित किया गया था। यद्यपि यह सम्बन्धक विश्वविद्यालय था, किन्तु कालान्तर में इसमें शिक्षण कक्षाऐं भी खोल दी गईं और एक लॉ कालेज की स्थापना भी कर दी गई। अभी तक इसका रूप सम्बन्धक ही है।

(३) **आन्ध्र**—मद्रास प्रान्त में उत्तरी भाग के लिये आन्ध्र विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। १९२० ई० में मद्रास विश्वविद्यालय ने भाषा के आधार पर प्रत्येक क्षेत्र में एक विश्वविद्यालय खोलने के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था। इधर तेलगु भाषा-भाषी लोग निरन्तर रूप से विश्वविद्यालय की माँग कर रहे थे। अतः १९२६ ई० में एक स्थानीय विश्वविद्यालय आन्ध्र प्रदेश के लिये खोल दिया गया। इसमें उच्च टैक्निकल शिक्षा की विशेष व्यवस्था है। इसके विधान में विशेषता है कि उपकुलपति चुनाव के द्वारा नियुक्त होगा। मातृभाषा को माध्यम बनाने की भी विधान में व्यवस्था है, किन्तु अभी तक पूर्णतः ऐसा नहीं हो सका है। इसके स्थिति-स्थान का प्रश्न सदा विवादग्रस्त रहा है। प्रारम्भ में यह विजयबाड़ा में था, १९३१ ई० में यह विशाखापट्टणम् पहुँच गया और तदुपरान्त गुन्टूर में स्थापित किया गया।

(४) **आगरा**—आगरा विश्वविद्यालय की स्थापना १९२७ ई० में की गई। इलाहाबाद विश्वविद्यालय का क्षेत्र अधिक विस्तीर्ण हो गया था, अतः उससे सम्बन्धित कालेजों को आगरा से सम्बन्धित कर दिया गया। इससे अजमेर, ग्वालियर, राजपूताना इत्यादि के सभी डिग्री कालेज सम्बन्धित थे। किन्तु अब राजपूताना विश्वविद्यालय बन जाने से इसका क्षेत्र संकुचित हो गया है। आगरा विश्वविद्यालय में उत्तरप्रदेश के सभी डिग्री कालेज (केवल स्थानीय विश्वविद्यालयों के क्षेत्र के कालेजों को छोड़कर) सम्मिलित हैं। यह एक प्रकार से विशुद्ध सम्बन्धक-विश्वविद्यालय है। इसके क्षेत्र में ऐसे डिग्री कालेज भी हैं जहाँ इन्टर-कक्षायें भी खुली हैं किन्तु इन कक्षाओं का सम्बन्ध इलाहाबाद बोर्ड से है।

(५) **अण्णामलै**—अण्णामलै विश्वविद्यालय दक्षिणी मद्रास में अण्णामलै नगर, चिदाम्बरम् में १९२९ ई० में स्थापित किया गया। इसका अस्तित्व प्रधानतः स्वर्गीय राजा सर अण्णामलै चैट्टियर की अनुकम्पा से हुआ जिन्होंने अपने तीन कालेज तथा २० लाख रुपया दान में देकर इस नवीन विश्वविद्यालय को

जन्म दिया। यह विश्वविद्यालय शिक्षण तथा स्थानीय विश्वविद्यालय है। इसकी विशेषता यह है कि यहाँ प्राच्य विद्याओं, तमिल, संस्कृत, भारतीय इतिहास तथा भारतीय संगीत इत्यादि के उच्च अध्ययन तथा अनुसंधान की व्यवस्था है। 'राजा अण्णामलै संगीत कालेज' तथा 'ओरियंटल ट्रेनिंग कालेज' इसके विशेष आकर्षण हैं। १९३४ ई० में यहाँ तमिल में भी अनुसंधान की व्यवस्था करदी गई। विधान प्रायः अन्य विश्वविद्यालयों की ही भाँति है।

अन्य सुधार तथा प्रगति—नये विश्वविद्यालयों की स्थापना के अतिरिक्त कुछ पूर्वस्थित विश्वविद्यालयों में भी इस काल में सुधार हुए। मद्रास विश्वविद्यालय का विधान १९२३ तथा १९२९ ई० में बदला गया। इसके अनुसार यह एक शिक्षण विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुआ। अर्थशास्त्र, प्राणिशास्त्र, रसायनशास्त्र, बनस्पतिशास्त्र, गणित, भारतीय दर्शन तथा इतिहास इत्यादि में अनुसंधान की भी सुविधा कर दी गई और प्राच्य भाषाओं में तमिल, तेलगु, मलयालम, कन्नड़, संस्कृत, अरबी, फारसी तथा उर्दू के अनुसंधान के लिये प्राच्य अनुसंधानशाला खोल दी गई। बम्बई विश्वविद्यालय का १९२८ ई० में पुनः संगठन हुआ जिसके कारण उच्च-शिक्षा तथा अनुसंधान की सुविधायें अधिक बढ़ गईं। पटना विश्वविद्यालय का एक अधिनियम के द्वारा १९३२ ई० में सुधार हुआ। इसके अतिरिक्त इलाहाबाद अब पूर्णतः शिक्षण कार्य करने लगा। १९२२ ई० में इसके सुधार का अधिनियम पास कर दिया गया था। कलकत्ता तथा पंजाब विश्वविद्यालयों में भी इसी प्रकार विधानों में संशोधन करके उपयुक्त परिवर्तन तथा सुधार किये गये।

इस काल में कालेजों की भी अभिवृद्धि हुई। विश्वविद्यालयों के विभागों तथा सम्बन्धित कालेजों की संख्या १९२२ ई० में २०७ से बढ़कर १९३७ ई० में ४४६ हो गई तथा विद्यार्थियों की संख्या ६६,२५८ से १२६,२२८ हो गई। अब तक विश्वविद्यालय विद्या के केन्द्र नहीं थे। उनका आस्तित्व केवल परीक्षा लेने तथा डिग्री प्रदान करने के लिये था, किन्तु अब उनका प्रधान-कार्य शिक्षण तथा अनुसन्धान हो गया। विद्यार्थियों को अनुसन्धान की सुविधाओं के लिये वृहत् पुस्तकालयों की व्यवस्था की गई तथा छात्रवृत्ति देकर उन्हें प्रोत्साहित किया गया। अधिकतर विश्वविद्यालय अपने ही विशाल तथा भव्य भवनों में स्थित हैं। भारतीय विश्वविद्यालयों में पारस्परिक अच्छे सम्बन्धों में भी वृद्धि हुई तथा वहाँ विद्यार्थियों के व्यायाम, खेल कूद व क्रीड़ाओं तथा नियमित डाक्टरी परीक्षा की व्यवस्था भी हुई। उनके सामाजिक जीवन में सहयोग तथा आत्म-निर्भरता की भावना लाने के उद्देश्य से विद्यार्थी-यूनियनों तथा अन्य परिषदों

की स्थापना हुई। सन् १९२० ई० में 'भारतीय प्रादेशिक सेना अधिनियम' पास होने पर विश्वविद्यालयों में सैनिक शिक्षा (U.O.T.C.) का भी प्रचार जोरों से बढ़ा। इनकी स्थापना प्रत्येक विश्वविद्यालय तथा उनसे सम्बन्धित डिग्री कॉलेजों में की गई जिससे उनके चरित्र तथा स्वास्थ्य का सुधार हुआ।

इस प्रकार उच्चशिक्षा का प्रसार व विकास हुआ। किन्तु इससे कुछ हानियाँ भी हुईं, जैसे शिक्षा का स्तर बहुत कुछ गिर गया, पुस्तकीय ज्ञान अधिक बढ़ गया और व्यावसायिक शिक्षा तथा रोजगार के अभाव में शिक्षित युवक बेकार घूमने लगे। संख्या में वृद्धि के साथ-साथ शासन की श्रेष्ठता में शिथिलता आ गई। धनाभाव के कारण विश्वविद्यालय विकास की योजनाओं को इच्छानुसार कार्यान्वित नहीं कर सके।

उच्च शिक्षा के अन्य केन्द्र—नियमित विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त भारत में कुछ ऐसे भी विद्याकेन्द्र थे जहाँ भिन्न-भिन्न विषयों की उच्च-शिक्षा का प्रबन्ध था। ये संस्थायें न तो विश्वविद्यालय ही कहलाती थीं और न किसी विश्वविद्यालय से सम्बन्धित ही थीं। इनमें से निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय थीं :—

(१) भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना (१९१७); (२) बोस रिसर्च इंस्टीट्यूट, कलकत्ता (१९१७); (३) हारकोर्ट बटलर टेक्नोलॉजिकल इंस्टीट्यूट, कानपुर (१९२१); (४) इम्पीरियल एग्रीकल्चर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, न्यू पूस, नई दिल्ली;* (५) इंडियन इंस्टीट्यूट ऑव साइंस, बँगलौर (१९११); (६) इंडियन स्कूल ऑव माइन्स, धनबाद (१९२६); (७) इंडियन वीमैन्स यूनिवर्सिटी, बम्बई (१९१६); (८) विश्वभारती (१९२२); तथा (९) सीरामपुर कालेज (१९१८)।

ये संस्थाएँ स्वतन्त्र रूप से देश में उच्च-शिक्षा का प्रचार कर रहीं थीं। अधिकांश में, जैसा कि इनके नाम से प्रतीत होता है ये विज्ञान, व्यवसाय तथा उद्योगों की विशेष शिक्षा के लिये स्थापित की गईं थीं। इनमें कुछ शुद्ध सरकारी तथा कुछ गैर-सरकारी संस्थायें भी थीं।

इनके अतिरिक्त कुछ राष्ट्रीय विश्वविद्यालय भी देश में स्थापित हो गये थे। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, भारत में यह युग राजनैतिक क्रान्ति का

* यह संस्था पहिले पूसा (बिहार) में स्थिति थी, किन्तु १९३४ ई० में भूचाल के उपरान्त इसे दिल्ली में स्थापित कर दिया गया था। दिल्ली में इसका एक कृषि-फार्म भी है।

युग था। जनता में राष्ट्रीयता की भावनायें बढ़ रही थीं। इस कारण अँग्रेजी शिक्षालयों का बहिष्कार करके राष्ट्रीय विचारों पर आधारित शिक्षा संस्थायें स्थापित की गईं। इनमें रवीन्द्रनाथ टैगौर की विश्वभारती, सेवाग्राम, पांडुचेरी आश्रम, दारुल उलूम, देवबन्द तथा दिल्ली का जामिया मिलिया इस्लामिया अधिक प्रसिद्ध हैं।

विश्व-भारती की स्थापना ६ मई, १६२२ को डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कलकत्ता से लगभग १०० मील की दूरी पर बोलपुर नामक स्थान पर की। उन्होंने इस स्थान का नाम 'शान्ति निकेतन' रक्खा। सन् १६४८ तक विश्व-भारती बिना सरकारी सहायता के ही चलती रही। इसकी स्थापना में कविवर का उद्देश्य यह था कि प्राच्य और पाश्चात्य शिक्षा-पद्धतियों, संस्कृतियों तथा सभ्यताओं का समन्वय किया जाय। विश्व भारती में विद्यार्थियों के लिए खुले मैदान में अथवा पेड़ों के नीचे कक्षाओं की व्यवस्था की गई। वास्तव में आधुनिक काल में संसार में यह एक नूतन विधि का परीक्षण है। इस संस्था में सह-शिक्षा के आधार पर लड़के और लड़कियाँ कला, साहित्य, दर्शन और विज्ञानों का अध्ययन करते हैं। संस्था के प्रमुख विभाग हैं—(१) विद्या-भवन, जहाँ संस्कृत, पाली, प्राकृत, हिन्दी, अरबी, फारसी, उर्दू तथा बंगाली इत्यादि भाषाओं तथा भारतीय दर्शन, बौद्ध-धर्म तथा वेदान्त इत्यादि में उच्च अनुसन्धान किया जाता है; (२) चीना-भवन, जहाँ भारतीय तथा चीनी विद्यार्थियों को एक दूसरे की सभ्यता व संस्कृति के विषय में अध्ययन करने की व्यवस्था है; (३) शिक्षा-भवन; (४) कला-भवन; (५) संगीत-भवन; (६) श्री निकेतन तथा (७) शिल्प-भवन।

भारत की स्वतन्त्रता के उपरान्त सरकार का ध्यान इस महान् शिक्षा-संस्था की ओर गया और उसने इसे विश्वविद्यालय की कक्षा दी। सन् १६५१ से विश्व-भारती केन्द्रीय सरकार के आधीन है और विश्व में एक अनुपम प्रकार की संस्था है, जहाँ भारत के अतिरिक्त एशिया तथा योरुप के अन्य देशों के विद्यार्थी भी विभिन्न विषयों का उच्च-अध्ययन करने आते हैं।

जामिया मिलिया के विषय भी में कुछ शब्द कहना असंगत न होगा। इसका अर्थ है 'राष्ट्रीय मुसलमान विश्वविद्यालय'। इसकी स्थापना मौ० मुहम्मद अली ने १६२० ई० में राष्ट्रीय मुसलमानों की शिक्षा के लिये अलीगढ़ में की थी, किन्तु १६२५ ई० में इसे हटा कर दिल्ली में स्थापित कर दिया गया और डा० जाकिर हुसैन इसके उपकुलपति बनाये गये। इसमें कला तथा विज्ञान की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध है। माध्यमिक शिक्षा का प्रबन्ध भी अच्छा है। प्राथमिक

स्कूलों में क्राफ्ट के द्वारा बेसिक शिक्षा दी जाती है। इसके लिये बेसिक ट्रेनिंग विभाग भी है। छात्रावासों का प्रबन्ध सराहनीय है। भारत के स्वतन्त्र होने पर राष्ट्रीय सरकार ने अब इसे अपने अन्तर्गत ले लिया है और इसके विकास पर पर्याप्त धन व्यय किया जा रहा है।

२—माध्यमिक शिक्षा

माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में इस युग में प्रगति बड़ी सन्तोष-जनक रही। शिक्षालयों के साथ ही साथ विद्यार्थियों की संख्या में भी वृद्धि हुई। सरकारी सहायता तथा व्यय के कम होते हुए भी व्यक्तिगत प्रयासों में पर्याप्त विकास हुआ जिसका कारण राष्ट्रीय-भावनाओं का प्रचार था। सरकारी स्वीकृत माध्यमिक शिक्षालयों की संख्या ब्रिटिश भारत में १९२१-२२ ई० में ७,५३० से बढ़कर १९३६-३७ ई० में १३,३५६ हो गई, तथा उनमें विद्यार्थियों की संख्या ११,०६,८०३ से २२,८७,८७२ हो गई। नगरों के अतिरिक्त कस्बों तथा बड़े गाँवों में भी हाई स्कूल खुलने लगे। कुछ मिडिल स्कूलों को हाई स्कूल तक की स्वीकृत मिल गई। बालिकाओं में भी माध्यमिक शिक्षा का बहुत प्रसार हुआ तथा पिछड़ी हुई जातियाँ भी अपने बच्चों को माध्यमिक शिक्षा का लाभ प्रदान कराने लगीं। माध्यमिक शिक्षालयों के लिये विभिन्न प्रान्तों में व्यक्तिगत दानदाताओं तथा धनिकों ने उदारतापूर्वक दान दिये। कहीं-कहीं प्रतिस्पर्द्धा की भावनाओं से प्रति-द्वन्दी स्कूल भी खुले। किन्तु एक बात अत्यन्त खेद की यह है कि जातीय स्कूलों को इस युग में बहुत प्रोत्साहन मिला। भिन्न-भिन्न जातियाँ सामूहिक रूप से चन्दा करके जातीय स्कूल खोलने लगीं। इस प्रकार भारतवर्ष, जो कि पहले से ही जातिवाद तथा साम्प्रदायिकता में जकड़ा हुआ था, अपनी भावी पीढ़ी को जातीय भेद भाव का पाठ पढ़ाने लगा। दुख की बात तो यह है कि यह भावना आज भी झूठी राष्ट्रीय भावना के आवरण में उसी प्रकार पनप रही है। दिन-प्रतिदिन जातीय तथा उपजातीय स्कूलों को सरकार की ओर से मान्यता मिलती जा रही है और इस प्रकार भारत की एकता को शत-शत खंडों में विदीर्ण किया जा रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये कौमी शिक्षा-संस्थायें आज षड्यंत्रों तथा जातीय पक्षपात के अड्डे बनी हुई हैं और लाभ के स्थान पर अत्यंत हानि कर रही हैं। यह विकृत राष्ट्रीयता का उदाहरण है।

"इस प्रकार की संस्थाओं की संख्या में तीव्र वृद्धि होने से न केवल अनावश्यक व्यय का दोहरापन व फिजूल खर्ची ही बढ़ी है और कभी-कभी अनुशासन भी बिगड़ा है, अपितु दुर्भाग्य से जातीय कलह भी बढ़े हैं जोकि भारतवर्ष की प्रगति में बाधा पहुँचा रहे हैं।........यह बात कभी भी लाभदायक

नहीं हो सकती कि विद्यार्थी अपनी प्रभावशाली युवावस्था को इन जातीय संस्थाओं के संकीर्ण वायु-मंडल में रह कर नष्ट करते रहें और अन्य जातियों के विद्यार्थियों के सम्पर्क में आने से वंचित रहें।"*

इस काल में गांवों में माध्यमिक शिक्षा का प्रचार होने से ग्रामीणों को बहुत सुविधायें हो गईं। पहिले उन्हें अत्यन्त कठिनाइयों का सामना करके बच्चों को नगरों में शिक्षा के लिये भेजना पड़ता था, किन्तु अब अंशतः शिक्षा के गांवों में ही उपलब्ध होने से माध्यमिक शिक्षालयों में ग्रामीण-विद्यार्थियों का अनुपात बढ़ने लगा।

जैसा कि कहा जा चुका है, माध्यमिक शिक्षा में यह वृद्धि वैयक्तिक प्रयासों से हुई। जबकि देश में लड़कों के लिये सरकारी स्कूल १९२१-२२ ई० में केवल ३७९ थे तो १९३६-३७ ई० में ४३६ हो गये और लड़कियों के लिये ११५ से २०७ हो गये; अर्थात् १४९ की ही वृद्धि हुई; तो वैयक्तिक स्कूलों में १,८३६ की अभिवृद्धि हुई जिनमें ३१५ स्कूल सरकार से सहायता प्राप्त नहीं थे। माध्यमिक स्कूलों की यह वृद्धि वास्तव में एक दीर्घकाल से चली आ रही थी।

१९३० ई० के बाद यद्यपि भारत आर्थिक संकट में फँसा था, माध्यमिक शिक्षा में उसने संतोष-जनक प्रगति की। १९३७ ई० में जाकर वैयक्तिक प्रयास इस प्रकार बढ़ गया, कि माध्यमिक शिक्षा की समस्या वस्तुतः व्यक्तिगत माध्यमिक शिक्षालयों की ही समस्या बन गई। माध्यमिक स्कूलों की प्रगति निम्नलिखित तालिका से ज्ञात हो सकती है:—

वर्ष	माध्यमिक स्कूलों की संख्या	माध्यमिक स्कूलों में विद्यार्थियों की संख्या
१८८१–८२	३,९१६	२,१४,०७७
१९०१–०२	५,१२३	५,९०,१२९
१९२१–२२	७,५३०	११,०६,८०३
१९३६–३७	१३,०५६	२२,८७,८७२

शिक्षा के माध्यम की दृष्टि से भी यह युग बहुत अच्छा रहा। प्रायः सभी प्रान्तों में शिक्षा का माध्यम हिन्दी अथवा अन्य प्रान्तीय भाषाओं में कर दिया

*Quinquennial Review of the Progress of Edu. in India 1927-32. Vol. I. page: 106.

गया। व्यवहार में यद्यपि कुछ कठिनाई उपस्थित हुई। उसका कारण था कि विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम अँग्रेज़ी होने से कुछ लोगों ने समझा कि माध्यमिक शिक्षा तो विश्वविद्यालय शिक्षा का ही अंग है न कि एक स्वतंत्र इकाई, अतः माध्यमिक स्कूलों में भी अँग्रजी पढ़ने से विद्यार्थियों को आगे चलकर सुविधा रहती है। किन्तु यह तर्क बड़ा बेहूदा था। इसके अतिरिक्त अँग्रेजी भाषा के प्रति युवकों और उनके माँ-बाप की रुचि तथा उच्च-पदों के लिये परीक्षाओं का माध्यम अँग्रेजी होने के कारण अँग्रेजी को पक्का (Strong) करने की लालसा ने भी अँग्रेज़ी माध्यम का ही पक्ष लिया। इनके अतिरिक्त लिपि, वैज्ञानिक-परिभाषिक शब्दों का अभाव तथा प्रारम्भ में अच्छी पुस्तकों का अभाव इत्यादि भी कुछ ऐसे तर्क थे जो कि मातृभाषा को माध्यम बनाने में बाधक होते थे। किन्तु १६३७ ई० तक पहुँचते-पहुँचते प्रायः सभी अभाव दूर हो गये और मातृ-भाषा ही सिद्धान्ततः व व्यवहारतः प्रयुक्त होने लगी।

शिक्षकों के प्रतिक्षण तथा उनकी नौकरी की अवस्था और वेतन में भी सुधार हुआ। माध्यमिक शिक्षालयों में दीक्षित अध्यापकों की संख्या बहुत कम थी। अतः प्रायः अदीक्षित (Untrained) अध्यापकों को ही रखना पड़ता था। वस्तुतः ट्रेनिंग कॉलेजों की संख्या देश में इतनी कम थी कि उनसे आवश्यक मांग की पूर्ति नहीं हो सकती थी। यही कारण था कि बंगाल, आसाम, सिन्ध तथा बम्बई में दीक्षित अध्यापकों की संख्या क्रमशः २०·७%, ३६%, १६·५% तथा २२·८% थी। यू० पी०, मद्रास, दिल्ली, पंजाब, सीमाप्रान्त मध्य-प्रान्त तथा बिहार में यह संख्या क्रमशः ६७·२,८४·७,८२·८,८६·७,८०·३,७०·२ तथा ५४ ४ प्रतिशत थी। शेष अध्यापक अदीक्षित थे। इससे शिक्षा की श्रेष्ठता को बहुत बड़ा आघात पहुँचा। व्यक्तिगत माध्यमिक शिक्षालयों में शिक्षकों की अवस्था भी बड़ी दयनीय थी। प्रबन्ध समितियों की तुच्छ तथा निम्नकोटि की राजनैतिक चलों का बहुधा शिक्षकों को आखेट बनाना पड़ता था। उनकी नौकरी स्थाई नहीं थीं, वेतन दर भी बहुत निम्न थी एवं वृद्धावस्था के लिये कोई व्यवस्था नही थी। बहुधा व्यक्तिगत स्कूलों की आर्थिक अवस्था भी जर्जरित रहती थी इस कारण वह अच्छे व योग्य शिक्षकों के रखने में असमर्थ रहते थे। इससे शिक्षा का स्तर भी गिर गया। इस समस्या ने शीघ्र ही भिन्न-भिन्न प्रान्तों में सरकारों का ध्यान आकर्षित किया और वहाँ इस ओर रचनात्मक कदम उठाये गये। कहने की आवश्यकता नहीं कि शिक्षकों की बहुत सी समस्यायें जो १६३७ ई० में थीं आज १६५५ ई० में भी वह अक्षुण्ण बनी हुई हैं। इतना ही नहीं बहुत से मामलों में तो स्थिति और भी अधिक गंभीर हो गई है। राष्ट्रनिर्माता

तथा शिक्षा का आधार शिक्षक आज केवल एक साधारण श्रमिक की भाँति अन्यमनस्क होकर अपने महान् कर्त्तव्य को शुष्कभार की भाँति ढो रहा है।

औद्योगिक शिक्षा की दृष्टि से भी कुछ प्रगति हुई यद्यपि वह अपर्याप्त थी। माध्यमिक शिक्षा भी आवश्यकता से अधिक पुस्तकीय हो गई थी अतः युवकों में बेकारी बढ़ रही थी। शिक्षा के पाठ्य-क्रम में कुछ औद्योगिक तथा व्यावसायिक विषयों का रखना अनिवार्य हो गया। परिणामतः बम्बई, मद्रास, बङ्गाल, यू० पी०, पंजाब तथा मध्य-प्रान्त इत्यादि सभी प्रान्तों में कताई, बुनाई आर्ट और क्राफ्ट, पुस्तक-कला, कृषि, वाणिज्य, खिलौने बनाना इत्यादि विषय वैकल्पिक पाठ्य-क्रम में सम्मिलित कर दिये गये। उत्तर प्रदेश में लकड़ी तथा कागज और दफ्ती का काम निम्न कक्षाओं में अनिवार्य तथा ९ वीं और १० वीं कक्षा में वैकल्पिक कर दिया गया। कृषि का सैद्धान्तिक अध्ययन भी यहाँ हाई स्कूल कक्षाओं में रख दिया गया। वुड-ऐबट रिपोर्ट की सिफारिशों पर भी व्यावसायिक शिक्षा का पहिले से अधिक प्रचार प्रारम्भ कर दिया गया।

३—प्राथमिक शिक्षा

१९२१ ई० के उपरान्त प्रथम दशक में प्राथमिक शिक्षा का सन्तोषजनक विकास, हुआ किन्तु अन्त में जा कर उसकी प्रगति मन्द पड़ गई। अब तक प्रारम्भिक जन-शिक्षा के विषय में सरकार की नीति की सदा आलोचना की जाती थी। १८५४ ई० के घोषणा-पत्र से लेकर हर्टाग समिति तक सभी कमीशनों और समितियों ने जन-शिक्षा के व्यापक प्रसार तथा इसके अधिकांश में अनिवार्य बनाने की सिफारिश की थी, किन्तु अभी तक इस ओर कोई सराहनीय कदम नहीं उठाया गया था। १९१७–२७ ई० तक के दशक में आकर ही इस ओर रचनात्मक कदम उठाये गये और विभिन्न प्रान्तों में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा-सम्बन्धी कानून पास किये गये। इन कानूनों का पास होना श्री बसु के अनुसार गोखले की पराजय का जवाब था। बम्बई नगर-पालिका ने तो १९१८ ई० में ही अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का कानून पास कर दिया था। मांट-फोर्ड सुधारों के उपरान्त इस प्रकार के कानूनों की बाढ़ सी आगई और १९१९ ई० में बंगाल ने नागरिक क्षेत्रों के लिये यह अधिनियम पास किया। दूसरे वर्ष ही बंगाल में इस कानून में सुधार करके ग्रामीण-क्षेत्रों को सम्मिलित करने की भी चेष्टा की गई, किन्तु १९३० ई० में जाकर ही यह आवश्यकता पूर्ण हुई जब 'बंगाल प्राथमिक शिक्षा (ग्रामीण) कानून' पास हो गया। १९१९ ई० में ही पंजाब, संयुक्त-प्रान्त तथा बिहार उड़ीसा ने भी यह

कानून पास किये। संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) में १६२६ ई० में 'जिला बोर्ड प्राथमिक शिक्षा कानून' और पास हुआ। इसी प्रकार १६२० ई० में मद्रास, १६२३ ई० में बम्बई तथा १६२६ ई० में आसाम ने प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने के कानून बनाये।

इन कानूनों के बन जाने से प्राथमिक शिक्षा पूर्णतः स्थानीय बोर्डों— जिलाबोर्ड तथा म्युनिसिपल बोर्ड के अधिकार व नियन्त्रण में चली गई। प्रत्येक बोर्ड ने अपने क्षेत्र की अवस्थाओं तथा आवश्यकताओं का अध्ययन किया और उन्हीं के अनुसार प्राथमिक शिक्षा के विकास के लिए उपनियम बनाये। प्रत्येक प्रान्त में अनिवार्यता की सीमा निर्धारित करने का दायित्व भी स्थानीय बोर्डों पर छोड़ दिया गया। उन्हें शिक्षा-कर लगाने के अधिकार दे दिये गये, यद्यपि इस अधिकार का पूर्ण लाभ नहीं उठाया जा सका। प्रान्तीय सरकारों ने भी शिक्षा-व्यय पर अनुदान देना स्वीकार कर लिया। पंजाब तथा बिहार-उड़ीसा में अनिवार्यता केवल लड़कों के लिए है, किन्तु अन्य सभी प्रान्तों में लड़का और लड़कियों दोनों के लिए है।

साधारणतया जहाँ ४ वर्ष का कोर्स है, अनिवार्यता की उम्र ६ से १० वर्ष तक है; जहाँ पाँच वर्ष का कोर्स है वहाँ ६ से ११ तक है। पंजाब में ७ से ११ तक है। बालकों को नौकरी में रखने का निषेध कर दिया गया। उनके जो अभिभावक अनिवार्य शिक्षा कानून की अवहेलना करें उनके लिये दण्ड की भी व्यवस्था की गई। अधिकांश में यह शिक्षा निशुल्क अथवा नाम मात्र शुल्क पर ही रक्खी गई।

इस प्रकार प्रायः सभी प्रान्तों में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा कानूनों का विषय एकसा ही रहा जिनका प्रमुख आशय यही था कि प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बना दिया जाय जिससे निरक्षरता का विनाश हो; और यह उत्तर-दायित्व स्थानीय बोर्डों को पूर्णतः दे दिया जाय।

इन कानूनों की प्रतिक्रिया बहुत ही सन्तोषजनक हुई। नये शिक्षा-मन्त्रियों ने अपनी योजनाएँ बनाकर विशाल क्षेत्र पर उन्हें लागू किया। प्रान्तीय सरकारों ने भी मन्त्रियों की माँगों को पूरा करके उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता प्रदान की। परिणामतः १६२१-२२ ई० प्राथमिक स्कूलों की संख्या १,५५,०१६ से बढ़कर १६२६-२७ ई० में १,८४,८२६ हो गई और व्यय ३,६४,६६,०८० रु० से बढ़कर ६,७५,१८,८०२ रु० हो गया। इसी प्रकार

बालकों की संख्या में वृद्धि हुई। किन्तु दूसरे पंचसाला में आर्थिक संकट तथा हर्टाग समिति की रिपोर्ट के कारण यह प्रगति बहुत मन्द पड़ गई। श्री हर्टाग ने शिक्षा के विकास का विरोध किया था और उसकी श्रेष्ठता बढ़ाने तथा उसे ठोस करने पर अधिक बल दिया था। शिक्षा अधिकारियों ने हर्टाग की सिफारिशों का अक्षरशः पालन किया। यही कारण है कि प्राथमिक शिक्षा आज तक देश में पूर्णतः अनिवार्य नहीं हो सकी है। जितने प्रान्तीय कानून अनिवार्यता के लिये बने वे भिन्न-भिन्न कारणों से व्यर्थ ही रहे और सच्चे अर्थ में उनका उपयोग कहीं भी नहीं हो सका। वास्तव में यह आन्दोलन ही असफल रहा। "इसका अभिप्राय यही हो सकता है कि गत १०० वर्षों में प्राथमिक-शिक्षा के विकास की सभी योजनाओं और वादविवादों की अपेक्षाकृत भी यह समस्या अभी तक दृढ़ता तथा पूर्णता से हल नहीं की जा सकी है।"

हर्टाग-समिति की रिपोर्ट का प्रभाव बड़ा घातक हुआ। शिक्षा अधिकारियों को इससे अनुचित प्रोत्साहन मिल गया और उन्होंने प्रत्येक प्रान्त में बहुत से स्कूलों को यह कर बन्द कर दिया कि उनकी अवस्था बुरी है, धन अथवा भवन नहीं है, कार्य क्षमता गिर गई है और अपव्यय व अवरोधन अधिक हो रहा है इत्यादि। यद्यपि गैर सरकारी मत इसके बिल्कुल प्रतिकूल था। उसके अनुसार शिक्षा का विकास उसकी श्रेष्ठता से भी अधिक आवश्यक था, क्योंकि उस समय देश अज्ञान अंधकार में डूबा हुआ था और साक्षरता १८८१ ई० में ३·५ प्रतिशत से १९३१ ई० में केवल ८·० प्रतिशत हो सकी थी अर्थात् देश की ९२ प्रतिशत जनता अंधकार में टटोल रही थी! जनता का विचार था कि शिक्षा अमृत की तो अजस्र वर्षा होनी चाहिये न कि इसे बूँद-बूँद करके टपकाया जाये।

इस मतभेद तथा विवाद की अपेक्षाकृत भी १९२७-३७ ई० के दशक में प्रगति बहुत ही असन्तोषजनक रही। अगले पृष्ठ की तालिका में हम देखते हैं कि १९२७ ई० और १९३७ ई० के बीच में शिक्षालयों तथा शिक्षार्थियों की संख्या में बहुत हलकी प्रगति है यहाँ तक कि १९३१-३२ ई० की अपेक्षा १९३६-३७ ई० में शिक्षालयों की संख्या ४,४६४ घट गई है।

	१९२१-२२ ई०	१९२६-२७ ई०	१९३१-३२ ई०	१९३६-३७ ई०
१. स्वीकृत प्राथमिक स्कूलों की संख्या···	१,५५,०१७	१,८४,८२९	१,९६,७०८	१,९२,२४४
२. विद्यार्थियों की सं०	६१,०९,७५२	८०,१७,९२३	९१,६२,४५०	१,०२,२४,२८८
	रु०	रु०	रु०	रु०
३. प्रत्यक्ष व्यय का योग (प्राथमिक शिक्षा पर)	४,९४,९९०८०	६,७५,१४८०२	७,८७,९५,२३६	८,१३,३८,०१५

इस अप्रगति का कारण जहाँ भारत का आर्थिक संकट तथा हर्टॉग समिति की रिपोर्ट थी वहाँ अन्य कारण भी थे। वास्तव में स्थानीय बोर्ड शिक्षा प्रसार के विषय में कभी भी गम्भीर न हो सके। ये वह स्थान थे जहाँ पारस्परिक स्पर्द्धा, दलबन्दी तथा निम्नकोटि की राजनीति का बोलबाला था। आगामी चुनावों में पराजित हो जाने के भय से स्थानीय बोर्डों के सदस्यों ने कभी भी शिक्षा-कर नहीं लगाये, इससे बोर्डों की आर्थिक अवस्था सदा दयनीय रही। बहुधा सदस्य शिक्षा के मर्म को भी समझने में असमर्थ रहते थे। निरीक्षण का अभाव एक ऐसा शक्तिशाली कारण था जिससे प्राथमिक शिक्षा को बड़ी क्षति पहुँचती रही है। वास्तव में निरीक्षक लोग जो कि गाँवों में प्राथमिक शिक्षालयों का निरीक्षण करने जाते, वे अपने साथ में एक अफसरी तथा उच्चता का दम्भ लेकर जाते और दुर्बल शिक्षकों के 'मित्र, दार्शनिक तथा पथ-प्रदर्शक' होने के स्थान पर बहुधा उनसे बड़ी शुष्कता तथा अभद्रता से व्यवहार करते और दो चार दिन तक गाँवों में निरुद्देश्य वायु-विहार के उपरान्त नगरों में लौट आते। दो चार दिन तक ग्रामीण अध्यापकों में एक प्रकार का आतंक छा जाता था। नगरों में भी इसी प्रकार निरीक्षण का अभाव रहा। उपस्थिति अफसरों (Attendance Officers) के प्रमाद के कारण भी बहुधा नगरों में शिक्षा सच्चे अर्थ में अनिवार्य न हो सकी और आज भी वह हमारे लिए एक स्वप्न बनी हुई है।

इन कारणों के अतिरिक्त प्राथमिक अध्यापकों की दुर्दशा—अल्प वेतन, अल्प शिक्षा, अल्प प्रशिक्षण—भी एक कारण था जिससे प्राथमिक शिक्षा को

क्षति पहुंच रही थी। पाठ्यक्रम व्यावहारिक जीवन से असम्बद्ध होने के कारण छात्रों में वह कभी भी प्रेरणा का संचार नहीं कर पाया। उनके कोमल मस्तिष्क पुस्तकों की दुरुहता में जकड़ दिये जाते थे। इस युग के देशव्यापी आर्थिक संकट ने जनता को भी निर्धन कर दिया। अतः निर्धन माँ-बाप जीवित रहने के लिये अपने बच्चों को पाठशाला भेजने की अपेक्षा मजदूरी या खेत में काम करने के लिए भेजना अधिक श्रेयस्कर समझते थे, जहाँ उन्हें कुछ पैसे प्रति दिन के अनुसार मजदूरी मिल जाती थी। इस प्रवृत्ति का भी विद्यार्थियों की संख्या में कमी करने में एक प्रमुख हाथ रहा है। "जनता की अपार निर्धनता का एक परिणाम यह हुआ कि इससे अधिकांश में बालश्रम को प्रोत्साहन मिला। ताँबे के चंद टुकड़े जो कि पशु चराने अथवा ऐसा ही कोई अन्य कार्य करने से बालक को मिलते हैं वे पारिवारिक बजट में एक शुभ वृद्धि कर देते हैं। वर्तमान आर्थिक अवस्था में थोड़े ही माँ-बाप ऐसे होंगे जो कि इस तुच्छ आय को छोड़ कर अपने बच्चों को पाठशाला में भेज सकें।"†

उपसंहार

हाँ, इतना अवश्य है कि सन् १६३५ ई० में भारत में नया शासन-विधान लागू होने से प्रान्तीय सरकारों को स्वायत्त शासन के पूर्ण अधिकार मिल गये। फलतः वास्तविक अर्थ में जन-प्रिय मंत्रियों ने सत्ता अपने हाथों में ली। शिक्षा मंत्री को भी अब अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इन सब घटनाओं का शिक्षा पर अच्छा प्रभाव पड़ा और उसकी प्रगति सर्वतोमुखी हो उठी। आगे हम इसी का वर्णन करेंगे।

---

† A. N. Basu: *Education in Modern India*. P. 102.

अध्याय १५

प्रान्तीय स्वायत्त शासन से वर्तमान तक

(१९३७ ई०—१९५५ ई०)

भूमिका

सन् १९३५ ई० के शासन विधान के अनुसार भारत में स्वायत्त शासन की नींव पड़ी। और १९३७ ई० में जाकर ११ प्रान्तों में उत्तरदायी सरकारों की स्थापना हुई, जिनमें ७ प्रान्तों में कांग्रेस मंत्रिमंडल बने। इन मंत्रियों के अधिकार बहुत विशाल थे। अतः उन्हें अपनी इच्छानुसार राष्ट्रहितकारिणी योजनाओं को कार्यान्वित करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इस समय तक देश के उत्थान के लिये शिक्षा का महत्त्व सर्वविदित हो चला था। देश में कुछ ऐसे नेता और शिक्षा-शास्त्री भी उत्पन्न हो गये थे जो कि शिक्षा-समस्याओं को भली प्रकार समझते थे और उनको हल करने के लिये ठोस रचनात्मक सुधार रख सकते थे।

इस महत्त्वपूर्ण राजनैतिक परिवर्तन के प्रकाश में देश में उत्थान की एक लहर आ गई। प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा का पुनर्संगठन होने लगा। कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों को अब अपनी योजनायें लागू करके देश की समस्याओं को हल करना था। अतएव शिक्षा-क्षेत्र में भी एक जागृति-युग का अभ्युदय हुआ। साक्षरता आन्दोलन, प्रौढ़शिक्षा आन्दोलन, अछूतों तथा स्त्रियों की शिक्षा इत्यादि कार्य बड़े जोश व उत्साह के साथ प्रारम्भ हो गये। १९३७ ई० में महात्मा गांधी ने वर्धा में बेसिक शिक्षा की खोज करके देश की प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा में नये प्राण फूँक दिये। अब अनिवार्य-निशुल्क-प्राथमिक शिक्षा की भी देश में व्यवस्था होने की आशायें बँध गईं।

इसी बीच में १९३९ ई० में द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ जाने और अँग्रेजी सरकार के भारत को बिना पूँछे हुए ही युद्ध में झोंक देने की नीति के विरुद्ध कांग्रेसी-मंत्रिमंडलों ने त्याग-पत्र दे दिये। फलतः देश में शिक्षा-विकास की जो

बाढ़ आई थी वह असमय में ही अवरुद्ध हो गई। इसके उपरान्त देश में १९४२ ई० का विश्व प्रसिद्ध राजनैतिक आन्दोलन हुआ। ब्रिटिश सरकार ने इसका कठोरता से दमन किया जिसकी नृशंसता की लोमहर्षक कहानियों को सुनकर आज भी मानवता लज्जा व ग्लानि से अपना मुँह छिपा लेती है। इस आन्दोलन के फलस्वरूप जन-प्रिय नेताओं की गिरफ्तारी इत्यादि से राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ ही साथ शिक्षा के आन्दोलन को भी क्षति पहुँची। भारत व प्रान्तीय सरकारों ने अपने सारे प्रयत्न युद्ध में लगा दिये। इससे शिक्षा जैसे विषय के लिये धन का अभाव हो जाना स्वाभाविक ही था। वस्तुतः भारतीय शिक्षा के इतिहास में यह पांच वर्ष घोर अन्धकार के रहे, जिनमें प्रायः शिक्षा संस्थाओं को केवल जीवितमात्र रक्खा गया। अतः उनका विकास एक प्रकार से अवरुद्ध हो गया।

युद्ध में मित्र राष्ट्रों की विजय होने के लक्षण प्रतीत होने पर १९४४ ई० के प्रारम्भ में युद्धोत्तर विकास की योजनायें बनने लगीं। शिक्षा-क्षेत्र में भी 'सार्जेन्ट-शिक्षा-योजना' के नाम से इसी वर्ष एक युद्धोत्तर विकास योजना 'केन्द्रीय सलाहकार समिति' की ओर से आई जिसका वर्णन इसी अध्याय में आगे किया जायगा।

सार्जेन्ट रिपोर्ट के आधार पर देश की शिक्षा का पुनर्संगठन प्रारम्भ हो गया और १९४५ ई० से आगे शिक्षा कुछ प्रगति करने लगी। इधर देश में राजनैतिक गतिरोध बढ़ता जा रहा था। युद्ध के उपरान्त इंगलैंड की अवस्था बहुत दुर्बल हो गई थी। अब उसके जर्जरित पंजों में भारत को पकड़े रहने की शक्ति नहीं रह गई थी। इधर भारतीय जनता भी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये तड़प रही थी। अन्त में १५ अगस्त, १९४७ ई० को देश का विभाजन हुआ और भारत स्वतन्त्र हुआ। १९४५ ई० के उपरान्त केन्द्रीय शिक्षा-विभाग अलग स्थापित कर दिया और इसका उत्तरदायित्व कार्यकारिणी के एक सदस्य को सौंपा गया। १९४६ ई० में 'विश्वविद्यालय अनुदान समिति' की भी स्थापना की गई। इधर भारत की स्वतन्त्रता के उपरान्त देश में शिक्षा-सुधार तथा विकास की योजनाएँ दिन प्रति दिन बनती जा रही हैं। आज सरकार और जनता सभी इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न को हल करने में जुटे हुए हैं।

इस प्रकार स्वतन्त्रता की प्राप्ति के उपरान्त देश में शिक्षा-क्षेत्र में पर्याप्त हलचलें हो रही हैं। यद्यपि आज भी देश में साक्षरता का प्रतिशत अत्यन्त नीचा है, अर्थात् देश की लगभग ३७ करोड़ जनसंख्या में केवल ६ करोड़ व्यक्ति साक्षर

हैं, जिसका अभिप्राय यह है कि कुल जनसंख्या की १७% साक्षर है। ऐसी स्थिति में देश के समक्ष एक बड़ा वृहत् उत्तरदायित्व यहाँ की विशाल जनसंख्या को साक्षर करने तथा उसे जीवनोपयोगी शिक्षा देने का पड़ा हुआ है। इसकी अपेक्षाकृत भी हम देखते हैं कि इस दिशा में उचित कदम उठाये जा चुके हैं। देश की शिक्षा में पुस्तकीय ज्ञान की प्रधानता के दोष को दृष्टिगत रखते हुए अब शिक्षा-क्षेत्र में वैज्ञानिक, टैक्नीकल तथा व्यावसायिक शिक्षा को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है जिससे शिक्षा को नया रूप देकर राष्ट्र की उन्नति के लिये एक स्थायी और दृढ़ आधार की स्थापना की जा सके।

राष्ट्रोन्नति में शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने अधिकतम लोगों को शिक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से विभिन्न विकास योजनाओं को कार्यान्वित करना प्रारम्भ कर दिया है। देश में बहुत से वैज्ञानिक व टैक्निकल शिक्षालय खोल दिये गये हैं, विश्वविद्यालयों, माध्यमिक शिक्षालयों तथा प्राथमिक व बेसिक स्कूलों की संख्या में भी वृद्धि होती जा रही है। इधर भारत सरकार की प्रथम पंच वर्षीय योजना के अन्तर्गत शिक्षा के प्रायः सभी क्षेत्रों में विकास करने के लिये विभिन्न योजनायें चालू करदी गई हैं। देश के असंख्य प्रौढ़ों को नागरिकता के गुणों से परिचित कराने तथा उन्हें साक्षर बनाने के लिये सामाजिक शिक्षा के क्षेत्र में भी प्रगति होती जा रही है। साथ ही भारतीय विद्यार्थियों को विदेशों में विशेष प्रशिक्षणों के लिये भेजने और विदेशों के विद्यार्थियों को भारतीय विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने का सुअवसर प्रदान करने के उद्देश्य से सरकार ने विभिन्न प्रकार की छात्रवृत्तियों का देना भी प्रारम्भ कर दिया है। हरिजनों, कबीलों तथा देश की अन्य पिछड़ी हुई जातियों में शिक्षा का प्रकाश फैलाने एवं शारीरिक व मानसिक दृष्टि से पीड़ित लोगों जैसे अन्धे, गूँगे, बहरे व दुर्बल मस्तिष्क के लोगों के लिये भी विशेष प्रकार की शिक्षा-सुविधायें प्रदान की जा रही हैं। इन सभी बातों का उल्लेख हम आगे चल कर करेंगे।

इधर सभी स्तरों पर शिक्षा का पुनर्संगठन करने के उद्देश्य से भारत सरकार तथा अन्य राज्य सरकारों ने कुछ विशेषज्ञों के आयोगों व समितियों की नियुक्ति करके शिक्षा की सम्पूर्ण समस्या का पुनरीक्षण किया है। इसके लिये सन् १९४८ ई० में सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में एक विश्वविद्यालय कमीशन की स्थापना की गई थी। जिसने अपनी विस्तृत रिपोर्ट १९४९-५० में प्रस्तुत की थी। इस रिपोर्ट के आधार पर देश की विश्वविद्यालय व उच्च शिक्षा के प्रश्न को एक नये ढंग से सुलझाने का प्रयत्न किया गया है।

माध्यमिक शिक्षा के पुनर्संगठन के लिये जौलाई १६५२ ई० में मद्रास विश्वविद्यालय के उप कुलपति डा० लक्ष्मण स्वामी मुदलियार की अध्यक्षता में माध्यमिक शिक्षा कमीशन की नियुक्ति की गई थी, जिसने अगस्त १६५३ में अपनी विस्तृत रिपोर्ट देश के समक्ष प्रस्तुत की है। राज्यों में नियुक्त होने वाली समितियों में हम उत्तर प्रदेश में आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में 'माध्यमिक शिक्षा पुनर्संगठन समिति' १६५३ तथा जस्टिस मूथम की अध्यक्षता में 'इलाहाबाद विश्वविद्यालय जाँच समिति' की रिपोर्टों का विशेषतः उल्लेख कर सकते हैं। उपर्युक्त सभी का वर्णन हम आगे चल कर विस्तारपूर्वक करेंगे।

इसके अतिरिक्त बेसिक शिक्षा को प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तरों पर देश के लिये स्वीकार किया जा चुका है। इसके लिये शिक्षकों को प्रशिक्षित करने के उद्देश्य से देश में बहुत से बेसिक ट्रेनिंग कालेज खोले जा चुके हैं। इनका वर्णन भी हम यथास्थान करेंगे।

शिक्षा के माध्यम की दृष्टि से भी भारतीय संविधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लिया गया है और प्राथमिक, माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय स्तरों पर क्रमशः इसे १६६५ ई० तक पूर्णतः लागू करने का प्रयास किया जा रहा है। विभिन्न राज्यों में प्रान्तीय भाषाएँ ही प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तरों पर शिक्षा का माध्यम रहेंगी।

जहाँ तक शिक्षा के सङ्गठन व प्रशासन का प्रश्न है, हम देखते हैं कि १६४७ ई० में केन्द्र में शिक्षा-विभाग एक पूर्णाङ्ग मन्त्रालय के रूप में विकसित हो चुका है। शिक्षा के विषय में राज्य पूर्णतः स्वतन्त्र हैं और वहाँ की जनता को शिक्षित करने का उत्तरदायित्व उन्हीं पर है। केन्द्र शिक्षा के राष्ट्रीय-पक्ष की रक्षा करता है और अखिल भारतीय महत्व की शिक्षा समस्याओं को हल करने का प्रयास करता है। केन्द्र का यह कर्तव्य है कि वह यह देखे कि सभी राज्यों में विभिन्न स्तरों पर शिक्षा का मानदण्ड समस्तर पर है।

साथ ही भारत सरकार 'ग' और 'घ' श्रेणी के राज्यों में शिक्षा के लिये प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी है। इन राज्यों में अजमेर, कुर्ग, अंडमान व निकोबार कच्छ, मणिपुर, त्रिपुरा तथा भोपाल सम्मिलित हैं।

शिक्षा के नियन्त्रण का अधिकार प्रत्येक राज्य में आंशिक रूप से विश्वविद्यालयों, माध्यमिक शिक्षा बोर्डों तथा जिला बोर्ड, नगरपालिका और छावनी बोर्ड इत्यादि स्थानीय संस्थाओं और अन्य 'लोक हितकारी, धार्मिक व वैयक्तिक संस्थाओं को हस्तान्तरित कर दिया है।

केन्द्र में शिक्षा मन्त्रालय में शिक्षा मन्त्री की सहायता के लिये एक शिक्षा-

सलाहकार, दो उप-सलाहकार तथा चार सहायक शिक्षा-सलाहकार नियुक्त किये जाते हैं, जो कि शिक्षा की विभिन्न शाखाओं के लिये उत्तरदायी हैं। इनके अतिरिक्त शिक्षा-सचिव व उप-सचिव भी होते हैं जोकि राजकीय नीतियों का वहन करते हैं। 'केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड' अखिल भारतीय महत्वपूर्ण विषयों पर सलाह देने वाली प्रमुख संस्था है, जिसमें सभी प्रान्तों के प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं। विभिन्न राज्यों में शिक्षा के समन्वय तथा एक देशव्यापी शिक्षा-नीति को ढालने में इस संस्था ने सराहनीय कार्य किया है।

इसके अतिरिक्त एक 'केन्द्रीय शिक्षा ब्यूरो' भी है जो देश भर से शिक्षा-सम्बन्धी आँकड़े इकट्ठे करके प्रति वर्ष उनका प्रकाशन करता है। भारतीय विद्यार्थियों के विदेशों में जाकर शिक्षा प्राप्त करने की सुविधाओं के लिये केन्द्र ने एक विदेश-सूचना ब्यूरो (Overseas Information Bureau) भी स्थापित कर दिया है, जो कि प्रत्येक राज्य के विश्वविद्यालयों को लाभदायक सूचनाएँ भेजता है। राज्यों में शिक्षा-मन्त्री के अतिरिक्त शिक्षा-संचालक, उप-संचालक तथा निरीक्षक इत्यादि होते हैं। राज्य-सरकार के कार्य को वहन करने के लिये शिक्षा-सचिव तथा उप-सचिव होते हैं।

निम्नलिखित तालिका से देश की शिक्षा प्रगति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है†—

संस्थाओं के प्रकार	संस्थाओं की संख्या	विद्यार्थियों की संख्या (सहस्रों में)	व्यय (लाख रुपयों में)
विश्वविद्यालय	३०	२६	४६६
माध्यमिक व इन्टर शिक्षा के बोर्ड	१२	—	७५
कला व विज्ञान के कालेज	५७६	३,४७	८,३३
व्यावसायिक व विशेष शिक्षा के कालेज	३११	७१	५,२०
माध्यमिक स्कूल	२२,५००	५,६४८	३,३४०
प्राथमिक स्कूल	२,१४,८६२	१८,६०१	४,०१५
पूर्व-प्राथमिक स्कूल	३३१	२३	१५
व्यावसायिक व विशेष शिक्षा के स्कूल	५१,६६६	१,४८४	५,४४
योग	२,६०,२६४	२६,५००	६,८०८‡

† उपर्युक्त आंकड़े सन् १९५१-५२ के हैं। इसके उपरान्त इनमें वृद्धि [illegible] है। विश्वविद्यालयों की संख्या अब ३१ होगई है। ‡ इस संख्या में वे २३[illegible] करोड़ रुपये सम्मिलित नहीं हैं जो अप्रत्यक्ष रूप से व्यय हो जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतवर्ष में शिक्षा प्रगति पथ पर है। देश की जनसंख्या को शिक्षा प्राप्त करने के सुअवसर देने के लिये सरकार भरसक प्रयत्न कर रही है। किन्तु इन प्रयत्नों की अपेक्षाकृत भी हम देखते हैं कि समस्या इतनी विशाल और दुरूह है कि इसका हल सरलता से नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में जो कुछ भी प्रयत्न इस दिशा में किये जारहे हैं वे कदापि पर्याप्त नहीं कहे जा सकते। आज हम भारत में प्रायः सभी प्रमुख शिक्षा-शास्त्रियों तथा बड़े राजनैतिक नेताओं को यह कहते हुए पाते हैं कि देश की शिक्षा-प्रणाली दूषित तथा देश और काल के अनुपयुक्त है। निस्सन्देह यह मत आंशिक रूप से सत्य भी माना जा सकता है। किन्तु आज तो भारत स्वतन्त्र है और हमें अपनी शिक्षा-प्रणाली को अपने मनोनुकूल ढालने के सभी अधिकार और सुअवसर प्राप्त हैं। तो फिर क्यों नहीं हमारे शिक्षा-शास्त्री अथवा सरकार इस 'दोषपूर्ण' शिक्षा-प्रणाली का सुधार करते? वास्तव में हम यह बात स्पष्ट रूप से और निर्भय होकर स्वीकार कर सकते हैं कि अभी तक स्वयं हमारे शिक्षा-शास्त्रियों के सम्मुख भी कोई ऐसा स्पष्ट चित्र देश की भावी शिक्षा-प्रणाली के लिये नहीं है जिसे वे देश के समक्ष रख सकें। अँग्रेजी काल से चली आने वाली शिक्षा-प्रणाली अथवा परम्पराओं का ही निर्वाह किया जा रहा है और अधिकांश में उसी पद्धति को आगे बढ़ाया जा रहा है। इसके लिये निश्चय ही शिक्षा के सम्पूर्ण चित्र को पुनः खींच कर उसमें नये रंग भरने होंगे। यह बिना किसी पूर्व-नियोजन के सम्भव नहीं है। इसके लिये पाठ्य-क्रम में आमूल परिवर्तन करके उसे देश की आवश्यकताओं के अनुरूप ढालना; प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा को पर्याप्त महत्व देकर शिक्षण-विधि को वैज्ञानिक बनाना; विश्व-विद्यालय शिक्षा में लोकोपयोगी विषयों का समावेश करके उसे जीवन व देश के अधिक उपयुक्त बना देना; टैक्निकल व व्यावसायिक शिक्षा पर अधिक बल देना; स्त्री-शिक्षा की विशेष सुविधाएँ उपलब्ध करना; सामाजिक शिक्षा के लिये विशेष शिक्षालयों की स्थापना तथा अन्त में सब से महत्वपूर्ण कार्य सभी स्तरों पर शिक्षक और शिक्षण की दशाओं में सुधार और शिक्षक को पर्याप्त साहित्यिक-स्वतन्त्रता (Academic Autonomy) तथा अनुसन्धान और अध्ययन की सुविधाएँ प्रदान करना इत्यादि कुछ ऐसे सुझाव हो सकते हैं जो कि भारत में शिक्षा के मौलिक दोषों को दूर करके उसे अन्य देशों के समकक्ष ला सकते हैं।

अब हम सन् १९३७ से होने वाली शिक्षा-प्रगति पर सविस्तार विचार करेंगे।

(१) वर्धा योजना (बेसिक शिक्षा)

१९३७ ई० में प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की स्थापना के उपरान्त भारतीय शिक्षा के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण घटना हुई 'वर्धा योजना' का प्रादुर्भाव। वास्तव में महात्मा गांधी 'हरिजन' के द्वारा शिक्षा के विषय में अपने विचार बहुत दिनों से प्रकट कर रहे थे। † २२, २३ अक्टूबर, सन् १९३७ ई० को हुए 'वर्धा शिक्षा-सम्मेलन में उन्होंने अपने विचारों को एक शिक्षा-योजना के रूप में प्रस्तुत किया। यह वह समय था जब कि अधिकांश भारतीय नेता तत्कालीन शिक्षा-पद्धति से असन्तुष्ट थे और उसे किसी न किसी प्रकार एक राष्ट्रीय रूप देकर अधिक उपयोगी और प्रभावोत्पादक बनाने के लिये व्याकुल थे।

२ अक्टूबर, १९३७ ई० को गांधीजी ने 'हरिजन' में एक लेख लिखा, जिसमें वर्धा में उसी वर्ष २२, २३ अक्टूबर को एक अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा-सम्मेलन बुलाने का उल्लेख किया और अपने चार प्रमुख प्रश्न शिक्षा के सम्बन्ध में रखे जो संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) वर्तमान शिक्षा-पद्धति में अँग्रेजी की प्रमुखता है, अतः जन समूह तक ज्ञान नहीं पहुँच सकता;

(२) प्राथमिक शिक्षा की अवधि ७ वर्ष कर दी जाय;

(३) बालकों के सर्वाङ्गीण विकास के लिये उन्हें शिक्षा यथासम्भव किसी लाभदायक क्राफ्ट के माध्यम से दी जाय; और

(४) उच्च शिक्षा वैयक्तिक प्रयासों पर छोड़ दी जाय। विश्वविद्यालय उच्च शिक्षा की पूर्ण व्यवस्था करेंगे।

तदनुसार महात्मा गांधी के सभापतित्व में 'मारवाड़ी शिक्षा मंडल' की रजत-जयन्ती के अवसर पर नवभारत विद्यालय में वर्धा-सम्मेलन का आयोजन हुआ। श्रीमन्नारायण अग्रवाल इस सम्मेलन के संयोजक थे। देश के भिन्न-भिन्न भागों से शिक्षा-शास्त्रियों तथा प्रान्तीय शिक्षा मन्त्रियों ने इसमें भाग लिया।

---

† "By educatlon I mean an all-round drawing out of the best in child and man—body, mind and spirit......Literacy itself is no education. I would therefore, begin the child's education by teaching it a useful handicraft and enabling it to produce from the moment it begins its training. Thus every school can be made self-supporting. the condition being that the state takes over the manufactures of these schools." Harijan, July, 1937.

सम्मेलन में सभापति पद से भाषण देते हुए महात्मा जी ने अपनी योजना प्रस्तुत की। उन्होंने कहा कि—

"जो विचार मैं आपके समक्ष रखना चाहता हूँ उनके कहने का ढंग नया है, यद्यपि उन विचारों के सम्बन्ध में मेरा अनुभव पुराना है। जो प्रस्ताव मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ वे प्राथमिक और कालेज शिक्षा दोनों से ही सम्बन्धित हैं, किन्तु प्राथमिक शिक्षा पर हमें विशेष ध्यान देना होगा। माध्यमिक शिक्षा को मैंने प्राथमिक शिक्षा में ही सम्मिलित कर दिया है, क्योंकि प्राथमिक शिक्षा ही एक मात्र वह तथाकथित शिक्षा है जो कि ग्रामीणों के एक अल्पांश को उपलब्ध है जिसे मैंने १६१५ ई० से अपने भ्रमणों में देखा है।...............

"मेरा विश्वास है कि यदि हम गाँवों की दशा में सुधार चाहते हैं तो हमें प्राथमिक शिक्षा के साथ ही माध्यमिक शिक्षा को मिला देना चाहिये। अतः जो शिक्षा-योजना हम रखने जा रहे हैं वह प्रधानतः ग्रामीण होनी चाहिये। ....यदि इस समय हम प्रारम्भिक शिक्षा की समस्या को हल कर लेते हैं तो कालेज की उच्च शिक्षा-समस्या आसानी से हल की जा सकती है।

"मेरा पूर्ण विश्वास है कि वर्तमान प्राथमिक शिक्षा-पद्धति न केवल अपव्ययपूर्ण ही है, वरन् हानिप्रद भी है। अधिकतर बालक न तो अपने माँ-बाप के काम के रहते है और न उस पेशे के जो कि उनका जन्मजात पेशा है। वे शहरों की गन्दी आदतों को सीख लेते हैं और जो अर्द्धज्ञान प्राप्त करते हैं उसे शिक्षा के अतिरिक्त चाहे जो कुछ कह लीजिए, किन्तु शिक्षा नहीं। तो फिर प्राथमिक शिक्षा का रूप क्या होना चाहिये ? मेरी राय में इसकी एक मात्र औषधि है : व्यवसायों अथवा हस्तकलाओं द्वारा शिक्षा देना। मुझे टालस्टाय फार्म में अपने पुत्रों तथा अन्य बच्चों को लकड़ी तथा चमड़े के काम के द्वारा पढ़ाने का अनुभव है।...............

"मेरी योजना का उद्देश्य तथाकथित उदार शिक्षा के साथ-साथ केवल कुछ हस्तकलायें ही सिखाना नहीं है। मैं चाहता हूँ कि सम्पूर्ण शिक्षा किसी हस्त-कला अथवा उद्योग के माध्यम से दी जाय। यह कहा जा सकता है कि मध्ययुग में विद्यार्थियों को केवल हस्त-कार्य ही सिखाये जाते थे; किन्तु उन दिनों में व्यावसायिक प्रशिक्षण का उद्देश्य शिक्षा-सम्बन्धी नहीं था। हस्त-कार्य केवल उद्यम के लिये सिखाये जाते थे और बुद्धि के विकसित करने का कोई प्रयास नहीं किया जाता था।"..............

"प्रायोगिक शिक्षा द्वारा किसी उद्यम की कला तथा विज्ञान को सिखाने और उसी के द्वारा सम्पूर्ण शिक्षा देने से ही सुधार होगा। उदाहरणतः तकली से कताई सिखाने में कपासों की किस्में, उनके लिए उपयुक्त भारतीय प्रान्तों में भूमि, इस उद्योग के ह्रास का इतिहास, इसके राजनैतिक कारण जिसमें भारत में अँग्रेजी शासन भी सम्मिलित होगा, तथा गणित इत्यादि पढ़ाये जाने चाहिये। यही परीक्षण मैं अपने प्रपौत्र पर कर रहा हूँ जो कि यह अनुभव भी नहीं कर पाता कि उसे पढ़ाया जा रहा है अथवा नहीं। मैं तकली का विशेष उल्लेख कर रहा हूँ, क्योंकि मैं इसकी शक्ति तथा इसके 'रोमांस' का अनुभव कर रहा हूँ। कपड़ा बनाने में इसका उपयोग भी भारतवर्ष में किया जा सकता है। साथ ही तकली बड़ी सस्ती है। देश की दयनीय आर्थिक स्थिति को देखते हुए तकली ही एकमात्र हमारी समस्या का व्यावहारिक हल है।

"मैंने मंत्रियों के सम्मुख इस योजना को रख दिया है।। इसे स्वीकार या अस्वीकार करना उनका काम है। किन्तु मेरी सलाह है कि प्राथमिक शिक्षा का केन्द्र तकली हो।............तकली के द्वारा उत्पादन भी संभव होगा, क्योंकि बच्चों के द्वारा बने हुये कपड़ों की मांग भी बहुत होगी। मैंने एक ७ वर्ष के 'कोर्स' का अनुमान लगाया है, जिसका उद्देश्य कातना, बुनना, रँगना तथा डिज़ायन बनाने का व्यावहारिक ज्ञान सिखाना होगा।

"शिक्षक का खर्च निकालने का भी मुझे ध्यान है। इसका साधन बच्चों की बनाई हुई वस्तुओं को बेचकर ही निकाला जा सकता है। अन्यथा करोड़ों बच्चों की शिक्षा का कोई अन्य साधन नहीं है।...........इस प्राथमिक शिक्षा में सफाई, स्वास्थ्य-रक्षा, भोजन इत्यादि के साधारण नियमों के ज्ञान के साथ-साथ स्वावलम्बन तथा माँ-बाप की सहायता करने का सिद्धांत भी निहित है। वर्तमान पीढ़ी के बच्चे स्वच्छता तथा आत्मनिर्भरता से परिचित नहीं हैं और शारीरिक रूप से भी दुर्बल हैं। अतः मैं संगीत-ड्रिल के साथ-साथ उन्हें अनिवार्य शिक्षा देने के पक्ष में हूँ।

"मेरी योजना के आलोचकों का कथन है कि मैं साहित्यिक शिक्षा का विरोधी हूँ। यह बात नहीं है। मैं तो ऐसी शिक्षा देने का मार्ग प्रशस्त कर रहा हूँ। यह भी कहा जाता है कि जब हमें करोड़ों रुपये शिक्षा पर व्यय करने चाहिये, तब हम उल्टे बच्चों का शोषण करने जा रहे हैं। यह भी भय किया जा रहा है कि इस योजना में बहुत अपव्यय होगा। किन्तु अनुभव इन सब भयों को व्यर्थ सिद्ध कर देता है। जहाँ तक शोषण और बच्चों पर भार डालने का प्रश्न है, मैं पूछता हूँ कि क्या सर्वनाश से बचाना उन पर भार डालना है?

तकली एक अच्छा खिलौना है, उत्पादक होने से क्या यह खिलौना नहीं रहता? आज भी कुछ सीमा तक बच्चे अपने माँ-बाप की सहायता करते ही हैं।.........
इस प्रकार जब बच्चे को सूत कातना अथवा माँ-बाप की खेती में सहायता करना सिखाया जायगा तो उसमें यह भावना भी आ जायगी कि वह अपने माँ-बाप का ही नहीं अपितु गाँव तथा देश का भी है और उसे उनका भी ऋण चुकाना चाहिये। यही एक मात्र मार्ग है। मैं मंत्रियों से कहूँगा कि बच्चों को शिक्षा में सहायता देना तो उन्हें अपंगु बना देना है। यदि बच्चे अपनी शिक्षा का व्यय स्वयं कमाते हैं तो वे स्वावलम्बी तथा वीर बनेंगे। हिन्दू, मुसलमान, पारसी और ईसाई सभी के लिये यही शिक्षा है। लोग पूँछते हैं कि मैं धार्मिक शिक्षा पर बल क्यों नहीं देता? क्योंकि मैं उन्हें स्वावलम्ब का व्यावहारिक धर्म सिखा रहा हूँ।"

इसके उपरान्त गांधी जी ने शिक्षकों की भर्ती के विषय में बोलते हुए कहा कि शिक्षकों को स्वेच्छा से अपनी सेवायें देश को अर्पित करनी चाहिये। गांधी जी ने यह भी कहा कि "इस शिक्षा की सफलता की कसौटी इसे स्वावलम्बी बनाना ही है। सात वर्ष के अन्त में बच्चों को अपनी शिक्षा पर व्यय पूरा कर देना चाहिये और कमाऊ बन जाना चाहिये।"

अन्त में अपने भाषण को समाप्त करते हुये महात्माजी ने कहा कि "यदि हम साम्प्रदायिक विद्वेष तथा अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को मिटाना चाहते हैं, तो हमें नींव सुदृढ़ तथा शुद्ध रखनी चाहिये और उसके लिये नई पीढ़ी को मेरी योजना के अनुसार शिक्षा मिलनी चाहिये। इस योजना का स्रोत अहिंसा है।............
हमें अपने बच्चों को अपनी संस्कृति, सभ्यता तथा राष्ट्रीय प्रतिभा का वास्तविक प्रतिनिधि बनाना है। जब तक हम उन्हें स्वावलम्बन पर आधारित प्राथमिक शिक्षा नहीं देंगे, तो ऐसा करना असम्भव है। यूरोप हमारा आदर्श नहीं हो सकता, क्योंकि इसकी योजनायें हिंसा पर आधारित हैं।............यदि भारत ने हिंसा से दूर रहने की प्रतिज्ञा की है तो यह शिक्षा-पद्धति ही उसके प्राप्त करने का प्रमुख साधन हो सकती है। हमसे कहा जाता है कि इंगलैंड और अमेरिका में शिक्षा पर करोड़ों रुपये व्यय किये जाते हैं; किन्तु हम यह भूल जाते हैं कि यह सब धनराशि शोषण द्वारा प्राप्त की जाती है। वहाँ शोषण-कला ने विज्ञान का रूप धारण कर लिया है। हम न तो शोषण की बात सोच सकते हैं और न सोचेंगे ही। अतः अहिंसा पर आश्रित शिक्षा के अतिरिक्त हमारे समक्ष कोई अन्य विकल्प नहीं।"

महात्माजी के भाषण के उपरान्त डा० जाकिर हुसैन तथा प्रो० के० टी० शाह, इत्यादि विद्वानों ने इस योजना की समालोचना की। भिन्न २ प्रांतों से आये हुए शिक्षा-मंत्रियों ने योजना की सराहना करते हुए इसकी कुछ त्रुटियों पर प्रकाश डाला तथा कुछ कठिनाइयों को भी सम्मुख रक्खा। गांधीजी ने सभी आलोचकों को संतोषजनक उत्तर दिये और इसके प्रयोग करने के सुझाव रक्खे। आचार्य विनोवा भावे, काका कालेलकर, महादेव देसाई, बी० जी० खेर तथा पं० रवीशंकर शुक्ल इत्यादि नेताओं ने भी योजना का समर्थन किया। अन्त में वे चार प्रस्ताव रक्खे गये, जिनका सार प्रारम्भ में दिया जा चुका है। ये प्रस्ताव निम्नलिखित रूप में पास हुए :—

प्रस्ताव

(१) सम्मेलन की राय में समस्त देश में ७ वर्ष तक सभी बालक और बालिकाओं को निशुल्क तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा दी जाय।

(२) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

(३) सम्मेलन महात्मा गांधी के विचारों का समर्थन करता है कि इस काल में शिक्षा किसी उत्पादक हस्तकार्य को ही केन्द्र मानकर दी जावे, और इसके अतिरिक्त अन्य गुणों का विकास करने के लिये अथवा कोई प्रशिक्षण देने के लिये, यथासम्भव कोई ऐसा हस्तकार्य चुना जाय जिसका कि बालक के वातावरण से घनिष्ठ सम्बन्ध हो।

(४) सम्मेलन को आशा है कि शिक्षा के इस संगठन के अनुसार धीरे-धीरे अध्यापकों का वेतन निकलने लगेगा।†

ज़ाकिर हुसैन समिति

उपर्युक्त प्रस्तावों के पास होने के उपरान्त गांधी जी की योजना को व्यावहारिक रूप देने तथा एक विस्तृत पाठ्यक्रम बनाने के उद्देश्य से एक समिति बनाई गई जिसके सभापति 'जामिया मिलिया, दिल्ली' के तत्कालीन प्रिंसिपल श्री जाकिर हुसैन नियुक्त हुए। उनके अतिरिक्त इसके अन्य नौ सदस्य और थे, जिनमें प्रमुख श्री आर्यनायकम (संयोजक), श्री विनोवा भावे; श्री काका कालेलकर, श्री जे० सी० कुमारप्पा, श्री मशरूवाला तथा प्रोफे० के० टी० शाह थे। इनको कुछ

† हरिजन ३०-१०-३७।

अन्य सदस्य चुनने (To Co-opt) का अधिकार भी दे दिया गया। २ दिसम्बर, १६३७ ई० तथा अप्रैल १६३८ ई० को समिति ने अपने दो प्रतिवेदन प्रस्तुत किये। प्रथम प्रतिवेदन में योजना के मूलभूत सिद्धान्तों, प्रचलित शिक्षा प्रणाली, महात्मा गांधी का नेतृत्व, स्कूलों में हस्तकार्य, योजना में नागरिकता के गुणों का निहित होना तथा योजना के स्वावलम्बन का आधार आदि उपशीर्षकों से लेकर—योजना के उद्देश्य, बेसिक शिक्षा के ७ वर्ष के पाठ्य-क्रम की संक्षिप्त रूप-रेखा, अध्यापकों का प्रशिक्षण, निरीक्षण तथा परीक्षा-नियम इत्यादि तथा शिक्षा के प्रशासन व संगठन की रूपरेखा तक का वर्णन है। अन्त में प्रमुख हस्तकार्य 'कताई व बुनाई' का बिस्तृत पाठ्य-क्रम दिया गया है। दूसरे प्रतिवेदन में समिति ने अन्य बुनियादी हस्तकार्यों जैसे कृषि, धातुकार्य व लकड़ी का कार्य इत्यादि को भी सम्मिलित करके उनकी विधि तथा पाठ्यक्रम का पूर्ण विवरण दिया है, तथा इन बुनियादी हस्तकार्यों का अन्य विषयों से सम्बन्ध स्थापित करने की विधि (Correlation) की भी व्यवस्था की है। जाकिर हुसैन समिति की रिपोर्ट फरवरी, १६३८ ई० में हरीपुरा कांग्रेस अधिवेशन में वाद-विवाद के लिये रक्खी गई; और कांग्रेस ने इसे अधिकृत रूप से स्वीकार कर लिया। इसी बीच में रिपोर्ट के प्रकाशित होने पर इसका देश में प्रचार हुआ और भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से आलोचनाएँ आने लगीं। गाधी जी ने 'हरिजन' के द्वारा समय-समय पर सभी आलोचनाओं का उत्तर दिया तथा शंकाओं का समाधान किया। इस प्रकार पूर्ण रूप से मँजने के उपरान्त बेसिक शिक्षा-योजना यू० पी०, मध्यप्रान्त, बिहार-उड़ीसा तथा बम्बई प्रान्तों में लागू कर दी गई। किन्तु जैसा कहा चुका है कांग्रेस मंत्रिमंडलों के १६३६ ई० में त्याग-पत्र दे देने पर यह योजना भी अधूरी ही रह गई। बाद में सरकारी अफसरों ने इसे हानिकारक व अव्यावहारिक बताकर हटा दिया। बिहार में अवश्य चम्पारन जिले में लगभग २७ केन्द्रों में यह जारी रही।

वर्धा योजना की विशेषतायें:—

वर्धा योजना के फलस्वरूप देश में एक नवीन शिक्षा पद्धति 'बेसिक शिक्षा' का प्रारम्भ हुआ। योजना के तत्व अथवा विशेषताओं को समझने से पूर्व यह आवश्यक है कि 'बेसिक' शब्द का इस शिक्षा के सम्बन्ध में पूर्ण महत्त्व समझ लिया जाय। प्रथमतः इस शिक्षा को 'बेसिक' इसलिये कहा गया है कि यह हमारी राष्ट्रीय संस्कृति तथा सभ्यता का अधार होगी। प्रत्येक वर्ग का बालक इसे बिना भेद-भाव के अपना सकेगा और उसके लिये यह अनिवार्य होगी। दूसरे, यह 'बेसिक' इसलिये होगी कि इसका माध्यम कोई 'बेसिक क्राफ्ट' होगा,

अर्थात् कोई ऐसी हस्तकला जो कि भारतीय जीवन का आधार हो। इसके अतिरिक्त बालक की मूलभूत-क्रियात्मक भावनाओं के लिये व्यवस्था भी इस शिक्षा का आधार है। इन सृजनात्मक भावनाओं की तुष्टि हस्तकला के द्वारा हो सकेगी जिसके आधार पर बालक रुचिपूर्वक ज्ञान प्राप्त करेगा। अतः एक प्रकार से बेसिक-शिक्षा जीवन की आधारीय आवश्यकताओं—सामाजिक, व्यक्तिगत, आर्थिक तथा मानसिक सभी की पूर्ति करेगी। वस्तुतः यह जीवन का वह दृढ़ धरातल प्रदान करेगी जिस पर हमारे बालकों, समाज तथा राष्ट्र का अस्तित्व निर्भर होगा।

अब यहाँ संक्षेप में बेसिक शिक्षा के प्रमुख तत्वों को देना आवश्यक है।

(१) शिक्षा का माध्यम बेसिक क्राफ्ट—बेसिक शिक्षा की विशेषता यह है कि यह किसी लाभदाय बुनियादी हस्तकार्य के माध्यम से दी जाती है। वर्तमान युग में आज सभी शिक्षा-शास्त्री इस सिद्धान्त को मानने लगे हैं कि बालकों को किसी उचित उत्पादक कार्य के द्वारा शिक्षा दी जाय। इस प्रकार शिक्षा का वास्तविक जीवन से सम्बन्ध स्थापित हो जायगा। जहाँ इस क्राफ्ट के द्वारा उद्यम की समस्या हल होगी वहाँ बालक के व्यक्तित्व का भी विकास होगा और उसकी रचनात्मक तथा उत्पादक कार्य करने की आन्तरिक भावनाओं को भी पोषण मिलेगा। जाकिर हुसैन समिति की रिपोर्ट में कहा गया है कि इस प्रकार शिक्षा का माध्यम क्राफ्ट रहने से बालक को मनोवैज्ञानिक लाभ होगा, क्योंकि बालक को एक ऐसी शुद्ध साहित्यिक तथा सैद्धान्तिक शिक्षा की दासता से मुक्ति मिलेगी जिसके प्रति उसकी आत्मा सदा विद्रोह किया करती है। इसके द्वारा शरीर और मस्तिष्क दोनों को शिक्षा प्राप्त होगी। इसका उद्देश्य केवल साक्षरता प्राप्त करना ही नहीं होगा, अपितु इसके द्वारा बालक किसी रचनात्मक कार्य के करने के लिए अपने हाथ तथा बुद्धि का प्रयोग करना सीखेगा। इसका अभिप्राय होगा उसके 'व्यक्तित्व की शिक्षा'।

प्रतिवेदन में आगे कहा गया है कि सामाजिक क्षेत्र में इस शिक्षा से समाज के ऊँच-नीच के भेद-भाव मिट जाँयगे और मानसिक-श्रमिक तथा शारीरिक श्रमिक के बीच की खाई पट जायगी। इससे बालक श्रम का महत्त्व भी समझेंगे।

आर्थिक दृष्टिकोण से यदि बुद्धिमत्ता-पूर्वक शिक्षा प्राप्त की जाय तो यह बालक को स्वावलम्बी बना देगी और शिक्षा भी स्वतःपूर्ण हो जायगी। इस प्रकार -"ज्ञान का जीवन से सम्बन्ध स्थापित हो जायगा और इसके विभिन्न क्षेत्र एक दूसरे से सम्बन्धित हो जाँयगे।"

अतः बेसिक शिक्षा का केन्द्र क्राफ्ट होगा। किन्तु जैसा कि प्रतिवेदन में कहा गया है "इस नई शिक्षा-पद्धति का प्रधान उद्देश्य यह नहीं है कि ऐसे कारीगर उत्पन्न कर दिये जाँय जो यन्त्रवत् कोई कार्य करते रहें, अपितु इसका उद्देश्य तो क्राफ्ट में निहित साधनों का शिक्षा के लिए उपयोग करना है।" इसके लिये दो शर्तें होनी चाहिए "प्रथमतः जो क्राफ्ट या उत्पादक-कार्य चुना जाय वह शिक्षा विज्ञान की सम्भावनाओं से सम्पन्न हो; और द्वितीय, जीवन की महत्वपूर्ण क्रियाओं तथा रुचियों से सम्बन्ध स्थापित करने का इस क्राफ्ट के अन्दर प्राकृतिक गुण हो और उसमें स्कूल पाठ्यक्रम के सम्पूर्ण अंगों का समावेश हो सके।"

इस प्रकार क्राफ्ट केवल एक स्वतन्त्र विषय की भाँति ही नहीं पढ़ाया जायगा। यह तो अन्य विषयों का भी केन्द्र होगा और उनसे सम्बन्धित कर दिया जायगा जैसा कि गांधीजी ने स्वयं कहा है कि, "प्रत्येक हस्त-कार्य आजकल की भाँति यंत्रवत् नहीं, वरन् वैज्ञानिक विधि से सिखाया जायगा, जिससे बालक प्रत्येक पद्धति के कार्य-कारण सम्बन्ध को भली भाँति समझ जाय।" यदि कताई-बुनाई जैसे हस्त-कार्यों को भी अन्य विषयों की भाँति पढ़ाया जायगा तो सम्पूर्ण योजना की आत्मा का ही हनन हो जायगा। किन्तु किसी भी एक क्राफ्ट को सम्पूर्ण शिक्षा का माध्यम नहीं बनाया जा सकता। प्रत्येक क्राफ्ट की सीमायें होती हैं। अतः क्राफ्ट के अतिरिक्त सामाजिक वातावरण तथा प्राकृतिक वातावरण को भी सम्मिलित कर लिया गया है। इस प्रकार "जो विषय क्राफ्ट से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता है वह बालक की प्राकृतिक अथवा सामाजिक परिस्थितियों से सम्बन्धित कर दिया जायगा जिनमें बालक उतनी ही रुचि रखता हो जितनी कि क्राफ्ट में।" †

(२) नागरिकता के गुणों का विकास:—आज का बालक कल का भावी नागरिक है। अतः शिक्षा का उद्देश्य नागरिकता के गुणों का विकास भी होना चाहिये। नई पीढ़ी को समाज तथा देश के प्रति अपने कर्तव्यों को समझना चाहिये। आजकल के युग में एक नागरिक को समाज की एक लाभदायक व उत्पादक इकाई होना चाहिये। गांधीजी ने यह अनुभव कर लिया था कि देश की प्रचलित शिक्षा-पद्धति ऐसे शोषकों का निर्माण करती जा रही है जो कि दूसरों के ऊपर ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं। अतः आवश्यक है कि एक ऐसी शिक्षा-पद्धति का विकास किया जाय जिसमें बालक शारीरिक श्रम के गौरव को समझें और

† Basu, A. N.: *Educaiton in Modern India* P. 124-25.

अपने ऊर निर्भर रह सकें। बेसिक शिक्षा इस उद्देश्य की पूर्ति करती है। इसमें प्रत्येक बालक अनिवार्य रूप से कुछ हस्त-कार्य करता है। कक्षा में सभी वर्गों के बालक सामूहिक रूप से कार्य करते हैं। इस प्रकार उनमें स्वावलम्बन तथा श्रम-गौरव की भावनाओं के साथ ही साथ सहकारिता की भावनाओं का भी संचार होता है। उन्हें देश तथा जाति के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है और समाज-सेवा की भावना से प्रेरित होकर वे एक सामूहिक जीवन का पदार्थ-पाठ पढ़ते हैं। अतः जो चरित्र का विकास बाल्यावस्था अथवा किशोरावस्था में होता है, वह बड़े होने पर व्यावहारिक जीवन में भी स्पष्टतः झलकता है।

प्रायः साधारण शिक्षालयों में सहकारिता की यह भावना नष्ट हो जाती है; किन्तु बेसिक स्कूलों में इसको बहुत प्रोत्साहन मिलता है। एक रचनात्मक तथा उत्पादक कार्य करते हुए बालक गर्व के साथ यह अनुभव करता है कि वह राष्ट्र का एक प्रमुख अंग है और राष्ट्र-निर्माण तथा कल्याण का पाठ पढ़ रहा है।

(३) योजना में आत्म-निर्भरता की भावना—वास्तव में बेसिक शिक्षा का यह वह पक्ष है जिसकी कि देश में बड़ी आलोचना हुई। प्रोफेसर के० टी० शाह ने कहा कि क्राफ्ट की शिक्षा देकर हम बालक को 'दास' बना डालेंगे और आर्थिक उद्देश्य को समक्ष रख कर बालक का शोषण करेंगे। बालक शिक्षा के महान् उद्देश्यों को भूलकर किसी पेशेवर कारीगर की भाँति यन्त्रवत् तथा भावनाशून्य होकर कार्य करेगा। यह भी कहा गया कि यह शिक्षा स्कूलों को 'फैक्ट्री' बना देगी जहाँ बालक से यह आशा की जायगी कि उसके उत्पादन से शिक्षक का वेतन चुकाया जाय। अतः शिक्षक भी आर्थिक लाभ के लिए बालक से अधिक से अधिक कार्य लेगा। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों ने यह भी सन्देह किया कि बालकों की बनाई हुई वस्तुएँ इतनी भद्दी होंगी कि वे बिक न सकेंगी तथा प्रारम्भ में कच्चा माल बहुत बिगड़ेगा। "स्कूल को स्वावलम्बी बनाने का तात्पर्य शिक्षालयों को उद्योग-धंधों का केन्द्र बना देना होगा और किसी स्कूल की सफलता शिक्षा से नहीं, वरन् बेचने योग्य वस्तुओं के उत्पन्न करने से आँकी जायगी।"* फिर बच्चों को राज्य से शिक्षा पाने का अधिकार स्वयं है, वे उत्पादन करके क्यों पढ़ें ? इत्यादि इत्यादि।

---

* डा० सरयू प्रसाद चौबे—शिक्षण सिद्धान्त की रूपरेखा, पृष्ठ ३२७, लक्ष्मीनारायण एन्ड सन्स, आगरा।

यदि आलोचनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि ये सभी संदेह और आलोचनायें निर्मूल व निराशावादी हैं। वास्तव में इनके विषय में बड़ी भ्रान्ति है। योजना के स्वावलम्बी अथवा आत्म-निर्भर होने का प्रयोजन यह है कि एक तो विद्यार्थियों के श्रम से ही आंशिक रूप से शिक्षक का वेतन निकल आवे; और दूसरे, शिक्षा समाप्त होने पर विद्यार्थी को जीवन-निर्वाह के लिये कोई उत्पादक साधन उपलब्ध हो सके। योजना का अभिप्राय यह नहीं है कि एक मात्र कारीगर उत्पन्न किये जाँय। समिति ने अपनी रिपोर्ट में यह बात स्पष्ट कर दी है कि "यदि यह शिक्षा-प्रणाली स्वावलम्बी नहीं भी है तो भी इसे एक उचित शिक्षा-नीति तथा राष्ट्र निर्माण का तात्कालिक साधन समझकर अपना लेना चाहिये।" जहाँ तक व्यय का प्रश्न है वहाँ तक तो यह 'दैवयोग से' या अनायास ही (Incidently) कुछ उत्पादन करके दैनिक-व्यय निकाल लिया करेगी। इसके समर्थन में समिति ने कताई-बुनाई के आंकड़े देकर यह सिद्ध भी कर दिया है कि यह पद्धति आत्म-निर्भर भी हो सकती है।

जहाँ तक उपर्युक्त आलोचनाओं के उत्तर का प्रश्न है गान्धी जी ने समय-समय पर 'हरिजन' में अपने लेखों द्वारा उन्हें स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने लिखा था कि शिक्षकों का वेतन तथा बेसिक क्राफ्ट का व्यय बालकों के सात वर्ष के कार्य से अवश्य निकल आवेगा। प्रारम्भ में कच्चे माल का थोड़ा अपव्यय भले ही हो जाय, किन्तु आगे जाकर नहीं होगा। यह स्वाभाविक है और योग्य शिक्षक द्वारा इसे बचाया भी जा सकता है। बच्चों द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुओं को राज्य खरीदेगा। नागरिक भी बच्चों के द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुओं की अधिक कीमत देकर भी उन्हें खरीदने में आनन्द तथा गौरव का अनुभव करेंगे। जहाँ तक बाजार में स्पर्द्धा का प्रश्न है, स्कूलों में प्रायः ऐसी वस्तुएँ उत्पन्न करने का प्रयास किया जायगा जिनमें स्पर्द्धा न हो, जैसे; खादी, देशी कागज, खजूर का गुड़ इत्यादि। इसी प्रकार गान्धी जी ने अन्य आलोचनाओं का भी उत्तर दिया है। उनका विचार था कि सात वर्ष में किसी भी उद्यम को पूर्णतया सिखाया जा सकता है। इस प्रकार बेकारी भी मिट जावेगी और बालकों में राष्ट्र-निर्माण तथा आत्म निर्भरता के गुणों का भी प्रादुर्भाव होगा।

गान्धी जी का यह भी विश्वास था कि देश में प्राथमिक शिक्षा का विकास शीघ्रातिशीघ्र होना चाहिये और इसके लिये हम सरकारी सहायता की प्रतीक्षा अधिक दिन तक नहीं कर सकते, अतः आवश्यक है कि शिक्षा को स्वयं आत्म-निर्भर बना दिया जाय। "इस प्रकार की पूर्ण शिक्षा-पद्धति अवश्य

ही आत्म-निर्भर हो सकती है और इसे होना चाहिये; वस्तुतः आत्म-निर्भरता ही इसकी वास्तविकता की कसौटी है।"† जहाँ तक इन बेसिक स्कूलों को 'फैक्ट्री' कहने का प्रश्न है वहाँ गान्धी जी ने बताया कि ऐसा कहना वास्तविकता की ओर से आँख बन्द कर लेना है क्योंकि फैक्टरी का उद्देश्य है शोषण; वहाँ शिक्षा के तत्वों पर ध्यान नहीं दिया जाता, किन्तु बेसिक स्कूल का उद्देश्य तो एक मात्र शिक्षा देना होगा। हस्तकार्य तो केवल शिक्षा का माध्यम होगा न कि उद्देश्य।‡

समिति के प्रतिवेदन में अन्त में यह भी चेतावनी दी गई है कि इस बात का पूरा-पूरा भय है कि योजना के आर्थिक-पक्ष पर अधिक ध्यान देकर शिक्षक सांस्कृतिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी पक्ष को बलिदान करदे; तथा अपना अधिकांश समय व ध्यान इस बात में लगा दे कि बालक अधिक से अधिक उत्पादन करके पैसा उत्पन्न करें। इसके दूर करने का उपाय यही है कि यह बात शिक्षकों को प्रशिक्षण काल में भली भाँति समझा दी जाय तथा बाद को निरीक्षक लोग इस बात को देखें कि कहीं ऐसा शोषण तो नहीं हो रहा है।

(४) बालक शिक्षा का केन्द्र—यद्यपि बेसिक शिक्षा में शिक्षक का बड़ा महत्व होता है और बिना उसके पथ-प्रदर्शन के बालक क्रियाशील नहीं हो सकता, तथापि क्रिया का केन्द्र बालक ही रहता है। स्कूल में शिक्षा क्रिया-मूलक रहती है और जो कुछ भी बालक करता है वही उसकी शिक्षा होती है। अतः जब तक बालक क्रियात्मक नहीं रहेगा, उसकी शिक्षा आगे नहीं बढ़ सकेगी। बेसिक शिक्षा-प्रणाली बालक को एक 'शैक्षिक उपभोक्ता' समझती है, अतएव उसकी आवश्यकताओं को अध्ययन करना और समझना पड़ता है और उनकी पूर्ति करनी पड़ती है।

बेसिक-प्रणाली वास्तव में कोई नई रीति नहीं है। सम्पूर्ण संसार में आज शिक्षा-क्षेत्रों में ऐसे स्कूलों की स्थापना का आन्दोलन चल रहा है, जहाँ बालक के व्यक्तित्व के विकास पर अधिक बल दिया जा रहा है; और जहाँ

---

† *Harijan*, 2-10-37.

‡ "The scheme is one of education and not of production ......The craft or productive work chosen should be rich in educative possibilities. It should find natural points of correlation with important human activities and interests." *Seven years of work*, P. 4, 8th Annual Report of Nai Talim, 1938-45, Published by Hindustani Talimi Sangh.

शिक्षा का केन्द्र बालक ही समझा जाता है। १६ वीं शताब्दी में पाश्चात्य देशों में भी रूसो, पेस्तालॉजी, फ्राबेल तथा हरबर्ट इत्यादि शिक्षा-शास्त्रियों ने शिक्षा का 'मनोवैज्ञानीकरण' करके शिक्षा में 'क्रिया' को महत्व प्रदान किया और इस प्रकार बालक के व्यक्तित्व को समझने और विकसित करने का प्रयास किया। उन्होंने कहा कि बालक का 'वर्तमान' अधिक महत्वपूर्ण है, अतः उसके भावी जीवन की सम्भावनाओं पर विचार न करके उसके 'वर्तमान' को ही दृष्टिगत रखना होगा। आधुनिक युग में भी इन्हीं विचारों का प्रतिपादन प्रसिद्ध अमरीकी शिक्षा-शास्त्री जॉन डिवी ने भी किया है। उसने कहा है कि स्कूल में बालक के व्यक्तित्व का उतना ही आदर होना चाहिये जितना कि प्रौढ़ का समाज में होता है।

बेसिक-शिक्षा-प्रणाली भी बालक को क्रिया का केन्द्र मान कर चलती है और उसके व्यक्तित्व का विकास करती है। इस प्रणाली के कुछ आलोचकों का तर्क है कि यह 'बालक-केन्द्रित' न होकर 'हस्तकला-केन्द्रित' है। जब प्रत्येक विषय हस्तकला के माध्यम से पढ़ाया जाता है और उनके बनाये हुए पदार्थों से स्कूल का व्यय निकालने की बात सोची जाती है तो, इन आलोचकों के मतानुसार, बालक की रुचियों और उसके नैसर्गिक गुणों का उत्पादन की किस्म व मात्रा बढ़ाने में शोषण किया जायगा। किन्तु इस आलोचना का उत्तर स्वयं महात्मा गान्धी और डा० जाकिर हुसैन ने भली भाँति दे दिया है। वस्तुतः हस्तकला एक कार्य के रूप में न होकर एक शिक्षा-साधन व माध्यम के रूप में रहेगी और इसकेलिए ऐसी हस्तकला का ही प्रयोग किया जायगा जो कि शिक्षा-सम्भावनाओं से परिपूर्ण होगी। इसका मानव-जीवन की क्रियाओं से साम्य होगा। बेसिक प्रणाली एक शिक्षा है न कि उत्पादन-विधि। इसका उद्देश्य हस्तकला में निहित शिक्षा-साधनों का उपयोग बालक के व्यक्तित्व के विकास के लिये करना है न कि १४ वर्ष की आयु पर कारीगर उत्पन्न करना।

भारत में जहाँ शिक्षा 'परीक्षा' के लिये होती है और सम्पूर्ण शिक्षा-पद्धति में विषय और पाठ्य-पुस्तकों का प्राधान्य है, बेसिक प्रणाली अपना विशेष महत्त्व रखती है। सामान्य शिक्षा-पद्धति के अनुसार बालक एक निष्क्रिय श्रोता के रूप में शिक्षक व पुस्तक से उन ज्ञान व घटनाओं की सूचना प्राप्त करते हैं जिनका सम्भवतः भावी जीवन से सम्बन्ध समझा जाता है। जो कुछ बालक सीखता है उसी को पलट कर सुना देने की उससे आशा की जाती है। शिक्षक और बालक दोनों ही परीक्षा के भय से निरन्तर आतङ्कित रहते हैं। ऐसी स्थिति में बालक के व्यक्तित्व के विकास की कल्पना कैसे की जा सकती है?

किन्तु बेसिक प्रणाली के अन्तर्गत उपर्युक्त सभी दोष बहुत कुछ दूर हो जाते हैं। यहाँ शिक्षक के पथ-प्रदर्शन के अन्तर्गत बालक किसी उपयोगी क्रिया के द्वारा स्वयं आगे बढ़ता है। शिक्षक को प्रत्येक बालक का कार्य देखने और उसकी मूलभूत शक्तियों को देखने का पर्याप्त सुअवसर मिलता है। अतः हम कह सकते हैं कि इस प्रणाली में 'बालक' ही शिक्षा का केन्द्र है।

(५) **ज्ञान एक सम्बद्ध व पूर्ण इकाई**—सामान्य शिक्षा पद्धति के अनुसार स्कूलों में बालकों को विभिन्न विषयों का अध्ययन कराया जाता है जो कि बहुधा एक दूसरे से असम्बद्ध होते हैं। अतः बालक सम्पूर्ण ज्ञान-समूह को एक सुसम्बद्ध व पूर्ण इकाई के रूप में न समझ कर उसे बिखरी हुई घटनाओं का एक संग्रह समझता है। विभिन्न विषयों को अलग-अलग पढ़ाये जाने के कारण वह एक का दूसरे से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाता। शिक्षक निरन्तर रूप से विद्यार्थी के इच्छुक या अनिच्छुक मस्तिष्क में एक विषय को उड़ेलता चला जाता है। विद्यार्थी भी रट-रटा कर उस ज्ञान को तब तक मस्तिष्क में संभाल कर रखने का प्रयास करता रहता है जब तक कि उसे परीक्षा भवन में बाहर उड़ेल ने का अवसर नहीं मिल जाता। उस ज्ञान से बालक की मूलभूत शक्तियों और प्रवृत्तियों का विकास होता है अथवा नहीं; और यह ज्ञान उसके भावी जीवन से कोई सम्बन्ध रखता है अथवा नहीं; इससे शिक्षक और स्कूल को कोई मतलब नहीं।

बेसिक-प्रणाली के अन्तर्गत बालक को न तो प्लास्टिक की मूर्ति ही समझा जाता है जिसे चाहो उसी प्रकार मोड़ लो, और न उसे एक खाली बर्तन ही समझा जाता है जिसे विभिन्न विषयों के तथ्यों से भर दिया जाय। वस्तुतः यहाँ शिक्षा का माध्यम क्राफ्ट रहने से सभी विषय यथासम्भव उसके माध्यम से पढ़ाये जाते हैं। सभी का सम्बन्ध उसी क्राफ्ट से जोड़ने का प्रयास किया जाता है। अतः सभी विषय एक सम्बद्ध ज्ञान-इकाई के रूप में बालक के समक्ष आते हैं। यहाँ पाठ्य-क्रम का अर्थ विषयों अथवा पाठ्य-पुस्तकों की सूची-मात्र ही नहीं है, अपितु उसका अर्थ उन सभी क्रियाओं और अनुभवों की सम्पूर्ण शृङ्खला के समान होता है जिनमें स्कूल के अन्तर्गत बालक अपने को व्यस्त रखता है। यहाँ पाठ्यक्रम जटिल न होकर पर्याप्ततः लचीला होता है और बालक की अभिवृद्धि व विकास के साथ ही साथ उत्तरोत्तर विकसित होता जाता है। 'विषय' का प्राधान्य न होकर 'क्रिया' का प्राधान्य होने से बालक उससे प्राप्त हुए अनुभव व ज्ञान को आत्मसात् कर लेता है। उदाहरण के लिये तकली पर कातना सिखाते समय बालक को कपास, उसके लिये मिट्टी

व पानी, सूती उद्योग का विकास और इसी सम्बन्ध में अँग्रेजों का भारत में आना, सूत के मूल्यों का निर्धारण करना इत्यादि सरलता से पढ़ाये जा सकते हैं और इस प्रकार सूत कातने के साथ ही साथ वह भूगोल, रसायन शास्त्र, इतिहास व गणित इत्यादि का ज्ञान सरलता से प्राप्त कर सकता है। यही कारण है कि बेसिक शिक्षा के अन्तर्गत सम्पूर्ण ज्ञान या पाठ्य-क्रम को सम्बद्ध व पूर्ण इकाई माना जाता है।

(६) शिक्षक व बालक को कार्य करने की अधिक स्वतन्त्रता— बेसिक प्रणाली के अन्तर्गत शिक्षक और बालक को कार्य करने की अधिक स्वतन्त्रता रहती है। "जब शिक्षा का उद्देश्य एक स्वच्छन्द व रचनात्मक आत्म-क्रिया (Self Activity) के द्वारा बालक की अधिकमत अभिवृद्धि और विकास समझा जाता है, तो विद्यार्थियों को स्वयं सोचने, अपनी रुचि के अनुसार अपना कार्य नियोजित करने तथा उन आयोजनों को अपनी ही गति के अनुसार आगे बढ़ाने की पर्याप्त स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये।"‡ वर्तमान प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत, जहाँ रटने तथा तथ्यों को कंठस्थ करके एक सीमित समय में ही परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ता है, वहाँ बालक से आत्म-अभिव्यक्ति तथा रचनात्मक-क्रिया की आशा नहीं की जा सकती। इसके प्रतिकूल बेसिक स्कूल का उद्देश्य बालक को उपयोगी कार्य के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने तथा अपने कार्य में पूर्ण रुचि दिखाने का पर्याप्त सुअवसर दिया जाना है। यहाँ उसकी-व्यक्तिगत कठिनाइयों व आवश्यकताओं पर ध्यान दिया जाता है और उसे यह अनुभव कराया जाता है कि स्कूल उसी के लिये स्थित है व कार्य करता है।

उसी प्रकार बेसिक स्कूल में शिक्षक भी तुलनात्मक दृष्टि से अधिक स्वतन्त्रता का अनुभव करता है। यहाँ उसे किसी ऐसे जटिल पाठ्य-क्रम का अनुसरण नहीं करना पड़ता जिसमें आवश्यकतानुसार वह कोई परिवर्तन न कर सके। न उसे परीक्षा के लिये बच्चों का कोर्स शीघ्र ही समाप्त कराने की धुन ही रहती है। वस्तुतः वह स्वयं सोच सकता है, अपने परीक्षण कर सकता है और किसी ऐसी सुविधाजनक व अधिक उपयोगी शिक्षण-विधि का अनुसरण कर सकता है जो कि बालक के लिये अधिक लाभदायक हो तथा स्कूल की परिस्थितियों के अनुकूल हो। अपने पूर्व अनुभव के आधार पर वह पाठों में तथा कार्यों में यत्र-तत्र परिवर्त्तन भी कर सकता है। वह उन लोगों के हाथ में

‡ Hans Raj Bhatia : *What Basic Education Means*, p. 42. Orient Longmans. Calcutta, 1954.

अपने आपको एक असहाय अस्त्र नहीं समझता जो कि पाठ्य-क्रम बनाते हैं, पाठ्य-पुस्तकें निर्धारित करते हैं, टाइम-टेबिल बनाते तथा परीक्षायें लेते हैं। इसका अभिप्रायः यह नहीं है कि बेसिक शिक्षा में कोई पाठ्य-क्रम अथवा निश्चित पुस्तकें नहीं होतीं। किन्तु अन्तर यह है कि इस पद्धति में अधिक लोच होती है और शिक्षक को अपने कार्यों में परिवर्तन करने तथा अपनी व्यक्तिगत अभिरुचि को कार्यान्वित करने का पर्याप्त अधिकार रहता है। यदि कक्षा-भवन में अपनी बुद्धि तथा विधि का परीक्षण करने की शिक्षक को स्वतन्त्रता रहती है तो निश्चय ही वह उनका सदुपयोग बालक के हित में कर सकता है। इसके प्रतिकूल यदि शिक्षक भयभीत, दबा हुआ तथा आज्ञाकारी दास की भाँति बना रहता है तो कभी भी उसके शिष्यों में साहस, आत्म-विश्वास तथा मौलिकता इत्यादि गुणों का समावेश नहीं हो सकता। एक स्वतन्त्र व निर्भय शिक्षक ही विद्यार्थियों में सोचने, नियोजन करने, कार्य करने तथा उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के गुणों की उत्पत्ति कर सकता है। बेसिक शिक्षा में इसके लिये पर्याप्त सुअवसर हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बेसिक शिक्षा-प्रणाली में प्रायः वे सभी शिक्षा-सम्भावनायें निहित हैं जिनके द्वारा बालक के शरीर, मस्तिष्क और आत्मा का पूर्ण विकास हो सकता है। इन्हीं विशेषताओं के कारण हम बेसिक शिक्षा प्रणाली को पाश्चात्य देशों की प्रमुख आधुनिक शिक्षा-प्रणालियों जैसे, 'प्रोजैक्ट मैथड', 'किंडर गार्टन', 'मान्तेसरी प्रणाली' तथा 'क्रिया द्वारा शिक्षा-प्रणाली' इत्यादि के समकक्ष रख सकते हैं।

पाठ्यक्रम

बेसिक शिक्षालयों का पाठ्यक्रम ७ वर्ष का होगा, अर्थात् ७ वर्ष से १४ वर्ष तक की अवस्था के लड़के और लड़कियाँ इनमें अध्ययन करेंगे। पाँचवीं कक्षा तक सहशिक्षा रहेगी। उसके उपरान्त यद्यपि लड़के और लड़की दोनों के लिए एकसा पाठ्यक्रम होते हुए भी केवल इतना अन्तर कर दिया जायगा कि बालिकाओं को सामान्य-विज्ञान के स्थान पर गृह-विज्ञान पढ़ाया जायगा।

संक्षेप में पाठ्यक्रम की रूपरेखा इस प्रकार है :—

१. बेसिक क्राफ्ट :
   (क) कताई-बुनाई
   (ख) लकड़ी का काम
   (ग) कृषि

(घ) फल तथा बनस्पति की उद्यान-कला
(ङ) चर्म कार्य
(च) मिट्टी के खिलौने व बर्तन बनाना
(छ) मत्स्य-पालन
(ज) लड़कियों के लिये गृह-कला।
(झ) भौगोलिक तथा स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार कोई अन्य हस्त-कला।

२. मातृ भाषा
३. गणित
४. सामाजिक विज्ञान—इतिहास, भूगोल और नागरिक-शास्त्र
५. सामान्य विज्ञान—प्रकृति निरीक्षण, बनस्पति शास्त्र, प्राणी शास्त्र, भौतिक शास्त्र, स्वास्थ्यरक्षा तथा रसायन शास्त्र। स्वास्थ्य रक्षा के साथ व्यायाम भी सम्मिलित किया गया है।
६. कलाः ड्राइंग तथा संगीत इत्यादि।
७. खेल-कूद व व्यायाम।
८. हिन्दी (जहाँ यह मातृ-भाषा नहीं है)

बेसिक शिक्षा में अंग्रेजी भाषा को कोई स्थान नहीं दिया गया है। इसके स्थान पर हिन्दी भाषा का शिक्षण किया जायगा। प्रमुख भाषा के स्थान पर भिन्न-भिन्न प्रान्तों में वहाँ की स्थानीय मातृ-भाषा सिखाई जायगी। ऐसे स्थानों में ५ वीं या ६ वीं वर्ष में जाकर हिन्दी पढ़ाई जायगी। हिन्दी का केवल लिखने पढ़ने का ज्ञान ही पर्याप्त समझा गया है। गान्धी जी के अनुसार यह बेसिक-पाठ्यक्रम अंग्रेजी को छोड़कर प्रचलित हाईस्कूल के बराबर होगा। यद्यपि इस पर कुछ लोगों को संदेह है, तथापि यह परीक्षण का विषय है।

धार्मिक शिक्षा को इस पाठ्यक्रम में कोई स्थान नहीं दिया गया है, क्योंकि गान्धी जी लोगों को स्वावलम्बन के धर्म का पाठ पढ़ाना चाहते थे। "हमने वर्धा-शिक्षा-योजना में से धर्म-शिक्षा का बहिष्कार कर दिया है, क्योंकि हमें भय है कि आज जिन धर्मों की शिक्षा दी जाती है अथवा जिनका पालन करना होता है वे मेल के स्थान पर झगड़े उत्पन्न कराते हैं। साथ ही मेरा विश्वास है कि बच्चों को ऐसी शिक्षा अवश्य देनी चाहिये जिसमें सभी प्रमुख धर्मों का सार निहित हो। यह धर्म-सार केवल शब्दों और पुस्तकों से नहीं पढ़ाया जा सकता—इसे तो बालक केवल शिक्षक की दैनिक जीवनचर्या से ही सीख सकता है।"

अध्यापकों का प्रशिक्षण

बेसिक शिक्षा प्रणाली में शिक्षक का पर्याप्त महत्त्व है। उसके व्यक्तित्व पर ही इसकी सफलता और असफलता निर्भर है। अतः अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिये योजना में दो प्रकार के पाठ्यक्रमों की व्यवस्था की गई है—दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन। शिक्षकों को केवल साधारण विषय ही नहीं पढ़ाने पड़ते अपितु वे क्राफ्ट भी पढ़ाते हैं। अतः उन्हें उन क्राफ्टों का पूर्ण ज्ञान होना अनिवार्य है।

प्रशिक्षण-विद्यालयों में प्रवेश पाने के लिये शिक्षक कम से कम हाई स्कूल पास होना चाहिये अथवा वर्नाक्युलर फाइनल मिडिल पास करने के उपरान्त उसे दो वर्ष का पढ़ाने का अनुभव हो। दीर्घकालीन प्रशिक्षण की अवधि ३ वर्ष की है। यह पाठ्यक्रम बड़ा व्यापक है और इसमें सभी आवश्यक विषय सम्मिलित हैं। यद्यपि यह पाठ्यक्रम कुछ दीर्घ प्रतीत होता है, किन्तु नियम तथा भावना से पूरा किया जा सकता है। अल्पकालीन कोर्स की आवश्यकता इसलिये थी कि इस योजना को शीघ्राति-शीघ्र लागू करना था। अतः उसकी अवधि एक वर्ष रक्खी गई। पाठ्यक्रम संक्षेप में वही रक्खा गया जो कि प्रारम्भ में था। अध्यापकों को प्रशिक्षण काल में छात्रावास में रहना अनिवार्य है।

शिक्षण-विधि

बेसिक शिक्षा में शिक्षण-विधि को अधिक महत्त्व दिया गया है। पाठ्यक्रम के सर्वोत्तम होते हुए भी कोई शिक्षा बिना उचित व कुशल शिक्षण-विधि के व्यर्थ हो जाती है। बेसिक शिक्षा की शिक्षणविधि तथा विषय-वस्तु की पहुँच साधारण शिक्षा से भिन्न है। बेसिक शिक्षा में प्रत्येक विषय एक स्वतंत्र इकाई के रूप में नहीं पढ़ाया जाता, अपितु एक ऐसी विकसित क्रिया को केन्द्र बनाकर पढ़ाया जाता है जिसका सम्बन्ध अन्य विषयों से स्थापित हो सके। अतः शिक्षकों द्वारा सम्बन्धित विषयों की पूर्व-योजना बनाली जाती है,और इस प्रकार 'जीवन, ज्ञान और क्रिया' का सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है।

बेसिक शिक्षा में सम्पूर्ण पाठ्यक्रम को ७ क्रमिक कक्षाओं में विभाजित कर दिया जाता है। प्रथम कक्षा में बालक मातृ-भाषा का मौखिक ज्ञान, फिर पढ़ना और अन्त में लिखना सीखने के साथ ही साथ कुछ बुनियादी हस्तकला सीखता है। इस प्रकार प्रत्येक कक्षा में वह बढ़ता चलता है। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, उसके बुनियादी क्राफ्ट का सम्बन्ध अन्य विषयों जैसे, गणित, भाषा, कला, इतिहास, भूगोल तथा विज्ञान इत्यादि से स्थापित होता जाता है। यह बुनियादी

हस्तकला वस्तुतः अन्य विषयों के पढ़ाने का माध्यम रहती है। इस प्रकार ७ वर्ष के अन्त में उस विशेष हस्तकला में सिद्धहस्त होने के साथ ही साथ विद्यार्थी अन्य आवश्यक साहित्यिक विषयों का भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है। सम्पूर्ण विधि का आधार मनोविज्ञान पर आधारित वही क्रियात्मक व उत्पादक-हस्त-कला रहती है।

बेसिक क्राफ्ट के लिये प्रायः कताई व बुनाई को लिया जाता है, किन्तु गांधी जी के अनुसार अन्य उद्यम व क्राफ्ट भी सम्मिलित किये जा सकते हैं। यद्यपि प्रत्येक क्राफ्ट एक पूर्ण व आदर्श माध्यम नहीं बन सकता, तथापि उसका उतना ही अंश कार्य में लाया जा सकता है जितना व्यावहारिक हो सके। शेष के लिये अन्य विधियों का अनुसरण किया जा सकता है।

प्राकृतिक परिस्थिति, सामाजिक परिस्थिति तथा क्राफ्ट—यही तीन साधन हैं जिनके द्वारा प्रत्येक विषय एक दूसरे से सम्बन्धित किया जा सकता है; तथा बालक को इस योग्य बनाया जा सकता है कि वह बुद्धिमत्तापूर्वक तथा क्रियात्मक-विधि से अपने वातावरण के अनुकूल अपने को ढाल सके। इस प्रकार सम्पूर्ण पाठ्यक्रम 'कार्य-केन्द्रित' न होकर 'बाल-केन्द्रित' हो जाता है।

इस प्रकार विद्यार्थी हाथ से कार्य करता है और साथ ही अपनी बुद्धि व कल्पना शक्ति का भी प्रयोग करता है। बालकों में एक स्वाभाविक सृजनात्मक-भावना होती है, वह इस शिक्षा-विधि में पर्याप्त रूप से पोषित हो जाती है। उसके ज्ञान व शरीर के विकास के साथ ही साथ उसके चरित्र व व्यक्तित्व का भी विकास होता है और वह अपने आपको समाज व राष्ट्र का एक महत्वपूर्ण अंग मानने लगता है।

बेसिक शिक्षा में बालक एक निष्क्रिय श्रोता नहीं रह सकता जैसा कि साधारण शिक्षा में होता। बेसिक स्कूल वे कार्य क्षेत्र हैं, तथा परीक्षण व अनु-संधान के वे स्थान हैं जहाँ बालक सदा जागरूक रहता है। उसके कौतूहल तथा विजय व सफलता की आशा उसे आगे बढ़ा ले जाती है। अतः ज़ाकिर हुसैन समिति ने अपने प्रतिवेदन में कहा है कि "जहाँ तक पाठ्यक्रम का सम्बन्ध है, हमने इस सिद्धान्त पर बल दिया है कि सम्पूर्ण शिक्षण-कार्य जीवन की वास्तविकताओं पर आधारित हो जिसका सम्बन्ध हस्तकला तथा सामाजिक व प्राकृतिक वातावरण से हो, ताकि जो कुछ भी ज्ञान बालक प्राप्त करता है उसका उसकी उन्नतिशील क्रियाओं से तादात्म्य हो जाय।"* इस पद्धति में 'काम करते हुए शिक्षा प्राप्त

* ज़ाकिर हुसैन समिति रिपोर्ट—पृष्ठ ५.०।

करने' अर्थात् (Learning by Doing) का सिद्धान्त भी समक्ष रक्खा जाता है। हस्तकार्य को बालक खेल ही खेल में सीख जाता है और उससे सम्बन्धित अन्य विषयों का ज्ञान भी उसे बिना किसी शुष्कता तथा भार के अनायास ही प्राप्त हो जाता है।

बेसिक शिक्षा-पद्धति में शिक्षण के समान ही निरीक्षण-कार्य का भी महत्त्व बतलाया गया है। इसके लिये योग्य व अनुभवी व्यक्तियों का रक्खा जाना आवश्यक है जो कि केवल निरीक्षण ही नहीं करें, अपितु पथ-प्रदर्शन भी करें।

वर्तमान परीक्षा-प्रणाली अत्यंत दोष पूर्ण है जो कि बालक के व्यक्तित्व के विकास में एक बाधा के रूप में उपस्थित है। बेसिक शिक्षा के अन्तर्गत प्रचलित परीक्षाविधि में क्रान्तिकारी परिवर्तन करके उसे पूर्ण वैज्ञानिक रूप दे दिया गया है। इस परीक्षा-विधि में शिक्षक का विशेष महत्व है।

योजना के अनुसार प्रगति

डा० जाकिर हुसैन समिति के प्रतिवेदन के अनुसार इस योजना में पर्याप्त संशोधन कर दिये गये। इसके स्वावलम्बन के पक्ष के विषय में नियमों को ढीला कर दिया गया। बेसिक क्राफ्ट का क्षेत्र भी बढ़ा दिया गया और अब बालकों का पूर्ण अनुभव शिक्षा-उद्देश्यों के लिये प्रयुक्त किया जाने लगा है। भारत में प्राथमिक शिक्षा में इस योजना के आधार पर प्रगति होती जा रही है।

हरीपुरा कांग्रेस में इस योजना को अविकृत रूप से स्वीकार किया ही जा चुका था। कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने भिन्न-भिन्न प्रान्तों में इसका परीक्षण किया। 'हिन्दुस्तानी तालीमी संघ' की स्थापना हो जाने के उपरान्त इसकी गति और भी बढ़ी। १९३८ के उपरान्त मध्यप्रान्त, यू० पी०, बम्बई तथा बिहार-उड़ीसा में इसे सरकारी संरक्षण प्राप्त हुआ। नये ट्रेनिंग कालेज तथा स्कूल खुलने लगे तथा अध्यापकों को प्रशिक्षण के लिये भेजा जाने लगा। मध्यभारत सरकार ने इसमें विशेष रुचि दिखलाई। वर्धा-नार्मल स्कूल को विद्या मंदिर ट्रेनिंग स्कूल बना दिया गया और ९८ अन्य विद्या मंदिर स्कूल खोले गये। उसी प्रकार उत्तर-प्रदेश में भी इस योजना का शीघ्र प्रचार हुआ। नये शिक्षा-मंत्री ने इस योजना को संरक्षण दिया और बेसिक शिक्षा के लिये एक विशेष अधिकारी नियुक्त कर दिया तथा एक बेसिक ट्रेनिंग कालेज खोला। बिहार में इस पद्धति के अनुसार सराहनीय कार्य हुआ। १९४० ई० में राजनैतिक कारणों से इसे बहुत आघात पहुँचा।

१६३८ ई० तथा १६४० ई० में 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड' ने बम्बई प्रान्त के मुख्य मंत्री माननीय श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में क्रमशः दो समितियों की स्थापना की। इन समितियों ने बेसिक शिक्षा के विषय में बहुत ही विस्तृत राय दी जिसके फल स्वरूप देश में बेसिक शिक्षा का वास्तविक रूप में पुनर्सङ्गठन हुआ। इस समिति ने निम्नलिखित प्रमुख सिफारिशें कीं:—

(१) बेसिक शिक्षा-योजना सर्व प्रथम ग्रामीण क्षेत्रों में प्रारम्भ की जाय।

(२) बालकों की अनिवार्य-आयु ६ वर्ष से १४ वर्ष तक हो, किन्तु ५ वर्ष की आयु के बच्चे भी बेसिक स्कूलों में प्रविष्ठ हो सकेंगे।

(३) बेसिक स्कूलों से अन्य स्कूलों में जाने की अनुमति बालकों को ५ वीं कक्षा अथवा ११ + की आयु के उपरान्त ही दी जाय।

(४) शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा ही हो।

(५) भारत के लिये एक सामान्य भाषा की भी आवश्यकता है। यह भाषा हिन्दुस्तानी हो सकती है जिसमें हिन्दी और उर्दू दोनों ही लिपियों का प्रयोग हो सकता है। बच्चों को लिपि चुनने का अधिकार हो और उसी लिपि के द्वारा पढ़ाने की उनके लिये स्कूल में सुविधा होनी चाहिये। प्रत्येक शिक्षक के लिये दोनों ही लिपियों का जानना आवश्यक है।

(६) किसी बाहरी परीक्षा की आवश्यकता नहीं है। बेसिक पाठ्यक्रम के अन्त में आन्तरिक-परीक्षा के आधार पर एक 'स्कूल लीविङ्ग सर्टीफिकेट' दे दिया जाना चाहिये।†

'केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड' ने भी खेर समिति की रिपोर्ट के अधिकतर सुझावों को मान लिया और १६४४ की 'सार्जेन्ट रिपोर्ट' में इन सुझावों को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया।

१६४५ ई० के प्रारम्भ में 'हिन्दुस्तानी तालीमी संघ' की बैठक वर्धा में पुनः हुई। इस बैठक में सम्पूर्ण शिक्षा-पद्धति तथा इसकी प्रगति पर दृष्टिपात किया गया। इस बैठक में भी बेसिक शिक्षा के महत्व को स्वीकार किया गया और गांधीजी के सिद्धान्तों पर आधारित करके इसका नाम 'नई तालीम' रख दिया। यह नई तालीम चार भागों में विभक्त की गई यथाः पूर्व-बेसिक, बेसिक, उत्तर-बेसिक तथा प्रौढ़ शिक्षा। पूर्व-बेसिक शिक्षा ३ से ६ वर्ष की आयु वाले बच्चों के लिये थी; तथा उत्तर-बेसिक में उच्च शिक्षा को सम्मिलित किया गया।

† *Report of the Committee appointed by C.A.B.E.*, 1938-45, PP. 9-10.

इससे पूर्व १९४४ ई० में 'केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड' ने भी बेसिक शिक्षा के प्रसार की योजना का समर्थन किया था। राष्ट्रीय योजना समिति (नेशनल प्लानिंग कमेटी) ने भी, जो कांग्रेस ने देश की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं पर अपनी रिपोर्ट तथा सुझाव देने के लिए नियुक्त की थी, बेसिक शिक्षा का समर्थन किया। १९४७ ई० में 'हिन्दुस्तानी तालीम संघ, वर्धा' ने एक विस्तृत पाठ्यक्रम तैयार किया जो कि प्रायः सभी प्रान्तों ने लागू कर दिया है। इस योजना में 'उत्तर-बेसिक' माध्यमिक शिक्षा पर बहुत कम ध्यान दिया गया। इन 'उत्तर-बेसिक' माध्यमिक स्कूलों के प्रधान माध्यम क्राफ्ट कृषि, डेरी, भवन-निर्माण, लोहारी; बढ़ईगीरी तथा बुनाई, इत्यादि हैं, जिनके द्वारा ग्रामों के पुनर्निर्माण की बात कही जाती है। इन 'उत्तर-बेसिक' कालेजों का निर्माण स्कैंडीनेविया के 'पीपुल्स कालेजों' के आधार पर होने की सम्भावना है, जैसा कि राधाकृष्णन कमीशन की सिफारिश है।

प्रायः सभी राज्यों ने अपने आन्दोलन बेसिक शिक्षा के प्रसार के लिए प्रारम्भ कर दिये हैं। भारत की स्वतन्त्रता तथा शिक्षा की बढ़ती हुई माँग ने इस आन्दोलन को सभी स्थानों पर सर्वप्रिय बना दिया है। इस क्षेत्र में दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ हमें देखने को मिलती हैं। एक तो सम्पूर्ण देश में निःशुल्क व अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रदान करना; और दूसरी, प्रचलित प्राथमिक स्कूलों को बेसिक स्कूलों का रूप देना। भारत के संविधान में स्वीकार किया गया है कि राज्य की ओर से प्रत्येक प्रयास इस बात का किया जायगा कि ६-१४ वर्ष की आयु के बालकों को १० वर्ष के भीतर ही अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का लाभ दिया जा सके। १९५० ई० में संविधान लागू होने के पहिले से ही इस दिशा में प्रयत्न किए जा रहे हैं। 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड' की सिफारिश के आधार पर सरकार ने पहिले से ही स्वीकार कर लिया है कि देश की प्राथमिक शिक्षा बेसिक-प्रकार की होनी चाहिये। देश की स्वतन्त्रता ने लोगों के हृदयों में अपने बालकों को प्राथमिक शिक्षा देने के लिए एक नई लालसा जगा दी है। अब लोग जानते हैं कि यह उनका मौलिक मानव अधिकार है। यहाँ तक कि यह लालसा उन क्षेत्रों में भी दिखाई देती है जहां १९४७ से पूर्व शिक्षा की कोई सुविधायें नहीं थी। जैसे उत्तर पूर्वी सीमा एजेन्सी के आदिम जातियों के इलाकों में १९४७ से पूर्व एक भी स्कूल नहीं था, किन्तु १९५३ तक वहाँ १९०० स्कूल खुल गये हैं। और नये स्कूल खुलते जा रहे हैं।

जहाँ तक प्रचलित प्राथमिक स्कूलों को बेसिक स्कूलों का रूप देने का प्रश्न है, इसमें भी प्रगति हुई है। किन्तु प्रशिक्षित शिक्षकों, उपयुक्त भवनों तथा

धन के अभाव के कारण आशाजनक उन्नति नहीं हो सकी है शिक्षा की किस्म में सुधार करने की दृष्टि से भी कोई महत्त्वपूर्ण सुधार नहीं हुआ है।† इसका प्रमुख कारण रहा है योग्य व सन्तुष्ट शिक्षकों के मिलने की कठिनाई। बेसिक शिक्षा जहाँ बालक के लिये सरल व आकर्षक होती है, तो शिक्षक के लिए अधिक कठिन होती है। जहाँ कहीं भी शिक्षकों ने इस पद्धति को कठिन श्रम से निष्ठापूर्वक चलाया है, वहाँ परिणाम भी अच्छे निकले हैं।

बेसिक शिक्षा के प्रति लोगों की धारणायें भी विभिन्न हैं। बिहार में जहाँ योजना को पर्याप्त सफलता मिली है, लोगों ने इसकी सराहना की है और सहानुभूतिपूर्वक इसका स्वागत किया है। मद्रास, बम्बई तथा कुछ कबाइली क्षेत्रों के विषयों में भी यही कहा जा सकता है। किन्तु कुछ अन्य क्षेत्रों में तो लोगों ने न केवल इसका स्वागत ही नहीं किया है, अपितु इसका क्रियात्मक विरोध तक किया है। ऐसी स्थिति में इन क्षेत्रों में शिक्षा की किस्म में सुधार होने की अपेक्षा पतन ही हुआ है।

जब बेसिक शिक्षा देश में प्रारम्भ हुई थी तो शिक्षा के माध्यम के लिए कताई-बुनाई अथवा कृषि को ही बेसिक क्राफ्ट के रूप में रखा जाता था। किन्तु वे अपर्याप्त हैं। विभिन्न प्रान्तों में अपने-अपने स्थानीय क्राफ्ट प्रचलित हैं। इन सभी क्राफ्टों में हम शिक्षा सम्भावनाओं को खोज सकते हैं। उदाहरणतः काश्मीर सदा से ज़री के कार्य तथा लकड़ी के कार्य के लिए प्रसिद्ध रहा है। आसाम में रेशम की कताई-बुनाई प्रायः प्रत्येक घर में होती है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक राज्य में स्थानीय हस्त-कलाओं को अपनाया जा सकता है। हाँ इधर इस दृष्टि से प्रगति भी हो रही है, और उत्तरोत्तर नई हस्तकलाएँ बेसिक शिक्षा में प्रवेश पा रही हैं।

देश की स्वतन्त्रता के उपरान्त अनेकों राजनैतिक, आर्थिक व नैसर्गिक आपत्तियों का भारत को सामना करना पड़ा। देश के विभाजन, जनसंख्या के परिवर्तन, खाद्यान्नों के अभाव तथा बाढ़ इत्यादि आपत्तियों की अपेक्षाकृत भी भारत ने अपने शिक्षा-प्रयत्नों को जारी रक्खा और शिक्षा में प्रगति की। यह प्रगति आँकड़ों से जानी जा सकती है। ३१ मार्च, १९४८ को देश के 'क' राज्यों में १,४०,१२१ प्राथमिक स्कूल थे और उनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों की

† "While the superiority of Basic over the old system is admitted by everyone, results have not always been commensurate with the hopes entertained about the system". *Progress of Education in India*, (1947—1952). Ministry of Education, Government of India.

संख्या १,१०,००,६६४ थी। १९५३ की उसी तारीख को यही संस्थाएँ क्रमशः १,७७,२८५ तथा १,५६,६५,०५६ हो गई। इस प्रकार हम २८६ देखते हैं कि स्वतन्त्रता के पाँच वर्षों में 'क' श्रेणी के राज्यों में ३७,००० स्कूल और ४६,००,००० विद्यार्थी बढ़ गये। सम्पूर्ण भारत में १९५३ ई० में २,२१,०८२ प्राथमिक स्कूल थे और उनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या १,६२,६६,८४० थी। साक्षरता की दृष्टि से भी हम देखते हैं कि कुछ प्रगति अवश्य हुई है। सन् १९४१ ई० में जब कि ५ वर्ष की आयु के बच्चों को छोड़कर पढ़ाई-लिखाई १४·६ प्र० श० थी। १९५१ ई० में अन्तिम जन-गणना के समय यह १८·३ प्र० श०; तथा ३१ मार्च, १९५३ को २० प्र० श० थी। समस्या की दुरूहता व विशालता को देखते हुए यह प्रतिशत कितना अपर्याप्त प्रतीत होता है!

इसी प्रकार व्यय की दृष्टि से भी हम देखते हैं कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त प्राथमिक बेसिक शिक्षा पर व्यय में ८७% वृद्धि हुई है। ३१ मार्च, १९५३ को सारे देश के प्राथमिक खर्चों का अनुमान ४३ करोड़ ७० लाख रुपया था।

जहाँ तक बेसिक स्कूलों के लिए अध्यापकों को प्रशिक्षण देने का प्रश्न है, हम पीछे लिख चुके हैं कि बेसिक शिक्षा की सफल प्रगति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा प्रशिक्षित शिक्षकों का अभाव है। इस उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए भी देश में प्रयास किए जा रहे हैं। कुछ संस्थाएँ इस दिशा में अच्छा कार्य कर रही है। इनमें से प्रमुख ये हैं :—

नई तालीम भवन, सेवाग्राम; जामिया मिलिया इस्लामिया टीचर्स ट्रेनिंग इन्स्टीट्यूट दिल्ली; श्री रामकृष्ण मिशन विद्यालय टीचर्स बेसिक सैन्टर, कोयम्बटूर—(इसके अन्तर्गत गान्धी बेसिक ट्रेनिंग स्कूल तथा विद्यालय टीचर्स कालेज सम्मिलित हैं और सराहनीय कार्य कर रहे हैं); ग्रेजुएट बेसिक ट्रेनिंग सेन्टर ढाबका (बम्बई), विद्या भवन शान्तिनिकेतन; विद्याभवन उदयपुर तथा सर्वोदय महाविद्यालय तर्की (बिहार) अधिक प्रसिद्ध हैं।

इनके अतिरिक्त भी लगभग प्रत्येक राज्य में प्रशिक्षण संस्थाएँ हैं जो कि बेसिक शिक्षकों को प्रशिक्षण देती हैं।

आसाम के गुरू ट्रेनिंग केन्द्रों को बेसिक ट्रेनिंग केन्द्रों में परिवर्तित कर दिया गया है। बिहार में प्रशिक्षण कार्य बड़ी उत्तमता से चलाया जा रहा है। यहाँ प्रशिक्षण संस्थाओं में शिक्षकों की संख्या १९४६-४७ में २३५ से बढ़कर १९५१-५२ में ३,३२६ तक हो गई, जिनमें १९० अध्यापिकायें भी सम्मिलित थीं। यहाँ बेसिक स्कूलों के सभी शिक्षक प्रशिक्षित हैं। सामान्य प्राथमिक व

मिडिल स्कूलों के शिक्षकों को भी बेसिक ट्रेनिंग की सुविधायें दी जा रही हैं। शिक्षा के उच्च प्रशासनिक अधिकारियों को भी बेसिक प्रणाली में प्रशिक्षण देने के लिये १९५१ ई० में यहाँ नरसिंहनगर (तर्की मुजफ्फरपुर) में एक बेसिक ट्रेनिंग कालेज खोला गया है। अब इसका नाम सर्वोदय महाविद्यालय रक्खा गया है।

बम्बई में लगभग १७ सरकारी ट्रेनिंग संस्थाएँ हैं, जिनमें प्रतिवर्ष लगभग ३००० शिक्षकों को बेसिक प्रणाली में प्रशिक्षण दिया जाता है। ग्रेजुएटों को प्रशिक्षण देने के लिए पृथक् व्यवस्था है। उच्च प्रशिक्षण के लिए सेवाग्राम में भी शिक्षक या अधिकारी लोग भेजे जाते हैं। उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा मद्रास इत्यादि राज्यों में भी इसी प्रकार की व्यवस्थायें हैं। दिल्ली में जामिया मिलिया के अतिरिक्त दो स्कूल : एक पुरुषों के लिये और दूसरा महिलाओं के लिए और खोल दिए गये हैं। विभिन्न राज्यों में प्राथमिक स्कूलों के शिक्षकों के लिए अल्पकालीन 'रिफ्रेशर कोर्स' भी संगठित किये जाते हैं।

इधर बेसिक शिक्षा प्रणाली को प्राथमिक स्तर के आगे माध्यमिक व उच्च स्तरों तक ले जाने के परीक्षण भी देश में होने लगे हैं। इस दृष्टिकोण से बिहार सभी राज्यों में अग्रगामी है। वहाँ चुने हुए क्षेत्रों में सामाजिक शिक्षा को बेसिक प्रणाली के आधार पर प्रारम्भ किया जा रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वोदय महाविद्यालय बेसिक ट्रेनिंग कालेज, १९ बेसिक ट्रेनिंग स्कूलों तथा १३ उत्तर-बेसिक स्कूलों ने गत ५ वर्षों में सामाजिक शिक्षा के प्रसार के लिये एक योजना को कार्यान्वित किया है। किन्तु निस्वार्थ कार्यकर्ताओं व शिक्षकों और धन के अभाव में योजना में अच्छी सफलता नहीं मिल सकी है। १९४७—५२ तक के पंचसाला में बिहार सरकार ने इस परीक्षण पर लगभग ३ लाख रुपया भी व्यय किया है। जौलाई १९५४ में बिहार बेसिक शिक्षा बोर्ड की कार्यकारिणी ने निश्चय किया है कि राज्य में ऐसे विद्यार्थियों के लिये जिन्होंने उत्तर-बेसिक स्कूल परीक्षा पास कर ली है, लगभग ६ उत्तर-बेसिक कालेज खोले जाँयगे। इस बोर्ड ने एक प्रस्ताव पास करके बिहार सरकार से यह भी माँग की थी कि तर्की (मुजफ्फरपुर) में एक समाज कालेज (Community College) खोला जाय। फलतः अगस्त में इस कालेज की स्थापना के उपरान्त कार्य भी प्रारम्भ हो गया है। इसी प्रकार एक कालेज नालन्दा में, एक नगरपाड़ा (भागलपुर) में, एक कोलहन्त पटोरी (दरभंगा) तथा एक बाखरी (मुजफ्फरपुर) में खोलने की भी योजना है। इन ग्रामीण बेसिक

कालेजों की स्थापना का उद्देश्य यह भी है कि लगभग तीन वर्ष के भीतर वहाँ एक ग्राम्य विश्वविद्यालय की स्थापना की जा सके।

इसके अतिरिक्त बिहार में सरकारी सर्वोदय स्कूलों के साथ ही साथ वैयक्तिक सर्वोदय स्कूल भी स्वीकृत किये जा चुके हैं। इससे पूर्व सर्वोदय स्कूलों का संचालन केवल सरकार ही करती थी। बेसिक शिक्षा बोर्ड ने बिहार में बेसिक शिक्षा में सुधार, सामाजिक शिक्षा का प्रसार तथा बेसिक शिक्षकों की दशा में सुधार करने का भी निर्णय किया है।

इसी प्रकार पंजाब में भी बेसिक शिक्षा को प्राथमिक शिक्षा के स्तर से उठा कर माध्यमिक स्तर तक ले जाने का निर्णय किया गया है। इसके लिये चंडीगढ़ में एक सीनियर बेसिक कालेज की भी अक्टूबर, १९५४ में स्थापना की गई है। इसमें केवल ग्रेजुएटों का ही प्रवेश हो सकेगा।

त्रिवांकुर-कोचीन में अगस्त १९५४ में प्राथमिक स्कूलों को बेसिक स्कूलों में बदलने तथा राज्य में बेसिक शिक्षा को प्रोत्साहन देने का निर्णय किया है। प्रथमतः यह योजना ३ प्राथमिक कक्षाओं में लागू की जायगी और परीक्षण में सफलता मिलने पर ही अन्य कक्षाओं में लागू हो सकेगी।

उत्तर प्रदेश अपने सभी प्राथमिक स्कूलों को बेसिक स्कूलों में परिवर्तित करने की योजना में प्रगति कर रहा है। यहाँ १९४८ से अब तक १२,३५० प्राथमिक बेसिक स्कूल खोले जा चुके हैं। आगामी द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ३४ करोड़ रुपये के व्यय से ९,६५० स्कूल और खोले जायँगे।

वास्तव में केन्द्रीय सरकार देश की प्राथमिक शिक्षा को बेसिक शिक्षा का रूप देने के लिये बहुत व्यग्र है। १८ जनवरी, १९५५ को अपने ६० वें महा-अधिवेशन में आवडी में काँग्रेस ने भी निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया है:—

"स्वतन्त्र भारत के राष्ट्रीय और सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये तथा विकास-योजनाओं की पूर्ति के निमित्त लोगों को तैयार करने के लिये वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन नितान्त आवश्यक है। योजना कमीशन और भारत सरकार प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के तौर पर बेसिक शिक्षा को लागू करना स्वीकार कर चुकी है। बेसिक शिक्षा में श्रम और उत्पादन के माध्यम से विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती है। इसलिये वह भारत की आवश्यकताओं के सर्वथा अनुरूप है। इस दिशा में केन्द्र और राज्य सरकारों को गाँवों और शहरों में यथाशक्ति शीघ्र इस नीति को लागू करना चाहिये।"

ऐसी स्थिति में हम देखते हैं कि इसके गुण-दोष कुछ भी हों, बेसिक शिक्षा-पद्धति अब भारत के लिये अनिवार्य होती जारही है। प्रथम पंचवर्षीय

योजना के अन्तगत भारत सरकार प्रथम ३ वर्ष में बेसिक शिक्षण-पद्धति के सुधार सम्बन्धी परीक्षणों पर ६० लाख रुपया व्यय कर चुकी है; और शेष योजना काल में इससे भी अधिक व्यय करने जा रही है। यदि सभी राज्यों में योजना भली भाँति कार्यान्वित की गई तो १६५५-५६ के अन्त तक ३८,०५६ अतिरिक्त प्राथमिक स्कूल खुल जाँयगे जिनमें बेसिक स्कूल भी सम्मिलित होंगे। इनमें ४० लाख अतिरिक्त बालक शिक्षा पाने लगेंगे। सन १६५३ के अन्त तक इनमें से १६,२७६ स्कूल खुल चुके हैं जिनमें ६ लाख बालक शिक्षा पाते हैं। जहाँ तक शुद्ध बेसिक स्कूलों का सम्बन्ध है, पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत खुलने वाले ६,४७१ स्कूलों में १६५३ के अन्त तक २,१७६ स्कूल खुल चुके हैं।†

सरकारी रिपोर्टों के आधार पर कहा जा सकता है कि राज्यों में, विशेषतः बिहार और बम्बई में, बेसिक शिक्षा सन्तोषजनक प्रगति कर रही है। इन स्कूलों का रूप यह है कि कई बेसिक स्कूलों के समूह को, जो निकटवर्त्ती गाँवों में स्थित होते हैं, एक ठोस इकाई के रूप में संगठित कर लिया जाता है। एक 'जनता कालेज', जिसमें ग्रामीण छात्रों के रहने की भी व्यवस्था होती है और जिसमें हस्तकलायें, स्वास्थ्यरक्षा तथा सामाजिक जीवन के मौलिक तत्वों की शिक्षा दी जाती है, एक बेसिक ट्रेनिंग कालेज जिससे बेसिक स्कूल सम्बन्धित कर दिये जाते हैं तथा एक पुस्तकालय जिसमें दृश्य-साधनों (Visual Aids) की भी व्यवस्था होती है—यही संस्थायें उस बेसिक परीक्षण-इकाई में सम्मिलित की जाती हैं। यद्यपि यह कार्य दिल्ली में भी बड़े उत्साह के साथ प्रारम्भ किया गया था, किन्तु इसमें अधिक सफलता नहीं मिल सकी है। इस परीक्षण का उद्देश्य बेसिक शिक्षा के सिद्धान्तों से लोगों को परिचित कराना तथा कुछ कार्यकर्त्ताओं को तैयार करना है।

देश में बेसिक शिक्षा का अधिक प्रसार करने के उद्देश्य से केन्द्रीय सरकार ने राज्यों को उस व्यय का ३० प्र० श० देना स्वीकार किया है जो कि नये बेसिक स्कूलों के खोलने तथा सामान्य प्राथमिक स्कूलों को बेसिक स्कूलों में परिवर्तित करने में राज्य सरकारों को पड़ता है। यह अनुदान खेर-समिति की सिफारिशों को आधार मान कर दिया जा रहा है। केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय ने बेसिक शिक्षा के सिद्धान्तों तथा शिक्षा-पद्धति की व्याख्या करने के उद्देश्य से एक पुस्तिका प्रकाशित कराने का भी निश्चय किया है।

पंचवर्षीय योजना के आधार पर राज्यों में बेसिक स्कूल खोलने के जो लक्ष्य बना लिये गये हैं उनमें प्रचलित प्राथमिक स्कूलों को बेसिक स्कूलों में बद-

† Five year Plan : *Progress Report*, p. 242. 1953-54. Govt. of India.

लने की एक प्रमुख योजना सम्मिलित है। कहीं-कहीं पर सामान्य प्रकार के प्राथमिक स्कूल ही खोले जा रहे हैं और बेसिक स्कूलों की स्थापना को यह कह कर टाला जा रहा है कि उनका प्रारम्भिक व्यय अधिक होता है। वस्तुतः अच्छे व प्रशिक्षित शिक्षकों के अभाव तथा बेसिक शिक्षण की सर्वमान्य पद्धति व ऐसे उपयुक्त साहित्य के अभाव में जोकि शिक्षकों का पथ-प्रदर्शन कर सके, प्राथमिक बेसिक स्कूलों की प्रगति अत्यन्त ही मन्द है। इन अभावों की पूर्त्ति करने के लिये पंचवर्षीय योजना में एक अग्रिम-योजना (Pilot Project) को प्रत्येक राज्य में कार्यान्वित करने की नीति को अपनाया गया है। इन अग्रिम-योजनाओं के अन्तर्गत प्राथमिक शिक्षा से लेकर उत्तर-स्नातक प्रशिक्षण (Post Graduate Training) के स्तर तक बेसिक शिक्षा के सम्पूर्ण रूप को एक सुनिश्चित, ठोस तथा वास्तविक रूप में कार्यान्वित किया जायगा और इस परीक्षण के द्वारा एक उपयुक्त टैकनीक का विकास किया जायगा। ये योजनायें अभी तक किसी भी राज्य में पूर्णरूप से कार्यान्वित तो नहीं हो सकी हैं, हाँ प्रारम्भिक कार्य इस दिशा में अवश्य किया जा रहा है।

इन अग्रिम-योजनाओं के लिये केन्द्र के द्वारा राज्यों को आर्थिक सहायता प्रदान की जा रही है। यह सहायता निम्नलिखित कार्यों के लिये दी जायगी :—

(क) प्रचलित प्राथमिक स्कूलों को बेसिक स्कूलों में परिवर्तित करने के लिये;

(ख) नये बेसिक स्कूलों की स्थापना के लिये;

(ग) ऐसे बेसिक स्कूलों के लिये जिनमें अपर्याप्त सज्जा या स्टाफ हो;

(घ) क्राफ्ट-शिक्षकों के प्रशिक्षण तथा स्कूलों में क्राफ्टों का आरम्भ करने के लिये; तथा

(ङ) बेसिक स्कूलों के लिये शिक्षण में काम आने वाली वस्तुएँ तैयार करने के लिये।

इस दृष्टि से केन्द्रीय सरकार ने यह भी अनुभव किया है कि डेनमार्क में ग्रामीण-शिक्षा के लिये जो परीक्षण किये गये हैं वे भारत में भी ग्राम्य-शिक्षा के पुनर्संगठन के लिये उपादेय हो सकते हैं। अतः डैनमार्क की प्राथमिक, माध्यमिक तथा प्रौढ़ व सामाजिक शिक्षा की पद्धतियों का अध्ययन करने के लिये भारत सरकार ने १८ भारतीय शिक्षा-शास्त्रियों का एक मण्डल भेजा है।† जनवरी,

† Govt. of India : *Progress Report for* 1953-54 (Five year Plan.)

१९५४ में सरकार के निमन्त्रण पर डेनमार्क के ग्राम्य-शिक्षा विशेषज्ञ डा० पीटर मैनिश की भारत यात्रा भी उल्लेखनीय है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बेसिक शिक्षा वस्तुतः भारतीय शिक्षा प्रणाली का ही नहीं अपितु राष्ट्रीय जीवन तथा प्रेरणा का आधार बनती जारही है। आशा की जाती है कि भविष्य में इसका रूप और भी अधिक व्यापक हो जायगा। ऐसा होने पर ही इस योजना के प्रणेता महात्मा गाँधी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों को एक मूर्त्त रूप मिल सकेगा। ब्रिटिश भारत में जिस प्राथमिक शिक्षा की इतनी अवहेलना की गई थी, उसकी आज स्वतन्त्र भारत में हम अवहेलना नहीं कर सकते। यदि भारत को सभ्य देशों की दौड़ में आगे रहना है, तो अवश्य ही उसे अपनी [illegible]% निरक्षता का विनाश करना होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उपर्युक्त पाठ्यक्रम, योग्य शिक्षकों, कुशल संगठन व प्रशासन, दृढ़ अर्थव्यवस्था तथा निरन्तर अध्यवसाय द्वारा हम अपनी प्राथमिक शिक्षा को सच्चे अर्थ में अनिवार्य बना कर देश से अशिक्षा व निरक्षरता के कलंक को शीघ्र धो सकते हैं। जब अमेरिका, रूस, चीन तथा टर्की इत्यादि देशों ने इस परीक्षण में आशा-जनक उन्नति की है तो फिर ऐसा कौनसा कार्य है जिसे आज का स्वतन्त्र व महत्वाकांक्षी भारत नहीं कर सकता ?

हम निस्संकोच कह सकते हैं कि भारतवर्ष में प्राथमिक शिक्षा को पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया जारहा है। १८५४ ई० से लेकर १९५४ ई० तक के सौ वर्षों में सरकार कई बार इस बात को सिद्धान्ततः स्वीकार कर चुकी है कि देश में प्राथमिक शिक्षा का प्रचार उसका प्रमुख कर्त्तव्य है। आज भी भारत के संविधान की ४५ वीं धारा के अनुसार सरकार का यह कर्तव्य है कि वह ६ वर्ष से १४ वर्ष तक की आयु वाले सभी बालकों को सन् १९६० तक निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा प्रदान करे। किन्तु अभी तक इस दिशा में बहुत ही अपर्याप्त कार्य हुआ है। सरकार विश्वविद्यालय शिक्षा तथा माध्यमिक शिक्षा के सुधार पर बहुत ध्यान दे रही है और उनके लिये केन्द्रीय सरकार ने कमीशनों की नियुक्ति करके उनकी समस्याओं का एक अत्यन्त विशद व मौलिक विश्लेषण करा लिया है। किन्तु स्वतन्त्र भारत की सरकार ने अभी तक इस बात का अनुभव नहीं कर पाया है कि वह इसी प्रकार का एक कमीशन प्राथमिक शिक्षा के लिये भी नियुक्त करे।

अतः आवश्यक है कि केन्द्रीय सरकार की ओर से शीघ्र ही एक प्राथमिक शिक्षा कमीशन नियुक्त किया जावे जो कि इसकी सम्पूर्ण समस्याओं का अखिल भारतीय स्तर पर अध्ययन करके उनके सुलझाने के ठोस सुझाव दे।

दूसरी बात है प्राथमिक-शिक्षकों की आर्थिक दशा के सुधार के सम्बन्ध में। यह बात सर्वविदित है कि भारतवर्ष में प्राथमिक शिक्षक का वेतन अत्यन्त अल्प है। इस कारण वह हर समय आर्थिक चिन्ताओं में निमग्न रहता हुआ एक अत्यन्त ही दीन व अभावपूर्ण जीवन व्यतीत करता है। सरकार भी उसे दीन व शक्तिहीन समझ कर सुविधापूर्वक उसकी अवहेलना कर देती है। प्राथमिक शिक्षक की तुलना में विश्वविद्यालयों के शिक्षक, जो कि अपनी बातों को उच्च अधिकारियों तक शीघ्र पहुँचा देते हैं और अपने अधिकारों की रक्षा के लिये सरकार से मोर्चा लेने की भी क्षमता रखते हैं, उनकी बातों को सरकार शीघ्र सुन लेती है; और बेचारा प्राथमिक शिक्षक एक साधारण मजदूर की भाँति शिक्षण का 'पेशा' करता है। जब तक देश की प्राथमिक शिक्षा का सुधार नहीं होगा, देश की शिक्षा की आधारशिला दुर्बल रहेगी और जब तक प्राथमिक शिक्षक की आर्थिक दशा तथा कार्य-दशाओं में सुधार नहीं होगा, हम देश की प्राथमिक शिक्षा के सुधार की कल्पना नहीं कर सकते। सामान्य शिक्षकों की तुलना में बेसिक शिक्षकों को और भी अधिक कठिनाइयाँ हैं। इनके प्रशिक्षण का समय और व्यय अधिक होता है तथा अध्यापन कार्य भी अधिक श्रमपूर्ण होता है। अतः यह स्वाभाविक है कि उनके वेतन स्तर और भी अधिक ऊँचे होने चाहिये। इस दृष्टि से मद्रास में अवश्य कुछ किया जा रहा है, अन्यथा शेष राज्यों ने इस प्रश्न पर दृष्टिपात तक नहीं किया है।

प्राथमिक या बेसिक शिक्षा की एक अन्य समस्या है स्कूल भवनों का अभाव। यह कितनी दया की बात है कि देश के असंख्यों भावी नागरिकों को हम स्थान की इतनी भी सुविधा न दे सकें जहाँ बैठकर वे अपने जीवन के प्रथम पाठ पढ़ सकें। देश के प्रत्येक क्षेत्र में प्रायः प्राथमिक स्कूलों पर अपने स्वयं के अच्छे भवन नहीं हैं। गाँवों में कहीं कच्चे व फूटे खंडहरों में बच्चे पढ़ते हैं तो कहीं वर्षा, धूप व जाड़े में पेड़ों के नीचे प्रकृति की निर्दयता को सहन करते रहते हैं। वास्तव में प्राथमिक स्कूलों के पास भवन न होना एक अत्यन्त ही दुरूह समस्या है। यह एक हास्यास्पद व लज्जाजनक स्थिति है जिसका निवारण तत्काल ही आवश्यक है।

इन कठिनाइयों के अतिरिक्त अन्य कठिनाइयों का भी प्राथमिक शिक्षा के विषय में उल्लेख किया जा सकता है। अनिवार्यता के सिद्धान्त को सम्पूर्ण देश में लागू करने में सरकार की असफलता, अच्छी पाठ्य-पुस्तकों का अभाव, अध्ययन सामग्री का अभाव, पाठ्य-क्रम सम्बन्धी दोष, शिक्षकों के प्रशिक्षण सम्बन्धी असुविधायें, निरीक्षण की अपर्याप्तता व अक्षमता, स्थानीय बोर्डों में

निम्नकोटि की राजनीति और इन बोर्डों के अन्तर्गत प्राथमिक शिक्षा का निर्दय बलिदान तथा जन-समूहों में व्याप्त निर्धनता इत्यादि अन्य कारण है जो कि देश की प्राथमिक शिक्षा की तीव्र प्रगति में रोढ़े अटकाये हुए हैं। जब तक इन रोढ़ों को मार्ग में से नहीं हटाया जायगा, हम पर्याप्त रूप से प्राथमिक शिक्षा का जिसमें बेसिक शिक्षा भी सम्मिलित है, सुधार नहीं कर सकते।

(२) सार्जेन्ट रिपोर्ट (युद्धोत्तर-शिक्षा विकास योजना)

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति पर भारत के सम्मुख एक नवीन शिक्षा योजना आई जिसे 'सार्जेन्ट योजना' के नाम से पुकारा जाता है। जॉन सार्जेन्ट को, जोकि भारत सरकार के तत्कालीन शिक्षा-सलाहकार थे, एक ऐसा स्मृति-पत्र बनाने का आदेश हुआ जिसमें युद्धोत्तर शिक्षा विकास के लिये योजना की रूप रेखा हो। 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड' ने १६४३ तथा १६४४ ई० की अपनी बैठकों में इस स्मृतिपत्र को स्वीकार कर लिया। यह स्मृतिपत्र उन अनेक रिपोर्टों पर आधारित था जो कि बोर्ड द्वारा शिक्षा के भिन्न-भिन्न अंगों के लिये नियुक्ति की गई उपसमितियों ने उस समय प्रकाशित की थीं। अतः जॉन सार्जेन्ट के नाम पर ही इस योजना का नामकरण हुआ। इस प्रकार 'केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड' ने जो यह रिपोर्ट प्रकाशित की थी उसका युद्धोत्तर योजनाओं में बड़ा महत्व है। इस रिपोर्ट में नर्सरी शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय तक की शिक्षा का बहुत ही विशद विवरण—उसका संगठन, दोष, सुधारने के उपाय तथा भविष्य के लिये सुझाव इत्यादि हैं। एक प्रकार से अपने प्रकार की यह पहिली रिपोर्ट है जो कि सम्पूर्ण राष्ट्र की शिक्षा पर इतने व्यापक दृष्टिकोण से विचार करती है।

'सार्जेन्ट रिपोर्ट' में सम्पूर्ण शिक्षा को १२ अध्यायों में विभाजित करके प्रत्येक अंग पर अलग-अलग विचार किया गया है। हम संक्षेप में उसे इस प्रकार लिख सकते हैं :—

(१) ५ और ६ वर्ष से १४ वर्ष तक के लड़के लड़कियों को साक्षरता तथा नागरिकता के लिये सर्वव्यापी, अनिवार्य तथा निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था। यह शिक्षा दो भागों में विभक्त होगी : जूनियर बेसिक (६-११) तथा सीनियर बेसिक (११-१४) वर्ष। प्रथम प्रकार के स्कूल सब के लिये अनिवार्य होंगे और दूसरे प्रकार के स्कूल केवल उन्हीं बालकों के लिये होंगे जो कि हाईस्कूल में अपनी शिक्षा जारी नहीं रक्खेंगे;

(२) ३ वर्ष से ६ वर्ष तक की उम्र के बच्चों के लिये पूर्व-प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था। इस शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य सामान्य शिक्षा देना नहीं, अपितु सामाजिक अनुभव तथा शिष्टाचार सिखाना है।

(३) ११ वर्ष से १७ वर्ष तक के चुने हुए विद्यार्थियों के लिये ६ वर्ष की हाई स्कूल शिक्षा की व्यवस्था। इन स्कूलों में केवल वही विद्यार्थी प्रवेश पा सकेंगे जो कि आगे शिक्षा के लिये अपनी विशेष रुचि दिखलाते हैं। साधारणतः यह संख्या २०% होगी। इन हाई स्कूलों को दो भागों में विभाजित कर दिया जायगा: (१) साहित्यिक (एकेडेमिक) हाई स्कूल और (२) व्यावसायिक (टैकनिकल) हाई स्कूल। प्रथम प्रकार के स्कूलों में कला तथा विज्ञान के विषय—जैसे मातृभाषा, अँग्रेजी, इतिहास, प्राच्य भाषाएँ, आधुनिक भाषाएँ, भूगोल, गणित, विज्ञान, स्वास्थ्यरक्षा, कृषि, संगीत, कला, अर्थशास्त्र तथा नागरिक-शास्त्र इत्यादि पढ़ाये जायँगे। दूसरे प्रकार के स्कूलों में व्यावहारिक विज्ञान (Applied Sciences) तथा औद्योगिक और व्यापारिक विषय—जैसे लकड़ी तथा धातु का काम, इंजीनियरिंग, ड्राइंग इत्यादि तथा वाणिज्य के विषय—पुस्तपालन (बुक कीपिंग), शॉर्ट हैंड, टाइप-राइटिंग, एकाउन्टैंसी तथा व्यापार पद्धति इत्यादि पढ़ाये जाँयगे। शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होगा तथा अँग्रेजी अनिवार्य द्वितीय भाषा होगी। लड़कियों के स्कूलों में सामान्य विज्ञान के स्थान पर गृह-विज्ञान पढ़ाया जायगा। हाई स्कूलों में प्रवेश पाने वाले विद्यार्थियों की अवस्था ११+ होगी जबकि उनका जूनियर बेसिक कोर्स समाप्त हो चुका होगा। उनमें प्रत्येक विद्यार्थी १४+ वर्ष की उम्र तक रहेगा। ५० प्रतिशत विद्यार्थी निःशुल्क रहेंगे। योग्य विद्यार्थियों को उच्च अध्ययन को विशेष सुविधायें दी जावेंगी।

(४) चुने हुए विद्यार्थियों के लिए प्रचलित इंटरमीडियेट कक्षाओं के उपरान्त विश्वविद्यालय शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये। इंटर कक्षाओं का उन्मूलन करके उनकी प्रथम वर्ष हाई स्कूल तथा द्वितीय वर्ष डिग्री कक्षा में मिला दी जाय। रिपोर्ट में वर्तमान विश्वविद्यालय शिक्षा के दोषों पर भी प्रकाश डाला गया है। प्रवेश पर नियन्त्रण कर दिया गया है। हाई स्कूल छोड़ने वाले

१५ विद्यार्थियों में से १ को प्रवेश दिया जाय। शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में व्यक्तिगत सम्पर्क बढ़ाना चाहिये। शिक्षकों की दशा, कार्य करने की अवस्थाओं तथा वेतन में सुधार किया जाय। भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में साम्य तथा एक्य उत्पन्न करने के लिये भारतीय 'विश्वविद्यालय अनुदान-समिति' की स्थापना की जाय।

(५) टैक्निकल, वाणिज्य तथा कला-शिक्षा की व्यवस्था की जाय जिसमें पर्याप्त संख्या में पूर्ण सामयिक अर्धसामयिक (Full time & Part time) विद्यार्थी प्रविष्ट किये जाँय। इन उद्योगों के लिये चार श्रेणी के कार्यकर्ताओं की आवश्यकता होगी (१) उच्चतम श्रेणी—इस श्रेणी के विद्यार्थी औद्योगिक हाई स्कूल में शिक्षा पाकर विश्वविद्यालयों के टैक्नोलोजिकल विभागों में प्रवेश करायेंगे। इनके प्रवेश में नियन्त्रण से काम लिया जायगा। (२) निम्न श्रेणी—इसमें फोरमैन, चार्जहैंड इत्यादि शामिल होंगे। औद्योगिक हाई स्कूलों में पास विद्यार्थी इस कार्य को करेंगे। (३) कुशल कारीगर—ये विद्यार्थी सीनियर हाई स्कूल पास करने पर अथवा औद्योगिक हाईस्कूलों में से लिये जाँयगे। (४) अकुशल कारीगर—ये लोग सीनियर बेसिक (मिडिल) स्कूलों में से सीधे भर्ती किये जाँयगे जहाँ उन्होंने कुछ क्राफ्ट का काम सीख लिया हो। पर्याप्त अनुभव के उपरान्त इन्हें कुशल कारीगरों में सम्मिलित किया जा सकता है।

(६) १० वर्ष से ४० वर्ष तक की अवस्था वाले प्रौढ़ों के लिए उचित शिक्षा की व्यवस्था की जाय। यह शिक्षा व्यावसायिक और सामान्य दोनों ही प्रकार की होनी चाहिये। "इस देश में कुछ काल तक प्रौढ़ों की साक्षरता पर जोर देना पड़ेगा, यद्यपि प्रारम्भ से ही उचित प्रौढ़ शिक्षा की भी कुछ न कुछ व्यवस्था ही होनी चाहिये, जिससे साक्षर हुए व्यक्ति अपने अध्ययन को जारी रखने के लिये कुछ आकर्षण तथा सुअवसर पा सकें।" लड़कों और वृद्धों के लिए अलग-अलग कक्षायें हों। स्त्री-प्रौढ़शिक्षा की समस्या पर भी उचित ध्यान दिया जाय।

प्रौढ़ शिक्षा को रुचिप्रद तथा अधिक प्रभावोत्पादक बनाने के लिये चित्रों, मैजिक लैनटर्न, सिनेमा, ग्रामोफून, रेडियो लोकनृत्य, संगीत तथा

अभिनय का उपयोग करना चाहिये इसके अतिरिक्त 'जन पुस्तकालयों (Public Libraries) का आयोजन भी होना चाहिये जिसमें अधिक से अधिक २० वर्ष का समय लगे।

(७) इस शिक्षा-योजना को आगे बढ़ाने के लिये शिक्षकों के प्रशिक्षण की उचित व पूर्ण व्यवस्था की जाय। योजना में बताया गया है कि पूर्व-बेसिक तथा जूनियर बेसिक स्कूलों में प्रति ३० बालकों के लिये १ शिक्षक; सीनियर बेसिक स्कूलों में प्रति २५ बालकों के लिए १ शिक्षक तथा हाई स्कूलों में प्रति २० बालकों के लिये १ शिक्षक की आवश्यकता होगी। इस प्रकार सम्पूर्ण योजना के लिए २२,१७,७३३ शिक्षकों अर्थात् २० लाख अग्रजुएटों और १,८१,३२० ग्रेजुएटों—की आवश्यकता होगी। ग्रजुएटों को ट्रेनिंग-कालेजों में प्रशिक्षण दिया जायगा और अग्रेजुएटों को तीन प्रकार के प्रशिक्षण दिये जाँयगे—पूर्व प्राथमिक शिक्षक, बेसिक शिक्षक तथा हाई स्कूलों के अग्रेजुएट शिक्षक। प्रशिक्षित शिक्षकों के लिये समय-समय पर अभिनवन-पाठ्यक्रम (रिफ्रेशर कोर्स) की भी व्यवस्था आवश्यक है। टेकनिकल तथा कॉमर्शियल शिक्षकों के लिए विशेष ट्रेनिंग कालेजों की आवश्यकता नहीं, क्योंकि ये अपना प्रशिक्षण उद्योगों तथा टैक्निकल संस्थाओं में प्राप्त करेंगे। योग्य व्यक्तियों को आकर्षित करने के उद्देश्य से शिक्षकों के वेतन क्रम में वृद्धि हो।

(८) विद्यार्थियों को स्वस्थ रखने के लिए अनिवार्य शारीरिक शिक्षा तथा उचित डाक्टरी जाँच और आवश्यकतानुसार चिकित्सा की व्यवस्था होनी चाहिये। ६,११ व १४ वर्ष की अवस्था पर बालकों की पूर्ण डाक्टरी जाँच की जाय। उनकी स्वास्थ्यदशा तथा ऊँचाई और वजन का लेखा रहना चाहिये। निरीक्षण के उपरान्त कोई दोष प्रतीत होने पर उचित चिकित्सा की जाय। विद्यार्थियों को भोजन, स्वच्छता तथा व्यायाम आदि पर पुस्तकें मिलनी चाहिए। स्कूल में बैठने के कमरों में स्वच्छता, प्रकाश तथा उपस्कर (फर्नीचर) इत्यादि की उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

(९) मानसिक तथा शारीरिक बाधाओं से पीड़ित बालकों के लिए विशेष शिक्षालयों की व्यवस्था होनी चाहिए। इन दोनों श्रेणियों

में मूढ़ तथा अन्धे, गूँगे, बहरे अथवा अन्य शारीरिक हीनता रखने वाले विद्यार्थी आ जाते हैं।

(१०) रोजगार के कार्यालयों (Employment Bureaux) को खोलना चाहिये।

(११) विनोदात्मक तथा सामाजिक क्रियाओं की शिक्षालयों में व्यवस्था की जाय।

(१२) प्रान्तों तथा केन्द्र में एक सुसंगठित शिक्षा विभाग का संगठन करना चाहिये। इस प्रकार शिक्षा को उन विशेषज्ञों के अधिकार में रखना चाहिये जो कि इसके मर्म को समझते हैं। विश्वविद्यालयों को छोड़कर सम्पूर्ण शिक्षा का संगठन प्रांतों के हाथ में हो। विश्वविद्यालयों के कार्यों का संगठन अखिल भारतीय आधार पर हो।

आलोचना

गुण—संक्षेप में यह सार्जेन्ट योजना है। अन्य प्रगतिशील देशों में शिक्षा के विकास का मानदण्ड देखते हुए यह आवश्यक था कि उनके स्तर पर भारत को लाने के लिये कोई अत्यन्त उन्नत व व्यापक शिक्षा-योजना बनाई जाय। इस उद्देश्य से युद्ध के उपरान्त भारत में शिक्षा-विकास की योजना के रूप में इस योजना का बड़ा महत्त्व है। अब तक बनने वाली सभी योजनाओं से इस योजना का रूप अधिक व्यापक रहा है। शिक्षा-सम्बन्धी प्रायः सभी पक्षों का इसमें विश्लेषणात्मक विवेचन हमें देखने को मिलता है। शिक्षा में अनिवार्यता इत्यादि प्रश्नों को इसने निर्णयात्मक रूप से हल करने का प्रयत्न किया है। बालक के सर्वाङ्गीण तथा स्वतन्त्र विकास के लिये इस योजना में पर्याप्त क्षेत्र है।

इस योजना के प्रणेताओं ने भली भाँति समझ लिया था कि सम्पूर्ण शिक्षा आन्दोलनों का केन्द्र 'शिक्षक' होता है। कोई भी योजना कितनी ही आकर्षक व लाभदायक क्यों न हो यदि उसे कार्यान्वित करने के लिये हमारे पास योग्य, शिक्षित तथा संतुष्ट शिक्षक नहीं हैं तो वह कभी भी सफल नहीं हो सकती। इसी सिद्धांत को दृष्टिगत रखते हुए इस योजना में सभी श्रेणियों—प्राथमिक, माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय—के शिक्षकों के वेतन-क्रम तथा उनकी दशा में सुधार करने पर विशेष जोर दिया है।

इस रिपोर्ट ने वर्तमान भारतीय शिक्षा के प्रमुख दोषों को भी ऊपर लाकर रख दिया है। उदाहरण के लिये योजना में स्वीकार किया गया है कि परीक्षाओं पर आवश्यकता से अधिक ध्यान दिया जाता है इससे विद्यार्थियों में पुस्तकीय संकीर्णता आ जाती है। वे जीवन के व्यक्तिगत अनुभवों और जीवित पाठों को भूलकर एक कल्पित दुनियाँ में विचरण करते रहते हैं। हाईस्कूल शिक्षा को आज तक विश्वविद्यालय शिक्षा का पूरक माना जाता रहा है। हाई स्कूल शिक्षा स्वतःपूर्ण नहीं है। साथ ही विश्वविद्यालयों में भी शिक्षा में योजना का अभाव है। शिक्षकों के प्रशिक्षण की उचित व पर्याप्त व्यवस्था नहीं है, इत्यादि।

दोष—किन्तु साथ ही हम देखते हैं कि यह योजना भी दोषमुक्त नहीं है। इसमें यह कल्पना की गई है कि यदि ४० वर्ष तक इसे कार्यान्वित किया जाय तो भारत में शिक्षा वर्तमान इंगलैंड के स्तर तक आ सकती है। किन्तु इसमें यह भुला दिया गया है कि इन ४० वर्षों में इंगलैंड कितना आगे निकल जायगा, और ऐसी अवस्था में भारत उससे लगभग आधी शताब्दि पिछड़ा रहेगा। साथ ही ४० वर्ष का समय भी बहुत होता है। यह ४० वर्ष इस योजना के अन्तर्गत और छोटे २ भागों में बाँट दिये गये हैं। रिपोर्ट में कहा गया है कि "प्रथम पाँच वर्ष तो योजना बनाने, प्रचार कार्य तथा विशेष रूप से शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिये आवश्यक स्कूल खोलने में लगने चाहिए। उसके उपरांत योजना को सात पंचसाला कार्यक्रमों में विभक्त कर देना चाहिये जिनमें एक-एक क्षेत्र क्रमशः लेना चाहिए। प्रत्येक प्रांत में इन क्षेत्रों की नाप कार्यक्रम के दौरान में कुछ बातों से निर्धारित होगी जिनमें शिक्षकों की पूर्ति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होगी।" इससे प्रतीत होता है कि ४० वर्ष का समय आवश्यकता से अधिक दीर्घ है और भारत अपने शिक्षा के पुनर्निर्माण के लिये इतनी दीर्घ प्रतीक्षा करने की स्थिति में नहीं है। और फिर योजना का परीक्षण एक-एक क्षेत्र के बाद किया जायगा। इसके अतिरिक्त इस योजना में ३१३ करोड़ रुपया प्रति वर्ष लगेगा जिसका २७७ करोड़ जनता-कोष से आवेगा। ऐसी स्थिति में भारत के लिये यह योजना अधिक खर्चीली है।

सार्जेन्ट योजना में ग्रामीण शिक्षा, स्त्री शिक्षा तथा हमारे शिक्षा-संगठन में धार्मिक-शिक्षा का स्थान इत्यादि प्रश्नों पर भी उचित प्रकाश नही डाला गया है और न उनकी उचित व्यवस्था की गई है। विद्यार्थियों के चयन का ढँग भी अवांछनीय है; इससे प्रत्येक विद्यार्थी को उच्च-शिक्षा का सुअवसर नहीं मिलता है।

वर्धा योजना के स्वावलम्बन वाले पक्ष का पूर्ण बहिष्कार कर दिया गया है। साथ ही शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिये उचित व दृढ़ सरकारी मशीनरी का कोई आयोजन नहीं किया गया है। शिक्षा के मानदण्ड के लिये पूर्णतः इंगलैंड को आदर्श मानना भी अवांछनीय है।

योजना की प्रगति

इस प्रकार सार्जेन्ट योजना के गुण और दोषों का विवेचन करने पर प्रतीत होता है कि इसमें दोष होते हुये भी यह योजना एक महान् युग-निर्माणक योजना है। केन्द्रीय सरकार ने इसकी अधिकांश सिफारिशों को मान लिया है और १९४५ ई० में केन्द्रीय शिक्षा विभाग को अलग कर दिया।

१९४४ ई० में केन्द्रीय सरकार ने प्रान्तीय सरकारों से सार्जेन्ट योजना के आधार पर अपने पंचसाला कार्यक्रम बनाने का आदेश दिया; अतः १९४७-५२ ई० के पंचसाला में ऐसी योजनायें बनाई गईं। इस योजना पर कार्य तो १९४६ ई० में ही प्रारम्भ हो गया था। केन्द्र ने आर्थिक सहायता के रूप में १९४७-४८ ई० में ४० करोड़ रुपया देना स्वीकार कर लिया। इन प्रान्तीय पंचसाला-योजनाओं में शिक्षकों की वेतन-दर में सुधार, निशुल्क अनिवार्य बेसिक शिक्षा जो कि ६-११ वर्ष के बच्चों पर लागू होगी और आगे चलकर ११-१४ तक बढ़ादी जायगी, विश्वविद्यालय शिक्षा का सुधार, टैकनिकल तथा प्रौढ़-शिक्षा के लिये विशेष सुविधा तथा वैज्ञानिक अनुसंधान के लिये विशेष आयोजन, इत्यादि सम्मिलित हैं। साथ ही ४० वर्ष का समय भी घटा कर १६ वर्ष कर दिया गया था।

इसके अतिरिक्त इस रिपोर्ट के आधार पर 'अखिल-भारतीय टैकनिकल शिक्षा समिति' का निर्माण हो चुका है और भारत की राजधानी में एक 'पौलीटैकनिक कालेज' भी खुल गया है। १९४५ ई० में शिक्षा ब्यूरो तथा १९४६ ई० में 'विश्वविद्यालय अनुदान समिति' का निर्माण हो चुका है। भारतीय विद्यार्थियों की विदेशों में शिक्षा का प्रश्न केन्द्रीय शिक्षा विभाग के अन्तर्गत आ गया है।

(३) माध्यमिक शिक्षा की प्रगति (१९३७—५५ ई०)

१९३७ ई० के उपरान्त माध्यमिक शिक्षालयों तथा उनमें अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। प्रान्तीय सरकारों का ध्यान प्राथमिक शिक्षा में सुधार तथा विकास करने के साथ ही साथ माध्यमिक

शिक्षा की ओर भी गया। इधर जनता में भी माध्यमिक शिक्षा, विशेषतः अँग्रेजी शिक्षा की ओर भी अधिक माँग होने के कारण संख्या में वृद्धि होने लगी। किन्तु जन-प्रिय सरकारों के त्याग-पत्र तथा युद्ध की कठिनाइयों ने माध्यमिक शिक्षा की प्रगति को भी रोका और संख्या में वृद्धि होने की अपेक्षाकृत भी अनुपात में कोई सराहनीय वृद्धि नहीं हुई। सन् १९३६-३७ ई० में संयुक्त भारत में माध्यमिक स्कूलों की संख्या १३,०५६ से घट कर विभाजित भारत में १९४७ ई० में ११,९०७ रह गई। शेष पाकिस्तान में चले गये। गत दशकों में माध्यमिक शिक्षा दुगुनी होती गई थी, किन्तु इस दशक में ऐसा न हो सका। इस धीमी प्रगति के दो प्रमुख कारण हैं: एक तो प्राथमिक शिक्षा के विकास में अवरोधन और दूसरा युद्ध के कारण उत्पन्न हुई आर्थिक कठिनाइयाँ। युद्धकाल में मध्यवर्ग के आर्थिक संकट में रहने के कारण भी विद्यार्थियों की संख्या में कमी हुई, क्योंकि इसी वर्ग में से अधिकांश विद्यार्थी माध्यमिक शिक्षा के लिये आते थे। शिक्षा का व्यय बढ़ जाने से निर्धन वर्ग के विद्यार्थियों के लिये तो माध्यमिक शिक्षा विलास की वस्तु बन गई।

हाँ, इतना अवश्य है कि युद्ध की समाप्ति पर पुनः देश में शिक्षा का विकास होने लगा। इधर १९४७ ई० में भारत की स्वतन्त्रता के साथ ही साथ देश में माध्यमिक शिक्षा में पुनः एक नया जीवन आगया है। प्राथमिक जन-शिक्षा का प्रसार होने के कारण समाज में माध्यमिक शिक्षा की भी माँग बढ़ने लगी। इधर कस्बों तथा गाँवों में भी माध्यमिक स्कूल खुलने से जो। शिक्षा अब तक कृषक बालकों के लिये अलभ्य थी वह आकर स्वयं उनका द्वार खट-खटाने लगी। राजनैतिक तथा सामाजिक जागृति के कारण स्त्री-शिक्षा का भी प्रचार बढ़ा। फलतः लड़कियों के माध्यमिक स्कूलों की संख्या में संतोषजनक वृद्धि हुई है। अछूतों, आदिवासियों तथा पिछड़ी हुई जातियों में भी माध्यमिक शिक्षा का प्रचार बढ़ गया है। शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होने के कारण भी शिक्षा को प्रोत्साहन मिला है।

'यू० पी० अनएम्प्लोयमेन्ट इन्कायरी कमेटी' ने माध्यमिक शिक्षा का पुनर्संगठन करने को सिफारिश की थी। इस समय तक यह भली भाँति विदित होगया था कि हमारी प्रचलित माध्यमिक शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य केवल विश्वविद्यालयों में प्रवेश कराने के लिये मैट्रिक परीक्षा के लिये विद्यार्थियों को तैयार करना है। माध्यमिक शिक्षा स्वयं अपने आप में एक स्वतंत्र इकाई नहीं थी। ऐसी अवस्था में इसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन करना अनिवार्य था।

१६३८ ई० में बम्बई सरकार ने माध्यमिक शिक्षा के पुनर्संगठन के लिये एक समिति बनाई जिसने चार वर्ष का पाठ्यक्रम तैयार किया। यह कार्यक्रम ७ वर्ष के एक प्राथमिक पाठ्यक्रम के उपरान्त काम में लाये जाने को था। यह चार वर्ष का कार्यक्रम विज्ञान तथा साधारण पाठ्यक्रमों में बाँट दिया गया था। ये दोनों पाठ्यक्रम आगे चलकर ३ भागों में बाँट दिये गये। साधारण ग्रुप के अन्तर्गत (१) साहित्यिक (२) कलात्मक तथा (३) वाणिज्य के पाठ्यक्रय थे। तथा वैज्ञानिक ग्रुप के अन्तर्गत (१) कृषि, (२) व्यावसायिक तथा टैकनोलॉजिकल और (३) वैज्ञानिक तथा व्यावसायिक पाठ्यक्रम थे। साहित्यिक पाठ्यक्रम के अतिरिक्त प्रत्येक पाठ्यक्रम में कुछ प्रयोगात्मक शिक्षण दिया जाने को था। यह सब पाठ्यक्रम चार वर्ष का था जो हाईस्कूल के समान था। इस प्रकार यह एक उन्नत योजना थी।

इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश में १६३६ ई० में आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में एक 'प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा पुनर्संगठन समिति' (Primary and Secondary Education Reorganisation Committee) की स्थापना की गई। बंगाल और देहली में भी इसी प्रकार की समितियाँ स्थापित हुईं।

आचार्य नरेन्द्रदेव समिति यू० पी० (१६३६ ई०)

नियुक्तिः— यू० पी० सरकार ने प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा के पुनर्संगठन के लिये एक समिति नियुक्त की, जिसने १६३६ ई० में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। समिति के अन्य प्रमुख सदस्यों में श्री केन, धूलेकर कुमारी विलियम्स, श्रीमती उमा नेहरू, आचार्य जुगलकिशोर, श्री वीयर, मुहम्मद इस्माइलखाँ, बेगम अजीजुल रसूल, श्री आर० ऐस० पंडित, श्री राम उग्रहसिंह तथा डा० जाकिर हुसैन इत्यादि थे। प्राथमिक शिक्षा पर अपनी रिपोर्ट देने के उपरांत समिति ने माध्यमिक शिक्षा पर अपनी रिपोर्ट तथा सुझाव दिये। इन्हें संक्षेप में नीचे दिया जा रहा है।†

सिफारिशें:—

१. वर्तमान शिक्षा पद्धति में यह दोष है कि इसमें जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था नहीं है। तथा जनता के विभिन्न हितों के लिये रोजगार की समस्या को हल करने की कोई भी व्यवस्था इस शिक्षा में नहीं है।

---

† *Report U. P. Primary and Secondary Education Re-Organisation Committee*, 1939, pp. 129-33.

२. माध्यमिक शिक्षा विश्वविद्यालय शिक्षा की पूरक मात्र समझी जाती है।
३. माध्यमिक शिक्षा पद्धति पूर्ण और ठोस होनी चाहिए; पाठ्यक्रम स्वतःपूर्ण और स्वतन्त्र इकाई हों।
४. माध्यमिक शिक्षा १२ वर्ष से १८ वर्ष तक रहेगी।
५. सभी माध्यमिक शिक्षा संस्थायें 'कालेज' कहलायेंगी, जिनका मानदंड वर्तमान इंटर कालेजों से भी कुछ ऊँचा रहेगा।
६. इन कालेजों के प्रथम दो वर्षों का पाठ्यक्रम बेसिक स्कूलों की दो उच्चतम कक्षाओं के समान होगा। क्राफ्ट पर कम जोर दिया जा सकता है। अँग्रेजी अनिवार्य विषय रहेगी।
७. पाठ्यक्रम में निम्नलिखित विषय होंगे :—
   (क) भाषा, साहित्य तथा सामाजिक विज्ञान।
   (ख) प्राकृतिक विज्ञान और गणित।
   (ग) कला।
   (घ) वाणिज्य।
   (ङ) टैकनिकल और व्यावसायिक विषय।
   (च) गृह-विज्ञान (लड़कियों के लिए)।
८. प्रवेश दो बार हो सकेगा : बेसिक प्राथमिक शिक्षा के बाद और ७ वर्ष के पाठ्यक्रम के उपरांत।
९. 'हाईस्कूल' और 'इंटरमीडियेट' शब्दों को हटा दिया जाय।
१०. शिक्षा का माध्यम हिन्दुस्तानी हो।
११. पाठ्यक्रम बनाने के लिए विशेषज्ञ बुलाये जाँय। यह पाठ्यक्रम व्यावहारिक तथा वास्तविक हो एवं देश और काल की आवश्यकताओं का प्रतीक हो।
१२. अँग्रेजी अनिवार्य हो शारीरिक विज्ञान तथा सामान्य ज्ञान अन्य अनिवार्य विषय होंगे।
१३. प्रत्येक प्रकार के कालेज खोलने के लिये 'सलाहकार बोर्ड' स्थापित कर दिये जाँय, जो कि पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में सरकार को सलाह दें, प्रयोगात्मक प्रशिक्षण की व्यवस्था करें तथा उद्योग-धन्धों और व्यापार से इन कालेजों के लिये कोष इकट्ठा करें।
१४. लड़कियों के लिये गृह-विज्ञान के कालेज खोले जाँय।

१५. अच्छे पुस्तकालयों की व्यवस्था प्रत्येक कालेज में हो।

१६. विद्यार्थियों के चरित्र सुधार के लिये तथा उनमें नागरिकता, प्रजातन्त्र आत्म-निर्भरता, नेतृत्व तथा सामाजिक-न्याय की भावनाओं का संचार करने के लिये अतिरिक्त-कार्यक्रमों (Extra-Curricular Activities) का सङ्गठन करना चाहिये;—जैसे, स्काउटिङ्ग, वादविवाद सभा, अभिनय शालायें, समाज-सेवा, सहकारी समितियाँ तथा उपभोक्ता भण्डार एवं अन्य विषयों सम्बन्धी परिषदें इत्यादि। इन कार्यों पर पुस्तकीय शिक्षण के समान ही जोर दिया जाना चाहिये।

इन सिफारिशों के अतिरिक्त 'नरेन्द्रदेव समिति' ने स्त्री-शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा, शिक्षकों का प्रशिक्षण तथा उनकी दशा में सुधार, शिक्षकों के लिये नौकरी का सम्विदा-पत्र (ऐग्रीमेन्ट फार्म), पाठ्य पुस्तकों में सुधार, परीक्षा-प्रणाली तथा शिक्षा सङ्गठन में सुधार और अनुशासन इत्यादि के विषय में भी अपने विचार प्रकट किये और सुधार के लिये रचनात्मक सुझाव रक्खे। समिति ने प्रान्त में एक 'केन्द्रीय पैडागॉजिकल इन्स्टीट्यूट', जिसके साथ में पुस्तकालय व वाचनालय भी हों, की स्थापना की भी सिफारिश की।*

युद्ध के उपरान्त

इसके अतिरिक्त भी भिन्न भिन्न प्रान्तों तथा केन्द्रीय सरकार ने अन्य समितियाँ नियुक्त कीं। प्रायः सभी ने राय दी कि हाईस्कूल का पाठ्यक्रम बहुमुखी कर दिया जाय जिनमें से एक का उद्देश्य विश्वविद्यालय शिक्षा हो। इन्टर कक्षाओं को हटाकर ११ वीं कक्षा को हाई स्कूल के साथ जोड़ दिया जाय तथा १२ वीं कक्षा को डिग्री कक्षा में जोड़ कर उसका पाठ्यक्रम ३ वर्ष का कर दिया जाय। माध्यमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम ६ वर्ष का कर दिया जाय, जो कि ५ वर्ष के प्राथमिक अध्ययन के उपरान्त कक्षा ६ से ११ तक रहे। कक्षा ८ के उपरान्त, अर्थात् ८ वर्ष अध्ययन करने के बाद पाठ्यक्रम में विभिन्नता कर दी जाय। कक्षा ८ तक प्रायः सभी विषय संक्षेप में अनिवार्यतः पढ़ाये जाँय, जिससे ९ वीं कक्षा में विद्यार्थी अपनी रुचि के अनुसार किसी भी विषय को चुन सकें। ९ वीं कक्षा से व्यावसायिक विषय भी प्रारम्भ कर दिये जाँय।

वास्तव में उपर्युक्त योजना को 'सप्रू कमेटी' ने बनाया था, किन्तु बाद में इसका समर्थन अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड, केन्द्रीय-सलाहकार बोर्ड, तथा

* *Report* (1939) p. 147

केन्द्रीय सरकार ने भी किया। इसी का पालन सर्वप्रथम दिल्ली राज्य में और तत्पश्चात् उत्तर-प्रदेश में किया गया है। दिल्ली में सभी हाईस्कूलों को हायर सैकिण्डरी (उच्चतर माध्यमिक) स्कूल कर दिया गया है, जिनका सङ्गठन ११ वीं कक्षा तक है। उत्तर प्रदेश में भी इसी प्रकार परीक्षण किया जा रहा है, जिसके अनुसार कक्षा १ से ५ तक प्राथमिक शिक्षा, ६ से ८ तक जूनियर हाईस्कूल तथा ६ से १२ तक उच्चतर माध्यमिक स्कूल स्थापित किये जा रहे हैं। सभी हाई स्कूल अब हायर सैकिन्डरी स्कूल कहलाने लगे हैं और प्रतिवर्ष क्रमशः कुछ हाई स्कूलों को ११ वीं कक्षायें खोलने की सरकार द्वारा अनुमति मिल जाती है। राजकीय हाई स्कूलों को भी उच्चतर माध्यमिक शिक्षालयों में परिवर्तित किया जा रहा है। इस परीक्षण के परिणामों तथा प्रगति को शिक्षा-विशेषज्ञ रुचि पूर्वक देख रहे हैं।

सार्जेन्ट की युद्धोत्तर शिक्षा-विकास योजना के प्रकाश में भी विभिन्न राज्यों में माध्यमिक शिक्षा का पुनर्सङ्गठन हुआ है, जिसका वर्णन पीछे किया जा चुका है।

सन् १९४८ ई० में भारत सरकार ने माध्यमिक शिक्षा के विषय में एक समिति की स्थापना की थी, जिसकी रिपोर्ट पर केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड की १९४९ ई० की इलाहाबाद की बैठक में विचार किया गया था। इसके अनुसार निश्चय हुआ कि डिग्री कक्षाओं में प्रवेश पाने से पूर्व विद्यार्थी को ४ वर्ष का माध्यमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम पूरा कर लेना चाहिये। सीनियर बेसिक कक्षाओं में राष्ट्रभाषा अनिवार्य करदी जाय तथा उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में यह वैकल्पिक रहे। विश्वविद्यालयों में भी अँग्रेजी के माध्यम के समाप्त हो जाने पर राष्ट्रभाषा को अनिवार्य कर दिया जायगा। इसके अतिरिक्त माध्यमिक स्कूल बहुमुखी (Multilateral) होने चाहिये; किन्तु स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार एक मुखी (Unilateral) स्कूलों को भी प्रोत्साहन मिलना चाहिये। माध्यमिक शिक्षा के उपरान्त एक परीक्षा होगी। विश्वविद्यालय अपने प्रवेश के लिये स्वतन्त्र नियम बना सकते हैं। योग्य व मेधावी छात्रों को आर्थिक सहायता मिलनी चाहिये। माध्यमिक शिक्षालयों में विद्यार्थियों के सामाजिक जीवन के सुधार के लिये अन्य हितकारी संस्थायें तथा परिषदों की स्थापना करनी चाहिये। इन शिक्षालयों के शिक्षकों की दशा तथा वेतनक्रम के विषय में समिति ने वही सिफारिशें स्वीकार करलीं जो कि केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड ने रक्खी थीं। अन्त में, माध्यमिक शिक्षा पर प्रान्तीय

अधिकारियों को परामर्श देने के लिये एक प्रान्तीय बोर्ड की स्थापना की भी सिफारिश की गई।

माध्यमिक शिक्षा कमीशन १९५२ ई०

नियुक्ति—केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने जनवरी, १९४८ ई० के अपने १४ वें अधिवेशन में देश में माध्यमिक शिक्षा की प्रचलित पद्धति की जाँच करके उसके सुधार तथा पुनर्सङ्गठन के लिये एक कमीशन स्थापित करने की सिफारिश की थी। जनवरी, १९५१ में इस बोर्ड ने पुनः अपनी इस माँग को दुहराया। माध्यमिक शिक्षा के महत्व को सरकार ने भी स्वीकार किया। प्राथमिक, विश्वविद्यालय तथा औद्योगिक शिक्षा के क्षेत्र में गत वर्षों में पर्याप्त पर्यवेक्षण हो चुका था, किन्तु इस प्रकार का कोई प्रयत्न अखिल भारतीय स्तर पर माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में नहीं हुआ था। वस्तुतः यह एक ऐसी स्टेज है जिस पर आकर देश के अधिकांश विद्यार्थी अपनी शिक्षा को समाप्त कर देते हैं। साथ ही हाईस्कूल पास विद्यार्थी ही प्राथमिक स्कूलों के शिक्षक बनते हैं अथवा विश्वविद्यालयों में जाकर विद्याध्ययन करते हैं। ऐसी स्थिति में माध्यमिक शिक्षा, प्राथमिक एवं विश्वविद्यालय दोनों स्तरों पर शिक्षा के मानदण्ड को प्रभावित करती है। इन्हीं बातों को दृष्टिगत रखते हुए भारत सरकार ने २३ सितम्बर, १९५२ को 'माध्यमिक शिक्षा कमीशन' की नियुक्ति की।

इस कमीशन के अध्यक्ष मद्रास विश्वविद्यालय के उप कुलपति डा० लक्ष्मणस्वामी मुदलियार नियुक्त किये गये। यही कारण है कि इसे 'मुदलियार कमीशन' के नाम से भी पुकारा जाता है। इस कमीशन से माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में निम्नलिखित विषयों पर अपनी रिपोर्ट व सिफारिशें देने को कहा गया :—†

"(क) भारत में वर्तमान माध्यमिक शिक्षा की स्थिति की प्रत्येक दृष्टिकोण से जाँच करके उस पर रिपोर्ट देना; तथा

(ख) इसके पुनर्संगठन व सुधार के विषय में विशेषतः नीचे लिखी बातों के सम्बन्ध में सुझाव देना :—

(१) माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य, संगठन, तथा विषयवस्तु;

(२) प्राथमिक, बेसिक तथा उच्च शिक्षा से इसका सम्बन्ध;

(३) विभिन्न प्रकार के माध्यमिक स्कूलों का अन्तर्सम्बन्ध; तथा

(४) अन्य तत्सम्बन्धी समस्यायें।

---

† *Report of the Secondary Education Commission*, p. 2.

जिससे कि सम्पूर्ण देश के लिये हमारी आवश्यकताओं व साधनों के अनुरूप ही एक सुदृढ़ व यथासम्भव समन्वित माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था की जा सके।"

इस कमीशन ने सारे देश का भ्रमण किया और प्रत्येक स्थान पर शिक्षा समस्याओं का अध्ययन करने के उपरान्त २६ अगस्त, १९५३ को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट पर ६ व १० नवम्बर, १९५३ को दिल्ली में 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड' ने विचार किया। बोर्ड ने अपने अध्यक्ष को एक ऐसी समिति बनाने का अधिकार दे दिया जो कि इन सिफारिशों की जाँच करके उनको शीघ्र ही कार्यान्वित करने के लिए अपने सुझाव दे। फरवरी, १९५४ में समिति के सुझावों पर विचार हुआ। इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा कमीशन की सिफारिशों को भारत सरकार ने यथावत् मान लिया है।

सिफारिशें—कमीशन की प्रमुख सिफारिशों को हम यहाँ संक्षेप में देते हैं:—

(१) माध्यमिक स्तर की शिक्षा चार या पाँच वर्ष की प्राथमिक या जूनियर बेसिक शिक्षा के उपरान्त प्रारम्भ होनी चाहिए। इसमें सभी विभिन्न पाठ्यक्रम, जैसे; भाषा, सामाजिक विषय, सामान्य विज्ञान तथा हस्तकला सम्मिलित होने चाहिए। पाठ्य-पुस्तकों का चयन एक शक्तिशाली समिति को सौंप देना चाहिए। विद्यार्थियों को अपने विषयों के चुनने के लिए पथ-प्रदर्शन व उचित सलाह प्राप्त करने का सुअवसर प्रदान करना चाहिए।

(२) शिक्षा का माध्यम मातृभाषायें हो, साथ ही राष्ट्रभाषा तथा एक विदेशी भाषा भी मिडिल स्कूल स्तर पर पढ़ाई जानी चाहिये।

(३) वर्ष में २०० से कम कार्य-दिवस न होने चाहिए। प्रति सप्ताह प्रत्येक घंटा ४५ मिनट के हिसाब से ३५ घंटे अध्ययन होना चाहिए।

(४) परीक्षा में उत्तीर्ण करने तथा ऊपर की कक्षा में विद्यार्थी को चढ़ाने के लिए वर्ष भर कक्षा में किए गए कार्य पर भी विचार करना चाहिए।

(५) टैकनीकल शिक्षा को नीचे के स्तर पर ही प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से बहुउद्देशीय (Multipurpose) स्कूलों की स्थापना की जाय।

(६) माध्यमिक शिक्षकों तथा ग्रेजुएट शिक्षकों की ट्रेनिंग होनी चाहिए। शारीरिक-शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।

(७) माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण बोर्ड तथा राज्य शिक्षा सलाहकार बोर्डों की स्थापना होनी चाहिए। प्रशासन को अधिक कार्यक्षम बनाने के लिए केन्द्रीय तथा राज्य समितियों की संयुक्त बैठकें होनी चाहिए और इस प्रकार उनके कार्यक्रमों में समन्वय स्थापित होना चाहिए। तथा शिक्षा संचालन विभाग में अत्यन्त योग्य व विशेषज्ञ व्यक्तियों की ही नियुक्ति होनी चाहिये।

(८) प्रत्येक स्कूल में एक प्रबन्धक बोर्ड हो जो कि 'कम्पनी अधिनियम' के अन्तर्गत रजिस्टर्ड होना चाहिए। प्रत्येक स्कूल का प्रधानाध्यापक इस बोर्ड का पदेन (Ex-officio) सदस्य होना चाहिए।

(९) स्कूल का भवन पर्याप्ततः स्वच्छ व हवादार हो जिसमें अच्छे क्रीड़ास्थल भी हों।

(१०) कृषि, उद्योग, व्यापार तथा नागरिकता में प्रशिक्षण देने के हित में केन्द्रीय सरकार को चाहिए कि वह माध्यमिक शिक्षा के वित्त के लिए साधन उपलब्ध करावे।

इन सिफारिशों के अतिरिक्त कमीशन ने पुस्तकालयों की स्थापना, विद्यार्थियों में फैली हुई अनुशासनहीनता को रोकने, स्वेच्छा या माँ-बाप की आज्ञा से आंशिक रूप से धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने, विद्यार्थियों के स्वास्थ्य में सुधार करने तथा उनमें आत्म-निर्भरता व नागरिकता के गुणों का समावेश करने, परीक्षा-प्रणाली में सुधार करने, शिक्षकों की दशा में सुधार करने, स्कूलों की आर्थिक दशा तथा प्रबन्ध व संगठन इत्यादि में सुधार करने के उद्देश्य से भी बड़े रचनात्मक व व्यावहारिक सुझाव रक्खे।

आलोचना

माध्यमिक शिक्षा कमीशन की सिफारिशों को देखने से प्रतीत होता है कि रिपोर्ट के अन्तर्गत माध्यमिक शिक्षा की प्रायः सभी मौलिक समस्याओं पर विचार करके उन्हें हल करने का प्रयास किया गया है। अब तक नियुक्त होने वाले सभी कमीशनों से भी अधिक वास्तविक व व्यावहारिक सुझाव हमें

इसमें देखने को मिलते हैं।† माध्यमिक शिक्षा के अन्तर्गत चले आने प्रमुख दोषों: जैसे; पुस्तकीय व साहित्यिक ज्ञान का प्राधान्य, व्यावसायिक व औद्योगिक शिक्षा का अभाव, परीक्षा-प्रणाली के दोष, प्रबन्ध समितियों तथा संगठन सम्बन्धी दोष एवं शिक्षकों की उपेक्षा व उनके प्रशिक्षण सम्बन्धी कठिनाइयाँ इत्यादि को कमीशन ने भली भाँति सुलझाने का प्रयास किया है।

बहुउद्देशीय माध्यमिक स्कूलों की स्थापना एक अत्यन्त ही मौलिक सुझाव है, जिससे पर्याप्त सुधार की सम्भावना है। कमीशन के मतानुसार हमारे माध्यमिक स्कूलों को 'एक मार्गीय' (Single-track) स्कूल नहीं होना चाहिये, वरन् उन्हें विभिन्न प्रकार की प्रतिभा, विभिन्न रुचियों तथा विभिन्न आकांक्षाओं वाले विद्यार्थियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बहुउद्देशीय स्कूल होना चाहिये। ‡ कृषि तथा उद्योगों का विकास भारत की एक प्रमुख समस्या है। ऐसी स्थिति में माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में इनके शिक्षण पर बल देकर कमीशन ने सराहनीय कार्य किया है।

परीक्षा पद्धति के सुधार करने के विषय में कमीशन का मत है कि, "यदि परीक्षाओं का कुछ वास्तविक लाभ है तो उन्हें नवीन तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए

† "Many piecemeal reforms and improvements have been introduced from time to time.........but they were, not coherently and conciously related to the right aims and objectives and, therefore, their total impact on the system was unimpressive. What is neecssary now—and this is what we are anxious to ensure—is to take bold and far-sighted measures to give a new orientation to secondary education as a whole in which all these individual reforms may find their proper and intregrated place." *Report of Secondary Education Commission* P. 23.

‡ "The whole modern approach to this question is based on the insight that the intellectual and cultural development of different individuals takes place best through a variety of media, that the book or the study of traditional academic subjects is not the only door to the education of the personality and that in the case of many—perhaps a majority—of the children practical work intellegently organised can unlock their latent energies much more successfully than the traditional subjects which address themselves only to the mind or, worse still, the memory." *Ibid* P, 39.

विद्यार्थियों के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास की परीक्षा लेनी होगी।" वर्तमान परीक्षा विधि से तो परीक्षार्थियों की मानसिक परीक्षा भी नहीं ली जा सकती। यह परीक्षा पद्धति परीक्षक की इच्छा पर इतना अधिक उत्तरदायित्व छोड़ देती है कि वह पूर्णांश में विश्वस्त नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में वर्ष भर में किये गये विद्यार्थी के कक्षा-कार्य पर बल देना अत्यन्त ही उचित व आवश्यक सिफारिश है। कमीशन के मतानुसार वाह्य-परीक्षायें अधिक नहीं होनी चाहिये। निबन्धात्मक प्रकार की परीक्षाओं की बुराई को अधिक से अधिक मिटा देना चाहिये। इसके लिये मूर्त-परीक्षाओं (Objective Tests) की सिफारिश की गई है। परीक्षाओं में प्रश्न ऐसे होने चाहिये जो कि विद्यार्थियों में रटने की प्रवृत्ति को महत्त्व न दें। इसी प्रकार की सिफारिशें आन्तरिक परीक्षाओं के सुधारने की भी की गई हैं।

शिक्षकों की दशा में सुधार करने की दृष्टि से कमीशन ने स्वीकार किया है कि "शिक्षा के प्रस्तावित पुनर्संगठन के लिए सबसे महत्वपूर्ण साधन है शिक्षक —उसके व्यक्तिगत गुण, उसकी शैक्षिक योग्यतायें, उसका व्यावसायिक प्रशिक्षण तथा वह स्थान जो कि स्कूल या समाज में उसे मिला हुआ है।" ऐसी स्थिति में कमीशन का मत है कि, "यदि शिक्षकों के वर्तमान क्षोभ तथा निराशा की भावना को हटाना है तथा शिक्षा को एक वास्तविक राष्ट्र-निर्माणक कार्य बनाना है तो यह नितान्त आवश्यक है कि उनकी दशा में सुधार किया जाय और नौकरी की दशा सुधारी जाय।" †

इन दशाओं में सुधार करने लिए कमीशन ने व्यावहारिक सुझाव दिए हैं। अन्त में स्कूलों के पुनर्संगठन तथा प्रबन्ध समितियों के सुधार के लिए भी कमीशन के सुझाव बड़े लाभदायक हैं। यदि उपर्युक्त सुझावों के आधार पर भारत में माध्यमिक शिक्षा का पुनर्निर्माण किया जाता है, तो निःसंदेह उसके बहुत से दोषों के दूर हो जाने की सम्भावना है।

इन गुणों के अतिरिक्त कमीशन की सिफारिशों में कुछ दोष भी रह गये हैं, जिन पर संक्षेप में दृष्टि डाल लेना समीचीन होगा। वास्तव में इस कमीशन ने पूर्व-स्थित माध्यमिक शिक्षा को ही सुधार करके उसे देश की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने की चेष्टा की है। किन्तु इस क्षेत्र में तो क्रान्तिकारी परिवर्तनों की आवश्यकता थी। परीक्षा-प्रणाली में सुधार, पाठ्यक्रम के बहुउद्देशीय बनाने, शिक्षकों की दशा में सुधार करने तथा व्यक्तिगत प्रबन्ध समितियों के सुधार के सम्बन्ध में कमीशन से सुझाव परम्परागत ही हैं। उनके द्वारा इन क्षेत्रों के मौलिक दोषों का उन्मूलन

† *Report*, Secondary Education Commission, p. 163.

नहीं हो सकेगा। शिक्षा के नियन्त्रण के विषय में दी हुई कमीशन की सिफारिशें बड़ी निर्जीव व परम्परागत हैं। वास्तव में माध्यमिक शिक्षा अविलम्ब ही राज्य के नियन्त्रण में आनी चाहिये। यह बात निर्विवाद है कि प्रबन्ध समितियों के अन्तर्गत फैली हुई अनियमितताओं के कारण आज माध्यमिक शिक्षा को बड़ी क्षति पहुँच रही है। इनको दूर करने का एक मात्र उपाय है माध्यमिक शिक्षा का राष्ट्रीयकरण।

इनके अतिरिक्त कमीशन ने स्त्री-शिक्षा को पर्याप्त महत्व नहीं दिया है। शिक्षकों के प्रशिक्षण सम्बन्धी सुझाव भी अधिक मौलिक नहीं है। अन्तः में केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य सरकारों को माध्यमिक शिक्षा के सुधार के लिए दिये जाने वाले आर्थिक व वित्तीय अनुदानों के विषय में भी कमीशन के सुझाव बड़े अपर्याप्त हैं।

इन सब दोषों की अपेक्षाकृत भी हम देखते हैं कि कमीशन के कुछ सुझाव अत्यन्त लाभकारी हैं और भारत में माध्यमिक शिक्षा के सुधार तथा पुनर्संगठन के लिए अपना महान् महत्व रखते हैं।

वर्तमान प्रगति

स्वतन्त्रता की प्राप्ति के उपरान्त देश में प्राथमिक शिक्षा का इतना व्यापक प्रचार होता जा रहा है कि उसका प्रभाव माध्यमिक शिक्षा के प्रसार पर पड़ना भी स्वाभाविक है। फलतः गत वर्षों में देश में माध्यमिक शिक्षालयों में बड़ी वृद्धि हुई है। शिक्षालयों से भी अधिक वृद्धि हुई है उनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या में। धन के अभाव तथा योग्य व प्रशिक्षित शिक्षकों के अभाव में स्कूलों की संख्या तो इतनी नहीं बढ़ सकी, किन्तु माध्यमिक शिक्षा की माँग भारत के नगरों, ग्रामीण क्षेत्रों और यहाँ तक आदिवासी क्षेत्रों में भी बढ़ जाने से पूर्ण स्थित स्कूलों में प्रत्येक कक्षा में विद्यार्थियों की संख्या लगभग गत दस वर्षों में दो गुनी हो गई है।

सन् १९४८ ई० में भारत के बड़े-बड़े राज्यों में मिडिल और हाई स्कूलों को मिलाकर माध्यमिक स्कूलों की कुल संख्या १२,६९३ थी। सन् १९५३ में यही संख्या बढ़कर १८,४९७ अर्थात् पहिली संख्या की ड्योढ़ी हो गई थी। केवल हाई स्कूलों की संख्या में भी इस दौरान में ७७% की वृद्धि हुई है। ३१ मार्च, १९५३ को सम्पूर्ण देश में मिडिल स्कूलों की संख्या १५,२३२ तथा हाई स्कूलों कीसंख्या ८,६३३ थी।

प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त विद्यार्थी को तुरन्त ही रोजगार मिलने की सम्भावना नहीं होती। किन्तु हाई स्कूल पास करने पर कुछ रोजगार

मिलने की सम्भावना बढ़ जाती है। यही कारण है कि हाई स्कूलों में विद्यार्थियों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हो रही है। सन् १९४८ ई० में मिडिल स्कूलों तथा हाई स्कूलों में विद्यार्थियों की संख्या क्रमशः ११,६७,२८३ तथा १७,८६,७१२ थी। यही संख्यायें १९५३ ई० में क्रमशः १५,२१,९०३ तथा २९,१२,२३२ हो गई थीं। इससे प्रकट होता है कि स्वतन्त्रता के प्रथम छः वर्षों में मिडिल स्कूलों तथा हाई स्कूलों में विद्यार्थियों के प्रवेश की संख्या में क्रमशः लगभग ३०% व ६०% की अभिवृद्धि हुई है। यदि इन संख्याओं में छोटे राज्यों के विद्यार्थियों की संख्या को भी मिला दिया जाय तो सम्पूर्ण भारत में माध्यमिक स्कूलों में पढ़ने वाले सभी प्रकार के स्कूलों में ३१ मार्च, १९५३ को विद्यार्थियों की संख्या ५९,०६,६६६ थी।

जहाँ तक व्यय का प्रश्न है हम देखते हैं कि १९४८ में बड़े राज्यों में माध्यमिक स्कूलों पर प्रत्यक्ष व्यय १३ करोड़ ४८ लाख रुपया था। १९५३ में यह धन-राशि २८ करोड़ ६८ लाख अर्थात् ६ वर्ष में दो गुनी हो गई। ३१ मार्च, १९५३ को सम्पूर्ण देश में माध्यमिक शिक्षा पर कुल व्यय ३६ करोड़ ८५ लाख रुपया था।

ये आँकड़े बढ़े हुए होने की अपेक्षाकृत भी कभी भी सन्तोषजनक नहीं कहे जा सकते। जब हम देश की विशालता और जनसंख्या के आकार का ध्यान करते हैं तो ये संख्यायें बड़ी न्यून प्रतीत होती हैं। तथापि इतना तो कहा ही जा सकता है कि माध्यमिक शिक्षा प्रगति-पथ पर है।

७ फरवरी, १९५४ को 'केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड' ने अपने २१ वें वार्षिक अधिवेशन में माध्यमिक शिक्षा कमीशन की रिपोर्ट पर विचार करने वाली समिति की रिपोर्ट पर विचार किया। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री ने निम्नलिखित ३ बातें स्वीकार कीं :—

(१) माध्यमिक शिक्षा को इस एकार ढाला जाना चाहिये कि अधिकांश विद्यार्थियों के लिये यह एक पूर्ण-शिक्षा हो सके। यह केवल विश्वविद्यालयों के प्रवेश पाने के लिये ही न होकर, स्वयं अपने आप में एक पूर्ण स्टेज हो।

(२) इसका रूप व विषय-वस्तु ऐसे होने चाहियें कि यह विभिन्न प्रकार की रुचियों वाले विद्यार्थियों के विभिन्न समूहों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। इसे लोहे के ढाँचे में जकड़ नहीं देना चाहिये; तथा

(३) हमने बेसिक शिक्षा को प्रारम्भिक स्तर के लिये शिक्षा का आधार चुन लिया है। अतः माध्यमिक शिक्षा को भी इसी प्रकार ढाला जाना चाहिये, जिससे वह प्रारम्भिक स्तर पर अपनाई गई शिक्षा-पद्धति को आगे ले जाकर पूर्ण करने में सहायक हो और ऐसे नागरिकों को उत्पन्न करे जो कि अपने नागरिकता के उत्तरदायों को वहन करने की क्षमता रखते हों। इस दृष्टि से माध्यमिक शिक्षा में किसी एक विशेष क्राफ्ट पर जोर देने की सिफारिश श्लाघ्य है।

माध्यमिक शिक्षा कमीशन के सम्बन्ध में नियुक्त की गई समिति की एक प्रमुख सिफारिश यह थी कि अन्ततः देश में प्राथमिक (बेसिक) शिक्षा की अवधि ८ वर्ष, माध्यमिक शिक्षा की अवधि ४ वर्ष तथा विश्वविद्यालय शिक्षा की अवधि ३ वर्ष होनी चाहिये।

समिति ने कमीशन की इस बात पर भी विचार किया कि भाषायें, सामान्य विज्ञान, सामाजिक विषय तथा एक हस्तकला माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम के अन्तर्गत सह-विषय (Co-Subjects) होने चाहिये। इसके अतिरिक्त समिति ने मानव-विज्ञानों (Humanities), विज्ञानों, टैक्नीकल विषय, वाणिज्य तथा कृषि-सम्बन्धी विषय, ललित कलायें तथा गृह-विज्ञान के बहुमुखी (Diversified) पाठ्यक्रम को प्रारम्भ करने को बड़ा महत्त्व दिया।

समिति ने यह भी सुझाव दिया कि माध्यमिक-पाठ्यक्रम के अन्त में एक परीक्षा होनी चाहिये। साथ ही मासिक परीक्षाओं तथा विद्यार्थियों के नियमित प्रगति-विवरण को अधिक महत्त्व देना चाहिये। ट्रेनिङ्ग कालेजों को बिना शुल्क लिये ही शिक्षकों को प्रशिक्षण देना चाहिये। शिक्षकों को प्रशिक्षण काल में उनका व्यय चलाने के लिये उनका पूरा वेतन दिया जाना चाहिये। समिति ने यह भी कहा कि अधिकतर सरकारी नौकरियों के लिये उच्चतर माध्यमिक परीक्षा न्यूनतम योग्यता होनी चाहिये।

अन्त में समिति ने सुझाव दिया कि वर्तमान माध्यमिक स्कूलों के लगभग ५०% स्कूलों को बहुउद्देशीय स्कूलों में आगामी दो वर्षों में तथा और ५०% स्कूलों को शेष ५ वर्षों में परिवर्तित कर देना चाहिये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में आमूल परिवर्तन करके उसे देश तथा विद्यार्थियों की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने का कार्यक्रम अपनाया जा रहा है। बोर्ड ने विशेषज्ञ समिति के लगभग सभी सुझावों को मान लिया था। बोर्ड ने यह भी सिफारिश की थी कि जो स्कूल अपने को बहु-उद्देशीय बनाना चाहें उन्हें राज्य तथा केन्द्रीय सरकार की ओर से आर्थिक

सहायता दी जानी चाहिये। टैक्नीकल विषयों के पढ़ाने वाले शिक्षकों के लिये विशेष वेतन की व्यवस्था की गई। साथ ही बोर्ड ने कहा कि राज्य सरकारों को चाहिये कि जब तक सामान्य साहित्यिक ग्रुप के अतिरिक्त कोई स्कूल एक व्यावहारिक ग्रुप में शिक्षण देना प्रारम्भ नहीं करता, तब तक उसे सरकार की ओर से मान्यता नहीं मिलनी चाहिये। स्कूलों में पुस्तकालयों के लिये प्रारम्भिक अनुदान देने के लिये प्रत्येक स्कूल के लिये ५,०००) रु० की धन-राशि की सिफारिश बोर्ड ने की, जिसे केन्द्र व राज्य सरकार के द्वारा १:२ के अनुपात से दिया जायगा।

उपर्युक्त सुझावों के आधार पर योजना कमीशन के अन्तिम दो वर्षों के लिये ५ करोड़ रुपये के व्यय की एक योजना बनाई गई है। इस योजना के अन्तर्गत देश में ५०० बहुउद्देशीय (Multi-purpose) स्कूल स्थापित किये जायँगे, जिनमें विभिन्न प्रकार की रुचि तथा उद्देश्य रखने वाले छात्रों को विभिन्न प्रकार के विषयों की शिक्षा प्रदान की जायगी। इन स्कूलों में पास होने वाले विद्यार्थियों को पोलिटैकूनिक कालेजों में उच्च औद्योगिक शिक्षा का अवसर दिया जायगा।

योजना कमीशन की इस सम्बन्ध में दूसरी योजना यह है कि देश में जितने भी माध्यमिक स्कूल हैं उनमें सामान्य विज्ञान का विषय आगामी ७ वर्ष के अन्दर अवश्य ही प्रारम्भ कर दिया जाना चाहिये। इसके लिये स्कूलों को विज्ञानशालायें खोलने तथा अन्य सज्जा खरीदने के लिये विशेष अनुदान दिये जाँयगे। ५०० बहुउद्देशीय स्कूलों तथा १५०० अन्य स्कूलों को पुस्तकालय खोलने के लिये विशेष अनुदान दिये जाँयगे। तीसरा रूप इस योजना का है हस्तकलाओं के शिक्षण का प्रारम्भ करना व सुधार करना। ये सभी सुधार माध्यमिक शिक्षा कमीशन की सिफारिशों को मूर्त रूप देने के फलस्वरूप किये जा रहे हैं।

१२ जनवरी, १६५५ को दिल्ली में 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड' का २२ वाँ अधिवेशन हुआ। इसमें पुनः माध्यमिक शिक्षा पर विचार किया गया और कमीशन के सुझावों के आधार पर होने वाली प्रगति का पुनरीक्षण किया गया। इस अधिवेशन में अपने विचार प्रकट करते हुए केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री मौलाना अबुलकलाम आज़ाद ने स्वीकार किया है कि, "माध्यमिक शिक्षा भारतीय शिक्षा की अब भी सबसे कमजोर कड़ी है।" आगे चलकर सरकारी नील-पत्रिका† को बोर्ड के समक्ष प्रस्तुत करते हुए केन्द्रीय मन्त्री ने स्वीकार किया है कि, "यह शिक्षा का वह स्तर है जहाँ तक पहुँचने का सुअवसर सभी को मिलना चाहिये।

† Blue Book.

कुछ भी हो यह वह सीढ़ी है और बहुत समय तक रहेगी, जहाँ आकर देश के अधिकांश बच्चों की शिक्षा समाप्त हो जाती है। अतः यह शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जोकि उन्हें जीवन के लिये तैयार करती हो। किन्तु मुझे खेद के साथ स्वीकार करना पड़ता है कि हमारी माध्यमिक शिक्षा इस समय इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर रही है।"

'केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड के' इस अधिवेशन में शिक्षा मन्त्री ने बतलाया कि केन्द्रीय सरकार 'अखिल भारतीय टेकनीकल शिक्षा परिषद्' के समान ही माध्यमिक शिक्षा के लिये भी एक ऐसी परिषद् का निर्माण करने जारही है। यह परिषद् समय-समय पर देश में माध्यमिक शिक्षा की प्रगति का पुनरीक्षण करेगी और शिक्षा के सुधार व प्रसार के लिये सरकार को सलाह देगी। बोर्ड में यह भी निर्णय हुआ कि राधाकृष्णन् कमीशन तथा मुदलियार कमीशन की सिफारिशों के आधार पर माध्यमिक शिक्षा का कोर्स १ वर्ष और अधिक बढ़ा देना चाहिये। इससे एक ओर जहाँ माध्यमिक शिक्षा का मानदण्ड ऊँचा उठेगा वहाँ विश्वविद्यालयों का भार भी हलका होगा।

बोर्ड ने मुदलियार कमीशन की बहुउद्देशीय स्कूलों की स्थापना की सिफारिश को स्वीकार करते हुए इस ओर तीव्रता से कदम उठाने का निश्चय किया है। यद्यपि सरकार इस दिशा में पहिले से ही कदम उठा चुकी है, किन्तु आजतक सभी राज्यों में प्रायः सभी माध्यमिक स्कूल अभी साहित्यिक-प्रकार के बने हुए हैं। इसका प्रमुख कारण योग्य शिक्षकों, धन तथा सज्जा का अभाव है। सरकार की योजना यह है कि ५०० बहुउद्देशीय स्कूलों का देश में इस प्रकार वितरण किया जाय कि प्रत्येक जिले में कम से कम एक ऐसा स्कूल अवश्य हो।

इस प्रकार बोर्ड की सिफारिशों में अधिकांश में माध्यमिक शिक्षा कमीशन तथा बोर्ड की २१ वें अधिवेशन की सिफारिशों की पुनरावृत्ति मात्र है। पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत भारत में माध्यमिक शिक्षा क्रमशः प्रगति करती जा रही है, किन्तु यह प्रगति आश्चर्यजनक रूप से धीमी है। वास्तव में बात यह है कि सभी सरकारी प्रयत्नों तथा माध्यमिक शिक्षा कमीशन की सिफारिशों की अपेक्षाकृत भी देश में माध्यमिक शिक्षा का ढाँचा पूर्ववत् बना हुआ है। उसके उद्देश्यों, साधनों, नियन्त्रण व संगठन, पाठ्यक्रम व शिक्षण-विधि, परीक्षा-प्रणाली, शिक्षकों के प्रशिक्षण तथा उनके सामाजिक व आर्थिक-स्तर में कोई भी सराहनीय परिवर्तन नहीं हुआ है। जितने भी सरकारी प्रयत्न इन सभी मौलिक दोषों को दूर करने के लिये किये जाते हैं, वे अपने परीक्षण-काल में ही समाप्त हो जाते हैं और क्रमशः भुला दिये जाते हैं। कमीशनों और

समितियों की अधिकांश सिफारिशें कार्यान्वित नहीं हो पाती हैं। माध्यमिक शिक्षा की कुछ प्रमुख समस्याओं का हम नीचे संक्षेप में विश्लेषण करते हैं।

माध्यमिक शिक्षा की कुछ समस्यायें

१. उद्देश्य—भारत में अँग्रेजी स्कूलों की स्थापना का उद्देश्य प्रारम्भ से ही शासन संचालन के लिये कुछ शिक्षित अफसर व लेखक तैयार करना रहा था। दुर्भाग्य से थोड़ा बहुत आज भी यह उद्देश्य यथावत् बना हुआ है। वस्तुतः माध्यमिक शिक्षा आज भी भारत में उच्च उद्देश्य विहीन है। इसका एकमात्र उद्देश्य या तो विश्वविद्यालय में प्रवेश कराना अथवा क्लर्क बना देना हो गया है। यही कारण है कि आज हम भारत में कालेजों को प्रायः ऐसे विद्यार्थियों से भरा हुआ पाते हैं जो कि अधिकांश में यह भी नहीं जानते कि वे क्यों शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं अथवा किस उद्यम के लिये अपने को तैयार कर रहे हैं। वे केवल इसलिये स्कूल पहुँच जाते हैं क्योंकि उन्हें घरों से पढ़ने के लिये भेजा जाता है। स्कूलों में या तो अपनी सुविधानुसार अथवा साथियों की राय से वे कुछ ऐसे सरल विषयों को चुन लेते हैं, जिनमें थोड़ा बहुत पढ़ने से ही वे कम से कम परीक्षा में तो सफल हो ही सकें! इस सफलता का क्या उद्देश्य होगा और उनके भावी-जीवन में उसका क्या स्थान होगा, इसकी ओर संभवतः वे कभी नहीं देख पाते।

वास्तव में माध्यमिक शिक्षा विश्वविद्यालय की पूरक न होकर एक स्वतःपूर्ण स्वतन्त्र इकाई होनी चाहिये, जैसा कि हम पीछे भी संकेत कर चुके हैं। इसके अध्ययन के उपरान्त विद्यार्थी यह आत्मविश्वास अनुभव कर सके कि वह एक मंजिल पर पहुँच गया है और तुलनात्मक दृष्टि से कुछ स्वतन्त्र कार्य करने को भी समर्थ है। उसे जीवन के लिये अपने आप को तैयार समझना चाहिये न कि विश्वविद्यालय के लिये। इस प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य आर्थिक और सांस्कृतिक दोनों ही प्रकार का होना चाहिये।

किसी व्यक्ति के जीवन निर्माण में उसकी किशोरावस्था का क्या महत्त्व है इसे शिक्षा-विशारद भली भाँति जानते हैं। ११ वर्ष से १८ वर्ष तक का समय विद्यार्थी के जीवन-निर्माण का युग है और यही समय उसके माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने का है। अतः हमारी माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य बालक के शरीर, मस्तिष्क तथा चरित्र का पूर्ण विकास ही है जिससे उसके अन्दर नेतृत्व की भावना का विकास हो सके और वह देश का भावी नेता बन कर आत्म-विश्वास के साथ प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सके। "एक प्रकार से हाईस्कूल राष्ट्र की शिक्षा-पद्धति की रीढ़ है। अतः नेताओं तथा जीवन के विभिन्न अंगों के

लिये विशेषज्ञों को तैयार करने की शिक्षा के लिये देश को इन्हीं हाईस्कूलों की ओर देखना चाहिये।"*

आज भारत स्वतन्त्र है और यहाँ धर्म निरपेक्ष जनतन्त्र की स्थापना हो चुकी है। नये भारत के समक्ष आज विभिन्न प्रकार की आर्थिक, सामाजिक राजनैतिक तथा सांस्कृतिक समस्यायें हैं। अतः हमें माध्यमिक शिक्षा का एक सामान्य व सैद्धान्तिक उद्देश्य ही न लेकर एक ऐसा उद्देश्य लेना होगा जो कि देश की परिवर्त्तित परिस्थितियों से मेल खा सके। "इसका अभिप्राय यह हुआ कि शिक्षा पद्धति को आदतों, प्रवृत्तियों तथा चरित्र के गुणों के विकास के लिये अपनी दे[illegible] देनी होगी, जिससे यहाँ के नागरिक योग्यतापूर्वक एक जनतन्त्रीय नागरिकता के उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने की क्षमता प्राप्त कर सकें तथा ऐसी विघटन-मूलक प्रवृत्तियों का विरोध कर सकें जो कि एक व्यापक राष्ट्रीय व धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण के मार्ग का अवरोधन करती हों।"†

ऐसी स्थिति में भारत में माध्यमिक शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य हैं—छात्रों के चरित्र का निर्माण जिससे एक उत्तरदायी स्वतन्त्र नागरिक के रूप में जनतन्त्रीय सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करने के वे लिये क्रियात्मक रूप से सहयोग प्रदान कर सकें। दूसरे, उनकी व्यावहारिक तथा व्यावसायिक क्षमता में वृद्धि करना जिससे वे देश का आर्थिक निर्माण करके उसे समृद्धिशाली बना सकें। तीसरे, उनके व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास; अर्थात् उनकी साहित्यिक, कलात्मक तथा सांस्कृतिक अभिरुचियों का विकास जो कि आत्माभिव्यंजना तथा व्यक्तित्व के पूर्ण-विकास के लिये आवश्यक है। अन्त में इसका उद्देश्य है नेतृत्त्व के गुणों का विकास। इस प्रकार एक माध्यमिक स्कूल को इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील होना है; और विद्यार्थी के जीवन को हर प्रकार से एक पूर्ण विकसित इकाई के रूप में तैयार करना है जो कि देश के जीवन को हर प्रकार से सम्पन्न बनाने की क्षमता प्राप्त कर सकें।

दुर्भाग्य का विषय है कि हमारे वर्तमान माध्यमिक शिक्षालय इन उद्देश्यों की पूर्ति बहुत कम कर रहे हैं। अतः आवश्यक यह है कि हम न केवल विद्यार्थियों को ही, वरन् उनके शिक्षकों तथा अभिभावकों को भी इसके उद्देश्य के विषय में पर्याप्ततः अवगत करा दें।

२. **पाठ्यक्रम**—हमारे देश में माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम को देखने से विदित होता है कि सम्भवतः एक शताब्दि से इस समस्या पर कोई मौलिक

---

* *Sargent Plan*, P. 26.

† *Report* of Secondary Education Commission P. 24.

चिन्तन और तदनुसार कार्य नहीं किया गया है। देश में समय-समय पर महान् राजनैतिक, आर्थिक और औद्योगिक परिवर्तन हो रहे हैं, किन्तु हमारी माध्यमिक शिक्षा समय की गति के साथ बढ़ने में असमर्थ प्रतीत होती है। पाठ्यक्रम का वास्तविक व व्यावहारिक जीवन तथा बालक के वातावरण से कोई सम्बन्ध ही नहीं प्रतीत होता। वह एक पूर्व-निर्धारित पाठ्यक्रम को बिना जिज्ञासा, बिना कौतूहल और बिना समझे अथवा सराहना किये हुए यन्त्रवत् पढ़ता है, क्योंकि उसका लक्ष्य परीक्षा में सफल होकर एफ० ए० या बी० ए० में प्रवेश कराना अथवा शीघ्र ही इस योग्य बन जाना है कि वह किसी कार्यालय में लेखक बन सके। कहने की आवश्यकता नहीं कि पाठ्यक्रम की अनुपयुक्तता के कारण हमारे देश में मानव-शक्ति का वृहत् क्षय हो रहा है। बिना उपयुक्त व विभिन्न विषयों की शिक्षा के हम फैक्टरी निर्मित पदार्थों की भाँति एक ही प्रकार के युवक उत्पन्न करते जा रहे हैं, जिनमें मौलिकता अथवा आविष्कारक बुद्धि का अभाव है। माध्यमिक शिक्षा के उपरान्त बालक जब व्यावहारिक संसार में आता है तो अपने आपको एक ऐसा अजनवी पाता है जो कि अपने वातावरण के अनुकूल नहीं बैठता।†

समय समय पर विभिन्न शिक्षा कमीशनों ने भारत में इस दोष की ओर संकेत किया है, किन्तु आज भी वह अधिकांश में यथावत् बना हुआ है। यद्यपि माध्यमिक शिक्षा में कुछ प्रमुख व्यवसायों और उद्योगों का समावेश प्रारम्भ हो चुका है, तथापि देश की विशाल माँग को देखते हुए यह एक अल्प-प्रयास है। आवश्यकता इस बात की है कि माध्यमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम बहुत विभिन्न व विशाल हो और विशेषज्ञों द्वारा बालक की रुचियों का पता लगाने के उपरान्त उसे उसमें से मनोनुकूल व उपयोगी विषय लेने के लिये प्रोत्साहित व दीक्षित किया जाय।

लगभग ८५ प्रतिशत भारतीय जनता गाँवों में निवास करती है। अतः हमारा पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिये जो कि प्रमुख ग्रामीण उद्योगों जैसे; कृषि,

† Cf. "The education given in our, schools is isolated from life—the curriculum as formulated and as presented through the traditional methods of teaching does not give the students insight into the everyday world in which they are living. When they pass out of school they feel ill.adjusted and cannot take their place confidently and competently in the community." *Report* of the Secondary Education Commission. P. 22.

डेरी, पशु-पालन तथा अन्य घरेलू उद्योगों से सम्बन्ध रक्खे। इसके साथ ही आधुनिक उद्योगों के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था होनी चाहिये। उदार साहित्यिक शिक्षा की भी हम अवहेलना नहीं कर सकते। वास्तव में जो पाठ्यक्रम उत्तरबेसिक-शिक्षा के लिये निश्चित किया गया है, वही वर्तमान अवस्था में एक उपयुक्त पाठ्यक्रम है।

३. अनुशासन—अनुशासन की समस्या आज केवल माध्यमिक शिक्षा क्षेत्र में ही नहीं, अपितु अखिल विद्यार्थी वर्ग को एक देशव्यापी समस्या बन चुकी है। यद्यपि शिक्षा सङ्गठन से इस समस्या का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, तथापि अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय शिक्षापद्धति, शिक्षासङ्गठन, शिक्षणविधि तथा परीक्षाविधि हमारे विद्यार्थियों के अनुसाशन-सम्बन्धी प्रश्न पर एक गहरा प्रभाव डाल रहे हैं।

विद्यार्थियों में इस बढ़ती हुई अनुशासन हीनता के क्या कारण हैं? एक तो विद्यार्थी पर सम्पूर्ण समाज की छाया पड़ रही है। हमारे देश में ही आज नैतिक स्तर गिर जाने से जीवन के उच्च मूल्यों का अभाव है। हमारे अधिकांश विद्यार्थी, शिक्षक तथा अभिभावक सभी कुछ न कुछ सीमा तक उच्च उद्देश्यों को भूलकर उच्छृङ्खल तथा उत्तरदायित्वविहीन हो बैठे हैं।

दूसरे, गत कई दशकों में होनेवाली देश की राजनैतिक-क्रान्ति ने भी विद्यार्थियों को कुछ सीमा तक अनुशासन-विहीन बनाया है। स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष करते समय प्रायः देश के राजनैतिक नेता विद्यार्थियों से हड़ताल करने तथा राजनैतिक आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेने के लिये उनका आह्वान करते थे। अब देश के स्वतंत्र होने पर भी वही संस्कार और प्रवृत्तियाँ विद्यार्थियों में कार्यशील हैं।

तीसरा कारण है वर्तमान दूषित परीक्षा-प्रणाली। आज देश के विद्यार्थी परीक्षा में सफल होने के लिये अनुचित से अनुचित साधन अपनाने में भी नहीं हिचकते। यहाँ तक इस सम्बन्ध में हत्या जैसे जघन्य अपराधों पर भी उत्तर आते हैं। परीक्षा भवन में किताबें ले जाना, नकल करना, बातें करना तथा कुछ पतित-शिक्षकों से बेधड़क होकर सहायता लेना इत्यादि बातें तो आज एक साधारण घटना बनती जाती हैं।

चौथा कारण है शिक्षकों की दयनीय आर्थिक दशा और परिणामतः

उनमें उत्तरदायित्व तथा नैतिकता का ह्रास।†‡ खेद का विषय है कि हमें यह बात अत्यन्त कटु होने की अपेक्षाकृत भी स्वीकार करनी पड़ती है कि आर्थिक विषमताओं के भयङ्कर थपेड़ों से व्यथित आज का शिक्षक कुछ सीमा तक कर्त्तव्यपथ से च्युत हो चुका है। स्कूलों में होने वाली घटनाओं तथा विद्यार्थियों में बढ़ने वाले असंयम के प्रति वह उदासीन सा प्रतीत होता है। यहाँ तक कि विद्यार्थियों में सद्भावनाओं का संचार करने अथवा उनके समक्ष संयम का आदर्श रखने में भी वह असमर्थ रहता है; अन्यथा कोई कारण नहीं कि शिक्षकों के सच्चे प्रयत्न करने पर विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता बनी रहे।

इनके अतिरिक्त अभिभावकों की अपने बालकों के चरित्र तथा व्यवहार के सम्बन्ध में अवहेलना, सिनेमा, राजनीतिज्ञ-शिक्षक, कुछ ऐसी संस्थाओं का प्रादुर्भाव जो कि बालकों की कोमल भावनाओं का अपने स्वार्थ के लिये शोषण करती हैं, अतिरिक्त पाठ्य-कार्यक्रमों (Extra-curricular-activities) तथा सामाजिक जीवन का अभाव एवं जातीय पक्षपात इत्यादि अन्य कारण हैं जो कि विद्यार्थी-वर्ग में अनुशासन हीनता के लिये उत्तरदायी हैं।

समय-समय पर देश के विद्वानों तथा शिक्षा-विशेषज्ञों ने इस पर प्रकाश डाला है और चेतावनी दी है। ऐसा प्रतीत होता है कि यदि समय रहते हमने इस समस्या को हल नहीं किया तो हमारी शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य ही नष्ट हो जायगा।

माध्यमिक शिक्षा वह धरातल है जिस पर हम जीवन का भावी-भवन निर्माण करते हैं। अनुशासन तथा चरित्र सम्बन्धी अन्य गुणों का विकास बालक की किशोरावस्था में ही हो जाता है। अतः हमें उसके अन्दर उच्चगुणों का विकास करके विनय तथा अनुशासन की भावना का संचार करना चाहिये।

† ....the average efficiency of the teachers has deteriorated, their economic difficulties and lack of social prestige have tended to create in them a sense of frustration. Unless something is done quickly to increase their efficiency and give them a feeling of contentment and a sense of their own worth, they will not be able to pull their full weight.'' *Report* of the Secondary Education Commission. P. 23.

४. व्यक्तिगत प्रबन्ध तथा प्रशासन—माध्यमिक शिक्षालयों का प्रबन्ध सरकार; तथा कहीं-कहीं स्थानीय संस्थाओं; जैसे जिला बोर्ड और नगर-पालिकाओं, तथा व्यक्तिगत प्रबन्ध समितियों द्वारा होता है।

प्रारम्भ से ही सरकार की यह नीति रही है कि माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र से वह धीरे-धीरे हटती रही है, और प्रबन्ध व्यक्तिगत समितियों के हाथों में पहुँचता रहा है।

अधिकांश में माध्यमिक शिक्षालयों का बोर्ड अथवा व्यक्तिगत प्रबन्धकों द्वारा प्रबन्ध होता है। प्रत्येक जिले में एक राजकीय माध्यमिक शिक्षालय भी रखने की नीति को अपनाया गया है।

जहाँ तक व्यक्तिगत प्रबन्ध का प्रश्न है, स्थिति बड़ी असन्तोषजनक है। प्रायः इन स्कूलों की आर्थिक दशा बड़ी दयनीय होती है। न उनके पास भवन हैं न पर्याप्त सज्जा, फर्नीचर तथा पुस्तकालय इत्यादि ही। ऐसे स्कूलों में शिक्षकों की स्थिति भी हर्षप्रद नहीं है। शिक्षकों को कम वेतन देना, अथवा थोड़े वेतन पर अदीक्षित शिक्षक रख लेना, अथवा किसी भी शिक्षक को व्यक्तिगत ईर्ष्या या अप्रसन्नता से चाहे जब निकाल देना, इत्यादि कुछ ऐसे दोष हैं जिनसे हमारे माध्यमिक शिक्षालयों की प्रगति में बाधा पहुँच रही है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों अथवा जातियों के नाम पर स्थापित हुए शिक्षालय तो राष्ट्र के लिए लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक कर रहे हैं। ऐसी थोड़ी ही संस्थाएँ हो सकती हैं जहाँ जातीयवाद का ताण्डव नृत्य न हो रहा हो। कुछ वैयक्तिक संस्थाएँ देश में ऐसी भी हैं. जिन्होंने माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में बड़ा सराहनीय कार्य किया है; किन्तु कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि उनके कार्य अधिकांश में असन्तोषजनक रहे हैं।

इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत प्रबन्ध-समितियों के सदस्यों में अधिकांश लोग ऐसे होते हैं जिन्हें शिक्षा अथवा शिक्षा-समस्याओं से कोई रुचि नहीं है। गाँवों में तो स्थिति और भी अधिक भयानक है, जहाँ स्थानीय-राजनीति के दलदल में फँसे हुए कुछ अशिक्षित अथवा अर्ध-शिक्षित ग्रामीण स्कूलों को व्यक्तिगत प्रभाव व प्रतिष्ठा का प्रतीक समझकर भिन्न-भिन्न प्रकार से उनका शोषण करके शिक्षाहित को आघात पहुँचा रहे हैं। ऐसी अवस्था में यदि शिक्षकों की नौकरी की सुरक्षा न होने अथवा उन्हें अन्य प्रकार का असन्तोष होने के कारण, शिक्षा का मानदंड गिरता जा रहा है तो आश्चर्य ही क्या है? स्कूलों में शिक्षक-राजनीतिज्ञों का भी भय बढ़ता जा रहा है, जिन्हें प्रबन्ध-समितियों से कभी-कभी पोषण मिलता है।

शिक्षा के प्रशासन के विषय में यहाँ एक बात और कहना आवश्यक होगा। प्रायः देखा गया है कि राजकीय शिक्षा-विभाग के कर्मचारियों, प्रधाततः निरीक्षण-विभाग की अक्षमता से भी प्रबन्ध में बड़ी शिथिलता आ गई है। वस्तुतः निरीक्षण-विभाग की उपेक्षा के कारण व्यक्तिगत संस्थाओं का प्रबन्ध बहुत भ्रष्ट होता जा रहा है। कहीं कहीं पर तो यहाँ तक देखा जाता है कि इन्सपैक्टर लोग स्कूलों के प्रबन्धकों से मिलकर अनियमित कार्य करवाते हैं!

अतः उपर्युक्त दोषों को दूर करने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि माध्यमिक शिक्षा-क्षेत्र में सरकार को अपने उत्तरदायित्व को अधिक समझना चाहिये। यदि इस समय माध्यमिक शिक्षा का राष्ट्रीयकरण व्यावहारिक नहीं प्रतीत होता तो कम से कम प्रबन्ध को सुधारा तो अवश्य जा सकता है। उत्तर-प्रदेश में प्रबन्ध समितियों के सुधार के लिए सरकार ने एक समिति स्थापित की थी जो कि 'रघुकुलतिलक समिति' के नाम से विख्यात है। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में सिफारिश की थी कि प्रबन्ध-समितियों के सुधार के लिए आवश्यक है कि उनमें शिक्षकों का एक प्रतिनिधि तथा २ सदस्य शिक्षा-विभाग द्वारा मनोनीत किये जाँय। किन्तु व्यक्तिगत प्रबन्ध-समितियों के विरोध के फलस्वरूप यह रिपोर्ट आज तक केवल एक पवित्र आशा मात्र बनी हुई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि माध्यमिक शिक्षा के लिए एक बहुत बड़ा खतरा लेकर ही इस सुधार को टाला जा सकता है। माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में प्रबन्ध तथा शासन की समस्या एक बुनियादी समस्या है।

५. शिक्षा का मानदंड—आज यह बात प्रायः साधारण तौर से सुनाई पड़ती है कि जहाँ शिक्षा के अन्य क्षेत्रों में मानदंड गिर गया है, वहाँ माध्यम शिक्षा में भी पतन हुआ है। निस्संदे सरकार की नीति प्रसार की रही है, किन्तु इस प्रसार से शिक्षा का मानदंड भी प्रभावित हुआ है। मानदंड के गिरने के अन्य कारणों में शिक्षकों का अल्प वेतन, अधिकांश शिक्षकों का अदीक्षित (Untrained) होना, शिक्षकों में अपने पेशे के प्रति असन्तोष, कक्षा में विद्यार्थियों की संख्या सीमा से अधिक बढ़ जाना, स्कूलों में आवश्यक सीमग्री व सजा का अभाव, प्रबन्ध समितियोंयों की अकुशलता तथा कहीं-कहीं पर अनुचित हस्तक्षेप, शिक्षा नरीक्षकों की अक्षमता तथा कर्त्तव्य अवहेलना, स्कूलों की गिरी हुई आर्थिक अवस्था, विद्यार्थियों के लिये सिनेमा इत्यादि अन्य आकर्षणों का प्राचुर्य, कलुषित तथा अवैज्ञानिक परीक्षा-प्रणाली, शिक्षकों में उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ उत्तरदायित्व का अभाव तथा कर्त्तव्य की अवहेलना, पाठ्य-पुस्तकों की अनुपयुक्तता और

शिक्षा-समस्याओं के प्रति विद्यार्थियों के अभिभावकों तथा जनता की उदासीनता तथा अनभिज्ञता इत्यादि प्रमुख हैं।

देश की वर्तमान पिछड़ी हुई अवस्था में सुधार करने के लिए शिक्षा के विस्तार की आवश्यकता अवश्य है; किन्तु विस्तार के साथ ही साथ हमें उसके मानदंड का भी ध्यान रखना पड़ेगा। पूर्व इसके कि यह समस्या संकट-बिंदु पर पहुँचे, इसका हल आवश्यक है। तभी हम ऐसे युवक उत्पन्न कर सकेंगे जो कि सर्वांश में देश के समर्थ भावी नागरिक हो सकें और विश्व के अन्य राष्ट्रों के युवकों के [illegible] अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित कर सकें।

६. परीक्षा प्रणाली—माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में परीक्षा-प्रणाली एक दीर्घ काल से जटिल समस्या बनी हुई है। "भारत की साम्प्रदायकवादी सामाजिक तथा राजनैतिक प्रणाली से भी बुरी उसकी परीक्षा-प्रधान शिक्षा-पद्धति है। वास्तव में, मैट्रिक परीक्षा हमारी सम्पूर्ण माध्यमिक शिक्षा पर शासन कर रही है। एक स्कूल की प्रतिष्ठा हाईस्कूल के परीक्षाफल पर अधिक निर्भर है अपेक्षाकृत उस संस्था की वास्तविक शिक्षा श्रेष्ठता के।"† वास्तव में इस परीक्षा-वेदी पर ही आज बालक के सम्पूर्ण गुणों और शिक्षक के सम्पूर्ण प्रयत्नों का बलिदान किया जा रहा है। शिक्षा के अन्य लाभों की ओर से आँख मूँद कर बालक अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ परीक्षा में सफल होने में लगा देता है। इससे रटने की अमनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है और बालक बिना समझे हुए यंत्रवत् रटते चले जाते हैं। जो कुछ भी अपने मस्तिष्क में वे ठूँसते हैं, परीक्षा भवन में उसे उड़ेलने के बाद रिक्त-मस्तिष्क संसार में निकलते हैं। इस प्रकार वे व्यावहारिक संसार के लिये अनुपयुक्त हो जाते हैं। अतः बालकों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो पाता।‡

वर्तमान परीक्षा-प्रणाली का प्रभाव शिक्षकों तथा विद्यार्थियों की नैतिकता पर भी पड़ा है। ऐसी घटनायें आज साधारण रूप से सुनी जाती है कि परीक्षा

---

† Mukerjee S. N.: *Education in India, Today and Tomorrow.* p. 80.

‡ The dead weight of examination has tended to curb the teacher's initiative, to stereotye the curriculum, to promote mechanical and lifeless methods of teaching to discourage all spirit of experimentation and to place the stress on wrong or important things in education." *Report* of the Secondary Education Commission. P. 23.

भवन में विद्यार्थी अनुचित साधन अपनाते हैं। वर्ष भर तक न पढ़ने वाला विद्यार्थी परीक्षा-भवन में नकल के सहारे उत्तीर्ण हो जाता है। इसी प्रकार शिक्षकों में भी कुछ ऐसे तत्व पनप रहे हैं जिनके कारण वे परीक्षा में अनुचित पक्षपात करते अथवा उत्कोच तक लेते देखे जाते हैं! वास्तव में यह स्थिति लज्जाजनक होने के साथ ही साथ घोर आपत्तिजनक व गंभीर भी है। अतः इस बात की आवश्यकता है कि इस परीक्षा-पद्धति के स्थान पर कोई वैज्ञानिक पद्धति रखी जाय जिससे वर्तमान दोषों के आवरण के हटने से शिक्षा का मुख उज्ज्वल हो सके। इस दिशा में पेप्सू राज्य के परीक्षण का उल्लेख किया जा सकता है जिसके अनुसार विद्यार्थी की आयु तथा कक्षा-कार्य के आधार पर प्राथमिक स्कूलों में बच्चों को तरक्की दी जाया करेगी।

संक्षेप में ये हमारी माध्यमिक शिक्षा के दोष हैं। अतः यह आवश्यक है कि देश को उन्नत करने तथा उसे सभ्य देशों की दौड़ में आगे रखने के लिये माध्यमिक शिक्षा का महत्त्व समझा जाय, क्योंकि वास्तव में आज भारतीय माध्यमिक शिक्षा हमारा 'सबसे दुर्बल संस्थान' (Weak Spot) है। बिना इसके सुधार के विश्वविद्यालय शिक्षा में किये गये सभी सुधार व्यर्थ हैं, वस्तुतः राष्ट्र की प्रगति ही असंभव है। किसी भी देश की शिक्षा-प्रणाली में माध्यमिक शिक्षा अपना विशेष महत्त्व रखती है। वस्तुतः प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्व-विद्यालय शिक्षा तक की श्रृङ्खला की यह बीच की कड़ी है। इसके दोषों के प्रभाव से अन्य दोनों शिक्षायें ही कलुषित हो जाती हैं, क्योंकि हाईस्कूल पास विद्यार्थी प्राथमिक स्कूलों में जाकर शिक्षक बनते हैं। यदि एक दोष पूर्ण शिक्षा को प्राप्त करके ये विद्यार्थी भविष्य में जाकर शिक्षक बनेंगे तो निस्संदेह उन्हीं दोषों को अपने विद्यार्थियों में हस्तान्तरित कर देंगे। इसके अतिरिक्त माध्यमिक शिक्षा के उपरान्त ही विद्यार्थी विश्वविद्यालयों में जाकर प्रवेश लेते हैं। अतः उनके माध्यमिक शिक्षाकाल के दोष उनके साथ विश्वविद्यालयों में भी चले जाते हैं। ऐसी स्थिति में माध्यमिक शिक्षा के दोषों का उन्मूलन करना अत्यन्त आवश्यक है।

(४) विश्वविद्यालय शिक्षा (१९३७-५५ ई०)

शिक्षा-प्रगति

सन् १९३७ के उपरान्त विश्वविद्यालय शिक्षा में पर्याप्त विकास हुआ है। माध्यमिक शिक्षा का प्रसार होने के कारण विद्यार्थियों की संख्या विश्वविद्या-लयों में भी बढ़ने लगी। सभी वर्ग के स्त्री व पुरुषों में उच्च शिक्षा प्राप्त करने की जिज्ञासा बढ़ने से भी इसका विकास हुआ। साथ ही देश की राजनैतिक व

आर्थिक स्थिति के कारण भारत के तरुणों में जीवन-पथ पर आगे बढ़ कर उन्नति तथा राष्ट्र-सेवा करने की भावनाओं में वृद्धि होने से विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या में भी वृद्धि होने लगी। युद्धकाल में भारत के व्यापारियों ने बड़े-बड़े मुनाफे कमाये थे। अतः उन्होंने देश में उच्च शिक्षा के प्रसार के लिये उदारता पूर्वक आर्थिक सहायता दी। सरकार को भी युद्ध के कारण कुशल तथा प्रशिक्षित व्यक्तियों की अधिक आवश्यकता पड़ने लगी और उसने विश्वविद्यालयों के अनुदानों में वृद्धि करदी। युद्धोत्तरकाल में भी उपर्युक्त सभी कारण लगभग यथावत् बने रहे। इन सब बातों का परिणाम यह निकला है कि भारत में विश्वविद्यालय शिक्षा में अभूतपूर्व अभिवृद्धि होने लगी है।

सन् १९४७ में स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त तो देश में एक प्रकार से विश्वविद्यालयों में आकार व क्षेत्र की दृष्टि से आश्चर्यजनक विकास हुआ। देश के विभाजन के समय भारत में २१ विश्वविद्यालय थे, किन्तु इस समय इनकी संख्या ३१ है। विभाजन के उपरान्त पंजाब तथा ढाका विश्वविद्यालय पाकिस्तान में चले जाने के कारण यहाँ १९ विश्वविद्यालय रह गये थे। तब से १२ विश्वविद्यालय और खुल चुके हैं। इनमें से अधिकांश विश्वविद्यालय भाषा-वार क्षेत्रों के आधार पर स्थापित किये गये हैं। १९५२ के अन्त तक देश में कोई भी ऐसा बड़ा भाषा-क्षेत्र नहीं शेष रह गया था जहाँ एक न एक विश्व-विद्यालय न हो।

विश्वविद्यालयों की प्रगति निम्नलिखित आँकड़ों से जानी जा सकती है—१९४८ में भारत के बड़े राज्यों में १,७९,१७३ छात्र शिक्षा पाते थे। १९५३ तक इनकी संख्या बढ़कर २,६९,९१४ हो गई। अर्थात् पाँच वर्षों में विश्वविद्यालय के छात्रों की संख्या में ५०% की वृद्धि हो गई। व्यावसायिक और विशेष शिक्षा पाने वाले छात्रों की संख्या में तो और भी अधिक वृद्धि हुई। १९४८ में यह संख्या ४४,६०४ थी, जोकि १९५३ में बढ़ कर ९४,५९७ हो गई। इस प्रकार १९५३ के अन्त में स्थिति इस प्रकार थी:—

१. कालेजों की संख्या (सामान्य शिक्षा) ६०९
२. व्यावसायिक कालेजों की संख्या ३१४
३. सामान्य शिक्षा पाने वाले छात्रों की संख्या ३,५०,८५७
४. व्यवसाय सीखने वाले छात्रों की संख्या १,१४,९३७

इस प्रगति का अनुमान ग्रेजुएटों की संख्या में हुई अभिवृद्धि के देखने से भी लगाया जा सकता है। १९४८ ई० में भारत के 'क' श्रेणी के राज्यों में ग्रेजुएटों की कुल संख्या २७ हजार थी। इनमें कला और विज्ञान के ग्रेजुएट १८ हजार थे।

१९५३ में यही संख्यायें क्रमशः ५२ हजार व ३४ हजार हो गईं। १९५४-५५ में इन संख्याओं में और भी अधिक वृद्धि हुई है।

जहाँ तक व्यय का पक्ष है, हम देखते हैं कि देश के बड़े राज्यों में विश्वविद्यालयों और सामान्य शिक्षा देने वाले कालेजों पर १९४८ ई० में ५ करोड़ ८० लाख रुपया व्यय हुआ था। १९५३ में यह व्यय ११ करोड़ ६० लाख रुपया हो गया; अर्थात् दो गुने से भी अधिक हो गया। इसी प्रकार व्यावसायिक शिक्षा पर व्यय ३ गुना हो गया। देश की सम्पूर्ण उच्च शिक्षा पर १९५३ के अन्त में व्यय के आँकड़े इस प्रकार थे—

१. कुल व्यय·····१५ करोड़ २१ लाख रु०

२. व्यावसायिक शिक्षा पर········५ करोड़ ६४ लाख रु०

उपर्युक्त व्यय के अतिरिक्त १९५३-५४ में भी भारत सरकार ने विश्वविद्यालयों को अनुदान देने के उद्देश्य से 'विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन'† को ३०,६६,५५६ रु० दिया है। यह रुपया अ-वैज्ञानिक तथा अ-टैक्नीकल शिक्षा के प्रसार में व्यय किया गया है। इस कमीशन की स्थापना के पूर्व भी सरकार ने विश्वविद्यालयों को ४३,२३,१७४ रु० का अनुदान दिया था। इसी प्रकार वैज्ञानिक व टैक्नीकल शिक्षा के निमित्त भी ५५,४७,७५० रुपये की धन-राशि 'विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन' को दी गई थी और ५,५६,६८५ रु० इसकी स्थापना के पूर्व ही दिया जा चुका था। इन अनुदानों के अतिरिक्त भी अन्य विशेष उद्देश्यों जैसे अनुसन्धान, छात्रवृत्ति, ललितकलाओं व सांस्कृतिक कार्यक्रमों के विकास इत्यादि के लिये भी भारत सरकार की ओर से विशेष अनुदान प्रतिवर्ष दिये जाने लगे हैं।

नये विश्वविद्यालय

जैसा कि कहा जा चुका है कि देश के विभाजन के उपरान्त देश में १२ नये विश्वविद्यालय खुल चुके हैं। सन् १९४७ ई० में (पूर्व) पंजाब विश्वविद्यालय खुला। इसमें कृषि, कला, वाणिज्य, शिक्षा, इंजीनियरी, कानून, चिकित्सा, प्राच्य ज्ञान, विज्ञान तथा पशु चिकित्सा इत्यादि विषय पढ़ाये जाते हैं। इसके विधान में सीनेट का पूर्णतः जनतन्त्रीकरण कर दिया गया है।

सन् १९४८ में ३ विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई : गोहाटी (आसाम) जम्मू व काश्मीर तथा रुड़की इंजिनियरी विश्वविद्यालय (उत्तर प्रदेश)। इनमें गोहाटी विश्वविद्यालय सम्बन्धक स्थानीय व शिक्षण (Affiliating, Residential and Teaching) प्रकार का है। इसमें कृषि, कला, वाणिज्य, कानून,

† University Grants Commission.

चिकित्सा तथा विज्ञानों के पढ़ाने की व्यवस्था है। जम्मू व काश्मीर विश्वविद्यालय में कला, प्राच्य-ज्ञान, विज्ञान तथा शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था है। इसकी एक-मात्र विशेषता यह है कि यहाँ उच्च-शिक्षा पूर्णतः निशुल्क दी जाती है। यह भारत में अपने प्रकार का प्रथम विश्वविद्यालय है जिसने उच्च शिक्षा को निशुल्क किया है। रुड़की विश्वविद्यालय, टाम्सन इंजिनियरी कालेज को विकसित करके उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा बनाया गया है। टाम्सन कालेज लगभग एक शताब्दि पुराना था। आज इंजिनियरी का भारत में यह एक मात्र विश्वविद्यालय है।

सन् १९४९ में पूना व बड़ौदा विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। महाराष्ट्र के वे कालेज जो पहिले बम्बई विश्वविद्यालय से सम्बन्धित थे उन्हें पूना विश्वविद्यालय को हस्तान्तरित कर दिया गया। बड़ौदा विश्वविद्यालय की विशेषता यह है कि यहाँ ललित कलाओं, गृह-विज्ञान, भारतीय संगीत तथा सामाजिक सेवाओं का विशेष अध्ययन कराया जाता है। १९५० में बम्बई राज्य में गुजरात तथा कर्नाटक में दो सम्बन्धक विश्वविद्यालय और खुल गये। इस प्रकार संपूर्ण राज्य में अब ६ विश्वविद्यालय हैं।

सन् १९५१ में बिहार में पटना विश्वविद्यालय को दो भागों में विभाजित करके एक पटना तथा दूसरा बिहार विश्वविद्यालय बना दिया गया है। इनमें पटना विश्वविद्यालय का क्षेत्र तो केवल पटना नगर की नगरपालिका की सीमा तक सीमित है और बिहार विश्वविद्यालय का क्षेत्र शेष सम्पूर्ण राज्य में है। प्रथम केवल शिक्षण संस्था है और द्वितीय शिक्षण व सम्बन्धक दोनों प्रकार की।

सन् १९५१–५२ में बम्बई में स्त्री शिक्षा के लिये एक पूर्व-स्थित संस्था 'श्रीमती नाथेबाई दामोदर थैकर्से भारतीय महिला विद्यालय (S. N. D. T.) को एक विश्वविद्यालय की पदवी दे दी गई है। स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में यह एक महत्त्वपूर्ण संस्था है और अपना अखिल भारतीय महत्त्व रखती है। इस विश्वविद्यालय के अन्तर्गत बम्बई, पूना, अहमदाबाद तथा बड़ौदा में बी० टी० का प्रशिक्षण दिया जाता है तथा परिचर्या (Nursing) का एक विशेष कोर्स है जिसमें बी० एस सी० की उपाधि मिलती है। साथ ही मराठी तथा गुजराती में उच्च कोटि की पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन का कार्य भी इस विश्वविद्यालय ने अपने ऊपर ले लिया है।

सन् १९५१ में भारत सरकार ने विश्व-भारती को भी अपने अन्तर्गत ले लिया। यह विश्वविद्यालय १९२९ में डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने स्थापित किया था। केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण में बनारस, अलीगढ़ तथा दिल्ली तीन विश्व-

ालयों के अतिरिक्त यह चौथा विश्वविद्यालय है। ललितकलायें, शिक्षा, दर्शन
: कला व विज्ञान का शिक्षण इस विश्वविद्यालय की विशेषता है। इसका
तृत वर्णन पीछे दिया जा चुका है। विश्वविद्यालय शिक्षा कमीशन की सिफा-
ों के आधार पर भारत सरकार ने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय तथा
ारस हिन्दू विश्वविद्यालयों के विधानों में संशोधन कर दिया है। उसी प्रकार
५१-५२ में दिल्ली विश्वविद्यालय के विधान में भी संशोधन किया जा चुका
। इस संशोधन के फल स्वरूप अब दिल्ली विश्वविद्यालय शिक्षण व
न्धक विश्वविद्यालय हो गया है। राष्ट्रपति जो कि इसका कुलपति (चांसलर)
ा था, अब वह 'विजिटर' कहलायेगा। कुलपति के बहुत से अधिकार अब
वविद्यालय की कोर्ट को हस्तान्तरित कर दिये गये हैं। इसी प्रकार उत्तर
श में आगरा, इलाहाबाद व लखनऊ विश्वविद्यालयों के विधानों में भी राज्य
कार उनकी कुछ आन्तरिक अव्यवस्थाओं तथा दलबन्दी को दूर करने के
श्य से उनके विधानों में संशोधन करने जा रही है। आगरा व इलाहाबाद
ये संशोधन हो चुके हैं और लखनऊ विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में एक विधेयक
धानसभा के समक्ष है। इनका वर्णन यथास्थान किया जायगा।

अन्त में भारत के ३१ वें विश्वविद्यालय की स्थापना आन्ध्र राज्य में इसी
र्ष २ सितम्बर, १६५५ को तिरूपथी में हुई है। इस विश्वविद्यालय का नाम श्री
कटेश्वर विश्वविद्यालय है। यह नामकरण वेंकटेश्वर नामक देवता के नाम के
ाधार पर हुआ है। तिरुमलै निरुपथी देवस्थानम् संस्थाजिसकी कि वार्षिक आय
गभग ४० लाख रुपया है, की ओर से १६ लाख रुपये का एक भवन दान में
या गया है। साथ ही संस्था ने ६.५ लाख का एक प्रत्यक्ष अनुदान एवं २.५
ाख रुपये का एक वार्षिक आवर्तक अनुदान भी दिया है। राज्य सरकार ने भी
वेश्वविद्याल की स्थापना के लिये २.५ लाख रुपये का अनुदान दिया हैं। यह
वेश्वविद्यालयय प्रथम दो वर्षों तक तो स्थानीय (Residential) रहेगा।
ादुपरान्त रायलसीमा के कालेज भी इससे सम्बन्धित कर दिये जाँयगे। इस
वेश्वविद्यालय का कुलपति आन्ध्र का चीफ जस्टिस होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में क्रमशः उन्नति होती जा रही है। प्रतिवर्ष उच्चशिक्षा के नये विषय तथा विश्वविद्यालयों में नवीन विभाग खुलते जा रहे हैं। अनुसन्धानों के आकार व श्रेष्ठता में भी पर्याप्त सुधार हुआ है। पाठ्यक्रमों में नवीन विषयों के समावेश से आधुनिक भारत की अधिक से अधिक शिक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं व महत्त्वाकांक्षाओं को पोषण मिल रहा है।

† नीचे की तालिका से विश्वविद्यालयों की संख्या इत्यादि के विषय में हमें उनकी स्थिति का पता लगता है :

नाम	स्थापन तिथि	प्रकार	विद्यार्थियों की संख्या (१९४७)	पूर्ण आय में सरकारी अनुदान का प्रतिशत
१	२	३	४	५
१. कलकत्ता	१८५७	सम्बन्धक तथा शिक्षण	४५,००८	२२.६
२. बम्बई	१८५७	,, ,, ,,	४३,०९०	८.६
३. मद्रास	१८५७	,, ,, ,,	२८,८८८	२२.४
४. इलाहाबाद	१८८७	,, एवं संघीय	३,५०२	५२.८८
५. बनारस	१९१६	शिक्षण	५,०८३	९.२
६. मैसूर	१९१६	शिक्षण तथा सम्बन्धक	६,३५०	६९.२
७. पटना	१९१७	,, ,, ,,	५,४७१	७.२
८. उस्मानियाँ	१९१८	शिक्षण	४,८६२	९१.३
९. अलीगढ़	१९२०	,,	४,००९	३५.७
१०. लखनऊ	१९१०	,,	३,८९३	५३.३
११. दिल्ली	१९२२	शिक्षण तथा संघीय	४,३११	५२.४
१२. नागपुर	१९२३	शिक्षण तथा सम्बन्धक	५,७३४	१५.४
१३. आन्ध्र	१९२६	,, ,, ,,	६,४४५	२०.४
१४. आगरा	१९२७	सम्बन्धक	९,९३६	९.९६
१५. अरणामलै	१९२९	शिक्षण	१,९८१	४७.६२
१६. त्रिवांकुर	१९३७	शिक्षण तथा सम्बन्धक	५,७१५	७८.६
१७. उत्कल	१९४३	सम्बन्धक	३,६६२	९.६१
१८. सागर	१९४६	शिक्षण तथा सम्बन्धक	१,८२८	३३.३९
१९. राजपूताना	१९४७	सम्बन्धक	अप्राप्त	४८.२३
२०. पूर्वीय पंजाब	१९४७	शिक्षण तथा सम्बन्धक	,,	अप्राप्त
२१. गोहाटी	१९४७	,, ,, ,,	,,	,,
२२. पूना	१९४८	,, ,, ,,	,,	,,
२३. रुड़की	१९४८	शिक्षण	,,	,,
२४. जम्बूकाश्मीर	१९४८	सम्बन्धक	,,	,,
२५. बड़ौदा	१९४९	सम्बन्धक तथा शिक्षण	,,	,,
२६. कर्नाटक	१९५०	,, ,,	,,	,,
२७. गुजरात	१९५०	सम्बन्धक	,,	,,
२८. एस० एन० डी० टी महिला विश्वविद्यालय	१९५१	,,	,,	,,
२९. विश्वभारती	१९५१	शिक्षण तथा स्थानीय	,,	,,
३०. बिहार	१९५२	सम्बन्धक	,,	,,
३१. श्रीवेंकटेश्वर (आन्ध्र)	१९५४	सम्बन्धक तथा शिक्षण	,,	,,

देश की स्वतन्त्रता के उपरान्त विश्वविद्यालयों में शिक्षण के माध्यम का प्रश्न बड़ा विवादग्रस्त बना रहा। भाषावार प्रान्तों के आधार पर नये विश्वविद्यालयों की स्थापना होने से यह विवाद और भी अधिक बल पकड़ गया। बहुत से विश्वविद्यालयों की यह स्वाभाविक इच्छा थी कि भारतीय भाषाओं को ही शिक्षण का माध्यम बनाया जाय। भारत सरकार का भी मत यह था कि यद्यपि शिक्षण के माध्यम को बदलना आवश्यक है, तथापि यह परिवर्तन क्रमशः धीरे-धीरे ही करना चाहिये, ताकि अध्यापकों और विद्यार्थियों को अनावश्यक कठिनाइयों का सामना न करना पड़े। इस प्रश्न पर विचार करने के उद्देश्य से मई, १९४८ में सभी विश्वविद्यालयों के उप-कुलपतियों का एक सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन ने बड़े मूल्यवान् सुझाव दिये जिनमें से अधिकांश सुझाव भारतीय विद्यालय कमीशन ने अपनी सिफारिशों में सम्मिलित कर लिये हैं।

विश्वविद्याय्य शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का यह मत रहा है कि प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा की तुलना में देश में विश्वविद्यालय शिक्षा का आकार बढ़ता जा रहा है। साथ ही वहाँ जो शिक्षा दी जाती है वह अधिकांश में शहरी है जिसमें व्यावसायिक व टेक्नीकल शिक्षा का अभाव है। स्वतन्त्रता के उपरान्त यह भावना भी देश में उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी कि विश्वविद्यालयों की स्थिति का पुनरीक्षण किया जाय, ताकि देश की नवीन आवश्यकताओं और महत्त्वाकांक्षाओं के अनुरूप उन्हें ढाला जा सके। 'अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड' तथा 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद' ने भी इन्हीं विचारों का समर्थन किया। जनवरी, १९४८ में एक 'अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन' भी हुआ, जिसमें इस बात की सिफारिश की गई कि उच्च शिक्षा के सम्पूर्ण क्षेत्र का पुनरीक्षण करने के लिये एक कमीशन की नियुक्ति की जाय। अतः भारत सरकार ने डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में इस कमीशन की ४ नवम्बर, १९४८ को नियुक्ति करदी। कमीशन ने उसी वर्ष दिसम्बर में अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया और अगस्त, १९४९ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करदी। इसका वर्णन आगे किया जायगा।

यह एक महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट है और विश्वविद्यालय शिक्षा के प्रायः सभी पक्षों पर अपना निश्चित मत प्रकट करती है। इस रिपोर्ट ने विश्वविद्यालयों की शिक्षा के विषय में जनता के विचारों को पर्याप्ततः प्रभावित किया है। भारत सरकार ने कमीशन की सभी सिफारिशों को सामान्यतः मान कर उन्हें देश में विश्वविद्यालय शिक्षा के विकास के लिये एक आधार मान लिया है।

'केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड' ने नवम्बर, १९५३ में अपने २० वें वार्षिक अधिवेशन में पुनः कमीशन की सिफारिशों पर विचार किया और सिफारिश की कि "अध्यक्ष (केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्री) को चाहिये कि वह यह जानने के लिये कि कमीशन की सिफारिशें कहाँ तक कार्यान्वित की जा रही हैं तथा यह सुझाव देने के लिये कि वे सिफारिशें भविष्य में और किस प्रकार तीव्रता से कार्यान्वित की जा सकती हैं, एक समिति की स्थापना करे।"*

७ फरवरी, १९५४ को 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहाकार बोर्ड' के २१ वें अधिवेशन में इस समिति की रिपोर्ट पर विचार किया गया। रिपोर्ट में कहा गया था कि भारत के विश्वविद्यालयों के विधानों में सुधार करने के लिये शीघ्र ही कदम उठाये जाने चाहिए, जिससे विश्वविद्यालयों के सीनेटों, सिंडीकेटों तथा शिक्षा-परिषदों (Academic Councils) को शीघ्र ही अन्तरिक षड्यन्त्रों व दलबन्दी से मुक्त किया जा सके। समिति ने यह भी कहा है कि वाइस-चांसलरों की नियुक्ति का प्रश्न बड़ा महत्वपूर्ण है और इस कार्य के लिए सभी विश्वविद्यालयों को यथासम्भव दिल्ली विश्वविद्यालय की पद्धति का अनुसरण करना चाहिए। साथ ही शिक्षकों के वेतन-क्रमों में सुधार, विश्वविद्यालयों में छात्रावासों का निर्माण कराने के लिए केन्द्रीय ऋण-सहायता, शिक्षण में भाषण-पद्धति के स्थान पर 'ट्यूटोरियल' पद्धति का अधिक प्रयोग तथा निर्धन व योग्य छात्रों के लिए अधिक छात्रवृत्तियों की व्यवस्था इत्यादि अन्य सिफारिशें इस समिति ने कीं। बोर्ड ने प्रायः सभी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया है।

विश्वविद्यालय शिक्षा कमीशन ने एक महत्वपूर्ण सिफारिश की थी कि ब्रिटेन की 'यूनिवर्सिटी ग्रान्ट्स कमेटी' के आधार पर भारत में भी एक इसी प्रकार की समिति की स्थापना की जाय, जो कि विश्वविद्यालयों तथा उच्च शिक्षा की अन्य संस्थाओं को अनुदान देने के विषय में सरकार को सलाह दे। इस सुझाव के आधार पर भारत सरकार ने एक 'विश्वविद्यालय अनुदान समिति' की स्थापना की। दिसम्बर, १९५३ में इस कमेटी को एक कमीशन का रूप दे दिया गया और इसके अधिकार में पर्याप्त रुपया विश्वविद्यालयों को अनुदान देने के उद्देश्य से रख दिया गया। इस कमीशन का वर्णन भी आगे किया जायगा। इधर एक महत्वपूर्ण कदम सरकार ने मानव-विज्ञानों (Humanities) में अनुसन्धान को प्रोत्साहन देने के लिए भी उठाया है। वास्तव में ऊँची कक्षाओं तक पहुँचने पर बहुत से विद्यार्थी कला-विषयों को छोड़कर विज्ञान

* Vide *Resolution of C. A. B. E.*, dated 11. Nov. 1953.

सम्बन्धी विषयों में आ जाते हैं, क्योंकि विज्ञानों में उन्हें अनुसन्धान की अधिक सम्भावनाएँ निहित हुई प्रतीत होती हैं। इससे विज्ञानों में भी कार्य की श्रेष्ठता गिर जाती है। यही कारण है कि १६५४-५५ के बजट में भारत सरकार ने २००) प्रति माह के हिसाब से १०० छात्रवृत्तियाँ मानव-विज्ञानों में एम० ए० पास करने के उपरान्त अनुसन्धान करने के लिए विद्यार्थियों को दी हैं। चालू वर्ष में इस कार्य ने अच्छी प्रगति की है।

विश्वविद्यालय शिक्षा के सम्बन्ध में बहुत से शिक्षा-विशारदों तथा राजनैतिक नेताओं का यह मत है कि यह आवश्यकता से अधिक हो गई है और देश में अब उच्च शिक्षा को और अधिक प्रोत्साहन देना हानिकारक है। उनका यह भी कहना है कि विश्वविद्यालय शिक्षा को प्रोत्साहन देने से प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा की अवहेलना हो जाती है। वास्तव में यह मत भ्रान्तिपूर्ण है। निस्संदेह देश में प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा हमारी आवश्यकताओं से बहुत कम है; किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि विश्वविद्यालय शिक्षा प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा की बलि देकर स्वयं आगे बढ़ रही है। वास्तव में यदि हम भारत की विश्वविद्यालय शिक्षा की स्थिति की अन्य देशों को उसी स्तर की शिक्षा की स्थिति से तुलना करें तो प्रतीत होगा कि विश्वविद्यालय शिक्षा का प्रसार देश की आवश्यकताओं से अधिक नहीं हो पाया है। इस दृष्टि से १६४४ ई० में सार्जेण्ट कमेटी की रिपोर्ट में जो विचार प्रकट किये गए हैं, बड़े महत्वपूर्ण हैं। "यदि भारत की जनसंख्या को देखते हुए यहाँ के विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों की संख्या का अनुमान लगाया जाय तो विदित होगा कि विश्वविद्यालय शिक्षा में विश्व के अन्य प्रमुख राष्ट्रों की अपेक्षा सम्भवतः भारत सबसे अधिक पिछड़ा हुआ है। युद्ध से पूर्व जर्मनी में विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों का वहाँ की जन संख्या से अनुपात १ : ६६० था। ग्रेट ब्रिटेन में यह अनुपात १:८३७, अमरीका में १:२२५ तथा रूस में १:३०० था, जब कि यही अनुपात भारतवर्ष में १:२२०६ था।"

आगे चलकर इसी रिपोर्ट में विश्वविद्यालयों की संख्याओं के विषय में कहा गया है कि, "इङ्गलैण्ड में ४.१ करोड़ जनता के लिए १२ विश्वविद्यालय हैं। कनाडा में केवल ८५ लाख लोगों के लिये १३, आस्ट्रेलिया में ५५ लाख जनसंख्या के लिये ६, संयुक्त राष्ट्र अमरीका में १३ करोड़ लोगों की विश्वविद्यालय शिक्षा के लिये १७२० संस्थायें हैं, जबकि भारत में ४० करोड़ की जनसंख्या के लिये केवल १८ विश्वविद्यालय हैं।"†

† *Sargent Plan Report* (1944), p. 28-29.

ठीक इसी प्रकार के विचार 'विश्वविद्यालय शिक्षा कमीशन' में भी व्यक्त किये गए हैं : "यह न समझ लेना चाहिए कि हमारे देश में आवश्यकता से अधिक विद्यार्थी कालेजों और विश्वविद्यालयों में पढ़ रहे हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त करने वालों का प्रतिशत हमारे देश में पाश्चात्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है। उदाहरणतः अमरीका में १५ करोड़ से भी कम जनसंख्या में से १९४६-४७ ई० में २०,७८,०९५ विद्यार्थी कालेजों अथवा विश्वविद्यालयों में थे। जब कि इस देश में ३२ करोड़ जनसंख्या में से केवल २,४१,७९४ विद्यार्थी विश्वविद्यालयों अथवा इनसे सम्बन्धित कालेजों में शिक्षा पाते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि हमारी जनसंख्या से भी आधी जनसंख्या में से अमरीका में हमारे देश की अपेक्षा ८ गुने अधिक विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त करते हैं।" ‡

उपर्युक्त विवरण से प्रकट होता है कि भारत में उच्च शिक्षा आवश्यकता से अधिक नहीं है। अन्य उन्नत देशों के स्तर पर आने के लिए अभी भारत को बहुत प्रयत्न करना है।

विश्वविद्यालयों में अनुसंधान

भारतीय विश्वविद्यालयों में २० वीं शताब्दि के दूसरे दशक से कुछ अनुसन्धान व गवेषणा का कार्य प्रारम्भ हो गया था। प्रान्तीय स्वायत्त शासन के उपरान्त इस दिशा में सन्तोषजनक प्रगति हुई, किन्तु युद्धकाल में पुनः इस गति में बाधा उत्पन्न हो गई थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त इस दिशा में प्रगति होना प्रारम्भ हो गया है। इस समय नैसर्गिक विज्ञानों, मानवीय विज्ञानों तथा औद्योगिक शिक्षा के क्षेत्र में अनुसन्धान को बहुत प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

भारतवर्ष में मौलिक अनुसन्धान की अवस्था सन्तोषजनक नहीं। जब तक हमारे विश्वविद्यालय सम्बन्धक (Affiliating) प्रकार के थे, कुछ कालेजों में थोड़ा बहुत अनुसन्धान हुआ। निस्सन्देह कुछ कार्य तो अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का हुआ, जिसके प्रणेताओं में सर भंडारकर (पूना), सर गंगानाथ (इलाहाबाद), प्रो० कुप्पूस्वामी शास्त्री (मद्रास), सर जगदीशचन्द्र बोस तथा सर पी० सी० रे (कलकत्ता), प्रो० काश्यप (लाहौर) तथा सर सी० वी० रमन (बंगलौर) इत्यादि प्रमुख हैं। ये अनुसन्धान अधिकांश में विज्ञानों में हुए। सर आसुतोष मुकर्जी के प्रयत्नों से कलकत्ता विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम व्यवस्थित अनुसन्धान का कार्य १९१४ ई० में प्रारम्भ हुआ था। तब से प्रायः

‡ *Universities Education Commission Report*, Vol. I. p. 346.

सभी विश्वविद्यालयों में विज्ञान तथा कलाओं में अनुसन्धान हो रहे हैं। विश्वविद्यालयों के योग्य शिक्षकों ने अधिकतर इस ओर ध्यान दिया है और अनुसन्धान क्षेत्र में नेतृत्व भी किया है। अनुसन्धान करने वाले विद्यार्थियों के लिये पी० एच० डी० (Ph. D.), डी० लिट् (D. Litt.) तथा डी० एस० सी० (D. Sc.) इत्यादि की उपाधियाँ प्रारम्भ की गईं। सरकार ने भी इस ओर ध्यान दिया और विश्वविद्यालयों को अनुसन्धान के लिये विशेष अनुदान तथा विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ प्रदान कीं। कुछ विद्यार्थी विदेशों में इङ्गलैंड, अमेरिका, जर्मनी, जापान तथा फ्रांस इत्यादि में भी भेजे गये। इस प्रकार इस दिशा में कुछ प्रगति हुई है।

इतना अवश्य है भारत जैसे विशाल देश में यह प्रगति नगण्य है। जहाँ पर ~~इस चाहते~~ हैं कि अनुसन्धान करने वालों की संख्या में वृद्धि हो, वहाँ आवश्यक यह भी है कि उनके द्वारा उत्पन्न किया हुआ कार्य उच्चकोटि का हो, जो कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर रक्खा जा सके। सन् १९४८ में राधाकृष्णन् कमीशन ने यह अनुमान लगाया था कि गत १० वर्षों में भारत के सभी विश्वविद्यालयों ने २६० लोगों को ६ विज्ञानों में डाक्टर की उपाधि वितरित की; अर्थात् २६ व्यक्तियों ने अनुपाततः प्रतिवर्ष कुछ गवेषणात्मक कार्य किया, जबकि १९३५ ई० में अकेले कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में ४०० से भी अधिक विद्यार्थी विज्ञानों के अनुसन्धान तथा पी० एच० डी० के कार्य में जुटे हुए थे।†

भारत में अनुसंधान क्षेत्र में धीमी प्रगति के निम्नलिखित कारण हैं। एक तो विश्वविद्यालयों में वेतनक्रम अपर्याप्त होने के कारण योग्य शिक्षक तथा विद्यार्थी अन्य सरकारी उच्च पदों पर चले जाते हैं। दूसरे, विश्वविद्यालयों में पर्याप्त सज्जा व सामग्री का अभाव है। अनुसंधान कार्य ऐसे ही स्थानों में संभव है जहाँ पूर्ण सुसज्जित अनुसंधानशाला तथा पुस्तकालय हों तथा आधुनिकतम यंत्र एवं अन्य आवश्यक सामग्री उपलब्ध हों। तीसरे, ऐसे योग्य तथा अनुभवी शिक्षकों का अभाव है जिनके अन्तर्गत अनुसंधान किया जाय। जो शिक्षक अनुसंधान कराते हैं उन्हें शिक्षण कार्य भी पूरा-पूरा करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में उनके पास अधिक समय या शक्ति अनुसंधान कराने की नहीं रहती। इसके अतिरिक्त बहुधा उन शिक्षकों को अनुसंधान कार्य के लिये कुछ वेतन इत्यादि भी नहीं दिया जाता अथवा अत्यन्त अल्प दिया जाता है। इसके अतिरिक्त हमारे विद्यार्थियों में भी साधारणतः अनुसंधान करने के लिये पर्याप्त मानसिक व

† *Report* : University Education Commission. P. 147.

नैतिक सामर्थ्य का अभाव है। अधिकांश विद्यार्थी आर्थिक कठिनाइयों के कारण भी अनुसंधान नहीं कर सकते। अन्त में देश के उद्योग-पतियों के सहयोग का भी इस क्षेत्र में अभाव है। किन्तु हर्ष का विषय है कि स्थिति में सुधार बड़ी तेज़ी से होरहा है और सरकार तथा उद्योगपति दोनों ही इसमें रुचि दिखला रहे हैं।

विश्वविद्यालय शिक्षा कमीशन (१९४८ ई०)

नियुक्ति—जैसा कि नीचे संकेत किया जा चुका है, भारतीय विश्वविद्यालयों के विकास के लिये कुछ योजनायें बनाने से पूर्व यह उचित समझा गया था कि उनकी आर्थिक तथा शिक्षण-सम्बन्धी अवस्था का दिग्दर्शन कर लिया जाय। अतः अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड तथा केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड ने निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया :

"बोर्डों की राय में भारतीय विश्वविद्यालयों के कार्य का दिग्दर्शन वांछनीय है, अतः प्रस्ताव किया जाता है कि इन उद्देश्यों के लिये भारत सरकार अन्य सम्बन्धित सरकारों की अनुमति से भारतीय विश्वविद्यालय शिक्षा पर रिपोर्ट करने तथा देश की वर्तमान व भावी आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए सुधार तथा विकास के लिये सुझाव रखने के लिये, हंटर कमीशन के आधार पर एक कमीशन नियुक्त करे।"

सरकार ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और नवम्बर, १९४८ ई० में डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में एक विश्वविद्यालय कमीशन की नियुक्ति की। इस कमीशन के अन्य प्रमुख सदस्य थे डा० ताराचंद, सर जेम्स डफ (डरहम विश्वविद्यालय के उपकुलपति), डा० जाकिर हुसैन, डा० आर्थर ई० मौरगन (अमेरिका), डा० लक्ष्मणस्वामी मुदलियार, डा० मेघनाद साहा तथा डा० जॉन टिजर्ट (अमेरिका के भूतपूर्व शिक्षा-कमिश्नर) इत्यादि। २५ अगस्त, १९४९ ई० को कमीशन ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत कर दिया।

कमीशन का जाँच-क्षेत्र (Terms of Reference) बहुत व्यापक था। इसमें वर्तमान तथा भावी राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए भारतीय विश्वविद्यालयों के उद्देश्यों तथा अनुसंधान इत्यादि से लेकर विश्वविद्यालयों के संगठन तथा प्रशासन, आर्थिक समस्या, शिक्षकों की समस्या, पाठ्यक्रम, प्रवेश, शिक्षा का माध्यम, धार्मिक शिक्षा, विद्यार्थियों के निवास, स्वास्थ्य तथा अनुशासन इत्यादि सभी समस्याओं के अध्ययन का समावेश है। वस्तुतः उच्चशिक्षा सम्बन्धी किसी भी प्रश्न को ऐसा नहीं छोड़ा गया है जिस पर

कुछ विचार न किया गया हो। अब तक नियुक्त किये जाने वाले सभी कमीशनों में इस विश्वविद्यालय शिक्षा कमीशन की रिपोर्ट अधिक पूर्ण, व्यापक तथा श्रेष्ठ है, तथा इसकी सिफारिशें अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

सिफारिशें :—

कमीशन ने १८ अध्यायों तथा ७४७ पृष्ठों में अपनी रिपोर्ट का प्रथम भाग प्रस्तुत किया है। इसमें विश्वविद्यालय की सभी समस्याओं का उल्लेख किया गया है। दूसरे भाग में संख्यायें तथा आँकड़े व साक्षी इत्यादि हैं। प्रारम्भ में भारत में विश्वविद्यालय शिक्षा की प्रगति का संक्षिप्त इतिहास देते हुए कमीशन ने वर्तमान सामाजिक तथा राजनैतिक ढाँचे में विश्वविद्यालय शिक्षा के उद्देश्यों का उल्लेख किया है। भारतीय संविधान की भूमिका का उल्लेख करते हुए कमीशन ने उच्चशिक्षा के उद्देश्यों में नवीन भारत के निर्माण के लिये, प्रजातन्त्र, न्याय, स्वतन्त्रता, समानता, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृत्व एवं भारतीय संस्कृति के महत्व पर जोर दिया है। इसके उपरान्त क्रमशः शिक्षकों की अवस्था तथा प्रशिक्षण, अनुसन्धान, व्यावसायिक शिक्षा, धार्मिक शिक्षा, शिक्षा का माध्यम, परीक्षा-प्रणाली, विद्यार्थियों की समस्यायें, स्त्री-शिक्षा, संगठन, वित्त, केन्द्रीय तथा अन्य विश्वविद्यालय और अन्त में ग्राम्य विश्वविद्यालयों के विषय में सिफारिशें की हैं। नीचे हम कमीशन की प्रमुख सिफारिशों का अति संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

१. **शिक्षकों की समस्यायें**—शिक्षकों की समस्या कमीशन की राय में प्रमुख समस्या है। कमीशन ने विश्वविद्यालय शिक्षकों का चार श्रेणियों में वर्गीकरण कर दिया है: प्रोफेसर, रीडर, लेक्चरर तथा इंस्ट्रक्टर। इनके अतिरिक्त अनुसन्धान अभिसदस्यों (Research Fellows) की नियुक्ति की सिफारिश भी की गई है। एक श्रेणी से दूसरी उच्च श्रेणी के लिये शिक्षकों की तरक्की केवल योग्यता के आधार पर होनी चाहिये। जूनियर तथा सीनियर पदों के स्थानों में २:१ का अनुपात होना चाहिये। सेवा-निवृत (Retire) होने की उम्र ६० वर्ष होनी चाहिये, किन्तु प्रोफेसरों को ६४ वर्ष तक की आज्ञा दी जा सकती है। इनके अतिरिक्त कमीशन ने विश्वविद्यालय शिक्षकों के लिये प्रॉवीडैन्ट फन्ड, छुट्टी तथा काम करने के घंटे इत्यादि की मर्यादायें भी स्थिर करदीं है और उनके लिये नवीन वेतन-क्रम भी नियत कर दिये हैं।*

---

* उदाहरण के लिये विश्वविद्यालयों के शिक्षकों के लिये कमीशन ने निम्नलिखित वेतन-क्रमों की सिफारिश की है:

प्रोफेसर..................६००—५०—१,३५० रुपया

(शेष अगले पृष्ठ पर)

२. **शिक्षण मानदण्ड**—विश्वविद्यालयों में शिक्षण स्तर उठाने के लिये कमीशन ने प्रवेश की सीमा इन्टरमीडियेट पास होने के उपरान्त ही रक्खी, और सिफारिश की कि प्रत्येक राज्य तथा प्रान्त में उच्चकोटि के इन्टर कालेज स्थापित किये जाँय। १० या १२ वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त विद्यार्थियों का ध्यान विभिन्न उद्यमों की ओर आकर्षित करने के लिये, एक बड़ी संख्या में व्यावसायिक स्कूल खुलने चाहिये। हाईस्कूल तथा कालेज शिक्षकों के लिये 'रिफ्रेशर-कोर्स' सङ्गठित करने चाहिये। विश्वविद्यालयों में कला तथा विज्ञान विभागों में ३,००० तथा सम्बन्धित कालेजों में १,५०० से अधिक विद्यार्थी न रक्खे जाँय। ट्यूटोरियल-पद्धति को पूर्णतः संगठित करके नियमित रूप से चालू कर दिया जाय। विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों तथा प्रयोगशालाओं को आधुनिकतम साधनों से प्रचुर मात्रा में सज्जित कर देना चाहिये। इसके अतिरिक्त शिक्षकों द्वारा शिक्षण-विधि के सुधार पर भी जोर दिया गया।

३. **पाठ्य-क्रम** (कला तथा विज्ञान)—मास्टर डिग्री 'ऑनर्स' के एक वर्ष बाद तथा 'उत्तीर्ण-परीक्षा' (Pass Examination) के दो वर्ष बाद प्रदान की जानी चाहिये। विश्वविद्यालय तथा माध्यमिक शिक्षालयों को साधारण-शिक्षा (General Education) के सिद्धान्तों तथा व्यावहारिक-ज्ञान (Theory and Practice) का अध्ययन प्रारम्भ कर देना चाहिये; तथा

रीडर .... ६००—३०—६०० रुपया
लैक्चरर .... ३००—२५—६०० ,,
इंस्ट्रक्टर या फैलो २५० ,,
रिसर्च फैलो .... २५०—२५—५०० ,,

इसी प्रकार ऐसे सम्बन्धित कालेजों के शिक्षकों के लिये जिनमें उत्तर-स्नातक कक्षायें नहीं हैं, उन्होंने निम्नलिखित क्रम निर्धारित किये हैं—

लैक्चरर .... २००–१५–३२०–२०–४०० रु०
सीनियर पद पर ... ४००–२५–६०० (एक कालेज में दो)
प्रिंसीपल .... ६००–४०–८०० रु०

उन कालेजों के लिये जिनमें उत्तर-स्नातक कक्षायें हैं :—

लैक्चरर .... २००–१५–३२०–२०–४००–२५–५०० रु०
सीनियर पद पर .... ५००–२५–८०० (एक कालेज में दो)
प्रिंसीपल .... ८००–४०–१,००० रु०

पाठ्य-क्रम और पाठ्य-वस्तु को शीघ्र ही तैयार करके उन्हें इन्टर तथा डिग्री कक्षाओं में प्रारम्भ कर देना चाहिये। प्रत्येक क्षेत्र में साधारण तथा विशिष्ट-शिक्षा का सम्बन्ध ज्ञात कर लेना चाहिये; तथा विभिन्न व्यवसायों के लिये, विद्यार्थियों की रुचि ज्ञात करके उनके व्यक्तित्व के विकास की ओर ध्यान देना चाहिये।

४. उत्तर-ग्रेजुएट-प्रशिक्षण तथा अनुसंधान (Post Graduate Training and Research) (कला व विज्ञान):—कमीशन ने इस क्षेत्र में वर्तमान गिरी हुई अवस्था पर दुख प्रकट किया और कहा कि हमारे देश में अनुसंधान क्षेत्र में बहुत ही विशाल सुअवसर विद्यमान हैं। अतएव विद्यार्थियों को इर प्रकार की सुविधायें प्रदान करके उन्हें अनुसंधान के लिये प्रोत्साहित करनी चाहिये।

एम० ए० तथा एम० एस सी० कक्षाओं में प्रवेश अखिल भारतीय स्तर पर होना चाहिये तथा विद्यार्थियों और शिक्षकों में निकटतम सम्पर्क होना चाहिये। पीएच० डी० (Ph. D.) के अध्ययन में कम से कम २ वर्ष का अनुसंधान-कार्य होना चाहिये। इसमें एक थीसिस के अतिरिक्त विद्यार्थियों के साधारण ज्ञान तथा विषय पर उनके अधिकार की जाँच करने के लिये एक मौखिक परीक्षा (*Viva voce*) भी होनी चाहिये। पीएच० डी० में भी प्रवेश अखिल भारतीय आधार पर होना चाहिये। योग्य विद्यार्थियों के लिये अनुसन्धान-काल में अभिवृत्ति (Research Fellowships) मिलनी चाहिये। एम० एससी० तथा पीएच० डी० के विद्यार्थियों को शिक्षा मन्त्रालय की ओर से छात्रवृत्तियाँ तथा निशुल्क स्थान मिलने चाहिये। विज्ञान विभागों में अतिरिक्त तथा योग्य शिक्षकों की नियुक्ति करनी चाहिये जो कि शिक्षण-कार्य से मुक्त हों और केवल अनुसन्धान कार्य ही करावें। इनके अतिरिक्त ५ समुद्रीय बाइलोजिकल स्टेशनों की स्थापना की भी सिफारिश की गई; तथा बायोकेमिस्ट्री व बायोफिजिक्स इत्यादि में मौलिक अनुसन्धान की आवश्यकता पर जोर दिया गया।

५. व्यावसायिक शिक्षा—कृषि-शिक्षा के विषय में कमीशन ने अन्य उन्नत राष्ट्रों का उदाहरण देते हुए तुलनात्मक दृष्टि से भारत की वर्तमान अवस्था पर प्रकाश डाला है। कमीशन की राय में कृषि-शिक्षा को एक राष्ट्रीय प्रश्न मान लेना चाहिये तथा प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षाक्रम में इसे प्रमुख स्थान देना चाहिये। कृषि-शिक्षा, अनुसन्धान तथा कृषिनीति को ऐसे व्यक्तियों के हाथों में सौंप देना चाहिये जो कि कृषि-जीवन का व्यक्तिगत अनुभव रखते हों

तथा उसके विशेषज्ञ हों। कृषि-कालेजों में व्यावहारिक शिक्षा तथा अनुसन्धान पर विशेष जोर देना चाहिये। नये कृषि-कालेजों को नवीन ग्राम्य-विश्वविद्यालयों की स्थापना करके उनसे सम्बन्धित कर देना चाहिये। इन कालेजों की पृष्ठ-भूमि तथा स्वरूप ग्रामीण होना चाहिये। इसके अतिरिक्त एक दीर्घ संख्या में प्रयोगात्मक फार्म तथा उच्चशिक्षा में अनुसन्धान और प्रयोगशालाओं की स्थापना होनी चाहिये। वर्तमान अनुसन्धानशालाओं को विस्तीर्ण करके उन्हें अधिक आर्थिक सहायता देनी चाहिये।

वाणिज्य की शिक्षा के लिये कमीशन ने सिफारिशें की कि अध्ययन काल में वाणिज्य के विद्यार्थियों को तीन या चार फर्मों या दुकानों में व्यावहारिक कार्य करने का सुअवसर मिलना चाहिये। ग्रेजुएट होने के उपरांत कुछ विद्यार्थी वाणिज्य की किसी एक शाखा में विशेषज्ञ बनने चाहिये। एम० कॉम० के विद्यार्थियों को भी पुस्तकीय ज्ञान तक ही सीमित न रह कर व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

शिक्षा-विज्ञान के क्षेत्र में कमीशन ने अत्यन्त ही उपयोगी तथा वास्तविक सिफारिशें की हैं। कमीशन के अनुसार पाठ्यक्रमों में सुधार होना चाहिये तथा स्कूल-प्रैक्टिस को अधिक समय देना चाहिये। प्रैक्टिस के लिये उपयुक्त स्कूल का चुनाव होना चाहिये। ट्रेनिङ्ग कालेज के अधिकांश शिक्षक ऐसे वर्ग में से लेने चाहिये जिन्हें स्कूलों में शिक्षण का पर्याप्त अनुभव हो। शिक्षा सिद्धान्तों के पाठ्यक्रम (Courses of Education Theory) लचीले हों और स्थानीय परिस्थितियों से मेल खाते हों। शिक्षा में मास्टर डिग्री (M. Ed.) के लिये केवल ऐसे विद्यार्थियों को ही आज्ञा दी जाय जिन्हें कुछ वर्षों के शिक्षण-कार्य का अनुभव हो। प्रोफेसरों और अन्य शिक्षकों की मौलिक रचनायें अखिल-भारतीय स्तर की होनी चाहिये।

इंजिनियरी तथा टैक्नोलॉजी की शिक्षा के सम्बन्ध में कमीशन ने वर्तमान शिक्षालयों के सुधार तथा उच्चशिक्षा के अन्य स्कूलों के स्थापित करने की सिफारिश की। पुस्तकीय ज्ञान के साथ ही साथ विद्यार्थियों को कारखानों (Workshops) में व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने की सुविधायें भी दी जानी चाहिये। देश तथा काल की माँग के अनुसार पाठ्यक्रम में उचित सुधार होना चाहिये। अनुसन्धान तथा उच्चशिक्षा के लिये केन्द्रों की स्थापना की जानी चाहिये। इसके अतिरिक्त इंजिनियरी के कालेजों की पुनर्स्थापना तथा संगठन के विषय में भी कमीशन ने विशेष सुझाव रक्खे।

कानून के कालेजों के विषय में कमीशन ने कहा कि इनका पूर्ण पुनसंगठन होना चाहिये। प्रवेश के लिये ३ वर्ष का डिग्री शिक्षा का अध्ययन अनिवार्य है। कानून की व्यावहारिक शिक्षा की व्यवस्था भी होनी चाहिये। शिक्षकों की नियुक्ति पूर्ण-कालीन और अंश-कालीन दोनों ही प्रकार की हो सकती है। कानून पढ़ने वाले विद्यार्थियों का दूसरा पाठ्यक्रम लेने की आज्ञा केवल विशेष परिस्थिति में तथा अतियोग्य विद्यार्थी को ही मिलनी चाहिये। संवैधानिक-कानून, अन्तर्राष्ट्रीय-कानून, न्यायशास्त्र तथा हिन्दू और मुसलमानी कानूनों में अनुसंधान को प्रोत्साहन मिलना चाहिये।

चिकित्सा-विज्ञान की शिक्षा के विषय में कमीशन ने कहा कि एक मैडिकल कालेज में १०० से अधिक विद्यार्थी भर्ती न किये जाँय। ग्रामीण केन्द्रों में प्रशिक्षण की सुविधायें प्रदान की जाँय। प्राचीन भारतीय चिकित्सा-पद्धति को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया जाय। 'पब्लिक इंजिनियरिंग' तथा 'नर्सिंग' में 'पोस्ट-ग्रेजुएट' शिक्षा की व्यवस्था के लिये भी कमीशन ने सिफारिश की।

इन व्यवसायों में शिक्षा प्राप्त करने के अतिरिक्त कमीशन ने व्यापार-शासन (Business Administration), जन-प्रशासन (Public Administration) तथा औद्योगिक-सम्बन्धों (Industrial Relations) में भी विशेष शिक्षा प्रदान करने की सिफारिशें की हैं।

६. धार्मिक शिक्षा—धार्मिक शिक्षा के क्षेत्र में कमीशन ने इसका इतिहास बतलाते हुए भारत की वर्तमान राजनैतिक अवस्था की ओर संकेत किया है; और अन्त में एक धर्म निरपेक्ष राज्य के लिये धार्मिक शिक्षा सम्बन्धी कुछ सुझाव रक्खे हैं।

प्रत्येक शिक्षा संस्था में दैनिक-कार्य कुछ मिनटों के मौन चिन्तन के साथ प्रारम्भ हो जिसमें प्रत्येक व्यक्ति आत्मदर्शन का प्रयास करे। क्योंकि "व्यक्ति एक आत्मा है और शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थी को इस सत्य के प्रति जागरूक करना है, जिससे कि वह अपनी आत्मा को पहिचान सके और अन्तर्आत्मा के प्रकाश में वह अपने जीवन-कार्यों को समुचित रूप से ढाल सके।"* दूसरा सुझाव है कि डिग्री पाठ्यक्रम की प्रथम वर्ष में महान् धार्मिक गुरुओं जैसे; गौतम, कनफ्यूशस, ज़ोरास्टर, सुकरात, जीसस, शंकर, रामानुज, माधव, मुहम्मद, कबीर, नानक तथा गान्धी इत्यादि के जीवन-चरित्र पढ़ाने चाहिये; तथा द्वितीय वर्ष में विश्व-साहित्य में से सार्वभौमिक महत्त्व के

* *University Education Commission*. P. 300

प्रमुख अंशों का अध्ययन कराना चाहिये। तृतीय वर्ष में धर्मदर्शन के मूलभूत तत्वों का अध्ययन कराना चाहिये।

७. शिक्षा का माध्यम—इस तर्कयुक्त समस्या को भी कमीशन ने बड़े सुन्दर ढंग से सुलझाने का प्रयत्न किया है। सर्वप्रथम एक राष्ट्रीय भाषा को पूर्णतः समर्थ और सम्पन्न बनाना चाहिये। कमीशन ने अन्तर्राष्ट्रीय पारिभाषिक शब्दों को ग्रहण करके तथा उनके देश और कालानुसार परिवर्तन करके ग्राहण करने की सिफारिश की है।

विश्वविद्यालय शिक्षा के माध्यम के लिये कमीशन ने स्थानीय भाषाओं के प्रयोग करने की सिफारिश की है; साथ ही विद्यार्थी यदि चाहें तो राष्ट्रभाषा हिन्दी (देव नागरी लिपि में) का भी प्रयोग कर सकते हैं। माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय स्तरों पर विद्यार्थियों को कम से कम तीन भाषाओं का ज्ञान होना चाहिये : मातृभाषा, राष्ट्रभाषा तथा अँग्रेजी। राष्ट्रभाषा तथा स्थानीय भाषाओं के शीघ्र विकास के लिये कमीशन ने सिफारिशें कीं कि वैज्ञानिकों तथा भाषा-विशेषज्ञों का एक 'बोर्ड' बनाया जाय, जोकि सम्पूर्ण देश के लिये वैज्ञानिक शब्दावली तैयार करे तथा अखिल भारतीय महत्त्व की पुस्तकें तैयार करे। दूसरे, प्रान्तीय सरकारों को चाहिये कि विभिन्न प्रान्तों में माध्यमिक शिक्षा में डिग्री कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में सभी कक्षाओं में राष्ट्रभाषा हिन्दी का शिक्षण अनिवार्य करदें। नवीन ज्ञानधारा से सम्पर्क बनाये रखने के लिये हाईस्कूलों तथा विश्वविद्यालयों में अँग्रेजी भी एक विषय के रूप में पढ़ाई जानी चाहिये।

८. परीक्षा प्रणाली—भारतीय शिक्षाक्षेत्र में प्रचलित परीक्षा-प्रणाली की कमीशन ने पर्याप्त भर्त्सना की है।† किन्तु उन्होंने इसके सुधार की ही सिफारिश की, न कि इसका पूर्णतः उन्मूलन करने की। "हमारा विश्वास है कि यदि हमें विश्वविद्यालय शिक्षा में कोई एक मात्र सुधार ही बताना पड़े तो हम

† "For nearly half a century, examinations, as they have been functioning, have been recognised as one of the worst features of Indian education. Commissions and Committees have expressed their alarm at their pernicious domination over the whole system of education in India. The obvious deficiencies and harmful consequences of this most pervasive evil in Indian education have been analysed and set out clearly by successive University Commissions since 1902, by a Government Resolution as far back as 1904 and by a committee of the Central Advisory Board of Education in recent years." *Report* Universities Education Commission, vol. I, P. 327.

उसकी परीक्षा-प्रणाली में 'सुधार' ही बतायेंगे। 'सुधार' शब्द को हमने समझ सोच कर ही प्रयोग किया है, अन्यथा हम जानते हैं कि भारत की भांति अन्य देशों में भी परीक्षाओं के प्रति इतना घोर असन्तोष फैला हुआ है कि वहाँ प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्रियों तथा महत्त्वशाली शिक्षा संगठनों ने इसके पूर्ण उन्मूलन की राय दी है। हम इतने उग्रवादी नहीं हैं। अतः हमारा विश्वास है कि यदि परीक्षाओं को ठीक प्रकार से तथा बुद्धिमत्ता पूर्वक प्रयोग किया जायगा तो हमारी शिक्षा-प्रणाली में यह लाभदायक प्रमाणित हो सकती है। यदि परीक्षायें आवश्यक हैं तो इनका पूर्ण सुधार और भी अधिक आवश्यक है।"‡

कमीशन ने सुझाव रक्खा कि ऑबजैक्टिव परीक्षाओं (Objective Tests) के साथ-साथ निबन्धक प्रकार की परीक्षाओं को मिला देने से अधिक लाभ हो सकता है। वर्ष के दौरान में कक्षा में किये गये कार्य का भी ध्यान रक्खा जाना चाहिये और इसके लिये ⅓ अङ्क सुरक्षित रखने चाहिये। डिग्री कक्षाओं के तीन वर्ष के पाठ्यक्रम में प्रत्येक वर्ष के अन्त में विश्वविद्यालय परीक्षा होनी चाहिये, न कि केवल तीन वर्ष उपरान्त एक ही परीक्षा ली जाय। प्रत्येक वर्ष के लिये स्वतःपूर्ण (Self-contained) पाठ्यक्रम तैयार कर लिये जाने चाहिये। परीक्षकों का चुनाव ठीक प्रकार से होना चाहिये तथा उनके लिये ३ वर्ष का समय निश्चित कर देना चाहिये। ७० प्रतिशत तथा अधिक अङ्क पाने वाले विद्यार्थी प्रथम श्रेणी में, ५५ से ६९% पाने वाले द्वतीय और ४०% से ५४% तक अंक पाने वाले विद्यार्थी तृतीय श्रेणी में रक्खे जाने चाहिये। विद्यार्थियों के साधारण ज्ञान की जाँच के लिये मौखिक परीक्षा *(Viva Voce)* भी लेना चाहिये—विशेष रूप से व्यावसायिक शिक्षाओं में।

९. विद्यार्थी, उनके कार्य तथा कल्याण (Students, Their Activities and Welfare)—विद्यार्थियों-सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं पर भी कमीशन ने गहन अध्ययन तथा चिन्तन के उपरान्त अपने सुझाव रक्खे हैं। इस समस्या को उन्होंने बड़ा महत्त्व दिया है।

सर्वप्रथम विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने के लिये योग्य विद्यार्थियों की छाँट करने पर जोर दिया गया है। तत्पश्चात् योग्य विद्यार्थियों को परीक्षा के आधार पर छात्रवृत्तियों की सिफारिश की है। विद्यार्थियों के स्वास्थ्य पर कमीशन ने सबसे अधिक सुझाव रक्खे हैं। उनकी नियमित डाक्टरी-जाँच, कालेजों और विश्वविद्यालयों में चिकित्सालयों की व्यवस्था, छात्रावासों तथा

‡ **University Education Commission p. 328.**

भोजन व पानी की उचित व्यवस्था, निवास स्थान की सफाई, 'डाइरैक्टर ऑव फिजिकल एज्यूकेशन' की नियुक्ति, खेलों की उचित व्यवस्था तथा अनिवार्य शारीरिक शिक्षा इत्यादि के लिये कमीशन ने अपने सुझाव रक्खे हैं। 'नैशनल केडिट कोर' (N. C. C) के प्रशिक्षण पर भी कमीशन ने जोर दिया है। तत्पश्चात् विद्यार्थियों को समाजसेवा में प्रशिक्षित करने के लिये कुछ सुझाव रक्खे हैं। उनके मतानुसार विद्यार्थी यूनियनों का संगठन विद्यार्थियों की मानसिक तथा नैतिक उन्नति के लिये होना चाहिये न कि निम्नकोटि की राजनैतिक भावनाओं का प्रचार करने के लिये। विद्यार्थियों को सलाह देने के लिये एक 'विद्यार्थी हितकारी-सलाहकार बोर्ड' (Advisory Board of Student Welfare) का संगठन करना चाहिये।

१०. स्त्री शिक्षा :—इस प्रश्न को कमीशन ने पर्याप्त उदारतापूर्वक विचार किया है जैसा कि उसकी सिफारिशों से प्रकट होता है। कमीशन का मत है कि पुरुषों के कालेजों में स्त्रियों को सभी सामान्य सुविधायें तथा जीवन के सामान्य शिष्टाचार की अवस्थायें प्रदान करनी चाहिये। इनके शिक्षा प्राप्त करने के अवसर भी बढ़ने चाहिये। कमीशन ने स्त्रियों के पाठ्यक्रम के विषय में स्पष्ट कहा है कि स्त्रियों को अपने नारीत्व की आवश्यकताओं, रुचियों व क्षमताओं को ध्यान में रखते हुए उपयुक्त पाठ्यक्रम ही चुनना चाहिये। "इस कार्य के लिये उन्हें पुरुषों की नकल नहीं करनी चाहिये और नारी की हैसियत से उन्हें नारी की शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा उसी प्रकार होनी चाहिये जैसे कि पुरुषों को अपने उपयुक्त शिक्षा प्राप्त करने की होती है। स्त्रियों और पुरुषों की शिक्षा में बहुत सी बातें तो समान होनी ही चाहिये, किन्तु सामान्यतः वह पूर्णतः एक सी ही नहीं होनी चाहिये, जैसा कि आजकल होता है।"† इसके लिये उन्हें पर्याप्त पथ-प्रदर्शन व सलाह प्राप्त करने की सुविधायें प्रदान की जानी चाहिये। पुरुषों को सह-शिक्षा वाले कालेजों में स्त्रियों के साथ भद्रता का व्यवहार करना चाहिये। ऐसे कालेजों में स्त्रियों की जीवन-आवश्यकताओं पर भी उतना ही ध्यान दिया जाय जितना पुरुषों की आवश्यकताओं पर। समान कार्य के लिये अध्यापिकाओं के वेतन क्रम भी अध्यापकों के बराबर ही हों। सह-शिक्षा के विषय में कमीशन का मत है कि माध्यमिक स्तर पर किशोरियों के लिये पृथक् शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिये और बेसिक तथा विश्वविद्यालय स्तर पर सह-शिक्षा होनी चाहिये।

† *Report, University Education Commission*. p. 402.

११. अन्य :—इन सिफारिशों के अतिरिक्त कमीशन ने विश्वविद्यालय शिक्षा के संगठन और नियंत्रण, वित्त (Finance), केन्द्रीय विश्वविद्यालय, अन्य विश्वविद्यालय तथा ग्राम्य विश्वविद्यालयों के विषय में भी विभिन्न लाभदायक सुझाव रक्खे हैं। वित्त के विषय में कमीशन ने कहा है कि सरकार को उच्चशिक्षा के अपने उत्तरदायित्व का पालन करना चाहिये और लगभग १० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष अतिरिक्त व्यय करना चाहिये। दानियों को प्रोत्साहित करने के लिये आय-कर के नियमों में संशोधन किया जा सकता है। अन्य नये विश्वविद्यालयों की स्थापना के विषय में कमीशन ने कहा कि इनकी स्थापना 'विश्वविद्यालय अनुदान-समिति' की सिफारिशों के आधार पर केन्द्र की आज्ञा से ही होनी चाहिये। देश की सम्पूर्ण शिक्षा-आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए नगरों तथा ग्रामों में उनका उचित वितरण होना चाहिये।

संगठन के विषय में कमीशन ने बड़े मौलिक सुझाव रक्खे हैं। उस का मत है कि विश्वविद्यालय शिक्षा को केन्द्र की समवर्ती सूची (Concurrent List) में सम्मिलित कर देना चाहिये। केन्द्र को उनके वित्त तथा विशेष विषयों को अखिल भारतीय स्तर पर समन्वित करना चाहिये। अनुदान देने के प्रश्न का निराकरण करने के लिये सरकार को शीघ्र ही विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन की स्थापनां करनी चाहिये। कोई भी विश्वविद्यालय ऐसा न रहे जो केवल शुद्ध सम्बन्धक-प्रकार का ही हो। एक विश्वविद्यालय से सम्बन्धित कालेजों की संख्या सीमित होनी चाहिये। सम्बन्धित कालेजों का उद्देश्य यह होना चाहिये कि वे क्रमशः एक संघीय विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हो जाँय। उपकुलपति एक वैतनिक तथा पूर्णकालीन व्यक्ति होना चाहिये। अन्त में कमीशन ने अनुभव किया कि भारत प्रमुखतः गाँवों का देश है और कृषि यहाँ का प्रमुख उद्यम है। अतः यहाँ ग्राम्य विश्वविद्यालय भी खुलने चाहिये।

आलोचना

इस प्रकार संक्षेप में कमीशन की ये सिफारिशें हैं। भारतीय शिक्षा के इतिहास में यह प्रथम युग-निर्माणक रिपोर्ट है जिसने देश के सम्पूर्ण उच्चशिक्षा-क्षेत्र को ढक लिया है।

रिपोर्ट में प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृति के सामंजस्य का प्रयास किया गया है। शिक्षा-क्षेत्र में बहुत सी पाश्चात्य-पद्धतियों को स्वीकार कर लिया गया है, किन्तु शिक्षा की आत्मा भारतीय ही रक्खी गई है। शिक्षा को सम्पूर्ण जीवन के एक दर्शन के रूप में विकसित किया गया है। स्वतंत्र भारत के लिये

जिस प्रकार की उच्च-शिक्षा की आवश्यकता है और जो उसके उद्देश्य तथा प्राप्त करने की उपयुक्त विधियाँ होनी चाहिये, उन सबकी झाँकी हमें इस रिपोर्ट में मिलती है। यद्यपि कमीशन ने स्वीकार किया है कि वर्तमान युग में विभिन्न विज्ञानों के शास्त्रीय व प्रयोगात्मक प्रशिक्षण की देश को आवश्यकता है, किन्तु साथ ही उसने चेतावनी भी दी है कि यदि विज्ञानों तथा उद्योगों पर अधिक ध्यान देकर मानवशास्त्रों (Humanities) की अवहेलना की गई तो देश में एक 'राक्षस राज्य' उत्पन्न हो जायगा जिसमें मानव केवल भौतिक उन्नति की बात ही सोचेगा और इस प्रकार अपनी आत्मा की क्षुधा को अतृप्त ही रखेगा। वास्तव में यह विचारधारा अखिल विश्व के लिये एक चक्षु-उन्मीलक चेतावनी है, जो कि भारतीय आत्मा की परम्परा के अनुकूल ही है।

कमीशन ने भारतीय शिक्षा-क्षेत्र में सभी पक्षों पर पूर्ण अध्ययन और चिन्तन के उपरान्त अपने विचार प्रकट किये हैं। उन्होंने गिरते हुए शिक्षण-स्तर, शुष्क व जटिल पाठ्यक्रम, प्रेरणा-विहीन शिक्षालय, दयनीय व निरीह शिक्षक, पथ-भ्रमित विद्यार्थी, कलुषित परीक्षा-विधि, तुच्छ राजनीति व षड्यंत्र और दलबन्दियों के अड्डे विश्वविद्यालयों के शासन प्रबन्ध तथा अतीत काल से निरादृत ग्रामीण-शिक्षा इत्यादि पर अपने पुष्ट व परिपक्व विचार प्रकट किये हैं; तथा उनके परिष्करण के लिये व्यावहारिक व उपयुक्त सुझाव भी रक्खे हैं। यहाँ यह न समझ लेना चाहिये कि कमीशन ने भावुकता के आवेग में समस्याओं के हल उपस्थित किये हैं। वास्तव में सभी सुझाव बड़े ठोस और प्रत्यक्ष वास्तविकताओं पर आधारित हैं। विश्वविद्यालयों में शिक्षण-विधि तथा अनुसंधान पर विशेष जोर दिया गया है, जिसकी देश को आवश्यकता है। आन्तरिक शासनप्रबन्ध को ठीक करने के लिये तथा 'विश्वविद्यालय अनुदान-समिति' का पुनर्निमाण करके उसमें वैतनिक अधिकारियों की नियुक्ति की सिफारिश अत्यन्त व्यावहारिक तथा वांछनीय है। ग्रामीण विश्व-विद्यालयों की सूझ एक क्रान्तिकारी सुझाव है।

किन्तु इतना अवश्य है कि कमीशन ने धार्मिक-शिक्षा के विषय में अपने विचारों को बड़ा अस्पष्ट तथा रहस्यमय रक्खा है। शिक्षा के माध्यम के विषय में भी निर्णयात्मक मत नहीं दिया गया है। स्त्री-शिक्षा तथा प्राच्य-शिक्षाओं और ललित-कलाओं को भी उचित प्रोत्साहन नहीं दिया गया है।

इतना होते हुए भी यह निर्विवाद है कि यह रिपोर्ट भारतीय-शिक्षा में एक क्रान्ति उपस्थित करके, उसे देश व काल के अनुरूप बना कर विश्व-शिक्षा के स्तर

पर लाकर रख देगी। यदि इन सुझावों को सच्ची भावना और सच्चे प्रयत्नों द्वारा कार्यान्वित किया गया, तो अवश्य ही भारतीय-शिक्षा के इतिहास में एक नवीन युग का निर्माण होगा, जिसके आलोक में विश्व का पथ-प्रदर्शन होगा।

केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड की सिफारिशें

विश्वविद्यालय कमीशन की रिपोर्ट पर विचार करने के लिये २२ व २३ अप्रेल, १९५० ई० को केन्द्रीय-सलाहकार बोर्ड की एक विशेष बैठक हुई। बोर्ड ने कमीशन की प्रमुख सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और कहीं-कहीं पर आवश्यकतानुसार कुछ संशोधन भी कर दिये। उत्तर-ग्रेजुएट शिक्षा तथा अनुसंधान के विषय में कमीशन की सिफारिशों को मान लिया गया। व्याव-सायिक शिक्षा के क्षेत्र में कृषि, वाणिज्य, शिक्षा, इंजीनियरिंग तथा टैकनोलॉजी, कानून तथा औषधिशास्त्र सम्बन्धी सिफारिशों को कुछ परिवर्तन के साथ मान लिया गया। इसी प्रकार माध्यम, शिक्षकों के वर्गीकरण, वेतन तथा कार्य-दशा, पाठ्यक्रम, ऑबजैक्टिव परीक्षा-विधि, स्त्री शिक्षा, नये विश्वविद्यालयों की स्थापना तथा विद्यार्थी-हितकारी-कार्य इत्यादि सभी सिफारिशों को बोर्ड ने स्वीकार कर लिया।

धार्मिक शिक्षा के सम्बन्ध में बोर्ड ने निश्चय किया कि सभी शिक्षा-संस्थाओं के कार्य कुछ क्षण के मौनचिन्तन के उपरान्त प्रारम्भ किये जाने चाहिये। साथ ही डिग्री-कक्षा के प्रथम वर्ष में महान् धार्मिक गुरुओं के जीवन-चरित्र तथा द्वितीय वर्ष में धर्म-दर्शन के मूल-तत्वों का अध्ययन होना चाहिये। बोर्ड ने यह भी निर्णय किया कि विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम में भी धार्मिक-दर्शन की व्यवस्था हो सकती है। विश्वविद्यालयों के विधान तथा नियंत्रण के विषय में भी कमीशन की सिफारिशों को मान लिया गया। केवल विश्वविद्यालयों को केन्द्रीय सरकार की सूची में रखने की बात अस्वीकार करदी गई। वित्त के सम्बन्ध में कमीशन की सिफारिशों का समर्थन करते हुए बोर्ड ने कहा कि इन सिफारिशों की पूर्ति इस उद्देश्य के लिये उपलब्ध धन-राशि पर निर्भर रहेगी। अन्त में बोर्ड ने राष्ट्र-भाषा हिन्दी को सर्वप्रिय बनाने के साधनों पर भी विचार किया।

वस्तुतः कमीशन की रिपोर्ट के प्रकाशन के उपरान्त होने वाली विश्व-विद्यालय शिक्षा की प्रगति का वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड' की बैठकों में अन्य प्रश्नों के साथ ही साथ उच्चशिक्षा पर भी विचार

विनिमय होता है। सन् १९५२ में केन्द्रीय सरकार संसद में एक विश्वविद्यालय विधेयक प्रस्तुत करना चाहती थी जिसका उद्देश्य विश्वविद्यालय शिक्षा पर सरकार का अधिक नियन्त्रण करके उसके दोषों को सुधारना था। यह विधेयक कुछ महत्त्वपूर्ण लोगों के विरोध के कारण फिर संसद में कभी प्रस्तुत नहीं किया गया है।

कमीशन की सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिये बोर्ड ने नवम्बर, १९५३ को श्री हुमायूँ कबीर के संयोजन के अन्तर्गत जो समिति बनाई थी, उसकी रिपोर्ट व सुझावों का हम पीछे उल्लेख कर ही चुके हैं। साथ ही यह भी कहा जा चुका है कि विश्वविद्यालय शिक्षा कमीशन के सुझाव के अनुसार भारत सरकार ने दिसम्बर, १९५३ के अन्त में स्व० डा० शान्तिस्वरूप भटनागर की अध्यक्षता में 'विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन' की भी स्थापना करदी थी। इसका वर्णन हम आगे करेंगे।

विश्वविद्यालय विधेयक (Universities Bill 1952)—

चुनावों के उपरान्त सन् १९५२ में केन्द्रीय सरकार ने संसद में एक 'विश्वविद्यालय विधेयक' प्रस्तुत करने का विचार किया था। इस विधेयक का पूर्ण विषय आज तक प्रकाशित नहीं हुआ है, किन्तु विभिन्न प्रान्तीय सरकारों तथा विश्वविद्यालयों का मत जानने के लिये इसकी प्रतिलिपियाँ उनके लिये भेजी गई थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि सरकार ने इस विधेयक को प्रस्तुत करने का विचार सम्भवतः त्याग दिया है।

विधेयक के अनुसार "जब तक कि नये विश्वविद्यालयों की स्थापना पर केन्द्रीय सरकार का नियंत्रण न होगा तब तक न तो शिक्षा-संस्थाओं का समन्वय होगा और न उनके स्तर का निराकरण ही संभव हो सकेगा।" अतः इस विधेयक में एक 'विश्वविद्यालय शिक्षा केन्द्रीय परिषद्' (Central Council of University Education) की स्थापना की व्यवस्था की गई है। इस परिषद् को विभिन्न विश्वविद्यालयों के आन्तरिक प्रश्नों के विषय में सूचना प्राप्त करने का अधिकार होगा; तथा विश्वविद्यालयों की कार्यकारिणी-समितियों के द्वारा अपनी सिफारिशों तथा आदेशों के मनवाने का अधिकार भी होगा।

यह परिषद् भारत के किसी भी विश्वविद्यालय की जाँच तथा उसका निरीक्षण कर सकेगी तथा तदनुसार अपने आदेश भी दे सकेगी। यदि परिषद् के आदेशों की अवहेलना की गई तो वह केन्द्रीय-सरकार को इस बात की सिफारिश कर

सकेगी कि अमुक विश्वविद्यालय की उपाधियों को अस्वीकार कर दिया जाय जिससे उसके विद्यार्थियों को कहीं नौकरी न मिल सके। इस विधेयक में आगे चलकर यह भी कहा गया है कि उच्चशिक्षा प्रदान करने वाली किसी भी शिक्षा-संस्था को विश्वविद्यालय का रूप दिया जा सकता है।

परिषद् के सदस्यों की संख्या, योग्यता तथा नियुक्ति की अवधि केन्द्रीय सरकार द्वारा निश्चित की जायगी, किन्तु कुल सदस्यों के ⅓ सदस्य विभिन्न विश्वविद्यालयों के उपकुलपति होने चाहिये।

विधेयक की एक अन्य धारा के अनुसार केवल वही विश्वविद्यालय उपाधि प्रदान करने का अधिकारी होगा जो कि यह आश्वासन दे सके कि विद्यार्थी ने कला, विज्ञान अथवा ज्ञान की किसी अन्य शाखा में सैद्धान्तिक तथा प्रयोगात्मक उच्च अध्ययन के पाठ्यक्रम को पूरा कर लिया है। ऐसे विश्वविद्यालय की रचना भी केन्द्रीय-एक्ट, प्रान्तीय अथवा राज्य-एक्ट के द्वारा होनी चाहिये।

आलोचना—यद्यपि उपर्युक्त विधेयक आज तक संसद में उपस्थित नहीं हुआ है, तथापि राज्यों व विश्वविद्यालयों में इसकी कटु आलोचना हुई है। ऐसी आशंका की जाती है कि यदि सरकार इस विधेयक को लेकर आगे बढ़ती है तो प्रथम कोटि का वाद-प्रतिवाद उत्पन्न हो जायगा। विभिन्न विश्वविद्यालय अधिकारियों की धारणा है कि इस विधेयक से विश्वविद्यालयों की स्वतंत्रता पर आघात लगेगा। वस्तुतः विश्वविद्यालयों की उन्नति के लिये आवश्यक है कि उनके लिये ऐसा वातारण हो जो कि राज्य अथवा किसी राजनैतिक दल के हस्तक्षेप से पूर्णतः मुक्त हो जिससे राज्य विश्वविद्यालयों के शिक्षण व परीक्षा-मानदण्ड में कुछ छेड़छाड़ न कर सके। विश्वविद्यालयों की स्वायत्त-शासन-प्रणाली (Autonomy) का भी केन्द्रीय-परिषद् की स्थापना से अपहरण हो जायगा। विश्वविद्यालय-क्षेत्रों में यह कहा गया था कि जबकि पहिले से ही अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड स्थित है तो फिर केन्द्रीय-परिषद् की क्या आवश्यकता है? क्यों न अन्तर्विश्वविद्यालय-बोर्ड के अधिकारों तथा क्षेत्र में वृद्धि करदी जाय?

किन्तु इतना कह देना भी आवश्यक है कि वास्तव में इस देश में वर्तमान समय में विश्वविद्यालयों के ऊपर आंशिक रूप से किसी प्रकार के राजकीय अंकुश की शीघ्र आवश्यकता है। संभवतः अवस्था में सुधार होने पर हमें इसकी आवश्यकता प्रतीत न हो और विश्वविद्यालयों को अपने भाग्यनिर्णय के लिये स्वतंत्र छोड़ दिया जाय। इस समय देश के ३१ विश्वविद्यालयों में संभवतः थोड़े

ही ऐसे होंगे जहाँ निम्नकोटि की दलबन्दी, जातीय-पक्षपात तथा भयंकर प्रान्तीयता न हो। विश्वविद्यालयों के आन्तरिक भ्रष्टाचारों तथा दलबंदियों के कारण उनका एक मात्र शिक्षा-उद्देश्य ही संकट में पड़ गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि किसी प्रकार कुछ विश्वविद्यालयों में सीनेट, कार्यकारिणी-समिति तथा अन्य समितियों में गुटबंदी के कारण केवल एक दल ही सम्पूर्ण सत्ता को हथियाकर भ्रष्टाचार में फँस जाता है। फलतः ऐसे विश्वविद्यालयों में शिक्षकों और परीक्षकों की नियुक्ति, पाठ्य-पुस्तकों का रखा जाना तथा अनुसंधान में 'डाक्टर' की उपाधि का मिलना इत्यादि सभी कार्य प्रायः जातीय व गुटबंदी के पक्षपात के आधार पर किये जा रहे हैं। इस प्रकार के दोषों को दूर करने के लिये उत्तर-प्रदेशीय सरकार ने भी आगरा, इलाहाबाद व लखनऊ विश्वविद्यालयों के लिये अभी हाल ही में उनके विधानों में संशोधन किया है।

इस प्रकार हमारे कुछ विश्वविद्यालय जो उच्च-शिक्षा के स्थान पर आज षड्यंत्रों के केन्द्र बने हुए हैं; जनतंत्र, समानता तथा स्वतंत्रता के उच्चतम आदर्शों के आधार पर देश का नव-निर्माण किस प्रकार कर सकते हैं? ऐसी अवस्था में कोई आश्चर्य नहीं यदि देश में शिक्षा का मानदंड गिरता जा रहा है, जिसकी ओर देश के शिक्षा-शास्त्रियों ने बार-बार ध्यान आकृष्ट किया है। यही कारण है कि केन्द्रीय सरकार ने उपर्युक्त दोषों का उन्मूलन करने के लिये केन्द्रीय-परिषद् का निर्माण करके एक उदार नियंत्रण रखने की चेष्टा की थी। हाँ, इतना अवश्य है कि इस विधेयक की दुरूहता को कुछ कम करके उसे अधिक उदार व अनुकूल बनाया जा सकता हैं। यहाँ यह बात स्मरणीय है कि विधेयक का विरोध अधिकाँश में ऐसे विश्वविद्यालयों की ओर से अधिक हुआ है जिन्हें अपनी अब तक चली आने वाली अनुचित स्वच्छता के अपहरण का भय था। किन्तु किसी भी विश्वविद्यालय को स्वायत्त-प्रणाली (Autonomy) के नाम पर भ्रष्टाचार करने की छूट को एक बहुत बड़ा खतरा उठाकर ही दिया जा सकता है। इस विषय में राजकीय नियंत्रण की तब तक आवश्यकता रहेगी, जब तक कि हमारे विश्वविद्यालय स्वायत्त-शासन का सदुपयोग करना न सीखलें।

उपसंहार

इस प्रकार विश्वविद्यालय प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं। विश्वविद्यालय शिक्षा के दोषों पर कमीशन ने विचारपूर्वक अध्ययन करने के उपरान्त उन्नति का मार्ग प्रसारित कर दिया है। वास्तव में विश्वविद्यालय शिक्षा को देखकर ही हम किसी भी देश की प्रगति का अनुमान लगा सकते हैं। सर

रॉबर्टसन के अनुसार "प्रगतिशील विश्वविद्यालय एक प्रगतिशील समाज के; सुस्थापित विश्वविद्यालय एक सुस्थापित समाज के; तथा अवरुद्ध और जर्जरित विश्वविद्यालय एक अवरुद्ध व जर्जरित समाज के द्योतक हैं।"† अतः स्वतंत्र तथा प्रगतिशील भारत के लिये आवश्यक है कि उसमें विश्वविद्यालय देश के वास्तविक विद्याकेन्द्र बनें। "देश की सम्पन्नता विश्वविद्यालयों से ही सम्बन्धित है। एक भ्रष्ट विश्वविद्यालय उस विषाक्त जलश्रोत के समान है जो कि उसमें से पानी पीने वाले व्यक्ति के स्वास्थ्य को नष्ट कर देता है।"‡

विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन

इसकी नियुक्ति दिसम्बर, १९५३ में स्व० डा० शान्तिस्वरूप भटनागर की अध्यक्षता में हुई थी। कमीशन के अन्य सदस्य हैं: आचार्य नरेन्द्रदेव, डा० लक्ष्मणस्वामी मुदलियार, सर एन० जे० वाडिया, श्री के० आर० के० मैनन तथा श्री के० जी० सईदैन।

संक्षेप में इस कमीशन के निम्नलिखित कर्त्तव्य होंगे:—

(१) केन्द्रीय सरकार के लिये शिक्षा की सुविधाओं का समन्वय करने तथा विश्वविद्यालय शिक्षा के मानदण्ड को ऊँचा उठाने और उसके लिये सुझाव देने के उद्देश्य से एक विशेषज्ञ-संस्था के रूप में कार्य करना;

(२) विश्वविद्यालयों की वित्तीय आवश्यकताओं की जाँच करके केन्द्रीय सरकार को उन्हें सहायता-अनुदान देने के विषय में सलाह देना;

(३) विभिन्न विश्वविद्यालयों को दी जाने वाली धन-राशि का निराकरण करना तथा जो धनराशि इस कार्य के लिये कमीशन के पास है, उसका वितरण कर देना;

(४) पूँछे जाने पर किसी नये विश्वविद्यालय की स्थापना अथवा पूर्व-स्थित विश्वविद्यालय के प्रसार की सम्भावनाओं के विषय में सलाह देना;

(५) केन्द्रीय सरकार अथवा किसी भी विश्वविद्यालय को किसी भी पूँछे जाने वाले प्रश्न पर सलाह देना;

(६) किसी विश्वविद्यालय द्वारा दी गई डिग्री को नौकरी के लिये अथवा किसी अन्य कार्य के लिये मान्यता देने या न देने के प्रश्न पर केन्द्रीय अथवा किसी राज्य सरकार को सलाह देना;

---

† *Quoted by Dr. R. K. Singh : Our Universities*. P. 10

‡ *Ibid*, P.9

(७) विश्वविद्यालयों को विश्वविद्यालय शिक्षा के सुधार के लिये उपाय बताना, तथा

(८) अन्य ऐसे कार्य करना जिन्हें भारत सरकार उच्च शिक्षा के हित में आवश्यक समझती है, अथवा कोई ऐसा कार्य करना जो कि उपर्युक्त कर्त्तव्यों के पालन में किसी भी प्रकार से सहायक हो सकता है।

विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन का उपर्युक्त कार्य-क्षेत्र बड़ा व्यापक है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इस कमीशन के अधिकार में भारत सरकार ने कुछ धन-राशि रखदी है जिसे यह अनुदान के रूप में उच्च शिक्षा संस्थाओं को दे रहा है। आशा है कि उपर्युक्त सभी सुधारों व योजनाओं के प्रकाश में भारतीय उच्च शिक्षा का वास्तविक रूप से सुधार होकर वह देश की आवश्यकताओं के अधिक अनुकूल बन जायगी।

(५) पंचवर्षीय योजना और शिक्षा

नियोजन का उद्देश्य

किसी भी देश के विकास में शिक्षा का एक बुनियादी महत्त्व है। "एक जनतन्त्रीय प्रणाली में शिक्षा का कार्य बड़ा महत्त्वपूर्ण हो जाता है; क्योंकि जनतन्त्र तभी सफल हो सकता है जबकि वहाँ के जन-समूह देश के मामलों में बुद्धिमत्ता पूर्वक भाग लें।"† इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये भारत सरकार ने प्रथम पंचवर्षीय-योजना में प्रत्येक स्तर पर शिक्षा के प्रसार तथा पुनर्संगठन के लिये व्यवस्था की है। योजना कमीशन का मत है कि नागरिकता के गुणों का विकास करने, तथा लोगों की सांस्कृतिक व सृजनात्मक प्रवृत्तियों का पारिष्कार व पोषण करने के लिये यह आवश्यक है कि उन्हें अधिक से अधिक शिक्षा प्राप्त करने की सुविधायें प्रदान की जाँय।

देश की जनसंख्या के आकार का ध्यान रखते हुए इस समय भारत में शिक्षा सुविधायें बहुत अपर्याप्त हैं। अर्थात् ६-११ वर्ष की आयु के ४०% बालक, ११-१७ वर्ष की आयु के १०% विद्यार्थी तथा १७-२३ वर्ष के आयु के केवल ·९ प्र० श० विद्यार्थियों को शिक्षा की सुविधायें उपलब्ध हैं। ये प्रतिशत फ्रांस, अमरीका, इंगलैंड तथा रूस इत्यादि देशों की तुलना में कितने कम हैं जहाँ स्कूल जाने योग्य आयु वाले बालकों के ८० प्र० श० से लेकर १०० प्र० श० तक

† Planning Commission : *The First Five year Plan*. P. 525.

बालक शिक्षा प्राप्त करते हैं ! भारत जैसे देश में जहाँ सम्पूर्ण जनसंख्या का प्रतिशत केवल १७·२% है, वहाँ शिक्षा में निजोयन तथा प्रसार की कितनी आवश्यकता है, यह बात सहज ही जानी जा सकती है।

योजना कमीशन का मत है कि योजनाकाल में प्राथमिक शिक्षा पर अधिक बलदेना है। इसका परिणाम यह भी होगा कि इसके प्रसार से माध्यमिक शिक्षा का भी स्वयं ही प्रसार होगा। विश्वविद्यालय शिक्षा में प्रसार की इतनी आवश्यकता नहीं जितनी कि उसके ठोस करने की। इसी प्रकार शिक्षकों के प्रशिक्षण; उनकी दशा में सुधार; विभिन्न राज्यों में शिक्षा के समन्वय; नगरों तथा गाँवों में शिक्षा-सुविधाओं का उचित वितरण; समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों में शिक्षा सुविधाओं का उचित वितरण; प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा का पर्याप्त समन्वय; शिक्षा में अपव्यय रोकने के उपाय; पर्याप्त टेकनीकल व व्यावसायिक शिक्षा का प्रसार; शिक्षा प्रणाली—विशेषतः विश्वविद्यालय शिक्षा के अधिक खर्चीलेपन को रोकने के उपाय; परीक्षाओं को आवश्यकता से अधिक महत्व न देना; तथा अन्त में, सांस्कृतिक उत्थान इत्यादि बातों पर योजना कमीशन ने विचार किया है और इस प्रकार वर्तमान भारत की संक्षेप में निम्नलिखित शिक्षा आवश्यकतायें बतलाई हैं।*

(१) शिक्षा-प्रणाली का पुनर्गठन तथा इसकी विभिन्न शाखाओं में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करना;

(२) विभिन्न क्षेत्रों, प्रमुखतः बेसिक तथा सामाजिक शिक्षा के क्षेत्रों में विस्तार करना, तथा माध्यमिक, टेकनीकल व व्यावसायिक शिक्षा को एक नया रूप देना;

(३) वर्तमान माध्यमिक व विश्वविद्यालय शिक्षा को ठोस करना तथा देश में उच्च शिक्षा की ऐसी पद्धति का प्रचलन करने का प्रयास करना जो ग्रामीण क्षेत्रों के उपयुक्त हो;

(४) स्त्री शिक्षा का, विशेषतः ग्रामों में, प्रसार करना;

(५) शिक्षकों के प्रशिक्षण, विशेषतः स्त्रियों और बेसिक शिक्षकों के लिये व्यवस्था करना, तथा उनके वेतन-क्रमों व कार्य-दशाओं में सुधार करना; तथा

(६) शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए राज्यों को अधिक अनुदान देकर वहाँ शिक्षा का प्रसार करना।

---

* *The Five year Plan.* P.529

साधन

भारत सरकार ने देश में शिक्षा-विकास के लिये धन जुटाने के लिये साधन बताने वाली जिस समिति† की स्थापना की थी, उसके अनुसार भारत की शिक्षा पर प्रतिवर्ष इस समय कमसे कम ४०० करोड़ रुपया व्यय होना चाहिये। इस धन-राशि के अतिरिक्त २०० करोड़ रुपया बेसिक तथा हाईस्कूलों के लिये २७ लाख शिक्षकों को प्रशिक्षण देने तथा २७२ करोड़ रुपया इन स्कूलों के लिये भवन-निर्माण को चाहिये। किन्तु सरकार के पास इतना धन शिक्षा के लिये इस समय कहाँ है? ऐसी स्थिति में अपेक्षाकृत बहुत कम धन-राशि के लिये पंचवर्षीय योजना में व्यवस्था की गई है।

योजना के अन्तर्गत कमीशन ने कुल १५५·६६ करोड़ रुपये की व्यवस्था की है। इसमें ३९·०२ करोड़ केन्द्र तथा ११६·६४ करोड़ राज्यों के लिये है। इसका अभिप्रायः यह है कि ३०·३३ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष व्यय होगा। साथ ही यह भी अनुभव किया गया है कि इस धन-राशि के अपर्याप्त होने के कारण जनता तथा व्यक्तिगत व स्थानीय संस्थायें भी शिक्षा के लिये आर्थिक सहायता प्रदान करेंगीं। इसमें से ८७०२·८ लाख रुपया प्राथमिक शिक्षा, ८३०·४ लाख माध्यमिक शिक्षा ११७२·१ लाख विश्वविद्यालय शिक्षा, २१४५·४ लाख टेक्नीकल व व्यावसायिक शिक्षा, १५१०·० लाख सामाजिक शिक्षा तथा शेष अन्य योजनाओं पर व्यय किया जायगा।

योजना के शिक्षा-लक्ष्य

कमीशन का अनुमान है कि योजना-काल की समाप्ति पर सन् १९५६ तक निम्नलिखित लक्ष्यों की प्राप्ति हो जायगी:—

(१) ६ से ११ वर्ष की आयु के कम से कम ६० प्र० श० बच्चों के लिये स्कूल जाने की सुविधायें उपलब्ध करना। सन् १९५०-५१ में यह प्रतिशत ४४·५ था।

(२) माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्रों में ११ से १७ वर्ष तक की आयु के बालकों के प्रतिशत को १९५०-५१ में ११ प्र० श० से बढ़ाकर पाँच वर्ष में १५ प्र० श० तक करना।

---

† The Committee of the Ways and Means of Financing Educational Development in India.

(३) सामाजिक शिक्षा के क्षेत्र में १४ वर्ष से ४० वर्ष तक की आयु वाले कम से कम ३० प्र० श० व्यक्तियों को एक व्यापक सामाजिक-शिक्षा की सुविधायें उपलब्ध कराना।

विश्वविद्यालय शिक्षा के लिये इस प्रकार के कोई लक्ष्य निर्धारित नहीं किये गये हैं, क्योंकि इस क्षेत्र में इतनी प्रसार की आवश्यकता नहीं है जितनी कि पूर्व-स्थित शिक्षा को संगठित करने की है।

योजना का कार्यक्रम

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत शिक्षा-प्रसार के कार्य को केन्द्र तथा राज्य सरकारों के अन्तर्गत पृथक्-पृथक् विभाजित कर दिया गया है। अधिकांश में केन्द्र के अन्तर्गत वे सभी योजनायें रखी गई हैं जिनका देशव्यापी महत्त्व है। अन्य राज्य सरकारों के अन्तर्गत विभिन्न प्रान्तीय शिक्षा-योजनायें हैं।

(क) केन्द्रीय योजनायें—केन्द्रीय योजनाओं को निम्नलिखित प्रकार से विभाजित किया गया है:

(१) बेसिक शिक्षा की एक पूर्ण इकाई की स्थापना जिसमें पूर्व-बेसिक से लेकर उत्तर-ग्रेजुएट बेसिक ट्रेनिंग कालेज तक सम्मिलित होगा। ऐसी इकाई कम से कम एक राज्य में एक तो स्थापित हो ही जानी चाहिये।

(२) प्रत्येक राज्य में सामाजिक शिक्षा के लिये कम से कम एक 'जनता कालेज' तथा एक 'स्कूल व सामाजिक शिक्षा केन्द्र' की स्थापना होनी चाहिये।

(३) प्रत्येक राज्य में कम से कम एक बहुउद्देश्यीय स्कूल की स्थापना के साथ ही साथ १४ वर्ष से १८ वर्ष की आयु के युवकों के लिये व्यावसायिक स्कूलों की व्यवस्था, माध्यमिक शिक्षा की समस्याओं पर अनुसंधान करने के लिये अनुसंधानशाला (Research Bureaux) तथा निर्धन विद्यार्थियों को पब्लिक स्कूलों में अध्ययन करने के लिये छात्रवृत्तियों की व्यवस्था होनी चाहिये।

(४) केन्द्रीय शिक्षा संस्था (Central Institute of Education) में श्रुत-दृश्य शिक्षा सामग्री (Audio-Visual Aids) के उत्पादन के लिये एक इकाई की स्थापना तथा अन्य प्रकाशकों की सहायता के द्वारा ऐसी सामग्री के उत्पादन में वृद्धि करनी चाहिये।

(५) बच्चों एवं बेसिक शिक्षा तथा सामाजिक शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्तियों के लिये उचित साहित्य की रचना को प्रोत्साहन देना चाहिये।

(६) भारतीय भाषाओं तथा राष्ट्र-भाषा का विकास तथा मौलिक ग्रन्थों की रचना व उनमें अनुवादों को प्रोत्साहन देना चाहिये। साथ ही शब्दकोष व विश्वकोषों तथा अन्य उद्धरण-ग्रन्थों (Reference Books) का निर्माण होना चाहिये।

(७) शारीरिक दोषों से पीड़ित बालकों की शिक्षा-व्यवस्था की जानी चाहिये।

(८) व्यावसायिक-शिक्षा के लिये विद्यार्थियों को सलाह देने वाले केन्द्रों की स्थापना होनी चाहिये।

(९) 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑव साइन्स' बँगलौर, का विकास होना चाहिये तथा १४ इंजिनियरी संस्थाओं की स्थापना एवं कुछ विशेष व्यावसायिक विषयों के शिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिये।

(१०) विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों को सहायता तथा अनुसन्धान व प्रशिक्षण के लिये विश्वविद्यालयों में छात्रवृत्तियाँ प्रदान की जानी चाहिये।

(ख) राज्य सरकारों के कार्यक्रम—इसी प्रकार से योजना में राज्यों के अन्तर्गत प्राथमिक, माध्यमिक, विश्वविद्यालय शिक्षा तथा टैक्नीकल व व्यावसायिक शिक्षा के विकास के लिये व्यवस्था की गई है। संक्षेप में इन योजनाओं को निम्नलिखित प्रकार से विभाजित किया जा सकता है:—

(१) प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में नये स्कूलों की स्थापना, पुराने स्कूलों का सुधार तथा साधारण प्राथमिक स्कूलों को क्रमशः बेसिक स्कूलों में परिवर्तन करना।

(२) माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में नये स्कूलों की स्थापना, पुरानों का सुधार, पाठ्यक्रम में शारीरिक शिक्षा, सैनिक प्रशिक्षण, उद्यानकला, कृषि व संगीत इत्यादि विषयों को सम्मिलित करना तथा आदर्श स्कूलों की हिफाजत इत्यादि करना।

(३) विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में नये विश्वविद्यालय व कालेजों की स्थापना तथा पुरानों में सुधार व विस्तार करना।

(४) सामाजिक शिक्षा के क्षेत्र में पुस्तकालयों की स्थापना, शारीरिक-शिक्षा, नवयुवकों के कार्यक्रम, श्रुत-दृश्य-शिक्षा की व्यवस्था, साक्षरता तथा प्रौढ़शिक्षा के केन्द्रों की स्थापना।

(५) टैक्नीकल तथा व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में हस्तकलाओं के लिये नये स्कूलों की स्थापना, क्राफ्ट स्कूलों को जूनियर टैक्नीकल हाई-स्कूलों में परिवर्तित करना, जूनियर बहुउद्योगीय स्कूल खोलना, सामान्य माध्यमिक स्कूलों को टैक्नीकल हाई स्कूलों में परिवर्तित करना, डिप्लोमा कोर्स खोलना, औद्योगिक स्कूल खोलना, शिक्षा में कृषि को स्थान देना, वाणिज्य तथा टैक्नीकल स्कूलों का विकास करके उन्हें कालेज बना देना तथा विदेशों में प्रशिक्षण लिये छात्र-वृत्तियाँ देना इत्यादि।

(६) नौकरी पेशा वाले लोगों की उच्चशिक्षा की व्यवस्था, प्रान्तीय भाषाओं और साहित्य का विकास, शारीरिक दोषों से पीड़ितों (Handicapped) लोगों की शिक्षा, कालेजों में 'नेशनल कैडिट कोर' (N. C. C.) की स्थापना, तथा प्राच्य-शिक्षा व सांख्यशास्त्र जैसे विशेष विषयों के क्षेत्र में सुधार इत्यादि करना भी राज सर-कारों के शिक्षा प्रयत्नों में सम्मिलित किये गये हैं।

आलोचना

इस प्रकार हम देखते हैं कि पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत शिक्षा के समस्त क्षेत्र को ढक लिया गया है। योजना के लागू होते ही इस दिशा में कार्य प्रारम्भ कर दिया गया था। यद्यपि योजना को लगभग ४ वर्ष व्यतीत होने आये, किंतु जो लक्ष्य इसमें निर्धारित किये गये थे उनमें अधिक प्रगति नहीं हुई है। अभी तक न तो प्राथमिक स्कूलों को बेसिक स्कूलों में बदला जा सका, न राज्यों में 'जनता कालेजों' और बहुउद्देश्यीय हाई स्कूलों की स्थापना ही हुई। स्कूल जाने योग्य ६ से १४ वर्ष की आयु के बच्चों के ६० प्र० श० बच्चों का लक्ष्य अभी प्राप्ति से बहुत दूर है। यही बात विश्वविद्यालय तथा टैक्नीकल शिक्षा के क्षेत्र में भी कही जा सकती है।

इसका अभिप्राय हमें यह न समझना चाहिये कि योजना में प्रगति हुई ही नहीं है। वास्तव में केन्द्र और राज्यों ने अपना विकास कार्य प्रारम्भ तो कर दिया था किन्तु प्रगति मन्द रही है। निम्नलिखित तालिका में हमें प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत हुए शिक्षा-व्यय से उसकी प्रगति का कुछ अनुमान लग सकता है :—

(रुपया करोड़ों में)

	१९५०-५१ वास्तविक	१९५१-५२ वास्तविक	१९५२-५३ वास्तविक	१९५३-५४ शोधित	१९५१-५४ कुल योग	१९५१-५६ का सम्पूर्ण योग	
						प्रारम्भिक	शोधित
केन्द्र····	१८.३	१७.३	१९.२	२३.३	५९.८	११६.४	११९.५
राज्य····	१.२	२.०	२.९	३.८	८.७	३५.०	४१.५
योग····	१९.५	१९.३	२२.१	२७.१	६८.५	१५१.४	१६१.०

उपर्युक्त आँकड़ों से शिक्षा में होने वाले व्यय के आधार पर हम देखते हैं कि योजना की प्रगति मन्द है। यहाँ तक कि प्रथम तीन वर्षों में केवल ४५% धन-राशि व्यय हो सकी है।†

शिक्षा में पंचवर्षीय योजना की आलोचना भी की जा रही है। उदाहरण के लिये कहा जा रहा है कि योजना अधिक क्रान्तिकारी नहीं है। योजना का उद्देश्य शिक्षा के पूर्वस्थित दोषों का उन्मूलन करके केवल शिक्षा का आंशिक रूप से प्रसार करना है। जब तक भारतीय शिक्षा प्रणाली को आमूल परिवर्तित न किया जायगा और पूर्वस्थित प्रणाली का ही विकास किया जाता रहेगा, तो पुराने दोषों के पनपते रहने की सम्भावना है। इसके अतिरिक्त दूसरा अभियोग यह लगाया जाता है कि पूर्व-प्राथमिक (Pre-Primary) शिक्षा की, जो कि देश के भावी नागरिकों के विकास में अपना महान् महत्व रखती है, अपेक्षाकृत योजना के अन्दर पूरी तरह से अवहेलना सी करदी गई है। इसके अतिरिक्त शिक्षकों की दुर्दशा का अनुभव करते हुए भी योजनाकारों ने उनकी दशा को सुधारने के लिये जो व्यवस्था की है वह अत्यन्त ही अल्प है। कोई भी शिक्षा विकास-योजना बिना शिक्षक की सहानुभूति व उसके क्रियात्मक सहयोग के सफल नहीं हो सकती। इस दृष्टि से पंचवर्षीय योजना बुरी तरह से अपर्याप्त है। इसके अतिरिक्त विभिन्न शिक्षा-योजनाओं के लिये जो धन की व्यवस्था की गई है वह अत्यन्त अल्प व अपर्याप्त है। देश की जनसंख्या

† *Progress Report* [1953-54,] *Five year Plan.*

की विशालता तथा शिक्षा समस्याओं की दुरूहताओं को देखते हुए १५५·६६ करोड़ की धन-राशि अत्यन्त थोड़ी है। अन्त में एक बड़ा अभियोग इस योजना पर यह भी लगाया जा रहा है कि इसके अन्तर्गत व्यय का नियोजन ठीक प्रकार से नहीं हो पाया है। देश में अधिकांश जानकार लोगों की धारणा बढ़ती जा रही है कि पंचवर्षीय योजना के नाम पर लाखों रुपयों का दुरुपयोग हो रहा है। जो कार्यक्रम इसके अन्तर्गत अपनाये गये हैं, वे इतने हितकारी नहीं हैं कि भारतीय शिक्षा में मौलिक सुधार करते हों। कुछ योजनायें प्रारम्भ करके बन्द करदी जाती हैं, इससे अपार धन और शक्ति का विनाश होता है। अतः इस बात की आवश्यकता है कि इस दुरुपयोग को रोका जाय और उस धन-राशि का, जो कि पहिले से ही अल्प व अपर्याप्त है, पूर्ण सदुपयोग किया जाय। अन्त में हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि भारतीय शिक्षा के इतिहास में प्रथम बार शिक्षा नियोजन के अन्तर्गत आई है। यह एक प्रथम राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम है। ऐसी स्थिति में इसमें कुछ त्रुटियाँ रह जाना स्वाभाविक ही है। आशा है कि आगामी विकास योजनाओं में, ज्यों-ज्यों भारत का अनुभव बढ़ता जायगा, प्रथम योजना के दोषों को क्रमशः दूर कर दिया जायगा। अगस्त, १६५४ में नई दिल्ली में जो 'अखिल भारतीय शिक्षा-मन्त्री सम्मेलन' हुआ था, उसमें प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत निहित दोषों पर विचार करने के उपरान्त द्वितीय पंचवर्षीय शिक्षा योजना की एक रूपरेखा तैयार की गई थी। निश्चय ही द्वितीय योजना अधिक महत्वकांक्षा-पूर्ण है।

(६) अन्य केन्द्रीय योजनायें

१६४६ में भारत में अन्तरिम सरकार के बनने के साथ ही साथ केन्द्रीय शिक्षा-विभाग प्रथमतः राष्ट्रीय नियन्त्रण में आ गया था। १६४७ में यह एक मन्त्रालय के रूप में स्थापित कर दिया गया। तभी से केन्द्रीय सरकार शिक्षा के देशव्यापी प्रश्नों पर विचार करके उनके हल करने के प्रयत्न कर रही है। पिछले पृष्ठों में हमने इन प्रयत्नों का संक्षेप में वर्णन कर दिया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत शिक्षा को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है, तथापि कुछ कार्य अवश्य हुआ है। इन सभी कार्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य केन्द्रीय योजनायें व कार्य भी हैं जो कि प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से देश की शिक्षा से सम्बन्धित हैं। इन कार्यों में हम अधिकांश में विभिन्न सांस्कृतिक कार्यक्रमों को सम्मिलित कर सकते हैं। पुरातत्व विभाग के अन्तर्गत विभिन्न

ऐतिहासिक स्थानों व भवनों की रक्षा तथा ऐतिहासिक अनुसन्धान कराना; ग्रन्थरक्षा-विभाग के अन्तर्गत प्राचीन व अर्वाचीन महान् ग्रन्थों की रक्षा तथा नवीन ग्रन्थों का निर्माण; परिगणित व पिछड़ी हुई तथा आदिम जातियों में शिक्षा का प्रसार, भारतीय विद्यार्थियों को विदेशों में तथा विदेशी विद्यार्थियों को भारत में उच्च अध्ययन करने के लिए छात्रवृत्ति देना; भारतीय संस्कृति की सुरक्षा तथा प्रसार करना और अन्य राष्ट्रों से सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करना, यूनेस्को (U. N. E. S. C. O.) से सम्बन्धित कार्यक्रमों को कार्यान्वित करना तथा देश की टेक्नीकल व व्यावसायिक शिक्षा का प्रसार करना इत्यादि केन्द्रीय सरकार के अन्य कार्य हैं।

टेक्नीकल व औद्योगिक शिक्षा के क्षेत्र में 'अखिल भारतीय टेक्नीकल शिक्षा परिषद्' के सुझावों के आधार पर सन् १६४७-४८ में एक विकास-कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया था जो अब समाप्त होने आगया है। इस परिषद् ने सात विशेषज्ञों की एक समिति (Seven-Man Committee) की सिफारिशों के आधार पर सन् १६५३ में पुनः शिक्षा के प्रसार का एक कार्यक्रम बनाया था, जिसके अनुसार प्रत्येक स्तर पर टेक्नीकल शिक्षा का प्रसार किया जा रहा है। केन्द्र की ओर से खरगपुर में 'इण्डियन इन्सटीट्यूट ऑव टेक्नोलॉजी' की स्थापना की गई है। तथा बँगलोर में स्थापित 'इण्डियन इन्सटीट्यूट ऑव् साइन्स' का १६५४,५५ के सत्र में १७५ लाख रुपया व्यय करके विस्तार किया गया है।

१६५४ ई० की घटनाओं में 'सामाजिक हितकारी बोर्ड' (Social Welfare Board) की श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख की अध्यक्षता में स्थापना भी एक महत्त्व रखती है। यह बोर्ड राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा अन्य संस्थाओं के सहयोग से देश में शारीरिक शिक्षा व सामाजिक शिक्षा का प्रसार करने में योग देगा।

जहाँ तक छात्रवृत्तियाँ देने का प्रश्न है, भारत सरकार ने गत ७ वर्षों में इस कार्य का बहुत प्रसार कर दिया है। इन छात्रवृत्तियों की एक विशेषता यह रही है कि इनकी व्यवस्था अधिकांश में परिगणित जातियों, आदिवासियों तथा अन्य पिछड़ी हुई जातियों के विद्यार्थियों के लिए की गई है। सन् १६५३-५४ के सत्र में इस कार्य के लिये बजट में ६२ लाख रुपया की व्यवस्था की गई थी। १६५४-५५ के बजट में यह धन-राशि ७५ लाख रुपया कर दी गई है। यह धन-राशि वस्तुतः बहुत अपर्याप्त है, किन्तु जब हम देखते हैं कि छात्रवृत्तियों

के लिए यह धन-राशि १९४८-४९ में केवल ३·५ लाख रुपया थी, तो प्रतीत होता है कि वास्तव में इस दृष्टि से प्रगति हुई है।

आन्तरिक विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देने के अतिरिक्त अन्य देशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्धों में वृद्धि करने के उद्देश्य से विदेशी विद्यार्थियों को भी भारत में अध्ययन करने के लिये छात्रवृत्तियाँ दी जा रही हैं। कुछ छात्रवृत्तियाँ पारस्परिक हैं जो विदेशी विद्यार्थियों को इसलिये दी जा रही हैं क्योंकि उन देशों की सरकारें भारतीय विद्यार्थियों को अपने यहाँ आर्थिक सहायता देकर उच्च अध्ययन के लिये बुला रही हैं। साथ ही भारतीय विद्यार्थियों को चीन, रूस, फ्रांस तथा जर्मनी इत्यादि देशों में भाषायें सीखने भी भेजा जा रहा है।

सांस्कृतिक कार्यक्रमों को प्रोत्साहन देने के लिये श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में 'साहित्य एकादमी' की स्थापना की जा चुकी है। देश में लेखकों, साहित्यकारों, नाटककारों, तथा विभिन्न ललितकला विशारदों को प्रोत्साहन देने के लिये विभिन्न प्रकार की शैक्षिक व आर्थिक सहायतायें दी जा रही हैं। साथ ही अन्य देशों से सांस्कृतिक मण्डलों को देश में निमन्त्रित करके तथा भारत से ऐसे मण्डल विदेशों में भेजकर कलाओं व संस्कृति का उत्थान करने के साथ ही साथ पारपरिक सौजन्य को भी बढ़ाया जा रहा है। गत वर्षों में रूस, अफगानिस्तान तथा चीन के सांस्कृतिक मण्डल भारत में भ्रमण कर चुके हैं। इसी प्रकार भारत से भी कलाकार व साहित्यकार रूस व चीन देशों में हो आये हैं। देश के स्वतन्त्रता संग्राम का इतिहास लिखने के लिये दिस० १९५२ में डा० सैयद महमूद की अध्यक्षता में एक बोर्ड की भी स्थापना की गई है।

भारत यूनस्को के संस्थापक सदस्यों में से है। इस विश्व-संस्था की ओर से आने वाले शिक्षा-सम्बन्धी व सांस्कृतिक कार्यक्रमों को भी देश में कार्यान्वित किया जारहा है। इन कार्यों को भली भाँति सम्पादित करने के उद्देश्य से भारत में 'भारतीय राष्ट्रीय कमीशन' (Indian National Commission) की नियुक्ति भी कर दी गई है।†

† "........the main purpose of setting up the National Commission was, on the one hand, to make Unesco conscious of the people's needs, and on the other, to make the people concious of Unesco's functions and purposes." *Report of the Proceedings of the First Conference* of the Indian National Commission for Co-operation with Unesco. P. 2. (1954).

भारतीय राष्ट्रीय कमीशन

भारत सरकार सन् १९४६ से ही यूनेस्को‡ की सदस्य है। यूनेस्को के विधान के अनुसार प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को यूनेस्को की योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये एक राष्ट्रीय कमीशन की स्थापना करनी होती है। यह कमीशन सरकार को देश में यूनेस्को की रूपरेखा के आधार पर शिक्षा, विज्ञान तथा संस्कृति के उत्थान के लिये सलाह देता है।

भारत सरकार ने मार्च, १९४९ में एक अन्तरिम कमीशन की स्थापना करदी थी। किन्तु १९५३ में इस कमीशन को स्थायी बना दिया गया है। इसमें ११ सदस्य हैं। केन्द्रीय शिक्षा मंत्री इसके अध्यक्ष हैं।

इस स्थायी 'भारतीय राष्ट्रीय कमीशन' का प्रथम सम्मेलन नई दिल्ली में ९ जनवरी से १४ जनवरी, १९५४ को हुआ था। इस सम्मेलन में अफगानिस्तान, लंका, मिश्र, इन्डोनेशिया, ईरान, इराक, जापान, लेबनान, नेपाल, सीरिया तथा तुर्की के राष्ट्रीय कमीशनों के प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया था। इस सम्मेलन में एशिया तथा अफ्रीका की शिक्षा तथा संस्कृति सम्बन्धी समस्याओं पर कई मूल्यवान व महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास किये गये थे।

इस कमीशन के शिक्षा प्रयत्नों के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि इसने प्रारम्भ से ही बड़े उत्साह से कार्य प्रारम्भ कर दिया है। यूनेस्को के द्वारा माँगी गई सभी शिक्षा सम्बन्धी सूचनाओं को भेजा गया है। भारत सरकार शीघ्र ही एक "मौलिक शिक्षा का राष्ट्रीय केन्द्र"† स्थापित करने जा रही है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये भारत सरकार मैसूर की राज्य सरकार के साथ मिल कर यूनेस्को के अन्तर्गत मैसूर में 'मौलिक शिक्षा' (Fundamental Education) में विशेषज्ञों को प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से एक केन्द्र खोल रही है। राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों तथा मानव-अधिकार के मौलिक सिद्धान्तों का देश में प्रचार करने का कार्य भी इसी कमीशन के अन्तर्गत है। साथ ही इस कमीशन के अन्तर्गत काका कालेलकर की अध्यक्षता में नियुक्त हुए 'शिक्षा-उप-कमीशन' ने भी गान्धी जी के विचारों का विश्व में प्रचार करने की दृष्टि से कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है।

---

‡ United Nations Educational Scientific, and Cultural Organisation.

† National Centre For Fundamental Education.

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में आज शिक्षा उत्तरोत्तर प्रगति करती जा रही है। केन्द्र तथा राज्यों के अपने-अपने कार्यक्रम हैं। पूर्व-बेसिक, जूनियर-बेसिक, सीनियर बेसिक या माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय सभी प्रकार की शिक्षा भारत की आधुनिक आवश्यकता के अनुरूप ढलती जा रही है। शिक्षा के क्षेत्र में जो प्रवृत्तियाँ कार्यशील हैं वे अवश्य ही भावी भारत के निर्माण की दिशा में शुभ लक्षण हैं। इससे हमें यह न समझ लेना चाहिये कि हमारी शिक्षा निष्कलंक है। वस्तुतः शिक्षा-प्रणाली में जो प्रमुख दोष हैं, हमने पहिले ही यथास्थान उन पर प्रकाश डाल दिया है।

शिक्षा का अधिकांश में पुस्तकीय होना; परीक्षाओं का प्रभुत्व तथा परीक्षा प्रणाली का दोष पूर्ण होना; प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर पर शिक्षा के नियन्त्रण का प्रश्न; विभिन्न स्तरों पर शिक्षा में समन्वय का अभाव; योग्य व प्रशिक्षित शिक्षकों का अभाव, शिक्षण-प्रणाली का अधिकांश में प्रभावहीन व अमनोवैज्ञानिक होना; पाठ्यक्रम का विद्यार्थी के जीवन से सम्बन्ध न होना; अनाकर्षक व अपर्याप्त विद्यालय-भवन; अनुपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें और अन्त में शिक्षकों की दुर्दशा इत्यादि भारतीय शिक्षा-प्रणाली के प्रमुख दोष हैं। अतः इन दोषों का निराकरण शीघ्रातिशीघ्र आवश्यक है। आज भारत में एक ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जो कि व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का उन्मुक्त विकास करने के साथ ही साथ उसे देश की आर्थिक सम्पत्ति में अभिवृद्धि करने के भी उपयुक्त बनादे। उसकी शिक्षा जीवन के लिये, राष्ट्र के लिये एवं मानवता के भौतिक व अभौतिक कल्याण के लिये होनी चाहिये। भारतीय शिक्षा का भविष्य ही भारत का भविष्य है। यदि हमें देश में एक जनतन्त्र को सफल बनाना है और वर्गहीन व शोषण-विहीन समाज की स्थापना करनी है तो निस्संदेह इन सिद्धान्तों को हमें भारत की शिक्षा-प्रणाली में लागू करना होगा। जब तक प्राथमिक शिक्षक और विश्वविद्यालय के बीच में इतनी चौड़ी खाई रहेगी, हम समाज में से भी ऊँच और नीच का वर्गभेद नहीं मिटा सकते। जब तक हमारे शिक्षक का शोषण होगा और वह दरिद्रता व अपमान का जीवन बितायगा, हम देश में न तो शोषण-हीन समाज की स्थापना कर सकते हैं और न राष्ट्र के भावी नागरिकों में आत्म-सम्मान व साहस की भावनाओं का संचार ही कर सकते हैं। "आज अधिकांश व्यक्ति इस बात से सहमत हैं कि हमारी वर्तमान शिक्षा इस प्रकार

से ढाली जाय कि भारत का भावी नागरिक शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक रूप से एक सुदृढ़ व्यक्ति हो, जो कि एक स्वतन्त्र, जनतन्त्रीय तथा आत्म-निर्भर भारत का निर्माण कर सके और उसकी प्रतिभाओं का इस प्रकार विकास हो कि वह आधुनिक विश्व-क्रम में अपने महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य का पालन कर सके।"†

---

† Munshi, K. M., on *Future of Education* in India. P. 24. Publications Division (1954).

अध्याय १६

उत्तर प्रदेश में शिक्षा-प्रगति

(१६३७–५५ ई०)

भूमिका

उत्तर प्रदेश की सामान्य शिक्षा प्रगति का वर्णन प्रसंगानुसार पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। इस अध्याय में हम इसका कुछ विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे। उत्तर प्रदेश में आधुनिक शिक्षा का आन्दोलन बंगाल, मद्रास व बम्बई की अपेक्षा कुछ देर में प्रारम्भ हुआ, क्योंकि वहाँ अँग्रेजी राज्य की स्थापना ही अपेक्षाकृत उन प्रान्तों के कुछ उपरान्त ही हुई थी। प्राचीन तथा मध्यकाल में तो यह प्रदेश शिक्षा का एक प्रमुख क्षेत्र रहा था। यद्यपि आधुनिक शिक्षा की प्रगति यहाँ १६वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में प्रारम्भ हो गई थी, तथापि इसकी वास्तविक प्रगति तो २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही हुई। इस शताब्दी के प्रथम तीन दशकों में उत्तर प्रदेश में प्राथमिक, माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय शिक्षा का पर्याप्त विकास हुआ। औद्योगिक तथा टेक्निकल शिक्षा के लिये भी यहाँ शिक्षालय स्थापित हो चुके थे। सन् १६१३ ई० में 'पिगट कमेटी' के सुझावों के अनुसार प्राथमिक शिक्षा में सुधार किये गये। इसके अनुसार लड़के तथा लड़कियों की प्राथमिक शिक्षा के लिये नवीन स्कूल खुले, पाठ्यक्रम में सुधार हुआ और उसे प्रान्त की आवश्यकताओं तथा वातावरण के अनुकूल बना दिया गया। सन् १६१६ ई० में नगर-पालिकाओं में प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य करने के लिये कानून बना। १६२६ ई० में प्रान्तीय सरकार ने ग्रामीण प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिये जिला बोर्डों के लिये भी एक ऐसा ही कानून बनाया। सन् १६२७ ई० में उत्तर-प्रदेश में प्रौढ़शिक्षा आन्दोलन का सूत्रपात्र हो गया और इसके लिये प्रान्त में रात्रि-पाठशालायें खोली गई। सन् १६२३ में 'वियर-समिति' की रिपोर्ट के अनुसार ऐसे स्कूलों को भंग करने की सिफारिश की गई, जो

आर्थिक दृष्टि, योग्य अध्यापकों, पर्याप्त सज्जा तथा उपयुक्त भवन की दृष्टि से दुर्बल थे। 'हर्टॉग समिति' ने भी ऐसी ही रिपोर्ट की थी। अतः इसे लागू करके शिक्षा की श्रेष्ठता के सुधार पर ज़ोर दिया गया। माध्यमिक और विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में भी इसी प्रकार विभिन्न परिवर्तन हुए।

सन् १६३६ ई० में आचार्य नरेन्द्रदेव समिति ने प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा की पुनर्व्यवस्था के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। सन् १६४८ ई० में प्रान्त के माध्यमिक स्कूलों को उच्चतर माध्यमिक स्कूलों में परिवर्तित करने की योजना कार्यान्वित की गई। १६५३ ई० में पुनः एक दूसरी आचार्य नरेन्द्रदेव समिति ने माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट दी है। विश्वविद्यालयों की दृष्टि से १६४८ में टॉम्सन इंजीनियरी कालेज रुड़की को एक विश्वविद्यालय का रूप दे दिया गया है। आगरा, इलाहाबाद तथा लखनऊ के विश्वविद्यालयों के विधानों में संशोधन किये जा रहे हैं। साथ ही गोरखपुर में एक ग्राम्य-विश्वविद्यालय तथा बनारस में संस्कृत विश्वविद्यालय स्थापित करने की दिशाओं में कार्य प्रारम्भ हो चुका है। इसी प्रकार की प्रगति शिक्षा के अन्य क्षेत्रों में भी हुई है। नीचे हम संक्षेप में सम्पूर्ण शिक्षा की प्रगति पर विचार करते हैं।

प्राथमिक (बेसिक) शिक्षा

१६३७ ई० में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल की स्थापना के साथ ही 'वर्धा शिक्षा योजना' को लागू कर दिया गया जिसके अनुसार प्राथमिक स्कूलों में बेसिक शिक्षा को लागू करना प्रारम्भ कर दिया गया। अगस्त, १६३८ में ग्रेजुएट शिक्षकों को बेसिक शिक्षा-प्रणाली में प्रशिक्षण देने के लिये एक बेसिक ट्रेनिंग कालेज की स्थापना की गई। उत्तर प्रदेश में बेसिक शिक्षा के स्वावलम्बन वाले पक्ष को नहीं अपनाया गया यद्यपि विद्यार्थियों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बिक्री द्वारा कुछ आय की कल्पना अवश्य की गई थी। साथ ही कला तथा उसके प्रयोगात्मक अंग को विशेष महत्त्व दिया गया और विषयों का समन्वय केवल हस्तकलाओं तक ही सीमित न रख कर विद्यार्थियों के सामाजिक वातावरण तक विस्तृत कर दिया गया। साथ ही नगरपालिकाओं तथा जिला बोर्डों द्वारा संचालित सभी प्राथमिक स्कूलों के शिक्षकों को तथा शिक्षा-विभाग के निरीक्षण-अधिकारियों के लिये बेसिक शिक्षा में प्रशिक्षण के लिये 'रिफ्रेशर कोर्स' की व्यवस्था की। १६३६ ई० में आचार्य नरेन्द्रदेव समिति ने जो सिफारिशें प्राथमिक शिक्षा की पुनर्व्यवस्था तथा सुधार के लिये की थीं, उनको सरकार ने कार्यान्वित करना

प्रारम्भ किया ही था कि लोकप्रिय मन्त्रिमण्डल ने त्याग-पत्र दे दिया। उसके उपरान्त युद्ध की कठिनाइयों के कारण सरकार ने शिक्षा-प्रसार पर अधिक ध्यान नहीं दिया। फलतः प्राथमिक शिक्षा के विकास को इससे बड़ा आघात लगा। बेसिक-प्रणाली की भी ऐसी स्थिति में अधिक प्रगति नहीं हो सकी।

सन् १६४४ ई० में सार्जेण्ट-योजना के प्रकाशित होने पर उसके आधार पर प्रान्त में पूर्व-प्राथमिक तथा प्राथमिक स्कूलों का विकास करने की योजना सरकार ने बनाई। प्राथमिक स्कूलों के लिये सार्जेन्ट योजना में भी बेसिक पद्धति को अपनाने की बात कही गई थी, किन्तु इस दृष्टि से वास्तविक प्रगति तो १६४६ में जाकर ही प्रारम्भ हुई जबकि केन्द्र में अन्तरिम सरकार तथा प्रान्तों में लोक-प्रिय मन्त्रिमण्डल बन गया। उसके उपरान्त १६४७ में भारत की स्वतन्त्रता के उपरान्त प्राथमिक शिक्षा में और भी अधिक प्रगति हुई।

सन् १६४७ में प्रदेश में स्कूल जाने योग्य बालकों की संख्या लगभग ५८ लाख थी जिनमें से केवल १५ लाख के लिये ही शिक्षा-व्यवस्था उपलब्ध थी। शेष ४३ लाख की प्राथमिक शिक्षा का प्रबन्ध करना था। ऐसी स्थिति में राज्य सरकार ने राज्य के प्रत्येक गाँव में एक प्राथमिक स्कूल खोलने की योजना बनाई। प्रारम्भ में सरकार ने २,२०० स्कूल खोलने का निश्चय किया था जिसके अनुसार १० वर्ष के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश के २,२००० गाँवों में एक स्कूल हो सके। १६४७ ई० में राज्य सरकार ने शिक्षा-विकास का एक पंचवर्षीय कार्यक्रम अपनाया। इसके अन्तर्गत उन्होंने ५ वर्ष के अन्तर्गत ही सम्पूर्ण स्कूलों के खोलने का निश्चय किया और तदनुसार प्रतिवर्ष ४,४०० स्कूल खोलने की योजना बनाई। किन्तु आर्थिक संकट तथा उचित नियोजन के अभाव में यह योजना केवल एक पवित्र आशा मात्र ही बनी रही। सन् १६४६ से १६५२ तक प्रदेश में १५००० हजार स्कूल खुल सके। १६५१-५२ में केवल ५५० तथा उसके उपरान्त १६५२-५३ में २५० तथा १६५३-५४ में केवल २२५ प्राथमिक स्कूल खोले जा सके।

उत्तर प्रदेशीय सरकार ने स्थानीय बोर्डों के नियन्त्रण के अन्तर्गत स्कूल खोलने के अतिरिक्त लगभग ११,५५० राजकीय प्राथमिक स्कूल भी खोले थे, किन्तु इन्हें भी स्थानीय बोर्डों को हस्तान्तरित कर दिया। इस हस्तान्तरण का कारण आर्थिक तथा प्रशासन सम्बन्धी कठिनाइयाँ था।

नगरों में प्राथमिक शिक्षा नगरपालिकाओं के अन्तर्गत चल रही है। अनिवार्यता की दृष्टि से सन्तोषजनक प्रगति रही। सन् १६४६ ई० में प्रदेश की १२० नगरपालिकाओं में से केवल २४ में ही प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य थी।

१९४८-४९ में ४३ तथा १९५३-५४ में ८६ नगरपालिकाओं में प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य करदी गई।

इधर सरकार ने स्कूलों के लिये भवन-निर्माण के लिये भी अनुदान देना प्रारम्भ कर दिया है। यह महत्त्वपूर्ण कार्य कुछ सरकारी अधिकारियों एवं सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं द्वारा निर्मित एक समिति के सुपुर्द किया गया है। जिन गाँवों में नये स्कूलों की स्थापना की जाती है वहाँ के निवासियों को सर्व-प्रथम एक स्वीकृत आकार का एक पाठशाला भवन निर्माण करना पड़ता है। राज्य की ओर से ऐसे प्रत्येक स्कूल के लिये १,०००) रु० का सहायता-अनुदान मिलता है। ग्रामीण जनता ने भी इस कार्य में श्रम इत्यादि के द्वारा कुछ सहयोग दिया है। इस प्रकार प्राथमिक शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

इन स्कूलों में अध्यापन कार्य करने के लिये शिक्षकों की आवश्यकता थी। अतः क्रमशः नार्मल स्कूलों की संख्या में वृद्धि करदी गई है। सन् १९४९ तक प्रत्येक जिले में एक नार्मल स्कूल स्थापित कर दिया गया था। प्रशिक्षित शिक्षकों की माँग की पूर्ति करने के लिये सरकार ने एक 'चल शिक्षक दल' भी प्रारम्भ किया था। इस योजना के अन्तर्गत प्रत्येक जिले में एक दल की स्थापना करदी गई थी। इस दल में बेसिक शिक्षा प्राप्त ग्रेजुएट तथा बेसिक हस्तकला में दक्ष दो बी० टी० सी० सहायक अध्यापक होते थे। यह दल गाँव के अध्यापकों को मनोविज्ञान स्वास्थ्य विज्ञान, कला व हस्तकला, शारीरिक व्यायाम व अन्य सांस्कृतिक कार्यों का प्रशिक्षण देता था। कुछ दिन तक तो यह योजना चली, किन्तु सफल न हो सकी। अतः अब इसे समाप्त कर दिया गया है।

शिक्षा पुनर्व्यवस्था योजना*

उत्तर प्रदेश सरकार ने जौलाई, १९५४ से प्राथमिक बेसिक शिक्षा के उपरान्त जूनियर हाई स्कूलों में 'शिक्षा पुनर्व्यवस्था' की योजना लागू की है। भारत एक कृषिप्रधान देश है। यहाँ सम्पूर्ण जनसंख्या की ६९·४ प्र० श० केवल कृषि के द्वारा ही जीविका उत्पन्न करती है। अतः देश की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली, जिसमें बालकों के पुस्तकीय ज्ञान तथा मानसिक उन्नति पर ही अधिक बल दिया जाता है, प्रायः देश के अधिकांश बालकों के लिये अनुपयुक्त रहती है। जो कुछ भी ज्ञान बालक स्कूल में प्राप्त करता है वह उसके जीवन की वास्तविकताओं से मेल नहीं खाता है। किसी भी प्रकार के औद्योगिक आधार के

* *Reorientation of Education Scheme.*

अभाव में उसकी शिक्षा नितान्त अनुत्पादक रहती है। शिक्षितों में देशव्यापी बेकारी में हमारी इस पुस्तक-प्रधान शिक्षा-पद्धति का बहुत हाथ है। ऐसी स्थिति में शिक्षा-पद्धति में प्रत्यक्ष रूप से कृषि या उद्योगों व हस्तकलाओं का शिक्षण एक विशेष महत्व रखता है।

इसके अतिरिक्त प्राथमिक स्तर पर बेसिक शिक्षा पद्धति को शिक्षा का रूप सारे देश के लिये स्वीकार किया जा चुका है। अतः प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा में अधिक साम्य उत्पन्न करने तथा प्राथमिक स्तर पर प्राप्त की हुई शिक्षा के आधारभूत तत्वों को आगे भी जारी रखने के लिये यह आवश्यक है कि जूनिअर हाईस्कूल स्तर पर भी ऐसी ही शिक्षा-पद्धति को जारी रक्खा जाय। जब भारत में एक जनतन्त्रीय व्यवस्था का परीक्षण किया जा रहा है; और देश के आर्थिक पुनर्निमाण के लिये विशाल विकास योजनाओं को कार्यान्वित किया जा रहा है तो नितान्त आवश्यक है कि हमारे युवकों को ऐसी ही शिक्षा दी जाय जो कि उनके सर्वाङ्गीण विकास के साथ ही साथ देश के आर्थिक पुनर्निमाण में भी सहायक हो।

इन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित होकर उत्तर प्रदेश सरकार ने शिक्षा पुनर्व्यवस्था योजना को लागू किया है। क्योंकि कृषि ग्रामीण-जीवन का आधार है, अतः बालक की शिक्षा का केन्द्र कृषि ही रखा गया है। शिक्षा पुनर्व्यवस्था की यह योजना यद्यपि वर्तमान में जूनियर हाईस्कूलों में ही लागू की गई है, अन्यथा यह प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक सभी स्तरों पर लागू की जायगी। बेसिक शिक्षा के अन्तर्गत कक्षा ५ तक तो प्रदेश के बालक ६-११ की आयु तक किसी हस्तकला को केन्द्र मान कर शिक्षा प्राप्त करते ही हैं। अतः इस योजना को ११ वर्ष की आयु के उपरान्त किशोरों की शिक्षा-आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये लागू किया जा रहा है। एक प्रकार से यह बेसिक शिक्षा को ही आगे बढ़ाने का एक कदम है।

इस योजना के अन्तर्गत प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों में प्रत्येक जूनियर हाईस्कूल अथवा हायरसैकिंडरी स्कूल को ५ से १० एकड़ तक का एक फार्म बनाना होगा। यह भूमि इन स्कूलों ने गाँव वालों से दान में प्राप्त की है। जहाँ यह भूमि उपलब्ध न हो सकेगी अथवा जहाँ कृषि की अपेक्षा लोग हस्तकलाओं या किसी अन्य कुटीर उद्योग को करते हों और वह उनका प्रमुख उद्योग हो, तो वहाँ स्थानीय आवश्यकताओं और विशेषताओं के अनुसार वह हस्तकला या उद्योग ही शिक्षा का आधार होगा।

कृषि के अन्तर्गत पशुपालन, उद्यानकला तथा वन-विज्ञान भी सम्मिलित होंगे। पर्वतीय क्षेत्रों में उद्यानकला व मधुमक्खी-पालन प्रधान विषय रखे गये हैं।

स्कूल का यह फार्म शिक्षक की सहायता तथा पथ-प्रदर्शन में स्कूल के लड़कों द्वारा निर्मित किया जायगा। प्रत्येक बालक दिन में दो घंटे खेत पर कार्य करेगा। स्कूल ही विद्यार्थियों के लिये एक प्रमुख क्रिया-क्षेत्र होगा जहाँ वे शारीरिक श्रम, सामाजिक जीवन तथा स्वावलम्बन का पदार्थपाठ पढ़ेंगे। इन फार्मों पर कृषि की आधुनिक विधियों का परीक्षण करके कृषि की जायगी; और गाँव वाले अन्य कृषकों को भी इन फार्मों पर प्रदर्शन करके आधुनिक कृषि-विधियों को काम में लाने के लिये प्रोत्साहित किया जा सकेगा। गाँव के बालक भी, जो कि आगे चल कर प्रायः कृषि करके जीविकोपार्जन करते हैं, प्रारम्भ से ही कृषि की उन्नत विधियों में प्रशिक्षण पा लेंगे।

प्रत्येक स्कूल निकटवर्त्ती ग्रामीण क्षेत्रों के लिये सामाजिक जीवन का एक केन्द्र होगा। यहाँ प्रत्येक वस्तु का प्रबन्ध शिक्षक व विद्यार्थियों के पारस्परिक सहयोग के द्वारा किया जायगा। प्रत्यक्ष रूप से कृषि करने के अतिरिक्त विद्यार्थी स्कूल के चारों ओर उद्यान लगाने तथा उसे आकर्षक व स्वच्छ बनाने का कार्य भी अपने हाथों से करेंगे। कृषि में प्रयोग होने वाले औजारों की मरम्मत इत्यादि के लिये एक छोटा सा कारखाना (Workshop) भी स्कूल में स्थित कर दिया जायगा। इसमें लकड़ी, लोहा तथा अन्य इसी प्रकार के कार्यों को भी विद्यार्थी सीख सकेंगे।

इस योजना का उद्देश्य केवल यह ही नहीं है कि विद्यार्थियों को कुशल कृषक बना दिया जाय, अपितु उनके सांस्कृतिक व सामाजिक जीवन को विकसित करने के लिये भी स्कूल में व्यवस्था होगी। विद्यार्थियों के लिये पुस्तकालय, वाचनालय, क्रीड़ास्थल तथा रंगमंच इत्यादि की भी व्यवस्था होगी। यहाँ लोक-गीत, लोक-नृत्य, अभिनय तथा स्थानीय विशेषताओं के अनुसार मनोरंजन के अन्य साधनों के द्वारा विद्यार्थी न केवल अपना ही मनोरंजन करेंगे, अपितु अन्य ग्रामीणों को भी इनमें भाग लेने की सुविधा उपलब्ध करके उनका सांस्कृतिक उत्थान करने में सहायक होंगे। इस प्रकार विद्यार्थी और ग्रामीण एक दूसरे के पारस्परिक सम्पर्क में भली भाँति आ सकेंगे।

इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नेतृत्व प्राप्त करने के गुणों का विकास करने के लिये प्रत्येक गाँव में एक 'युवक दल' की स्थापना की जायगी। इस दल का नेता विद्यार्थियों द्वारा चुना जायगा। शिक्षक उनका

सलाहकार होगा। किसी ग्रामीण व्यक्ति को भी दल में सलाहकार की हैसियत से सम्मिलित किया जा सकता है। इस दल की सदस्यता के लिये केवल वे ही विद्यार्थी अधिकारी होंगे जोकि कुछ वैयक्तिक कार्य जैसे कताई, सफाई, एक वृक्ष का आरोपण व रक्षा, एक पशु की देखभाल अथवा मधुमक्खियों के एक छत्ते की देखभाल इत्यादि कर सकेंगे। वैयक्तिक कार्य के अतिरिक्त दल के भी कुछ सामूहिक कार्यक्रम भी होंगे। यह आवश्यक होगा कि एक दल वर्ष में कम से कम चार ऐसे कार्यक्रमों को पूर्ण कर दे। इन कार्यक्रमों में गाँव की नाली बनाना, सड़क बनाना और उस पर वृक्षों की पंक्ति लगाना, एक अभिनय खेलना अथवा अन्य इसी प्रकार के कुछ कार्य सम्मिलित होंगे। अन्य फार्मों की सैर अथवा खुली वायु में वायु बिहार के लिये जाना भी इस दल के कार्यक्रमों में सम्मिलित होगा। इस दल का उद्देश्य सामाजिक हित के कार्य करना, जैसे कहीं आग लगने पर बुझाने जाना, टिड्डियों को नष्ट करना अथवा खेतों में फस्लों में लगने वाले कीड़ों का नष्ट करना इत्यादि भी होगा। दल की विशेष बैठकें भी होंगी जिनमें खेल-कूद तथा अन्य मनोरंजन के कार्यक्रम भी रखे जाँयगे। इस मनोरंजन में स्कूल के बालकों के अतिरिक्त गाँव के अन्य बालक भी भाग ले सकेंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'शिक्षा पुनर्व्यवस्था योजना' के अन्तर्गत स्कूल सम्पूर्ण सामुदायिक जीवन के क्रिया-कलापों का केन्द्र होगा। किन्तु यह योजना बिना ग्रामीण लोगों के क्रियात्मक सहयोग व सच्ची सहानुभूति के सफल नहीं हो सकती। वस्तुतः उन लोगों की सहानुभूति ही इसका प्राण होगी।

ग्रामीण लोगों की क्रियात्मक सहानुभूति के अतिरिक्त इस शिक्षा की प्रमुख धुरी के रूप में होगा 'शिक्षक'। वस्तुतः उसी के मार्ग-दर्शन व संगठन-शक्ति पर योजना की सफलता या असफलता निर्भर है। वैसे तो शिक्षा की किसी भी योजना में शिक्षक का महान् महत्त्व होता है, किन्तु इस शिक्षा पुनर्व्यवस्था योजना में उसका विशेष महत्त्व है। अपने विद्यार्थियों को कृषि की व्यावहारिक शिक्षा देने के अतिरिक्त एक सामाजिक व पूर्ण जीवन के लिये उनके समक्ष आदर्श रखना तथा उस आदर्श की ओर अग्रसर होने के लिये प्रेरणा का संचार करना उसी शिक्षक का कार्य होगा। अतः इसके लिये यह भी आवश्यक होगा कि शिक्षक को न केवल कृषि, हस्तकला, उद्यानकला व पशु-पालन में स्वयं दक्ष ही होना चाहिये, अपितु इस व्यावसायिक ज्ञान के अतिरिक्त उसे स्कूल के सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन को संचालित करके उसे योजना के आदर्शों के अनुरूप ढालने के लिये एक मार्ग-दर्शक व नेता का कार्य करना

होगा। यह तब तक संभव नहीं हो सकेगा, जब तक कि शिक्षक इस कार्य को अपना एक पवित्र कर्तव्य व हेतु समझ कर अपने आपको विना शर्त समर्पण नहीं कर देता।

योजना की प्रगति

जौलाई, १९५४ ई० में उत्तर प्रदेश सरकार ने इस योजना को सारे प्रदेश में लागू कर दिया है। लागू करने से पूर्व इस सम्बन्ध में १० जनवरी, १९५४ को लखनऊ में शिक्षा मन्त्री के सभापतित्व में एक सम्मेलन किया गया था जिसमें राज्य भर से जिला बोर्डों के अध्यक्ष, शिक्षा निरीक्षक तथा शिक्षा-विभाग के अन्य अधिकारियों ने भाग लिया था। तभी से इस दिशा में रचनात्मक कदम उठाये जारहे हैं। राज्य के लगभग ३,००० जूनियर स्कूलों तथा हायर सेकिंडरी स्कूलों में यह योजना लागू की जा चुकी है। इनमें से लगभग २,३०० स्कूलों को भूमि मिल चुकी है। इस भूमि को गाँव वालों की सहायता से जोत और बो दिया गया है। सरकार ने प्रारम्भिक आवश्यकता के कुछ औजार इन स्कूलों को दे दिये हैं। अभी तक हल, बैल या कुँआ इत्यादि की कोई व्यवस्था नहीं हो सकी है। १९५५-५६ के बजट में ६०० स्कूलों को बैल दिये जाने की सम्भावना है। प्रत्येक फार्म का क्षेत्र लगभग १० एकड़ रखा गया है। प्रारम्भिक कुछ महीनों के उपरान्त ही यह अनुभव किया जाने लगा है कि योजना क्रमशः न केवल स्वावलम्बी ही हो जायगी, अपितु कुछ लाभ भी प्रदान करने लगेगी। यहाँ तक कि फार्म पर कार्य करने वाले शिक्षक और विद्यार्थियों को कुछ पारिश्रमिक भी दे सकेगी।

कुछ स्कूल जिनमें कृषि प्रारम्भ नहीं की जा सकती, उन्हें किसी न किसी स्थानीय हस्तकला में प्रशिक्षण देने के लिये चुन लिया गया है। यह हस्तकला ही यहाँ शिक्षा का केन्द्र होगी। इस योजना का प्रारम्भिक खर्चा चलाने के लिये मुख्य मन्त्री के नाम से एक 'शिक्षा कोष' भी खोल दिया गया था। इस कोष में नवम्बर, १९५४ तक २९,४५,००० रुपया एकत्रित हो चुका था। योजना के लिये २५०० शिक्षकों को प्रशिक्षण के लिये गत ग्रीष्म में विभिन्न प्रशिक्षण-केन्द्रों पर भेजा गया था। शीघ्र ही और ४०० शिक्षकों की भर्ती की जारही है। केन्द्रीय सरकार ने भी इस योजना का समर्थन किया है। साथ ही केन्द्र के आदेशों पर प्राथमिक व सामाजिक शिक्षा के लिये अग्रिम-योजनायें (Pilot Projects) भी प्रारम्भ किये जा रहे हैं। इन योजनाओं का भी पुनर्व्यवस्था योजना से समन्वय स्थापित कर दिया जायगा।

जहाँ तक योजना के विषय में सलाह देने व नीतियों को निर्धारित व कार्यान्वित करने का प्रश्न है, राज्य में एक 'राज्य शिक्षा परिषद्' की स्थापना की जा चुकी है। राज्य के मुख्य मन्त्री इसके अध्यक्ष तथा शिक्षा मन्त्री उपाध्यक्ष होंगे एवं अन्य सम्बन्धित मन्त्री अन्य सदस्यों के रूप में रहेंगे।

जिला के स्तर पर भी प्रत्येक जिले में एक ऐसी ही 'जिला नियोजन समिति' बन गई है। यह समिति ही योजना को कार्यान्वित करने का दायित्व अपने ऊपर लेगी। लाधीश इसका अध्यक्ष तथा जिलाबोर्ड का अध्यक्ष इस समिति का उपाध्यक्ष होगा। साथ ही जिले के विधान सभाओं के सदस्य व योजना अधिकारी, कृषि अधिकारी तथा जिला शिक्षा निरीक्षक अन्य सदस्यों में होंगे।

इसी प्रकार गाँव के स्तर पर भी एक ऐसी ही परिषद् की स्थापना की जा रही है। प्रत्येक स्कूल में स्थापित होने वाली इस परिषद् का अध्यक्ष होगा गाँव सभा का प्रधान, तथा अन्य किसान इसमें सदस्यों के रूप में और प्रसार-शिक्षक इसका मन्त्री होगा। यह परिषद् ही इस बात का निर्णय करेगी कि खेत से उत्पन्न होने वाली धन-राशि किस प्रकार से व्यय की जाय।

आलोचना

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा पुनर्व्यवस्था की यह योजना उत्तर प्रदेश में अब एक जीवित सत्य व वास्तविकता के रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारी शिक्षा पद्धति के बहुत से दोषों को दूर करने, बालक का सर्वाङ्गीण विकास करने, देश की बेकारी समस्या को दूर करने, बालक को समाज का एक उत्पादक अंग बनाने, बालकों को शारीरिक श्रम का गौरव पाठ पढ़ाने, जनतंत्र व नेतृत्व का प्रशिक्षण देने, और स्कूल व ग्रामीण जनता को अधिक से अधिक प्रत्यक्ष सम्पर्क में लाने में इस योजना को पर्याप्त सफलता मिलेगी। अपने स्वाभाविक व परम्परागत वातावरण में बालक के व्यक्तित्व का पूर्ण व समुचित विकास हो सकेगा। स्कूल में अपने हाथ से कार्य करता हुआ वह शारीरिक श्रम के महत्त्व को समझने के साथ ही साथ एक स्वस्थ व स्वावलम्बी नागरिक के रूप में विकसित होगा। बहुधा यह देखा जाता है कि अधिकांश ग्रामीण बालक जूनियर हाई स्कूल पास करने के उपरान्त खेती में लग जाते हैं। अब तक ऐसे बालकों को किसी भी प्रकार से कृषि का व्यावहारिक प्रशिक्षण न मिलने के कारण प्रायः वे भी जीवन में कृषि की पुरानी व परम्परागत विधियों का ही अनुसरण करते थे। किन्तु अब वे इन स्कूलों में पर्याप्ततः नवीन कृषि-विधियों में प्रशिक्षित होकर निकलेंगे।

इसके अतिरिक्त इस योजना से एक महान् लाभ यह भी हुआ है कि गाँव की प्रायः ऐसी भूमि जो बिल्कुल बेकार या बंजर पड़ी हुई थी, वह अपने शिक्षक के सहयोग से हमारे बालकों ने दिन रात श्रम करके उपजाऊ बनाली है; और भविष्य में आशा है वह और भी अधिक उपजाऊ करली जायगी। इस प्रकार बेकार भूमि को उत्पादक बनाकर राष्ट्रीय आय को और भी अधिक बढ़ाया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त हमारी आधुनिक शिक्षा-पद्धति का यह एक भयानक दोष रहा है कि हमारे नवयुवक गाँवों में शिक्षा पाकर नौंकरी की खोज में नगरों की ओर भागा करते हैं और इस प्रकार गाँव योग्य व्यक्तियों के बिना ही रह जाते हैं। इस योजना का यह लाभ होगा कि हमारे नवयुवक प्रशिक्षण के उपरान्त गाँवों में कृषि की उन्नति करने में ही जुट जाँयगे। साथ ही योजना से आंशिक रूप से शिक्षकों व छात्रों को आय होने की भी सम्भावना है। इससे राज्य के ऊपर से शिक्षा का भार हलका हो जायगा और इस बची हुई धन-राशि को सरकार शिक्षा-सुधार के अन्य कार्यों के अपनाने में लगा सकेगी।

नवीन शिक्षा योजना का एक लाभ यह भी होगा कि स्थानीय जनता इन विद्यालयों के समीप आ जायगी और ये संस्थायें वास्तविक अर्थों में सामुदायिक केन्द्र बन सकेंगी। हमारे स्कूल ऐसे केन्द्रों के रूप में विकसित हो जाँयगे जो ग्रामीण संस्कृति, सामाजिक जीवन तथा आर्थिक उत्थान के आधार होंगे।

दोष—यहाँ तक तो रही योजना के गुणों की बात। इन गुणों की अपेक्षाकृत इसे हम पूर्णतः निर्दोष भी नहीं कह सकते। इसके आलोचकों का कहना यह है कि इसके लागू होने से शिक्षा का सामान्य मानदण्ड गिर जायगा। लड़के अधिकांश में खेती करने में लगे रहेंगे। इससे उनके अन्य विषयों की पढ़ाई-लिखाई भली-भाँति न हो सकेगी। इसका परिणाम यह निकलेगा कि जब ये बालक नगरों में उच्च शिक्षा के लिये आवेंगे तो नगर के बालकों की अपेक्षा इनके सामान्य ज्ञान का स्तर बहुत नीचा होगा। इससे उच्च शिक्षा का मानदण्ड भी गिर जायगा। साथ ही स्वयं ये बालक भी उच्च पदों के लिये प्रतिस्पर्द्धा में नगर के बालकों की अपेक्षा बहुत पीछे रह जाँयगे। कुछ उग्रवादी तो यहाँ तक कहते हैं कि ग्रामीणों को सदा पिछड़ा हुआ रखने तथा उन्हें खेती करने तक के लिये ही सीमित रखने की यह सरकारी चाल है। इतना तो हम नहीं कह सकते, किन्तु हाँ इतना अवश्य कह सकते हैं कि ग्रामीण बालकों के जूनियर स्तर

पर अधिकांश में कृषि में ही लगे रहने पर उच्च शिक्षा का मानदण्ड अवश्य गिर जायगा। इतना ही नहीं समाज दो विभिन्न व स्पष्ट वर्गों में बँट जायगा और ऐसी स्थिति में वर्ग-विहीन समाज स्थापित करने की हमारी सारी आशाओं पर तुषारापात हो जायगा।

दूसरे, गाँव वालों का कहना है कि यदि कृषि के लिये ही उन्हें अपने बालकों को स्कूल भेजना है तो यह कार्य तो वे अपने घरों पर ही करलेंगे। फिर स्कूल भेजने से क्या लाभ? वास्तव में यह तर्क बड़ा सारहीन है। देखा यह जाता है कि किसान स्वयं बड़ी ही प्राचीन व अवैज्ञानिक कृषि विधियों को अपनाते हैं, जबकि इन स्कूलों में उन्नत व वैज्ञानिक विधि से कृषि करना सिखलाया जायगा। इसके अतिरिक्त भी कितने ऐसे बालक हैं जो स्कूलों में पढ़ते हुए भी खेत पर अपने माँ-बाप के कार्य में हाथ बँटाने में गौरव समझते हैं? यहाँ तक देखा जाता है कि स्वयं माँ-बाप भी इस बात को अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझते हैं कि पढ़-लिख कर भी उनका पुत्र खेती करे। इसे केवल एक दूषित व अप्रगतिशील मनोवृत्ति ही कहना चाहिये।

इसके अतिरिक्त अन्य दोष यह बताये जा रहे हैं कि योजना में पूर्व-नियोजन का अभाव है। इसे भली भाँति समझाया नहीं गया है। यहाँ तक कि बहुत से उत्तरदायी जिला शिक्षा अधिकारी भी अपने आपको अन्धकार में समझते हैं और किसी एक स्पष्ट चित्र को उपस्थित करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। यह बात सत्य है कि सरकार के प्रयत्न इस योजना को लोकप्रिय बनाने तथा इसका स्पष्ट चित्र उपस्थित करने में बड़े अधूरे व अपर्याप्त रहे हैं। योजना में पूर्व-नियोजन का अभाव इस बात से जाना जा सकता है कि गत जौलाई में जब इसे लागू किया गया, तो उसके बहुत दिनों बाद तक भी प्रसार-शिक्षकों को यह नहीं मालूम हो पाया कि उन्हें क्या करना है? कहाँ से उन्हें बीज व औजार इत्यादि मिलेंगे? सरकार ने न तो बैलों की कोई व्यवस्था की और न सिंचाई की। यह बात कहना व्यर्थ है कि भारत जैसे देश में सिंचाई व हल-बैलों की व्यवस्था न करके नये तरीकों से स्कूलों में कृषि का प्रशिक्षण देने की कल्पना करना हास्यास्पद है। इसके अतिरिक्त यह कहा जाता है कि शिक्षा अधिकारियों द्वारा 'शिक्षा कोष' के लिये बल-पूर्वक शिक्षकों तथा विद्यार्थियों से रुपया वसूल किया गया। इससे ग्रामीण जनता का एक बड़ा भाग योजना के विरुद्ध हो गया है। कुछ ग्रामीण इसलिये भी विरुद्ध हो गये हैं कि जो भूमि स्कूलों को दे दी गई है, वह अब तक उनके पशुओं के चराने अथवा

स्वयं उनके लिये धीरे-धीरे नौतोड़ करके कृषि योग्य बनाने के काम में आती थी। अब वह लाभ जाता रहा। इसके साथ ही कुछ ग्रामीण यह भी डर रहे हैं कि चकबन्दी की योजना में स्कूल का फार्म स्कूल के निकट ही रखने की चेष्टा की जायगी और ऐसी स्थिति में सम्भवतः उनकी अच्छी भूमि छिन कर उन्हें बंजर भूमि मिल जायगी। अन्त में यह भी देखा गया है कि प्रसार-अध्यापकों को भी अपने कार्य में अधिक रुचि नहीं है। अध्यापकों में ऐसे लोगों का चुनाव अधिक हो गया है जिन्होंने स्वयं कृषि का अध्ययन नहीं किया है। फिर वे कृषि का वैज्ञानिक प्रशिक्षण ३ माह की ट्रेनिंग पाकर ही किस प्रकार दे सकते हैं? नगरों से भर्ती किये हुए शिक्षक गाँवों में अपने को अकेला पाते हैं।" उन्हें अभी तक ग्रामीणों का सहयोग भी प्राप्त नहीं हो सका है।

उपर्युक्त सभी आलोचनाओं के निष्पक्ष अध्ययन से प्रतीत होता है कि जो दोष 'शिक्षा पुनर्व्यवस्था योजना' में बताये गये हैं वे इतने इस योजना के दोष नहीं है जितने कि उसको कार्यान्वित करने की प्रणाली के हैं। यदि भली-भाँति नियोजन किया जाय तो सम्भवतः प्रशासन सम्बन्धी सभी दोषों का निवारण किया जा सकता है। जहाँ तक गाँव वालों की प्रतिक्रिया का सम्बन्ध है उसे कदापि प्रगतिशील नहीं कहा जा सकता। यदि भारत में जनतन्त्र को सफल होना है तो यहाँ के नागरिकों को उत्तरोत्तर इस बात के लिये सन्नद्ध होना पड़ेगा कि वे स्वार्थ के समक्ष लोक-हित को प्रथमता दें। इन सब बातों को अपेक्षाकृत भी इस महान् परीक्षण की प्रगति को शिक्षा-जगत् अभी कुछ समय तक बड़ी सूक्ष्म-दृष्टि से देखते हुए इसकी सफलता की प्रतीक्षा करेगा।

माध्यमिक शिक्षा

माध्यमिक शिक्षा का विकास उत्तर प्रदेश में अँग्रेजी शासन काल में हुआ। इस शिक्षा का उद्देश्य मध्यम वर्ग के कुछ लोगों को प्रदेश के कतिपय सरकारी या वैयक्तिक स्कूलों में शिक्षा देना था; जिससे कि हाई स्कूल पास करने के उपरान्त वे लोग सरकारी कार्यालयों में क्लर्क इत्यादि का कार्य संभाल सकें। यथासंभव माध्यमिक शिक्षा का लाभ थोड़े से थोड़े व्यक्तियों को ही दिया जाता था, जिससे बेकारी इत्यादि न फैलने पावे। कुछ लोग उच्च शिक्षा के लिये विश्व-विद्यालयों में भी जाते थे। उत्तर प्रदेश में १९४८ से पूर्व माध्यमिक शिक्षा कक्षा ८ से प्रारम्भ होती थी। १० वीं कक्षा में विद्यार्थी हाईस्कूल परीक्षा में उत्तीर्ण

होने के उपरान्त २ वर्ष तक इन्टर कक्षाओं का अध्ययन करता था। सन् १९४८ में माध्यमिक शिक्षा कक्षा ९ से प्रारम्भ होने लगी। एक प्रकार से ६ वीं कक्षा से ही जूनियर माध्यमिक शिक्षा प्रारम्भ हो जाती है। जो हो, इसका उल्लेख आगे किया जायगा।

सन् १९३७ में प्राथमिक स्कूलों की संख्या बढ़ने के कारण, माध्यमिक स्कूलों की भी संख्या बढ़ने लगी थी। इधर शिक्षा-विशारदों का यह मत था कि उत्तर प्रदेश में माध्यमिक शिक्षा १२ वर्ष अध्ययन करने के उपरान्त भी विद्यार्थी को जीवन में अपने पैरों पर खड़ा होने के योग्य नहीं बना पाती। इसके उपरान्त विद्यार्थी के सम्मुख या तो कहीं पेट भरने के लिये क्लर्की इत्यादि मिलने का अवसर मिलजाता है अथवा वह विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिये प्रवेश करा लेता हैं, और अधिकांश विद्यार्थी तो उच्च-अध्ययन को भी नौकरी मिलने अथवा आर्थिक कठिनाइयों के कारण छोड़ बैठते हैं।†

अतः माध्यमिक शिक्षा की पूरी जाँच करने तथा उसका पुनर्संगठन करने के उद्देश्य से उत्तर प्रदेश सरकार ने १९३९ में आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। इसकी सिफारिशों का विस्तृत वर्णन पीछे किया जा चुका है। इस समिति ने सिफारिश की कि माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में विषयों की विभिन्नता होनी चाहिये जिससे जीवन के प्रत्येक पक्ष में विद्यार्थियों को प्रशिक्षण मिल सके।

युद्धकाल में माध्यमिक शिक्षा को प्रदेश में कोई विशेष प्रोत्साहन न मिल सका। इतना ही नहीं कुछ सीमा तक स्थिति गिर ही गई। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त माध्यमिक शिक्षा के आकार में आश्चर्य जनक वृद्धि हुई है। सन् १९४८ ई० में उच्चतर माध्यमिक शिक्षा योजना प्रदेश में लागू करदी गई। इसके उपरान्त माध्यमिक शिक्षा का और भी अधिक प्रसार हुआ। नगरों की अपेक्षा गाँवों में इधर माध्यमिक शिक्षा का प्रसार अधिक हुआ है। आजकल ग्रामीण लोग हाईस्कूलों की स्थापना करा रहे हैं। जूनियर स्कूल उच्चतर माध्यमिक स्कूल बनते जा रहे हैं और इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा को उत्तर प्रदेश में

---

† "Secondary Education was merely regarded as subsidiary to University Education; it does not provide varied forms of training for life and employment to suit the varied interests and abilities of large numbers of pupils........The system must be a complete, self-sufficient and integrated whole." The First Acharya Narendra Deo Committee *Report* (1939).

पर्याप्त प्रोत्साहन मिलता जा रहा है। इस प्रगति की तीव्रता की झाँकी हमें निम्नलिखित तालिका से मिल सकती है:—

वर्ष	१९३७	१९४७	१९५३	१६ वर्ष में वृद्धि का प्र० श०
परीक्षा के लिये मान्यता-प्राप्त हाईस्कूलों की संख्या	२५४	५७०	१,०९८	४३२ प्र० श०
परीक्षा के लिये मान्यता-प्राप्त इंटर कालेजों की संख्या	४०	१६५	५३४	१,३३५ प्र० श०

सन् १९३७ से पूर्व हाईस्कूलों तथा इन्टर कालेजों का अनुपात प्रति जिले में ६ था जबकि १९५३ में यही अनुपात २३ हो गया। सन् १९५३-५४ में माध्यमिक स्कूलों की संख्या में और भी अधिक वृद्धि हुई। सरकारी तथा वैयक्तिक स्कूलों की वर्तमान स्थिति इस प्रकार है।†

	सरकारी	वैयक्तिक	योग
हाईस्कूल			
लड़कों के लिये·········	७४	९३४	१,००८
लड़कियों के लिये·········	४२	१३२	१७४
योग	११६	१,०६६	१,१८२
इन्टर कालेज			
लड़कों के लिये·········	३२	४९७	५२९
लड़कियों के लिये······	१६	७३	८९
योग	४८	५७०	६१८

† *Report of the Secondary Edu. Reorganisation Committee*. U.P. (1953). P. 12.

इसी प्रकार परीक्षार्थियों की संख्या में भी आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। सन् १९३७ में जब परीक्षार्थियों की संख्या १९,०९१ थी तो १९४७ में ४८,५२१ हो गई। यही संख्या १९५३ में २५६,४१९ हो गई। सन् १९५५ में यही संख्या ३ लाख से भी अधिक हो गई है। इसी प्रकार परीक्षा-केन्द्रों की संख्या सन् १९३७ में ४७३ से बढ़कर १९५४ में १०३४ हो गई है।

उच्चतर माध्यमिक शिक्षा योजना के अनुसार सरकार का यह आदेश था कि या तो हाईस्कूल को १२वीं कक्षा तक कक्षायें खोलकर पूरा उच्चतर माध्यमिक विद्यालय हो जाना चाहिये, अथवा केवल जूनियर हाईस्कूल ही रहना चाहिये। इस आदेश का परिणाम यह निकला कि प्रत्येक पूर्व-स्थित हाईस्कूल ११ व १२ वीं कक्षाओं के खोलने का प्रयत्न करने लगा। बहुत से मिडिल स्कूलों ने भी सोचा कि या तो उन्हें उच्चतर माध्यमिक हो जाना है, अथवा वे केवल जूनियर हाईस्कूल ही बने रह जायेंगे। इसका परिणाम यह हुआ कि इन स्कूलों में उच्च स्तर के लिये सरकारी मान्यता प्राप्त करने की एक भगदड़ मच गई। इससे शिक्षा का स्तर पर्याप्ततः गिर गया है।

उच्चतर माध्यमिक शिक्षा योजना

सन् १९४८ में उत्तर प्रदेश में एक नई माध्यमिक शिक्षा योजना को अपनाया गया। इसके अनुसार इसका ढाँचा इस प्रकार हो गया :—

(१) जूनियर हाईस्कूल, जिनमें ६, ७ व ८ कक्षायें हैं।

(२) उच्चतर माध्यमिक स्कूल, जिनमें ९ से १२ तक कक्षायें हैं।

जूनियर हाई स्कूल स्तर—प्रदेश में पहिले दो प्रकार के जूनियर हाईस्कूल थे। (१) हिन्दुस्तानी मिडिल स्कूल और (२) ऐंग्लो हिन्दुस्तानी मिडिल स्कूल। सन् १९४८ में जब माध्यमिक शिक्षा की योजना कार्यान्वित की गई, तो उसमें हिन्दुस्तानी और ऐंग्लो हिन्दुस्तानी शिक्षा का भेद मिटा दिया गया। फलतः आज केवल एक ही प्रकार के जूनियर हाई स्कूल हैं और इनमें एक ही प्रकार के पाठ्यक्रम की व्यवस्था है। पहिले हिन्दुस्तानी मिडिल स्कूल से ऐंग्लो हिन्दुस्तानी स्कूल में जाने के लिये दो वर्ष का समय लगता था। किन्तु अब विद्यार्थियों के ये दो वर्ष नष्ट नहीं होते। जूनियर हाई स्कूलों के लिये शिक्षक प्रस्तुत करने के उद्देश्य से १९४८ में जे० टी० सी० नामक एक नवीन प्रशिक्षण पाठ्यक्रम प्रारम्भ किया गया था और ८ राजकीय नार्मल स्कूल जूनियर ट्रेनिंग संस्थाओं में परिवर्तित कर दिये गये। इसके अतिरिक्त कुछ वैयक्तिक संस्थाओं को भी जे० टी० सी० खोलने की अनुमति दे दी गई। पुराना सी० टी० पाठ्यक्रम लड़कों के लिये समाप्त कर दिया गया है।

उच्चतर माध्यमिक स्तर—इस स्तर के अन्तर्गत ९, १०, ११ और १२ कक्षाएँ रक्खी गई हैं। इस योजना की प्रमुख विशेषता आचार्य नरेन्द्रदेव समिति (१९३९) की रिपोर्ट में निर्धारित चार विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम की व्यवस्था करना है। यह नितान्त आवश्यक था कि छात्रों की योग्यता के विभिन्न स्तरों और रुचियों के अनुसार उनके लिये पाठ्यक्रमों में भी विविधता का सन्निवेश किया जाय।

इस योजना के अनुसार पाठ्यक्रम के क, ख, ग, घ नामक चार व' कर दिये गये, जिनमें क्रमशः साहित्यिक, वैज्ञानिक, रचनात्मक और कलात्मक वर्ग सम्मिलित हैं। १० वीं कक्षा के अन्त में शिक्षा-विभाग की ओर से परीक्षा होती है। लड़कियों के लिये भी माध्यमिक शिक्षा लड़कों की सी ही रखी गई। केवल जूनियर स्तर पर लड़कियों के लिए गृह-हस्तकला अनिवार्य कर दी गई; और उच्चतर स्तर पर गृह-हस्तकला के अतिरिक्त संगीत, चित्रकला व मातृत्व-शिक्षा भी सम्मिलित कर दी गई।

उपर्युक्त पाठ्यक्रम के विभिन्न वर्गों में से 'क' व 'ख' में तो पाठ्यक्रम पूर्ववत् ही है। 'ग' वर्ग सबसे अधिक महत्वपूर्ण है जिसमें टेक्नीकल व औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था की गई। इसमें कृषि, वाणिज्य, चर्म-कार्य, पुस्त-कला, धातुकला तथा औद्योगिक रसायन शास्त्र प्रमुख हैं।

आलोचना

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त योजना के कारण जूनियर व उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के स्तरों में एक तारतम्य स्थापित हो गया है। विभिन्न प्रकार की रुचि व प्रतिभायें रखने वाले छात्रों के लिए एक विस्तीर्ण व विविध प्रकार के पाठ्यक्रम की व्यवस्था होने से प्रत्येक छात्र अपनी रुचि व आवश्यकतानुसार उपयुक्त पाठ्यक्रम ले सकता है।

माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में चला आने वाला एक प्रमुख दोष पुस्तकीय-अध्ययन की प्रमुखता था। वह पर्याप्ततः समाप्त हो सकेगा और इस प्रकार शिक्षा व्यावहारिक जीवन के अनुकूल बन जायगी। साथ ही अब विद्यार्थियों का उद्देश्य माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करके विश्वविद्यालयों को भरना भी नहीं रहेगा। उच्चतर माध्यमिक स्तर अपने आप में एक पूर्ण-स्तर होगा जिसे उत्तीर्ण करने के उपरान्त विद्यार्थी समाज का एक उत्पादक व स्वावलम्बी अंग बन सकेगा।

किन्तु यह तो इस का सैद्धान्तिक स्वरूप रहा। वास्तव में जहाँ तक इसका व्यावहारिक पक्ष है, इसकी बड़ी कटु आलोचना हुई है और इसे प्रदेश में समर्थन नहीं मिल सका है। इसको कार्यान्वित करने में बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित हुई हैं।

एक तो अधिकांश में विद्यार्थियों ने साहित्यिक वर्ग को ही अपने पाठ्यक्रम का विषय चुना। 'ग' वर्ग जिसे सम्पूर्ण योजना की कुंजी बतलाया गया है वास्तव में देखा जाय तो इस योजना की सबसे बड़ी कमजोरी है। वैज्ञानिक वर्ग में स्थिति यथावत् ही रही है। इस वर्ग में प्रवेश बहुधा अधिक रहता ही है, किन्तु इसमें प्रवेश न मिलने पर ही विद्यार्थी रचनात्मक वर्ग में जाता है अथवा कलात्मक वर्ग को चुनता है। इन वर्गों में कुल विद्यार्थियों के केवल १० प्र० श० ही प्रवेश लेते हैं। वास्तव में इन विषयों में योग्य व प्रशिक्षित अध्यापक ही नहीं मिलते हैं। विशेषतः गाँवों में इसकी कोई व्यवस्था नहीं है। दूसरी बात यह है कि इन विषयों के लिए जितनी सामग्री व सज्जा की आवश्यकता है वह अधिकांश में स्कूलों के पास नहीं है। और फिर दो वर्ष तक कोई भी हस्त-कला या ललितकला स्कूल में सीख कर कोई भी विद्यार्थी अपने ज्ञान को उनमें पूर्ण नहीं समझता है; और न उनकी समाप्ति पर उसे कहीं कोई धन्धा या नौकरी ही मिलती है। अतः अधिकांश विद्यार्थी इन विषयों को नहीं लेते हैं। †

इसके अतिरिक्त विषयों का विभाजन व उप-विभाजन 'प्रमुख' व 'सहायक' विषयों में कर दिया गया है। इससे विद्यार्थियों के मस्तिष्क में बड़ी अस्पष्टता व उलझन उत्पन्न होती है। इस विभाजन के कारण शिक्षकों, प्रबन्धकों और सरकार को भी कुछ शिक्षण व प्रशासन तथा वित्त सम्बन्धी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। वास्तव में जब प्रमुख व सहायक (Main and Subsidiary) विषयों का विभाजन किया गया था, तब सरकार का उद्देश्य यह था कि प्रमुख विषयों पर अधिक बल दिया जाय; और जिस विद्यार्थी ने किसी विषय को

† Cf "It is always doubtful if a student after passing the High-School or Intermediate examination with a main craft subject in the Constructive Group can earn his living. No clear picture of the economic set up of the future as a whole has yet emerged and parents and boys cannot be blamed if they hesitate to take the grave risk of following a course which does not lead to assured employment." *Acharya Narendra Deo Committee. Report*, (1953). P. 15.

यदि 'प्रमुख' करके लिया है तो वह उन विद्यार्थियों से भिन्न समझा जाय जिन्होंने उस विषय को 'सहायक' विषय के रूप में लिया है। किन्तु व्यवहार में क्या हुआ? क्या यह सम्भव हो सका कि किसी विषय को 'प्रमुख' करके लेने वाले विद्यार्थियों को उसका कोई विशेष शिक्षण दिया जा सका हो? वास्तव में ऐसा नहीं हो सका; क्योंकि आर्थिक अभाव में स्कूलों के लिए यह बात सम्भव न हो सकी कि किसी विषय को 'प्रमुख' और 'सहायक' के रूप में विद्यार्थियों के विभिन्न समूहों को पृथक्-पृथक् पढ़ाया जा सके। दोनों ही प्रकार के विद्यार्थियों की कक्षा एक ही साथ लगती है। इस प्रकार व्यवहार में तो यह भेद बिल्कुल ही निर्मूल रहा। वास्तव में यदि योजना का पहिले सरकारी स्कूलों अथवा आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ स्कूलों में परीक्षण करके देख लिया जाता तो अच्छा रहता। जाँच करने पर ज्ञात हुआ है कि सरकारी स्कूलों में भी स्थिति प्रायः ऐसी ही है।

संक्षेप में आचार्य नरेन्द्रदेव समिति की जाँच के आधार पर हम कह सकते हैं कि‡—

(१) योजना का पर्याप्त परीक्षण करने के उपरान्त नहीं चालू किया गया था;

(२) इसे केवल आंशिक सफलता मिली है;

(३) इससे कार्य-प्रणाली तथा विद्यार्थियों को अपने प्रश्न-पत्र चुनने में बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो गई है;

(४) विषयों का अनिवार्य, प्रमुख तथा सहायक के नाम से उप-विभाजन होने के कारण शिक्षण पर बुरा प्रभाव पड़ा है;

(५) सामान्य ज्ञान (General Knowledge) जैसे विषय के अनिवार्य हो जाने का कोई लाभ नहीं हुआ है;

(६) हिन्दी को 'प्रारम्भिक हिन्दी' के नाम से अनिवार्य विषय तो बना दिया गया है, किन्तु अन्य विषयों के साथ इसके अंक नहीं जोड़े जाते। इससे इस योजना के अन्तर्गत हिन्दी को अधूरा समर्थन ही मिला है; तथा

(७) इस योजना के अन्तर्गत व्यवस्था की गई है कि विद्यार्थियों को उनके विषयों के चुनने में मार्ग-दर्शन प्रदान किया जाना चाहिये। किन्तु इसको कार्यान्वित करने के लिए किसी ऐसी ठोस योजना

‡ *Acharya Narendra Deo Committee Report* 1953. p. 16.

का निर्माण नहीं किया गया है जिसके द्वारा सारे राज्य के स्कूलों में विद्यार्थियों की रुचियों के अनुसार मार्ग-दर्शन करके उन्हें सहायता दी जा सके।

उपर्युक्त सभी कारणों की वजह से उच्चतर माध्यमिक शिक्षा योजना सफल नहीं हो पा रही है। इधर स्कूलों की संख्या इतनी तीव्रता से बढ़ी है कि उससे शिक्षा का मानदण्ड पर्याप्ततः गिर गया है। एक तो शिक्षा के विस्तार के कारण अधिक प्रशिक्षित शिक्षकों की आवश्यकता हुई। सरकार ने इस अभाव की पूर्ति के लिये विभिन्न प्राइवेट कालेजों में एल० टी० इत्यादि की कक्षायें खोल डालीं जहाँ से अर्ध-प्रशिक्षित शिक्षकों को बड़ी तेजी से निर्मित कर करके भेजा गया। ऐसे शिक्षकों के कारण शिक्षा का स्तर गिर गया। साथ ही ये स्कूल इतनी तेजी से बने कि उनकी आर्थिक स्थिति तथा अन्य साधन ठोस नहीं हो पाये। ऐसे स्कूलों में शिक्षकों को अल्प वेतन देना, वेतन देर से देना, प्रति वर्ष अनुभवी व पुराने शिक्षकों को निकाल कर कम वेतन पर नये शिक्षकों की नियुक्ति करना, स्कूलों में अच्छे पुस्तकालय तथा विज्ञान-सामग्री व उपयुक्त भवन इत्यादि का अभाव एवं अधिकांश में अयोग्य और कहीं-कहीं पर स्वयं निरक्षर लोगों के हाथों में प्रबन्ध के चले जाने से भी शिक्षा का स्तर पर्याप्ततः गिर गया है। इसके अतिरिक्त प्रदेश में ही नहीं, अपितु सारे देश में आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक संक्रमण के साथ ही साथ शिक्षा भी एक संक्रमण काल में होकर गुजर रही है। सम्पूर्ण समाज में आज गिरती हुई प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं। जीवन के मानदण्ड गिरते जा रहे हैं। आज हमारे सामान्य वर्ग के एक विद्यार्थी व शिक्षक पर बहुत से भार आकर पड़ गये हैं। ये सभी बाधायें शिक्षा के मानदण्ड को गिराने में सहायक हो रही हैं। इधर कक्षा ३, ४ व ५ के हाई स्कूलों में से हट जाने के कारण बहुत से अभिभावकों की यह मनोवृत्ति हो गई है कि वे अपने बच्चों को सीधा कक्षा ६ में प्रविष्ट कराते हैं, और अब तक उसे बिल्कुल प्रायवेट बनाकर ही रखते हैं। प्राथमिक स्कूलों में मानदण्ड पहिले से ही बेसिक-शिक्षा के नाम पर गिरा हुआ है। ये स्कूल उन अभिभावकों को उनके बच्चों की समुचित प्राथमिक शिक्षा के लिये सन्तुष्ट नहीं कर पाते। अतः वे अपने बच्चों को सीधा छठवीं कक्षा में ही प्रवेश कराते हैं। नगरों में प्रायः ऐसा हो रहा है। इससे माध्यमिक शिक्षा के स्तर व मूल्य गिरते जा रहे हैं। यही कारण था कि उत्तर प्रदेश सरकार ने अनुभव किया कि यह आवश्यक है कि प्रदेश में माध्यमिक शिक्षा की अवस्था की पुनः जाँच हो और परिवर्तित सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक परिस्थितियों की बदलती

हुई स्थिति के अनुकूल ही माध्यमिक शिक्षा को भी ढाला जाय। अतः मार्च, १९५२ में उत्तर प्रदेश सरकार ने माध्यमिक शिक्षा की प्रगति के परीक्षण तथा वांछित विकास सम्बन्धी सुझाव देने के उद्देश्य से आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में एक दूसरी समिति की नियुक्ति की। समिति ने १९५३ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। इसकी सिफारिशों का वर्णन नीचे किया जा रहा है।

माध्यमिक शिक्षा पुनर्संगठन समिति (१९५३)

नियुक्ति—मार्च १८, १९५२ को एक सरकारी आदेश के द्वारा उत्तर-प्रदेश सरकार ने इस समिति की नियुक्ति की। आचार्य नरेन्द्रदेव इसके अध्यक्ष बनाये गये। अतः इसको बहुधा आचार्य नरेन्द्रदेव समिति भी कहा जाता है। सन् १९४८ से १९५२ तक प्रदेश में माध्यमिक शिक्षा की नवीन योजना के चलने के उपरान्त यह अनुभव किया गया कि उस योजना की पुनः जाँच की जाय और देखा जाय कि उसे कहाँ तक सफलता मिली है तथा बदलती हुई परिस्थितियों में उस योजना में क्या-क्या परिवर्तन आदि किये जा सकते हैं। अतः इस समिति की नियुक्ति की गई।

जाँच-क्षेत्र—(१) १९४८ में लागू होने वाली उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की जाँच करके यह देखना कि उसे कहाँ तक सफलता मिली है। (२) 'क' 'ख' 'ग' व 'घ' नामक पाठ्यक्रम के चारों वर्गों पर विचार करना। (३) यह देखना कि विद्यार्थियों ने अपनी रुचियों के अनुसार किस-किस पाठ्यक्रम को किस सीमा तक चुना है। (४) रचनात्मक व कलात्मक वर्गों की सफलता के विषय में जाँच करना और देखना कि वे कहाँ तक उपयोगी व पर्याप्त हैं तथा विभिन्न स्कूलों में उनके पढ़ाने की कितनी सुविधाएँ उपलब्ध हैं। (५) व्यावहारिक व औद्योगिक विषय लेने वाले विद्यार्थियों की रोजगार की समस्या कहाँ तक हल हो जाती है। (६) सुधार के उपाय बताना। (७) सामान्य शिक्षा व टेक्नीकल शिक्षा का समन्वय किस प्रकार हो सकता है।

आगे चलकर इस समिति का जाँच-क्षेत्र और भी अधिक बढ़ा दिया गया और इसमें अवकाश व कार्य के घण्टों पर विचार, पाठ्य-पुस्तकों, परीक्षा तथा प्रबन्ध समितियों इत्यादि के विषय में भी सुझाव माँगे गये। साथ ही तत्कालीन शिक्षा मन्त्री श्री सम्पूर्णानन्द ने अपने एक भाषण में बोलते हुए समिति के कार्य-क्षेत्र को और भी अधिक विस्तीर्ण करते हुए उसमें इलाहाबाद के मनोविज्ञान केन्द्र तथा गृह-विज्ञान कालेज, विद्यार्थियों के अनुशासन, धार्मिक व नैतिक शिक्षा तथा संस्कृत व अँग्रेजी को अनिवार्य

(By Rotation) समिति में प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये। प्रबन्ध-समितियों के विधानों में उपयुक्त परिवर्तन हो जाना चाहिये। समितियों के सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक १२ होनी चाहिये। शिक्षकों की नियुक्ति के लिये ५ सदस्यों की एक उप-समिति होनी चाहिये, जिसमें प्रधानाध्यापक अवश्य हो। शिक्षक की नियुक्ति के उपरान्त तत्काल ही इसकी सूचना जिला शिक्षा-निरीक्षक के पास पहुँच जानी चाहिये और उसकी स्वीकृति प्राप्त होनी चाहिये। जो प्रबन्धक ऐसा न करे उसे तत्काल हटा देना चाहिये। शिक्षा-संहिता में उचित संशोधन हो जाना चाहिये। शिक्षक की नियुक्ति के चार माह के भीतर ही उसे सम्विदा-पत्र (Agreement Form) भर देना चाहिये। जो प्रबन्ध समितियाँ धर्म व जातियों के आधार पर बनी हैं उनमें कम से कम ⅓ सदस्य अन्य धर्म या जाति के होने चाहिये। पंच फैसला बोर्ड (Arbitration Board) का फैसला अन्तिम माना जायगा; तथा २ माह के अन्तर्गत ही उस पर कार्यवाही होना आवश्यक है। ऐसा न करने पर स्कूल की अनुदान-सहायता में से शिक्षक को दी जाने वाली धन-राशि को काट लेना चाहिये, और यदि बोर्ड के फैसले के विरुद्ध किसी शिक्षक को नौकरी पर वापिस नहीं लिया जा रहा है, तो शिक्षा-विभाग को चाहिये कि वह स्कूल को मिलने वाले अनुदान में से प्रतिमाह रुपया काट कर उस शिक्षक को वेतन देता रहे। साथ ही स्कूलों को मिलने वाले अनुदानों में भी सरकार को उचित व उदार परिवर्तन या वृद्धि कर देनी चाहिये। विद्यार्थियों से प्रवेश शुल्क नहीं लिया जाना चाहिये। साथ ही समिति ने शिक्षकों के वेतन व तबादिला सम्बन्धी बातों पर भी अपनी सिफारिशें करके उन्हें सुधारने के लिये सुझाव दिये हैं। तबादिला के लिये 'तबादिला बोर्ड' होना चाहिये।

(१०) अन्त में पाठ्य-पुस्तकों के सम्बन्ध में भी समिति ने अपने सुझाव दिये हैं। उसका मत है कि पाठ्य-पुस्तकों को स्वीकार करने की वर्तमान-विधि को तत्काल समाप्त कर देना चाहिये। कक्षा ६ से १२ तक कोई भी विशेष पाठ्य-पुस्तक स्वीकार नहीं की जायगी। केवल विस्तृत पाठ्यक्रम निर्धारित किया जायगा। उसी के अनुसार

प्रधानाध्यापक को विषय-शिक्षक की राय से कोई भी पुस्तक चुनने का पूर्ण-अधिकार होगा। केवल शिक्षा-विभाग कुछ सर्वोत्तम पुस्तकों की सूची प्रकाशित कर देगा ताकि पुस्तकों के चुनने में कुछ सहायता मिल सके। ये पुस्तकें पाठ्यक्रम के अनुसार ही लिखी हुई होनी चाहिये।

समिति का मत है कि श्रेष्ठ पुस्तकों की रचना व प्रकाशन के लिये इङ्गलैंड व अमरीका की भाँति विशेष संस्थाओं की स्थापना होनी चाहिये। कोई भी पुस्तक एक बार चुनी जाने के बाद कम से कम ३ वर्ष तक नहीं बदली जानी चाहिये। यदि पाठ्यक्रम में परिवर्तन हो जाय तो बात दूसरी है। सरकार को चाहिये कि वह प्रसिद्ध व अनुभवी लेखकों की लिखी हुई श्रेष्ठतम पुस्तकें प्रत्येक विषय पर उपलब्ध करके बाजार में पहुँचावे। इसके लिये विभिन्न विषयों पर अच्छे लेखकों से पुस्तकें जमा करने के लिये कहा जाय और उनमें से सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों को चुना जाय। पुस्तकों की छपाई व कागज इत्यादि की श्रेष्ठता पर भी उचित ध्यान दिया जाना चाहिये। श्रेष्ठ लेखकों को परितोषक देकर प्रोत्साहित भी किया जाना चाहिये। अन्त में समिति का मत है कि स्वयं सरकार को पुस्तकें नहीं छापनी चाहिये, "क्योंकि लेखकों को अच्छे प्रकाशक मिलना कठिन नहीं होगा।"

आलोचना

इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा के विषय में उत्तर प्रदेश में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण देश में यह रिपोर्ट अपना एक ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। वास्तव में शिक्षा समस्यायें सभी प्रान्तों में प्रायः एक सी ही हैं।

माध्यमिक शिक्षा के लगभग सभी पक्षों पर विचार करके समिति ने अपने व्यावहारिक सुझाव दिये हैं। पाठ्यक्रम के 'पूर्व-स्थित दोषों को दूर करने का प्रयास करके उसे विद्यार्थियों की रुचियों व आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया गया है। टेक्नीकल शिक्षा को वास्तविक रूप से उपयोगी बनाने के सुझाव भी बड़े ठोस हैं। यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों को उनके विषयों के चुनने में पर्याप्त मार्ग-दर्शन होना चाहिये तथा उनकी मनोवैज्ञानिक परीक्षा करके उनकी मानसिक क्षमताओं व रुचियों का पता लगाया जाय। वास्तव में यह सुधार अत्यन्त आवश्यक है।

प्रबन्ध-समितियाँ उत्तर प्रदेश में माध्यमिक शिक्षा के मस्तिष्क पर लगे हुए कलंक हैं। उनका सुधार न केवल शिक्षकों के हित में ही, वरन् स्वयं शिक्षा

के हित में अनिवार्य है। यह बात सर्वविदित है कि वैयक्तिक प्रबन्ध-समितियाँ प्रदेश में शिक्षा का स्तर गिराने तथा शिक्षकों के दुर्भाग्य के लिये अधिकांश में उत्तरदायी हैं। अतः आचार्य नरेन्द्रदेव समिति के सुझाव प्रबन्ध-समितियों के सुधार के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। अन्त में पाठ्य-पुस्तकों के सम्बन्ध में फैले हुए भ्रष्टाचार की ओर समिति का ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक ही है। यह बात आज सभी जान गये हैं कि प्रकाशकों तथा शिक्षा-बोर्ड के सदस्यों ने मिलकर इस क्षेत्र में एक अत्यन्त ही गन्दा वातावरण उत्पन्न कर रखा है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि आज स्कूलों में जो पाठ्य-पुस्तकें देखने को मिलती हैं वे अत्यन्त निम्नकोटि की, अशुद्धियों से भरी हुई तथा गन्दी छपाई की हैं। प्रकाशकों के षड़यंत्रों के द्वारा वे प्रतिवर्ष बदल दी जाती हैं। इस प्रकार प्रदेश के निर्धन विद्यार्थियों पर प्रति वर्ष और भी अधिक व्यय लाद दिया जाता है। समिति की सिफारिशें इस दृष्टि से यद्यपि अधिक क्रान्तिकारी न होते हुए [illegible]पयोगी हैं।

उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त समिति के सुझावों में कुछ दोष भी हैं। उदाहरण के लिये पाठ्यक्रम में कोई विशेष परिवर्तन देखने को नहीं मिलता 'क' 'ख' 'ग' और 'घ' वर्गों के नाम से जो पाठ्यक्रम का वर्गीकरण सन् १९४८ में किया गया था वह यथावत् रखा गया है; जबकि स्वयं समिति की यह राय है कि उपर्युक्त वर्गीकरण में 'ग' व 'घ' अर्थात् रचनात्मक व कलात्मक वर्गों में कोई भी पर्याप्त शिक्षण नहीं दिया जा रहा है।

प्रबन्ध में सुधार की दृष्टि से भी समिति ने कोई अधिक मौलिक सुझाव नहीं दिये हैं। वास्तव में लगभग ये वही सुझाव हैं जो 'रघुकुल तिलक समिति' ने पहले ही दे रखे हैं। किन्तु उनका प्रबन्धकों या सरकार ने पालन नहीं किया। शिक्षकों को समितियों में प्रतिनिधित्व नहीं मिला। प्रबन्धकों के विरोध करनेपर स्वयं सरकार ही कच्ची पड़ गई और इस अति वांछनीय सुधार को टाल दिया गया। ऐसी स्थिति में क्या आशा की जा सकती है कि आचार्य नरेन्द्रदेव समिति के द्वारा करने पर उसी सिफारिश को सरकार कार्यान्वित करेगी? जहाँ तक 'पंच-फैसला बोर्ड' का सम्बन्ध है, उत्तर प्रदेश में यह बोर्ड अब तक बिल्कुल निकम्मा सिद्ध हुआ है और शिक्षकों के अधिकारों की रक्षा करने में पूर्णतः असफल रहा है। इसके निर्णयों को प्रबन्धक लोग सरलता से टाल देते हैं। समिति ने इसके निर्णयों को अनिवार्य बनाने की जो सिफारिशें की हैं वे अपर्याप्त हैं।

साथ ही समिति ने शिक्षकों के वेतन के सुधार के विषय में एक शब्द भी नहीं कहा है। उसने यह मान लिया प्रतीत होता है कि संभवतः यह बात

उसके जाँच-क्षेत्र से बाहर है। वस्तुतः यह सुधार सभी सुधारों की आधार शिला है। इसके अतिरिक्त सरकारी स्कूलों और प्रायवेट स्कूलों के शिक्षकों के वेतन क्रमों में एक ही प्रकार के कार्य करने पर भी अन्तर होना, न केवल अत्यन्त अनुचित ही है, अपितु भारत के संविधान की आत्मा के प्रतिकूल भी है। समिति ने इस पर कुछ भी नहीं कहा है। इतना ही नहीं इधर तो समिति चाहती है कि हस्तकलाओं तथा टेक्नीकल शिक्षा का प्रसार व सुधार हो; उधर आर्ट व क्राफ्ट के शिक्षकों के निम्न वेतन-क्रमों की ओर उसका ध्यान भी नहीं गया है। जब उपर्युक्त विषय हाईस्कूल कक्षाओं में पढ़ाये जाते हैं और संगीत, संस्कृत तथा हिन्दी के शिक्षकों को ट्रेंड ग्रेजुएट का ग्रेड मिला हुआ है तो फिर आर्ट व क्राफ्ट के शिक्षकों को भी वही वेतन क्रम न देने से हम किस प्रकार से हस्तकलाओं की उन्नति की बात सोच सकते हैं ? वास्तव में यह हास्यास्पद है।

निरीक्षण व नियन्त्रण की दृष्टि से भी समिति ने निरीक्षण-विभाग में फैली हुई अक्षमता व सुस्ती और रिश्वतखोरी के विषय में भी कुछ भी नहीं कहा है। यह बात निर्भय होकर कही जा सकती है कि हमारे अधिकांश जिला शिक्षा निरीक्षक शिक्षकों के अधिकारों की रक्षा करने में असफल रहे हैं। उनमें से अधिकांश तो स्कूल-मैनेजरों के प्रति कृतज्ञ रहते हैं और उनके लिये निरीह शिक्षकों का आखेट करने में सम्भवतः कभी सुस्ती नहीं दिखाते। उधर प्रबन्धक लोग इतने सर्वशक्तिमान बने हुए हैं कि कभी-कभी निरीक्षकों के आदेशों की पर्वाह तक नहीं करते। ऐसी स्थिति में हम माध्यमिक शिक्षा के सुधार की कल्पना तक नहीं कर सकते।

अन्त में पाठ्य-पुस्तकों के सम्बन्ध में जो सुझाव समिति ने दिये हैं वे भी मूलतः पूर्व-स्थित प्रणाली से कोई खास भिन्न नहीं हैं। पुस्तकों के विषय में प्रधानाध्यापक को सम्पूर्ण अधिकार देने से उसके दुरुपयोग की सम्भावना है। प्रकाशक लोग इस दृष्टि से प्रधानाध्यापकों को उचित व अनुचित रूप से प्रभावित करने में कोई भी कमी नहीं छोड़ेंगे। दूसरे, शिक्षा-विभाग के द्वारा जो अच्छी पुस्तकों की सूची प्रकाशित की जायगी उसमें भी प्रकाशकों का प्रभाव काम कर सकता है। इसके अतिरिक्त समिति का यह कहना कि सरकार को पुस्तकें छापने का कार्य नहीं लेना चाहिये क्योंकि "लेखकों को अच्छे प्रकाशक मिलना कठिन नहीं है" वास्तव में वास्तविकता को ठुकरा देना है। शिक्षा जैसे आवश्यक व बुनियादी महत्त्व के विषय में पूँजीवाद को खुली छूट देने के बड़े भयंकर परिणाम हो सकते हैं। लेखकों को अच्छे प्रकाशक मिलना आज बड़ा कठिन

हो रहा है जबकि प्रत्येक पुस्तक-विक्रेता एक प्रकाशक बन बैठा है। पाठ्य-पुस्तकों के छापने का उत्तरदायित्व क्रमशः अवश्य ही सरकार तक सीमित रखा जाना चाहिये और इनका राष्ट्रीयकरण कर देना चाहिये। इसके अतिरिक्त समिति ने उन तथाकथित पुस्तकों के विरोध में कुछ नहीं कहा है जो विभिन्न प्रकार के नोट्स, प्रश्न-उत्तर तथा अन्य इसी प्रकार के सस्ते व व्यर्थ साहित्य के रूप में शिक्षा के मानदण्ड को गिरा रही हैं।

इन सभी दोषों की अपेक्षाकृत भी समिति के सुझाव अत्यन्त मूल्यवान् व व्यावहारिक हैं। उत्तर प्रदेश सरकार को चाहिये कि शीघ्रातिशीघ्र उन्हें कार्यान्वित करे।

शिक्षकों की दशा में सुधार

किसी भी शिक्षा-योजना की सफलता तथा राष्ट्र का निर्माण शिक्षकों का उत्तरदायित्व है। अतः इस उद्देश्य के लिए पूर्ण प्रशिक्षित संतुष्ट तथा स्वस्थ व योग्य शिक्षकों की आवश्यकता है। शिक्षक के लिए प्रशिक्षण उतना ही आवश्यक है जितना कि भोजन। एक से उसके मस्तिष्क का पोषण होता है तो दूसरे से शरीर का। शिक्षक को निम्नकोटि की आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त रखना एक बड़ी दूरदर्शिता है।

उत्तर-प्रदेश में शिक्षकों की दशा को सुधारने का कुछ प्रयत्न किया गया है। प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षकों के वेतन-क्रम में सन् १९४७ ई० में परिवर्तन करके उन्हें सुधारने की चेष्टा की गई थी। माध्यमिक शिक्षालयों में शिक्षकों का वर्तमान वेतन-क्रम इस प्रकार है :—

	गैर-सरकारी स्कूल	सरकारी स्कूल
१. एम. ए., एम. एस. सी. तथा एम कौम (इण्टर कक्षा के लिये)	१५०-१०-३०० रु०	२००-१५-४५० रु०
२. ट्रेन्ड ग्रेजुएट	१२०-६-१६८-८-२०० रु०	१२०-८-२००-३०० रु०
३. ट्रेन्ड अन्डर ग्रेजुएट	७५-१२० रु०	७५-२०० रु०
४. मैट्रिक्युलेट	५०-८० रु०	

इनके अतिरिक्त भी कई अन्य श्रेणियाँ हैं जैसे जे० टी० सी० इत्यादि। हाई स्कूल उत्तीर्ण एक जे० टी० सी० को ४५) रु० से प्रारम्भ होता है। अदीक्षित ग्रेजुएट को ८०) रु० मिलते हैं।

यहाँ जो एक बात विशेष उल्लेखनीय है, वह है सरकारी तथा गैर सरकारी शिक्षकों के वेतन-क्रम में भेद रखना। यह व्यवहार, न्याय, सत्य तथा भारतीय संविधान के अनुसार भी अनुचित है। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश में मँहगाई के प्रश्न को लेकर भी माध्यमिक शिक्षकों में बड़ा असन्तोष फैला हुआ है। उनका कहना है कि गैर-सरकारी हाई स्कूलों में मँहगाई के लिये कोई नियम नहीं है; और शिक्षक ३) रु० से १५) रु० तक विभिन्न स्कूलों में मँहगाई पाते हैं, किन्तु सरकारी स्कूलों के शिक्षकों ३०) रु० से ३५) रु० इस रूप में दिये जाते हैं। इस विषय में औचित्य और अनौचित्य का निराकरण प्रस्तुत पुस्तक के क्षेत्र से बाहर की वस्तु है। इतना अवश्य है कि शिक्षकों की स्थिति में सुधार की आवश्यकता है।

शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए इस प्रान्त में अच्छी व्यवस्था है, यद्यपि इसमें कई सुधारों की आवश्यकता है। इन सुधारों के रूप की ओर संकेत करना इस पुस्तक का उद्देश्य नहीं। ट्रेनिंग कालेजों की संख्या में इधर अच्छी प्रगति हुई है। प्रारम्भ में ग्रेजुएट अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए केवल दो कालेज थे। इलाहाबाद इनमें प्रमुख था। बनारस तथा अलीगढ़ विश्वविद्यालयों में बी० टी० कक्षायें थीं। लखनऊ में स्त्रियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था थी। साथ ही ३ सी० टी० के कालेज भी थे। किन्तु भारत के स्वतन्त्र होने के उपरान्त सम्पूर्ण शिक्षा विकास के साथ ही साथ उत्तर प्रदेश में शिक्षकों के लिए ट्रेनिंग की भी व्यवस्था करना आवश्यक हो गया। सन् १९४६-४७ ई० में दो सी० टी० ट्रेनिंग कालेज लड़कों के लिये तथा दो महिलाओं के लिये खुले। सन् १९४७-४८ ई० में कुछ डिग्री कालेजों में एल० टी० तथा बी० टी० कक्षायें खुल गईं। इनमें कानपुर, लखनऊ, प्रयाग, फतेहपुर, मेरठ, दयालबाग आगरा, (स्त्रियों के लिये) प्रमुख हैं। उत्तर प्रदेश सरकार ने एल० टी० के पाठ्यक्रम तथा ट्रेनिंग कालेजों की दशा में सुधार करने के उद्देश्य से एक समिति नियुक्त की थी। उसकी सिफारिशों के फलस्वरूप पाठ्यक्रम में बहुत से परिवर्तन करके उसके स्तर को उठा दिया गया है। प्रदेश में ट्रेनिंग कालेजों की संख्या आवश्यकता से अधिक बढ़ गई थी, अतः उनमें से लगभग ६ कालेज तोड़ भी दिये गये हैं। ट्रेनिंग कालेजों के पाठ्यक्रम में जो परिवर्तन हुआ है उसके अनुसार अब छात्राध्यापकों के लिए सामूहिक कार्यक्रम की व्यवस्था की गई है। इसके अनुसार विद्यार्थियों को शिक्षा सम्बन्धी विभिन्न विषयों के साथ ही साथ कृषि, सिंचाई, स्वच्छता, खाद के गड्ढे तैयार करना, सड़कों, गलियों तथा नालियों का निर्माण, मलेरिया निवारक प्रयास, पौधों तथा खेतों का कीड़ों से संरक्षण तथा गाँवों में

विविध उत्सवों के आयोजन इत्यादि विषयों की व्यावहारिक शिक्षा दी जाती है। इस कार्यक्रम के अनुसार विद्यार्थी दस-पन्द्रह की टोलियों में एक अध्यापक के साथ गाँवों में जाते हैं और वहाँ एकाध सप्ताह ठहर कर ग्रामीणों के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आते हैं और उपर्युक्त कार्यक्रम को पूरा करते हैं। अध्यापिकाओं के लिए भी लगभग ऐसा ही पाठ्यक्रम है।

सन् १९४८ ई० में तीन सी० टी० कालेज तथा ४ एल० टी० कालेज और स्वीकृत हुए और मथुरा तथा खुर्जा में भी एल० टी० की व्यवस्था हो गई। इस प्रकार सन् १९५१-५२ ई० में ट्रेनिंग कालेजों की संख्या ३१ (२४ पुरुषों को और ७ महिलाओं को) थी; तथा ८० ट्रेनिंग स्कूल (५६ पुरुषों के लिये तथा २४ महिलाओं के लिए) और खुल गये। सन् १९५१ ई० में १५,६०० शिक्षक नार्मल तथा ११०० शिक्षक एल० टी० और सी० टी० की परीक्षा में बैठे। इसके उपरान्त लड़कों के लिये सी० टी० ट्रेनिंग तोड़ दी गई और उसके स्थान पर अनेक जे० टी० सी० के स्कूल खोले गये। इसके अतिरिक्त बी० टी० तथा बी० एड० की परीक्षाएँ भी विभिन्न विश्वविद्यालयों के अन्तर्गत संचालित हो रही हैं। इलाहाबाद, लखनऊ तथा अलीगढ़ विश्वविद्यालयों में एम० एड० की भी व्यवस्था है।

यहाँ दो शब्द माध्यमिक शिक्षकों के संगठन के विषय में कह देना भी आवश्यक है। उत्तर प्रदेश में माध्यमिक शिक्षकों के इस समय तीन प्रमुख संगठन स्थापित हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण 'सहायक अध्यापक संघ' (U. P. A. T. A.) है। इसमें लगभग प्रान्त के ८ हजार माध्यमिक शिक्षक सदस्य हैं। इस संस्था का उद्देश्य सहायक अध्यापकों की दशा तथा बालकों की शिक्षा में सुधार करना है। यह संस्था प्रधान अध्यापकों के हितों के भी प्रतिकूल नहीं है। दूसरी संस्था है 'माध्यमिक शिक्षा संघ' (U. P. S. E. A.) यह संस्था सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त है। प्रायः माध्यमिक शिक्षकों की यह धारणा है कि इसका अस्तित्व केवल सरकारी नीतियों का वहन करना और शिक्षकों के आन्दोलनों को असफल कराना है। कुछ समय पूर्व यह संस्था कुछ ऐसे प्रतिक्रियावादी प्रधानाध्यापकों के अधिकार में पहुँच गई थी जिन्होंने अपने स्वयं के हित के लिये संस्था के नाम का दुरुपयोग किया। हो सकता है कि माध्यमिक शिक्षकों की उपर्युक्त धारणा कुछ अतिरंजित हो। किन्तु इतना सत्य है कि व्यवहारतः इसकी सदस्यता अब बहुत गिर गई है। तीसरा संगठन है राजकीय माध्यमिक शिक्षकों का 'यू० पी० नॉन गज़टेड एज्यूकेशनल ऑफीसर्स-असोसिएशन' (N. G. E. O. A.) जो कि सरकार द्वारा मान्य व संरक्षित है।

विशेष संस्थायें

इधर प्रदेश में शिक्षा सम्बन्धी कुछ विशेष संस्थाओं की स्थापना भी की जा चुकी है। इनमें मनोवैज्ञानिक केन्द्र, इलाहाबाद †, शिक्षा विज्ञान केन्द्र, इलाहाबाद ‡, रचनात्मक प्रशिक्षण महाविद्यालय लखनऊ *, शारीरिक शिक्षा महाविद्यालय लखनऊ†† तथा नर्सरी ट्रेनिंग कालेज इलाहाबाद प्रमुख हैं। मनोवैज्ञानिक केन्द्र की स्थापना प्रथम आचार्य नरेन्द्रदेव समिति की रिपोर्ट की सिफारिशों के आधार पर हुई थी। अपनी-अपनी योग्यता व रुचि-भेद के अनुसार शिक्षा के विविध पाठ्यक्रमों के ग्रहण करने की दिशा में विद्यार्थियों के उचित मार्ग-दर्शन की दृष्टि से इस संस्था की अत्यन्त आवश्यकता थी। अतः १९४७ में इसकी स्थापना कर दी गई। मार्च १९५२ में मेरठ, बनारस, लखनऊ, कानपुर और बरेली इन पाँचों स्थानों में इसके क्षेत्रीय-केन्द्रों की स्थापना कर दी गई। भविष्य में प्रत्येक जिले में ऐसे ही केन्द्र स्थापित करने की योजना है।

इस केन्द्र में विभिन्न विधियों द्वारा विद्यार्थियों की बुद्धि तथा रुचियों की परीक्षा लेकर उन्हें शिक्षा, पाठ्यक्रम तथा व्यवसायों के चुनने में सहायता दी जाती है।

शिक्षा-विज्ञान केन्द्र नामक संस्था भी इलाहाबाद में १९४८ में स्थापित की गई थी। शिक्षा के विभिन्न स्तरों के लिए पाठ्यक्रम तैयार करना, शिक्षा-क्षेत्र की विभिन्न समस्याओं की जाँच करना तथा उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के लिये नये-नये प्रयोग करना इस संस्था का कर्तव्य है। इस संस्था ने विभिन्न विषयों पर प्रामाणिक पाठ्य-पुस्तकें भी तैयार की हैं।

इनके अतिरिक्त इलाहाबाद में जौलाई, १९५१ में एक नर्सरी ट्रेनिंग कालेज की स्थापना की जा चुकी है। यद्यपि राज्य में सरकार के अन्तर्गत एक भी उल्लेखनीय नर्सरी या मान्तेसरी स्कूल नहीं है, तथापि कुछ वैयक्तिक स्कूलों की स्थापना को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। ऐसे स्कूलों में काम करने के लिये प्रशिक्षित शिक्षकों की आवश्यकता की पूर्ति करने के उद्देश्य से ही यह संस्था खोली गई है। इसमें अंडर ग्रेजुएट छात्राएँ प्रवेश पाती हैं और दो वर्ष का पठ्यक्रम समाप्त करने के उपरान्त उन्हें सी० टी० का प्रमाण-पत्र दिया जाता है।

---

† The Psychological Bureau, Allahabad.

‡ The Pedagogical Institute, Allahabad.

* The Constructive Training College, Lucknow.

†† The Physical Training College, Lucknow.

इनके अतिरिक्त लखनऊ में रचनात्मक प्रशिक्षण कालेज तथा शारीरिक शिक्षा कालेज हैं। उच्चतर माध्यमिक स्कूलों में बहुमुखी पाठ्यक्रम की योजना को कार्यान्वित करने तथा रचनात्मक वर्ग के विषयों में प्रशिक्षण देने के लिए १९४८ में एक रचनात्मक प्रशिक्षण कालेज खोला गया था। अब कई वर्षों से यह लखनऊ में आ गया है। शिक्षकों को विभिन्न हस्तकलाओं में प्रशिक्षण देने के अतिरिक्त इसमें एक उत्पादन केन्द्र भी है जिसका उद्देश्य व्यावसायिक है। शारीरिक प्रशिक्षण कालेज में ग्रेजुएट तथा अंडर ग्रेजुएट पुरुष व स्त्री शिक्षकों को शारीरिक शिक्षण के विषय में दीक्षित करने के उद्देश्य से शिक्षा विभाग की विकास योजनाओं के अन्तर्गत प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की गई है। यहाँ पर विभिन्न शारीरिक व्यायामों के साथ ही साथ लाठी प्रयोग, लोक-नृत्य तथा तैरने इत्यादि का प्रशिक्षण दिया जाता है।

शिक्षा की अन्य योजनाओं में हम समाज-सेवा तथा सैनिक शिक्षा को भी सम्मिलित कर सकते हैं। अब ये दोनों योजनायें मिला दी गई हैं। समाज-सेवा १० जिलों में लागू की गई थी। प्रादेशिक सेना शिक्षा ११ जिलों में इण्टर कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य थी। दोनों योजनाओं को मिलाकर अब यह १७ जिलों में कार्यान्वित कर दी ग है। सैनिक शिक्षा पाने वाले छात्रों की संख्या इस समय राज्य में लगभग ३० हजार है। कक्षा ९ व ११ के विद्यार्थियों के लिए नेशनल कैडिट कोर (N. C C.) के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था है।

इसी प्रकार बालिकाओं के लिए शिक्षा व्यवस्था, शारीरिक दृष्टि से पीड़ितों के लिये शिक्षा व्यवस्था तथा सामाजिक शिक्षा व्यवस्था इत्यादि अन्य योजनायें हैं जिन्हें राज्य में कार्यान्वित किया जा रहा है। हिन्दी के प्रसार व प्रोत्साहन के लिए राज्य सरकार ने विशेष प्रबन्ध किए हैं। प्रति वर्ष हिन्दी की उत्तम पाठ्य-पुस्तकों पर सरकार लेखकों को पारितोषक देकर प्रोत्साहित कर रही है। हिन्दी को सरकारी कार्यों के लिए राज्य-भाषा भी स्वीकार किया जा चुका है।

उच्च-शिक्षा—

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में उत्तर प्रदेश बहुत आगे बढ़ा हुआ है। यहाँ अन्य प्रान्तों की अपेक्षा सबसे अधिक विश्वविद्यालय हैं। उत्तर प्रदेश में विश्वविद्यालयों की संख्या ६ है: इलाहाबाद, लखनऊ, बनारस, अलीगढ़, आगरा तथा रुड़की। इनके अतिरिक्त गोरखपुर में ग्राम्य विश्वविद्यालय और बनारस में संस्कृत विश्वविद्यालय के निर्माण की योजना प्रगति-पथ पर है।

प्रान्त में बहुत से कला, विज्ञान तथा वाणिज्य के कालेज हैं जो प्रमुखतः आगरा विश्वविद्यालय से सम्बन्धित हैं। आगरा, कानपुर, इलाहाबाद, लखावटी तथा शिकोहाबाद में कृषि कालेज हैं। देहरादून में बन-विज्ञान शिक्षा-केन्द्र तथा कानपुर में हारकोर्ट बटलर टैक्नालॉजिकल इन्सटीट्यूट है। ट्रेनिंग कालेजों का उल्लेख भी उच्च शिक्षा के अन्तर्गत आता है। इंजिनियरिंग में बनारस भी एक प्रमुख केन्द्र है। इसके अतिरिक्त कुछ गैर-सरकारी शिक्षा संस्थाएँ जैसे गुरुकुल कांगड़ी, संस्कृत कालेज बनारस, काशीविद्यापीठ, साहित्य सम्मेलन प्रयाग, महिला-विद्यापीठ प्रयाग, लखनऊ संगीत विद्यापीठ तथा दारुल उलूम आजमगढ़ इत्यादि भी प्रसिद्ध हैं।

ज्ञानपुर (बनारस) तथा नैनीताल में दो राजकीय डिग्री कालेज भी हैं। प्रदेश के ६ विश्वविद्यालयों में अलीगढ़ व बनारस दो विश्वविद्यालय केन्द्र के आधीन हैं। रुड़की का इंजीनियरी विश्वविद्यालय सीधा उत्तर प्रदेश सरकार के नियन्त्रण में है। शेष तीन विश्वविद्यालय स्वायत्त सत्ता प्राप्त संस्थायें हैं। प्रायः ये तीनों विश्वविद्यालय उन सभी दोषों से पीड़ित हैं जिनसे दुर्भाग्य से भारत के अधिकांश विश्वविद्यालय पीड़ित हैं। निम्नकोटि की दलबन्दी, जातीय या प्रान्तीय पक्षपात, अनुचित नियुक्तियाँ, रुपये का दुरुपयोग, गिरते हुए शिक्षा-स्तर, पाठ्य-पुस्तकों व परीक्षकों की नियुक्ति इत्यादि के सम्बन्ध में भ्रष्टाचार इत्यादि इन तीनों विश्वविद्यालयों की विशेषता हो गई थी। अतः विवश होकर सरकार को इनके विधानों में संशोधन करने के लिये कदम उठाने पड़े हैं।

आगरा विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में १९५३ में एक विधेयक विधान सभा में प्रस्तुत किया गया था। इसके स्वीकृत हो जाने पर विश्वविद्यालय के अधिनियम में उचित संशोधन कर दिये गये हैं। इसके अनुसार विश्वविद्यालय का उपकुलपति अब चुना न जाकर नियुक्त किया जायगा। उसी प्रकार कार्य-कारिणी व सीनेट में चुनाव के सिद्धान्त को कम से कम कर दिया गया है। जहाँ चुनाव अनिवार्य है, वहाँ एक हस्तांतरणीय मत† के द्वारा चुनाव हुआ करेंगे। परीक्षकों की कुल संख्या के आधे परीक्षक अन्य विश्वविद्यालयों से लिये जाँयगे। किसी व्यक्ति को विश्वविद्यालय से विभिन्न रूप से होने वाली आय का अधिकतम निश्चित कर दिया गया है। शिक्षकों की नियुक्ति के सम्बन्ध में सुधार हुआ है। इसके अतिरिक्त नौकरी-पेशा वाले लोगों के लिये ३ वर्ष का डिग्री पाठ्यक्रम प्रारम्भ करना, सभी सम्बन्धित कालेजों में पारस्परिक सहकारिता के द्वारा कार्य करने की पद्धति का प्रारम्भ

† Single Transferable Vote.

तथा विश्वविद्यालय में धीरे-धीरे शिक्षण कक्षायें भी प्रारम्भ करना इत्यादि कुछ प्रमुख सुधार हैं जो कि इस विश्वविद्यालय में किये गये हैं।

इन सुधारों का यद्यपि ऐसे लोगों की ओर से पर्याप्त विरोध हुआ जो विश्वविद्यालय की स्वायत्तता के भंग होने का नारा लगाकर अपने निहित स्वार्थों को अक्षुण्ण बनाये रखना चाहते थे, तथापि जनमत के समक्ष इन लोगों की पराजय हुई। नवीन संशोधनों के आधार पर प्रथम वैतनिक उपकुलपति की एक वर्ष के लिये नियुक्ति हुई थी, जिसका समय एक वर्ष के लिये और बढ़ा दिया गया है। भविष्य में यह नियुक्ति ५ वर्ष के लिये वैतनिक आधार पर होगी। कई स्थानों पर नौकरी-पेशा वालों के लिये पृथक् डिग्री-कक्षायें खोलदी गई हैं। विश्वविद्यालय में एक हिन्दी विद्यालय खोल दिया गया है और समाज-शास्त्र के लिये दूसरा विद्यालय शीघ्र ही खुलने की सम्भावना है। परीक्षाओं, सम्बन्धित कालेजों को मान्यता देने के नियमों व उनकी प्रबन्ध-समितियों में सुधार तथा शिक्षकों की नियुक्ति इत्यादि में सुधार होना भी क्रमशः प्रारम्भ हो गया है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में भी प्रायः इसी प्रकार की गन्दी राजनीति ने जन्म ले लिया था। अतः राज्य सरकार ने १७ दिसम्बर, १९५१ को जस्टिस मूथम की अध्यक्षता में 'इलाहाबाद विश्वविद्यालय जाँच समिति' की नियुक्ति की। इस समिति का उद्देश्य विश्वविद्यालय के आन्तरिक मामलों की जाँच करके "विश्वविद्याय को विभिन्न उद्देश्यों तथा कर्तव्यों का भली-भांति पालन करने के योग्य बनाने लिये" अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करना था। समिति ने २२ फरवरी, १९५३ को अपनी रिपोर्ट सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करदी। इस रिपोर्ट में मूथम समिति ने विश्वविद्यालय के सभी आन्तरिक मामलों; जैसे, विद्यार्थी और उनके हितकारी कार्य, छात्रावास, शिक्षण स्तर, अनुसन्धान, शिक्षकों की नियुक्ति तथा उनके वेतन इत्यादि, विश्वविद्यालय का विधान, आर्थिक अवस्था, परीक्षायें, प्रशासन तथा राजकीय अनुदान इत्यादि का अध्ययन करके अपने विस्तृत विचार प्रस्तुत किये हैं।

इन्हीं सिफारिशों के आधार पर उत्तर प्रदेश सरकार ने विश्वविद्यालय के विधान में संशोधन कर दिये हैं। इन संशोधनों के सम्बन्ध में भी प्रदेश में एक ऊँचे स्तर का बाद-विवाद उपस्थित हो गया था। विश्वविद्यालय की स्वायत्त-सता के भंग होने के तर्क को लेकर पर्याप्त तर्क-वितर्क चलता रहा। इस संशोधन के अनुसार इलाहाबाद नगर में स्थित अन्य डिग्री कालेजों को 'एसोशिएट' कालेजों के नाम से विश्वविद्यालयसे सम्बन्धित कर दिया गया है। इससे पूर्व भी इलाहाबाद के तीन कालेजः कायस्थ पाठशाला कालेज, ईविंग क्रिश्चियन कालेज तथा नैनी कृषि

कालेज तो इससे सम्बन्धित थे ही, यद्यपि विधान में इनके सम्बन्ध की व्यवस्था नहीं थी। इधर विश्वविद्यालय के अधिकारियों को यह भय हो गया कि यदि सरकार ने नवीन संशोधन के आधार पर इन कालेजों को 'एसोशिएट' कालेज बना दिया तो भविष्य में नगर से बाहर के अन्य कालेज भी विश्वविद्यालय से सम्बन्धित कर दिये जाँयगे और इस प्रकार विश्वविद्यालय का शिक्षण स्तर गिर जायगा तथा उसका जो एक मात्र शिक्षण-संस्था का स्वरूप है वह भी भंग हो जायगा। किन्तु सरकार का ऐसा कोई इरादा नहीं था जिसके अनुसार इलाहाबाद से बाहर के कालेजों को विश्वविद्यालय से सम्बन्धित किया जाता।

इसके अतिरिक्त उप कुलपति की नियुक्ति, कार्यकारिणी व सीनेट के अधिकारों की समीक्षा, शिक्षकों के कर्तव्यों का निर्देशन, शिक्षण व अनुसन्धान से स्तर को ऊँचा उठाने के लिए व्यवस्था तथा विश्वविद्यालय की वित्तीय समस्या को सुलझाने के लिये उपाय इत्यादि अन्य बातें हैं जिनको वर्तमान संशोधनों के द्वारा हल करने की चेष्टा की गई है।

इसी प्रकार का एक संशोधन लखनऊ विश्वविद्यालय की समस्याओं को सुलझाने के लिए किया जा रहा है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उच्च शिक्षा की दृष्टि से उत्तर प्रदेश पर्याप्ततः प्रगतिशील है। सरकार भी प्रतिवर्ष अधिक से अधिक रुपया उच्च शिक्षा के लिए देने का प्रयास कर रही है। सन् १९५२-५३ में उच्च शिक्षा पर ७५,०६,६४३ रुपया व्यय किया गया था। १९५३-५४ में यही धन-राशि ७८,७७,५०० रुपया हो गई। १९५४-५५ के लिए अनुमानित बजट ८४,४५,९०० रुपये का है। तथापि प्रदेश को उच्च शिक्षा की आवश्यकता को देखते हुए हम कदापि पूर्णतः पर्याप्त नहीं कह सकते। यदि सम्पूर्ण शिक्षा पर भी हम सरकारी व्यय के आँकड़ों का अध्ययन करते हैं तो प्रतीत होता है कि १९४६-४७ में कुल व्यय २·५८ करोड़ से बढ़कर १९५१-५२ में ७·३७ करोड़, १९५२-५३ में ८·११ करोड़ तथा १९५४-५५ में ९·५५ करोड़ रुपया रहा है। इससे प्रतीत होता है कि यहाँ शिक्षा के उत्तरदायित्व को सरकार समझ रही है और उस दिशा में निरन्तर रूप से प्रयत्नशील है।

उपसंहार

इस प्रकार उत्तर प्रदेश शिक्षा में प्रगति तो कर रहा है, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उचित व पर्याप्त दिशा में नियोजन का अभाव और प्रशासन की शिथिलता है। ज्यों-ज्यों शिक्षा का आकार बढ़ रहा है, उसका स्तर गिरता जा रहा है। शिक्षा में विभिन्न स्तरों के समान-

विकास पर भी जोर नहीं दिया जा रहा। उदाहरणतः पूर्व-प्राथमिक या नर्सरी शिक्षा के लिए प्रदेश में कोई भी सराहनीय प्रयास नहीं किये गये हैं। जबकि रूस, इङ्गलैण्ड व अमरीका जैसे देशों में पूर्व-प्राथमिक स्तर पर सरकारें बहुत व्यय करती हैं, सम्भवतः हमारे देश में इधर कोई ध्यान ही नहीं दिया जा रहा। जो कुछ भी फुटकर प्रयास कहीं हुए भी हैं, वहाँ शिक्षा इतनी मँहगी है कि सामान्यतः प्रत्येक वर्ग के बालकों के लिए उनमें प्रवेश भी पाना असम्भव है। प्राथमिक शिक्षा का स्तर भी इतना गिरता जा रहा है कि उन स्कूलों में सामान्यतः मध्यम वर्ग के लोग अपने बच्चों को नहीं भेजते हैं। बेसिक शिक्षा के नाम पर तो मानदण्ड को और भी अधिक गिरा दिया गया है। वस्तुतः मानदण्ड के गिरने की समस्या तो माध्यमिक व विश्वविद्यालय स्तरों पर भी वैसी ही है। सम्भवतः जब प्रदेश में शिक्षा का प्रसार हो रहा है तो कुछ सीमा तक तो मानदण्ड गिर जाना स्वाभाविक भी है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि उसको उठाने के प्रयास न किये जाँय। आशा है भविष्य में अवश्य ही कुछ प्रयास इस दिशा में किये जाँयगे। इधर पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत अन्य राज्यों की भाँति उत्तर प्रदेश में भी सामूहिक विकास योजनाओं के साथ सामाजिक तथा प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के यत्न किये जा रहे हैं। जूनियर हाई स्कूल तथा माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर कृषि शिक्षा की पुनर्व्यवस्था के महान् परीक्षण की सफलता की ओर शेष भारत प्रेरणा के लिए देख रहा है। माध्यमिक स्तर पर पाठ्यक्रम का वर्गीकरण साहित्यिक, वैज्ञानिक, रचनात्मक तथा कलात्मक वर्गों के रूप में एक नूतन योजना है। स्त्री-शिक्षा की दृष्टि से उत्तर प्रदेश बंगाल, मद्रास, मैसूर, महाराष्ट्र तथा त्रिवांकुर-कोचीन राज्यों की अपेक्षा पिछड़ा हुआ है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में साधारणतः हम उत्तर प्रदेश को बहुत आगे पाते हैं। साक्षरता की दृष्टि से भी भारत दक्षिणी भारत के कुछ राज्यों की अपेक्षा पिछड़ा हुआ है। आशा है भविष्य में सभी दोषों को दूर करके उत्तर प्रदेश शिक्षा-क्षेत्र में भी अन्य बातों की भाँति अग्रसर होने का प्रयास करेगा।

अध्याय १७

भारत में सामाजिक-शिक्षा

भूमिका

यह बात सर्वविदित है कि भारत में लगभग १७ प्रतिशत साक्षरता है और ८३ प्रतिशत जन-समूह निरक्षरता में डूबा हुआ है। भारत की बदलती हुई राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में जनता की यह विशाल निरक्षरता एक दुरूह रोड़े के समान अटकी हुई है। स्वतन्त्रता के उपरान्त भारत विश्व में जनतन्त्र का एक महान् परीक्षण कर रहा है। किन्तु अशिक्षित जन-समूह के जनतन्त्र, सामाजिक न्याय तथा राजनैतिक उत्तरदायित्त्व इत्यादि के उच्च-सिद्धान्तों को समझने तथा उनकी सराहना करने में असमर्थ होने के कारण, जनतन्त्र के परीक्षण की सफलता ही संदिग्ध है। जब तक देश का मतदाता और करदाता अपने मत और कर का मूल्य नहीं समझता है, हमारा जनतन्त्र एक धोखा है। अयोग्य व अशिक्षित व्यक्तियों के हाथों इसका दुरुपयोग होने का भय है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि भारत में कोई भी राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक सुधार करने के साथ ही साथ उनके लिये उपयुक्त भूमि तैयार कर ली जाय। सामाजिक शिक्षा इसका एक शक्तिशाली साधन है।

मूल सिद्धान्त

प्रौढ़-शिक्षा का अर्थ आधुनिक युग में बदलता जा रहा है। कुछ समय पूर्व प्रौढ़शिक्षा से तात्पर्य 'साक्षरता' से ही था। किन्तु साक्षरता को हम शिक्षा नहीं कह सकते, यद्यपि यह शिक्षा तथा ज्ञान प्राप्त करने की कुञ्जी है। साक्षरता के द्वारा शिक्षा-द्वार उन्मुक्त हो जाता है जिसमें प्रवेश करके मनुष्य ज्ञान मन्दिर तक पहुँचता है। जब तक समाज में अशिक्षा व अज्ञान है, शोषण का उन्मूलन नहीं हो सकता। इस शोषण से निर्धनता और निर्धनता से पुनः अज्ञान और संकट की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह कुचक्र चलता ही रहता है और

ऐसी अवस्था में सामाजिक न्याय तथा जनतंत्र की सभी सद्भावनाओं का लोप हो जाता है। जनतन्त्र की सफलता मतदाताओं के एक ऐसे समाज पर निर्भर है जो कि बुद्धिमान हो तथा जनतंत्र के उद्देश्यों को समझने में समर्थ हो।

अमेरिका के एक प्रौढ़शिक्षा-विशेषज्ञ, श्री पॉल वर्जीविन के अनुसार "जनतंत्र ऐसे बुद्धिमान् तथा सदा जागरूक नागरिकों पर निर्भर है जो कि राजनैतिक धूर्तों को पहिचानने की क्षमता रखते हों, अपने स्वयं तथा अन्य नागरिकों के हित में विचारों का उचित निर्णय तथा मूल्यांकन करने का विवेक रखते हों; इस बात को समझने की क्षमता रखते हों कि समाज में निरंतर ऐसी शक्तियाँ कार्यशील रहती हैं जिनके पास दिखाने को कुछ एवं देने को कुछ और है। वे (नागरिक) ऐसे होने चाहिये जो कि विरोधियों के अधिकारों का आदर करते हुए अपने निजी विचार व्यक्त करने की कुशलता भी रखते हों।"†

इस प्रकार प्रौढ़शिक्षा के उद्देश्य की प्राप्ति करने के लिये वयस्कों को कुछ समय के लिये ही केवल पुस्तकीय ज्ञान देना पर्याप्त नहीं होगा। वास्तव में शिक्षा तो एक निरन्तर धारा है। मनुष्य जीवन भर अनायास ही ज्ञान प्राप्त करता रहता है। अतः प्रौढ़शिक्षा की किसी भी योजना को सफल बनाने के लिये सुसंगठित और स्थायी व्यवस्था की आवश्यकता है। केवल पवित्र भावनायें और उच्च-शब्दावली, जैसा कि भारत में अब तक प्रौढ़शिक्षा-क्षेत्र में रहा है, इस महान् कार्य के लिये पर्याप्त नहीं है। वास्तविक शिक्षा के लिये प्रौढ़ों को साधारण तथा विशेष अथवा औद्योगिक ज्ञान के प्राप्त करने के लिये निरंतर सुअवसर मिलना चाहिये। इसके लिये प्रथमतः उनके समक्ष उन विषयों का अध्ययन रखना चाहिये जो कि उनके स्वयं से सम्बन्धित हों। इन विषयों के प्रस्तुत करने का आकर्षक ढंग उन्हें शिक्षा के मूलभूत लाभों की ओर आकर्षित कर सकता है। इसके उपरान्त ज्ञान क्षितिज के विकसित होने पर वे स्वाभावतः अपने समीपवर्ती वातावरण को समझने का प्रयास करेंगे और इस प्रकार उनकी शिक्षा में एक स्वाभाविक प्रगति हो सकेगी।

इस विषय में एक बात और आवश्यक है: वह यह है कि यदि हम प्रौढ़शिक्षा को केवल किसी सामयिक अथवा अल्पकालीन समस्या का मुकाबिला करने के लिये ही संगठित करना चाहते हैं तो हमें मनोवांछित सफलता नहीं मिल सकती है। दुर्भाग्य से भारत का समाज अनेक दोषों में जकड़ा हुआ है।

† Paul Verjivin: *A Philosophy of Adult Education* p. 8.

ऐसी अवस्था में प्रत्येक बुराई का उन्मूलन करने के लिये प्रौढ़शिक्षा के क्षणिक नुस्खे केवल शक्ति और प्रयास का दुरुपयोग मात्र हैं। वस्तुतः प्रौढशिक्षा एक ऐसी निरंतर पद्धति के रूप में विकसित होनी चाहिये जिससे जनसाधारण का सर्वाङ्गीन व स्थायी विकास हो। भारत में कुछ उत्साही तथा कथित सुधारकों के लिये प्रौढ़शिक्षा की इतिश्री केवल इसी प्रयास में हो जाती है कि कुछ निरक्षर व्यक्ति, बिना वर्णमाला के समझे हुए ही, केवल कुछ घंटों में अपने हस्ताक्षर मात्र करलें! इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रौढ़शिक्षा का यह उद्देश्य अत्यंत अपर्याप्त, संकीर्ण व हास्यास्पद है। गत तीन दर्शकों का अनुभव इस दिशा में यह बतलाता है कि प्रौढ़शिक्षा के लिये किये गये ऐसे सभी आन्दोलन क्षणिक सिद्ध हुए हैं; और इस प्रकार शिक्षित किये गये वयस्क भी उस हस्ताक्षर-ज्ञान से किसी प्रकार की लाभान्वित नहीं हो सके हैं। फलतः अन्त में पुनः निरक्षर बन गये हैं।

अतः इस बात की आवश्यकता है कि प्रौढ़शिक्षा की कोई भी योजना हो, उसमें कम से कम प्रौढ़ के मानसिक-विकास, नागरिकता, सांस्कृतिक विकास तथा औद्योगिक-प्रशिक्षण की परिपक्वता को अवश्य दृष्टिगत रखना होगा। प्रौढ़शिक्षा की योजनाओं को राजनैतिक सुअवसर के शोषण के लिये लागू करना एक अत्यन्त ही भयानक बुराई है, किन्तु दुर्भाग्य से वर्तमान में हमारे देश में अब तक इसका उपयोग अधिकांश में इसी दिशा में किया जा रहा है। राजकीय आधार पर अथवा समाजसुधारकों के संगठित और पूर्णनियोजित कार्य-क्रम के रूप में प्रौढ़शिक्षा का आन्दोलन हमारे देश में अभी तक सफलतापूर्वक नहीं चलाया गया है। यह बात निर्विवाद सत्य है कि जब तक प्रौढ़शिक्षा के लिये विशाल स्तर पर अन्दोलन नहीं छेड़ा जायगा, तथा जब तक राज्य के द्वारा इस ओर क्रियात्मक कदम नहीं उठाये जाँयगे, प्रौढ़शिक्षा हमारे देश के लिये एक पवित्र आशा ही बनी रहेगी; और अपने देश के अपार जन-समूह को शिक्षित करने के लिये हमें अनंतकाल तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

अन्त में प्रौढ़शिक्षा के लिये भारत में किये गये प्रयत्नों का क्रमिक इतिहास देने से पूर्व यह कहना आवश्यक है कि जनतंत्र के लिये प्रौढ़शिक्षा का उद्देश्य नागरिकों के सामाजिक, सांस्कृतिक, औद्योगिक तथा शारीरिक ज्ञान की क्षितिज का विकसित करना होना चाहिये जिससे कि देश में सुखी व स्वस्थ नागरिक, बुद्धिमान मतदाता तथा कुशल कारीगर व कलाकार स्थायी रूप से उत्पन्न हो सकें वस्तुतः ऐसी शिक्षा ही पूर्ण सामाजिक शिक्षा होगी।

भारत में प्रगति

यह आश्चर्य की बात है कि प्रौढ़शिक्षा का आन्दोलन भारत जैसे देश में, जहाँ इसकी सबसे अधिक आवश्यकता है, बहुत देर से प्रारम्भ हुआ। प्रत्येक आधुनिक सभ्य देश में इस ओर आश्चर्यजनक प्रगति हुई है। रूस, अमेरिका, जर्मनी, जापान, इंगलैंड, कैनेडा तथा डैनमार्क इत्यादि देशों ने प्रौढ़शिक्षा के लिये सराहनीय प्रयत्न किये हैं। वहाँ कारखानों तथा खानों में काम करने वाले श्रमिकों के लिये, किसानों तथा अन्य नौकरी पेशे वाले स्त्री व पुरुषों के लिये न केवल साक्षरता की ही सुविधा है, अपितु उनके उद्यम-सम्बन्धी उच्च-औद्योगिक ज्ञान, व्यापार, साहित्य, विज्ञान तथा कला इत्यादि के अध्ययन की भी व्यवस्था है। ऐसे लोगों के लिये जो विद्यार्थी-जीवन में किसी कारण वश स्कूल तथा कालेज को छोड़ने को विवश हो गये, अथवा तत्सम्बन्धी शिक्षा से वंचित रहे, प्रौढ़शिक्षा केन्द्रों, रात्रि-पाठशालाओं, रविवार स्कूलों, पुर्वानुबद्ध-स्कूलों (Continuation Schools) तथा विश्वविद्यालय-प्रसार कक्षाओं (University Extension Classes) के रूप में निशुल्क तथा कहीं-कहीं पर अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था है।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में लगभग ३ करोड़ प्रौढ़ इस समय शिक्षा के द्वारा आत्मविकास का सुअवसर पा रहे हैं। वहाँ पब्लिक स्कूल तथा विश्वविद्यालयों में रात्रि कक्षायें खुली हुई हैं जहाँ सहस्रों प्रौढ़, परिवारों के बड़े-बूढ़े व्यक्ति तथा अन्य वयस्क, जो कि अपनी सांस्कृतिक उन्नति तथा जीवन में अपनी दशा में सुधार करने के इच्छुक हैं, ज्ञान तथा कुशलता प्राप्ति के लिये अध्ययन करते हैं। अकेले पब्लिक स्कूलों में ही लगभग ३० लाख प्रौढ़ शिक्षा पाते हैं।

अमेरिका में साधारण शिक्षा तथा विशेष व्यावसायिक शिक्षा ऐसे श्रमिकों को भी उपलब्ध है जो विभिन्न उद्योग धन्धों और कारखानों में काम करते हैं। १९५० में वहाँ लगभग ३५० ऐसे डाक-स्कूल (Correspondence Schools) थे जिनमें डाक द्वारा लगभग ७,५०,००० प्रौढ़ शिक्षा पाते थे। इनके अतिरिक्त लगभग ४२ राजकीय विश्वविद्यालय तथा कालेज भी डाक द्वारा प्रौढ़ों को शिक्षा देते थे।

इसके अतिरिक्त विदेशों से आने वाले आवासियों (Immigrants) के लिये बहुत से बड़े नगरों में विशेष कक्षायें लगती हैं, जहाँ उन्हें शीघ्र ही अँग्रेजी भाषा सीखने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है, जिससे वे नागरिकता के लाभों को उपलब्ध कर सकें और साथ ही अपने उत्तरदायित्वों की सराहना भी कर सकें।

अमेरिका में 'जनशिक्षालय भवन' (Public School Houses) भी हैं, जहाँ समाज के सभी व्यक्ति एकत्रित होते हैं। इन स्थानों पर प्रायः प्रौढ़शिक्षा के कार्यों से अतिरिक्त अभिभावक व शिक्षक संघों (Parent Teachers Associations) तथा अन्य नागरिकों की सभाएँ होती हैं। इस प्रकार इधर कई वर्षों से वहां जनता का सामाजिक शिक्षा की ओर ध्यान भी बढ़ता ही जा रहा है।

इस प्रकार प्रगतिशील देशों के समक्ष सामाजिक शिक्षा क्षेत्र में भारत का उदाहरण अत्यन्त खेदजनक है। तथापि इस दिशा में किये गये प्रयत्नों का हम संक्षेप में उल्लेख करते हैं।

प्रारम्भिक प्रयास

२० वीं शताब्दि के प्रारम्भिक दो दशकों में प्रौढ़शिक्षा क्षेत्र में कोई भी उल्लेखनीय प्रयास नहीं किया गया। कुछ रात्रि पाठशालायें अवश्य कहीं-कहीं स्थापित थीं, किन्तु उनमें बालक भी पढ़ते थे। उनकी स्थापना केवल प्रौढ़शिक्षा के लिये ही नहीं हुई थी। ये शिक्षालय प्रधानतः ऐसे बच्चों को अर्धसामयिक शिक्षा देने के प्रयास मात्र थे जो कि आर्थिक कारणों से मजदूरी करने को विवश थे। साथ ही इन स्कूलों में वयस्कों को भी प्रविष्ठ किया जाता था। मद्रास, बंगाल और बम्बई प्रान्तों में ही यह रात्रि पाठशाला-आन्दोलन चला। सन् १६०६ ई० में मद्रास में ७७५, बंगाल में १,०८२ तथा बम्बई में १०७ ऐसी पाठशालायें थीं। आगे चलकर यह संख्या घट गई। सन् १६२१ ई० में जाकर जब कि प्रान्तों को कुछ अधिकार मिले तथा साथ ही जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के धारासभा में जाने की व्यवस्था हुई, उस समय प्रौढ़शिक्षा के महत्व को समझा गया। जनता को मताधिकार मिलने के उपरान्त इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि उसका सदुपयोग भी हो। भारत के जनसाधारण के अशिक्षित होने के कारण अब राजनीतिज्ञों, सुधारकों तथा सरकार का ध्यान प्रौढ़ शिक्षा के महत्त्वपूर्ण प्रश्न की ओर आकर्षित हुआ। कुछ पुस्तकालयों की स्थापना भी हुई।

"कुछ प्रान्तों में इस प्रश्न पर गम्भीर चिन्तन हुआ तथा कुछ संगठित प्रयास भी हुए। सन् १६२१ ई० में संयुक्त प्रान्त में सरकार ने ६ नगरपालिकाओं को प्रौढ़ शिक्षा के लिए रात्रि पाठशालाएँ खोलने के लिए आर्थिक सहायता दी। ....पंजाब में १०० से अधिक रात्रि पाठशालाएँ खोली गईं। ये संस्थाएँ प्रधानतः गाँवों में सहकारी समितियों द्वारा सचालित थीं।..........

बम्बई में भी इसी प्रकार की व्यवस्था है।............इन स्कूलों का संचालन शिक्षा-विभाग के द्वारा और निरीक्षण विशेष निरीक्षकों द्वारा होता है। बम्बई की ये रात्रि पाठशालाएँ गश्ती-पाठशालायें हैं जो एक केन्द्र पर दो वर्ष तक रहती हैं।"† इसी प्रकार के प्रयास मध्यप्रान्त, बंगाल तथा मद्रास में हुए। किन्तु कोई ऐसा आन्दोलन न छेड़ा गया जो कि इस देशव्यापी बुराई की जड़ पर सामूहिक रूप से कुठाराघात करता।

सन् १९२१ ई० से स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक प्रौढ़-शिक्षा

सन् १९१९ ई० के भारतीय शासन विधान के अनुसार प्रान्तों में शिक्षा जन-प्रतिनिधि मन्त्रियों के अधिकार में आ गई। परिणामतः प्रौढ़शिक्षा के प्रसार के लिए सराहनीय उद्योग किये गये। पंजाब, मद्रास, बम्बई तथा उत्तर-प्रदेश इस दृष्टिकोण से प्रमुख हैं। सन् १९२७ ई० में पंजाब में ३,७८४, मद्रास में ५,६०४, बम्बई में १९३ तथा बंगाल में १,५१९ प्रौढ़शिक्षा स्कूल स्थित थे।

सन् १९२२ से १९२७ तक कि प्रगति निम्नलिखित तालिका से जानी जा सकती है। ‡

वर्ष	स्कूलों की संख्या	विद्यार्थियों की संख्या
१९२२-२३	६३०	१७,७७६
१९२३-२४	१,५२८	४०,८८३
१९२४-२५	२,३७२	६१,९६१
१९२५-२६	३,२०६	८५,३७१
१९२६-२७	३,७८४	९८,४१४

सन् १९२८ तक तो प्रौढ़ शिक्षा में प्रगति हुई, किन्तु १९२९ में आर्थिक मन्दी प्रारम्भ हो जाने से प्रौढ़ शिक्षा के बहुत से केन्द्र बन्द हो गए। राज-नैतिक विप्लव तथा साम्प्रदायिक घटनाओं ने भी शिक्षा पर अपना प्रभाव डाला। कुछ ईसाई धर्म-प्रचारकों के कार्य अवश्य चलते रहे। इनमें डा० ल्यूकस ने इलाहाबाद में प्रौढ़ शिक्षा-प्रचार किया और रोमन लिपि में हिन्दुस्तानी में कई पुस्तिकायें तैयार कीं। इसी प्रकार डा० लारेंस ने मणिपुर में हिन्दी तथा श्री डैनियल ने मद्रास में तामिल की कक्षायें चलाईं और प्रारम्भिक पुस्तिकायें भी तैयार कराईं।

---

† *Quinquennial Review of The Progress of Education in India*. 1912-17 para 292.

‡ *Social Education* p. 7. Ministry of Education Govt. of India.

पंजाब जो अब तक प्रगति कर रहा था, इस काल में वह भी उन्नति नहीं कर सका और वहाँ बहुतसी प्रौढ़ पाठशालायें बन्द कर दी गईं। यहाँ नार्मल स्कूलों के छात्राध्यापकों ने कुछ कार्य किया और गाँवों में कुछ पुस्तकालय खोले गये। मध्य प्रान्त और बिहार में भी १९२८ में कुछ पुस्तकालय खुले।

अन्य प्रान्तों की अपेक्षा इस काल में बम्बई में अवश्य प्रगति जारी रही। १९३२-३३ में वहाँ १४३ प्रौढ़ पाठशालायें थीं, जिनमें ५,६६० विद्यार्थी पढ़ते थे। १९३७ में इनकी संख्या १८० हो गई और विद्यार्थी भी ६,२९९ हो गए। इस वृद्धि का कारण यह था कि बम्बई सरकार ने प्रौढ़ शिक्षा में रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया था। साथ ही अन्य संस्थायें जैसे पूना की 'ग्रामीण पुनर्संगठन संघ' व 'प्रौढ़ शिक्षा लीग' तथा बम्बई में 'सेवा सदन' 'सोशल लीग' तथा 'बम्बई नगर साक्षरता संघ' इत्यादि भी प्रौढ़ शिक्षा का प्रसार करने लगीं। बड़ौदा में पुस्तकालयों की स्थापना की गई। त्रिवांकुर ने भी इसी का अनुसरण किया। तथापि १९३७ तक प्रगति मन्द ही रही।

सन् १९३७ ई० के उपरान्त इस समस्या की ओर देश का ध्यान विशेष रूप से गया। सन् १९३५ ई० के विधान के अनुसार प्रान्तों में स्वायत्त शासन की स्थापना हो चुकी थी। अधिकतर प्रान्तों में कांग्रेस मन्त्रि-मण्डलों के बन जाने से प्रौढ़ शिक्षा को बहुत प्रोत्साहन मिला। इन नवनिर्मित मन्त्रिमण्डलों की सफलता के लिए आवश्यक था कि देश के नागरिक शिक्षित हों और वे सरकार की योजनाओं तथा अपने अधिकार और उत्तरदायों को समझें। अतः प्रान्तीय सरकारों ने सामूहिक रूप से संगठित प्रयास प्रौढ़शिक्षा-क्षेत्र में प्रारम्भ कर दिये। जनता ने भी इन प्रयत्नों की सराहना की और उत्साह पूर्वक साक्षरता आन्दोलन में भाग लिया।

इस प्रकार अब भारत के इतिहास में सर्वप्रथम प्रौढ़-शिक्षा को सरकार ने अपना कर्तव्य स्वीकार किया और तदनुसार कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। प्रौढ़ शिक्षा का जो नया पाठ्यक्रम तैयार किया गया वह केवल साक्षरता तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु उसमें कुछ सामाजिक शिक्षा भी सम्मिलित कर ली गई। शिक्षा देने के साधनों में पुस्तकों के अतिरिक्त इश्तहार, मैजिक-लालटैन तथा सिनेमा का प्रयोग भी किया जाने लगा।

सन् १९३९–४० में साक्षरता का बहुत प्रसार हुआ। 'हर व्यक्ति एक को पढ़ावे' (Each one Teach one) का नारा भी उठाया गया। पंजाब में 'पढ़ो और पढ़ाओ' का नारा भी प्रयोग किया गया। सन् १९३९-४० ई० में पंजाब में साक्षरता आन्दोलन बड़े उत्साह से प्रारम्भ किया

गया और प्रान्तीय सरकार ने अपनी प्रथम पंचसाला योजना के लिए २८,८०० रु० का अनुदान स्वीकृत किया। पुराने प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों को सहायता दी गई तथा बहुत से नवीन स्कूल खुले। उस समय इन इन स्कूलों की संख्या २०१ हो गई। इनके अतिरिक्त स्वयंसेवकों ने गाँवों, तहसीलों तथा जिलों में लॉबाक-प्रणाली से भी प्रौढ़ शिक्षा का प्रसार किया।

आसाम प्रान्त में जन-साक्षरता अफसर के अन्तर्गत एक प्रौढ़ शिक्षा विभाग खोल दिया गया। सन् १९४१ ई० में वहाँ साक्षरता प्राप्त प्रौढ़ों के लिए उत्तर-साक्षरता पाठ्यक्रम तैयार किया गया और आसाम घाटी में १२०० अध्ययन-केन्द्र स्थापित किये। यहाँ आवश्यक रीडरें, पुस्तकें तथा समाचार-पत्रों इत्यादि के शिक्षण व वितरण की व्यवस्था की गई।

उड़ीसा में १९४०-४१ ई० में ४२५ प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र स्थापित किये गये, जिनमें ८,१४७ व्यक्तियों ने साक्षरता प्राप्त की। इससे अधिक वहाँ यह आन्दोलन सफल न हो सका।

बम्बई में प्रथम कांग्रेस मन्त्रिमण्डल ने प्रौढ़शिक्षा क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया। १९३७ ई० में यहाँ सरकार ने प्रौढ़ शिक्षा का प्रान्तीय बोर्ड स्थापित किया। प्रौढ़ शिक्षा के लिए यहाँ सहायता-अनुदान प्रथा को भी लागू किया गया और उदारता पूर्वक आर्थिक सहायता दी गई। सन् १९४२-४३ ई० में ५० हजार रुपया गाँवों के लिए अलग व्यय किया गया। सन् १९४५ ई० में कुछ चुने हुए स्थानों में प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र खोलने की व्यवस्था की गई और निश्चय किया गया कि ९४०० रु० वार्षिक व्यय के आधार पर प्रत्येक केन्द्र में प्रति वर्ष १००० व्यक्ति साक्षर किए जाँयगे। इसके अतिरिक्त बम्बई नगर में भी इस दिशा में अच्छी प्रगति हुई। वहाँ एक 'प्रौढ़ शिक्षा समिति' की स्थापना हुई। सन् १९४०-४१ ई० में इस समिति ने मराठी, गुजराती, हिन्दी, कनाड़ी, तेलगु तथा तमिल की १,१४० कक्षाएँ खोलीं जिनमें १६ हजार पुरुष और ५ हजार स्त्रियाँ शिक्षा पातीं थीं। इसके अतिरिक्त कुछ मिल मजदूरों के क्षेत्रों में भी प्रौढ़ शिक्षा प्रसार का कार्य किया गया।

बिहार प्रान्त में सैयद महमूद के नेतृत्व में प्रौढ़ शिक्षा आन्दोलन ने अच्छी प्रगति की। वहाँ 'प्रान्तीय जन शिक्षा समिति' की स्थापना हुई। स्वयंसेवकों ने यहाँ 'अपना घर साक्षर बनाओ' का आन्दोलन भी चलाया और सन् १९४१-४२ ई० में २४,२८९ प्रौढ़ साक्षर किए। इसके अतिरिक्त १९४२-४३ ई० में १ लाख ११ हजार प्रौढ़ों ने उत्तर-साक्षरता कोर्स पास किया। बिहार के प्रौढ़-शिक्षा आन्दोलन की यह विशेषता रही कि युद्धकाल

में भी यह जारी रहा और प्रति वर्ष २ लाख प्रौढ़ साक्षर बनते रहे। सन् १९४६ ई० में पुनः कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बनने पर इस कार्य को उत्साहपूर्वक उठा लिया गया।

बंगाल प्रान्त में प्रौढ़ शिक्षा ग्राम्य-निर्माण विभाग को सौंप दी गई। इस दिशा में बंगाल में भी अच्छी प्रगति हुई। इस प्रान्त में कृषकों में प्रौढ़-शिक्षा का प्रसार अधिक सफलतापूर्वक किया गया। यहाँ पाठ्यक्रम में कृषि, पशु-पालन, स्वास्थ्य-रक्षा तथा सहकारिता इत्यादि विषय सम्मिलित किये गए और प्रति विषय के लिए विभिन्न अधिकारी नियुक्त कर दिये गये।

उत्तर-प्रदेश में प्रौढ़ शिक्षा के लिए सराहनीय कार्य हुआ। सन् १९३७ ई० में नये मन्त्रिमण्डल ने इस कार्य को बड़े उत्साह से प्रारम्भ किया। नये केन्द्र, पुस्तकालय तथा वाचनालय गाँवों में खोले गये। असंख्य रात्रि पाठ-शालाएँ खोली गईं तथा प्रति वर्ष साक्षरता सप्ताह मनाया जाने लगा। सन् १९३० ई० में इस प्रान्त में प्रौढ़ शिक्षा विभाग की स्थापना हो गई थी, जिसने आगामी वर्षों में सन्तोषजनक कार्य किया। प्रथम साक्ष-रता-दिवस को सरकार ने गाँवों में ७६८ पुस्तकालय तथा ३,६०० वाचनालय खोले। सन् १९४१-४२ में पुस्तकालयों की संख्या १,०४० हो गई। स्त्रियों के लिए भी १९४० में ४० पुस्तकालय खोले गये। इसी वर्ष फैजाबाद में स्त्रियों की हितकारिता के ५० केन्द्रों को ५००) प्रति केन्द्र के हिसाब से दिया गया। साथ ही सरकार ने हिन्दी उर्दू, गणित, इतिहास तथा भूगोल की पुस्तकों की रचना प्रौढ़ों के उपयोग के लिए कराई।

इन प्रान्तों के अतिरिक्त सिन्ध प्रान्त तथा अन्य देशी रियासतों में भी शिक्षा के लिए कार्य हुआ। मैसूर में 'मैसूर राज्य साक्षरता परिषद्' ने अत्यन्त ही उत्साह से कार्य किया है। इसके अतिरिक्त मैसूर विश्वविद्यालय ने भी समाज-शिक्षा में अद्वितीय योग दिया है। जम्मू तथा काश्मीर राज्य में सन् १९४२-४३ ई० में ४,०५० प्रौढ़ शिक्षा-केन्द्र खोले गये तथा २८ हजार व्यक्तियों को साक्षर किया गया। उसी वर्ष वहाँ ४८० प्रौढ़ शिक्षा पुस्तकालय भी खोले गए जिनमें ३०० पुस्तकालय गाँवों में स्थित थे। इन राज्यों के अतिरिक्त बड़ौदा तथा त्रिवांकुर अन्य राज्य हैं जहाँ साक्षरता का प्रतिशत ब्रिटिश-भारत के प्रान्तों से भी अधिक था। पहाड़ी क्षेत्रों, हरिजनों तथा आदिवासियों में भी साक्षरता-प्रसार की चेष्टा की गई।

इस प्रयत्न के अतिरिक्त कुछ व्यक्तिगत जनसेवी संस्थाओं जैसे 'तरुण ईसाई संघ' (Y. M. C. A.), 'सर्वेन्ट ऑव इन्डिया सोसाइटी' तथा 'बम्बई

साक्षरता-संघ और 'साक्षरता प्रसार मंडल' एवं जमिया मिलिया, दिल्ली इत्यादि संस्थाओं ने भी प्रौढ़शिक्षा आन्दोलन को प्रगति दी। सार्जेन्ट शिक्षा योजना के प्रकाशन ने युद्धोत्तर शिक्षा विकास योजना में प्रौढ़शिक्षा के लिये एक अत्यन्त प्रभावोत्पादक योजना रक्खी, किन्तु वह नियोजित न हो सकी। भारतीय साक्षरता आन्दोलन का कोई भी विवरण डा० फ्रैंक लॉबाक का उल्लेख किये बिना पूर्ण नहीं हो सकता। डा० लॉबाक अमेरिका निवासी एक परमार्थी सज्जन थे। फिलीपाइन द्वीपसमूह में प्रौढ़ शिक्षा क्षेत्र में इन्होंने प्रशंसनीय कार्य किया था। सन् १६३५ ई० तथा पुनः १६३७ ई० में यह भारत आये। उन्होंने मराठी हिन्दी, तमिल, तैलगु, बंगाली तथा गुजराती भाषाओं में सुविधाजनक चार्ट तैयार किये। डा० लॉबाक ने इन भाषाओं को प्रथमतः चार या पाँच स्वरों तथा १३ व्यञ्जनों में छाँट लिया। फिर ५ ऐसे मूल अक्षरों को ज्ञात किया जिनसे वर्णमाला के सभी अन्य अक्षर बन जाते थे। इस प्रकार इन्होंने अल्प समय में ही प्रौढ़ों को साक्षर बनाने की विधि ज्ञात कर ली। इसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ उपयोगी पुस्तकें तथा समाचार पत्र भी वयस्कों की शिक्षा के लिए निकाले। डा० लॉबाक की पद्धति का कई प्रान्तों में अनुकरण किया गया।

इस प्रकार भारतीय प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में दूसरा युग समाप्त होता है। भारत के स्वतंत्र होने पर इस क्षेत्र में और भी अधिक प्रगति हुई है। सन् १६२१-४७ ई० तक के अनुभव ने प्रौढ़शिक्षा की बहुत सी समस्याओं को स्पष्ट रूप से लाकर सम्मुख रख दिया। इस काल में यह भली-भाँति विदित हो गया कि प्रौढ़ों की शिक्षा का क्या गुरुत्व है, उनके लिये कैसे साहित्य तथा साधनों की आवश्यकता है तथा किस विधि का अनुकरण उपादेय होगा इत्यादि इत्यादि। यह बात भी ठीक प्रकार से विदित हो गई कि प्रौढ़शिक्षा के लिये केवल साक्षरता ही पर्याप्त नहीं है, अपितु साक्षरों के ज्ञान को बनाये रखना भी आवश्यक है, जिससे साक्षर को अपने ज्ञान को बढ़ाने का सुअवसर उपलब्ध हो सके।

स्वतंत्रता के उपरान्त प्रौढ़ शिक्षा

भारत के स्वाधीन होने पर जहाँ सम्पूर्ण शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति हुई वहाँ प्रौढ़ शिक्षा ने भी आशाजनक उन्नति की। प्रौढ़शिक्षा को सामाजिक शिक्षा (Social Education) का रूप दे दिया गया। जिसका उद्देश्य प्रौढ़ नर-नारियों को योग्य नागरिक बनाना तथा उनके जीवन को हर प्रकार से पूर्ण बनाना है। आज मताधिकार के महत्व को देखते हुए भारत में प्रौढ़शिक्षा की समस्या एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या बन गई है, जिसके ऊपर देश की वर्तमान

प्रगति तथा भविष्य का निर्माण अवलम्बित है। भारत के २६ करोड़ लोगों की निरक्षरता देश के लिये एक ऐसी चुनौती है जिसका आज ही हल हो जाना चाहिये, अन्यथा भारत का जनतंत्र एक बहुत बड़ा उपहास मात्र बनकर विश्व के समक्ष अपने महत्त्व को खो बैठेगा।

भारत सरकार ने प्रौढ़शिक्षा को निम्नलिखित रूपों में स्वीकार किया है:—

(अ) वयस्क निरक्षरों में साक्षरता का प्रसार;
(ब) साहित्यिक शिक्षा के अभाव में जनसमूह में एक शिक्षित मस्तिष्क उत्पन्न करना; तथा
(स) व्यक्तिगत रूप से एवं एक शक्तिशाली राष्ट्र के सदस्य के रूप से प्रौढ़ में नागरिकता के अधिकार और कर्त्तव्यों का जाग्रत-ज्ञान उत्पन्न करना।

प्रौढ़शिक्षा का ही दूसरा नाम सामाजिक शिक्षा दे दिया गया है, किन्तु इसमें उपर्युक्त (ब) और (स) पर अधिक जोर दिया जाना है। प्रौढ़ों में नागरिकता के गुणों का विकास करने के लिये तथा उनमें शिक्षित मस्तिष्क उत्पन्न करने के लिये निम्नलिखित शिक्षा-विधि को अपनाने की सिफारिश की गई है:—

१. नागरिकता का अर्थ तथा जनतंत्र के संचालन की विधि;

देश के इतिहास तथा भूगोल का ज्ञान तथा यहाँ की प्रचलित सामाजिक परिस्थितियों से परिचय कराना।

२. व्यक्तिगत स्वच्छता तथा जनता के स्वास्थ्य-सिद्धान्तों का ज्ञान तथा स्वच्छता और स्वास्थ्य के महत्त्व को बताना।

३. प्रौढ़ के आर्थिक मानदंड को ऊँचा उठाने के लिये शिक्षा व सूचना प्रदान करना, जिससे उसकी शिक्षा उसके आर्थिक जीवन से सम्बन्धित हो सके।

४. कला, साहित्य, संगीत, नृत्य तथा अन्य सृजनात्मक क्रियाओं द्वारा भावना तथा विचारों का उत्था

५. मानव भ्रातृत्व तथा विश्व-नैतिकता (Universal Ethics) के सिद्धान्तों का ज्ञान तथा जनतंत्र के लिये एक दूसरे की विचार-विभिन्नता को सहन करने तथा समझने की आवश्यकता पर जोर देना।

उपर्युक्त कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिये माननीय केन्द्रीय शिक्षा मंत्री ने ३१ मई, १९४८ ई० को प्रेस सम्मेलन के समक्ष एक ११ सूत्रीय कार्यक्रम

रक्खा था जिसे जनवरी, १६३६ ई० में केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड ने भी स्वीकार कर लिया है। वह कार्यक्रम निम्नलिखित है।†

(१) गाँव का स्कूल सम्पूर्ण गाँव के लिये शिक्षा, जनहितकारी कार्य (Welfare Work), खेल-कूद तथा मनोरंजन का एक केन्द्र होगा।

(२) बच्चों, किशोरों तथा वयस्कों के लिये अलग-अलग समय निश्चित कर दिये जाँयगे।

(३) सप्ताह में कुछ दिन केवल मात्र लड़कियों तथा स्त्रियों के लिये सुरक्षित कर दिये जाँयगे।

(४) पर्याप्त मात्रा में ऐसी मोटरों की व्यवस्था हो रही है जिसमें प्रोजैक्टर तथा लाउडस्पीकर लगे होंगे। चित्रपट तथा मैजिक लालटैन और ग्रामोफोन भी प्रयोग किये जाँयगे। साथ ही यह भी प्रस्तावित किया गया है कि प्रत्येक स्कूल का कम से कम सप्ताह में एक बार निरीक्षण अवश्य होना चाहिये।

(५) स्कूलों में रेडियो लगा दिये जाँयगे तथा स्कूल के बच्चों के लिये विशेष कार्यक्रमों को विस्तारित करने की व्यवस्था करदी जायगी। उपर्युक्त ढाँचे के अनुरूप ही किशोरों तथा वयस्कों को भी सामाजिक शिक्षा देने के लिये विशेष ब्राडकास्ट किये जाँयगे।

(६) स्कूलों में जनप्रिय अभिनय भी रंगमंच पर खेले जाँयगे तथा अच्छे लिखे नाटकों को पारितोषक दिया जायगा।

(७) राष्ट्रीय तथा देशी गीतों के गाने की व्यवस्था होगी।

(८) स्थानीय आवश्यकता के अनुसार किसी दस्तकारी तथा उद्योग में भी साधारण प्रशिक्षण दिया जायगा।

(९) स्वास्थ्य-विभाग, कृषि-विभाग और श्रम-विभाग के पारस्परिक सहयोग के द्वारा गाँवों को सामाजिक स्वास्थ्यरक्षा, कृषि-प्रणाली, कुटीर उद्योग तथा सहकारिता के विषय में भाषणों का प्रबन्ध किया जायगा।

(१०) सूचना तथा ब्राडकास्टिंग विभाग की सहायता से समय-समय पर अच्छे सिनेमाओं के प्रदर्शन का भी आयोजन किया जायगा। राष्ट्रीय समस्याओं पर गाँव वालों के समक्ष भाषण देने के लिये विद्वानों को निमंत्रित किया जायगा। सामाजिक शिक्षा के कार्यक्रम को प्रभावशाली तथा वास्तविक बनाने

† Basic and Social Education Pamphlate No. 58 (Ministery of Educatic, India).

के लिये ऐसी जन-संस्थाओं की सहायता भी ली जायगी जो कि रचनात्मक कार्य में विश्वास रखती हों।

(११) दलों के आधार पर खेल-कूद (Group Games) का प्रबन्ध किया जायगा; तथा

(१२) सामयिक प्रदर्शिनी तथा मेलों का भी संगठन किया जायगा।

उपर्युक्त योजना अपने में पर्याप्तः पूर्ण है। इसको कार्यान्वित करने के लिये फरवरी, १९४९ ई० में हुये प्रान्तीय शिक्षा-मंत्रियों के सम्मेलन में इस पर चिन्तन किया गया और आगामी ३ वर्षों के लिये एक कार्यक्रम तैयार किया गया था जिसके अनुसार अनुमान लगाया गया था कि १२ वर्ष से ५० वर्ष तक की अवस्था के वयस्कों में कम से कम ५० प्रतिशत साक्षरता इस अवधि के अन्तर्गत अवश्य आजानी चाहिये। अब वह अवधि तो समाप्त होगई है, किन्तु यह योजना केवल एक पवित्र विचार के रूप में ही बनी रही। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के समक्ष आर्थिक संकट होने के कारण उस पर ठीक कार्य न हो सका। सन् १९४९-५० के बजट में भी १ लाख रुपया प्रान्तों को इस योजना के लागू करने के लिये सहायता देने को रख दिया गया था। इसके अनुसार कुछ प्रान्तों में थोड़ा बहुत कार्य भी हुआ है। भारत सरकार ने प्रौढ़ निरक्षरता की समस्या को सुलझाने तथा उचित सुझाव रखने के लिये श्री एम० एल० सक्सैना की अध्यक्षता में एक समिति भी नियुक्त की थी जिसके अनुसार आगामी ५ वर्षों में १२-४० की अवस्था के वयस्कों में साक्षरता का प्रसार किया जाना चाहिये। इस कार्यक्रम का व्यय-भार प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारों पर सम्मिलित रूप से रहेगा।

इन सभी प्रयत्नों के फलस्वरूप जो प्रगति हुई उसका संक्षेप में नीचे उल्लेख किया जाता है।

१९५१ में दिल्ली प्रान्त में गाँवों में सामाजिक शिक्षा आन्दोलन बड़े उत्साह से प्रारम्भ कर दिया गया। प्रथम वर्ष में ६० केन्द्र गाँवों में खोले गये और उनके लिये ६२ शिक्षक प्रशिक्षित किये गये। इसके अतिरिक्त नगर तथा समीपवर्त्ती क्षेत्रों में भी प्रौढ़शिक्षा केन्द्र खोले गये हैं। साथ ही गाँवों में शिक्षा-मेला भी लगाये जा रहे हैं जिसमें शिक्षा-प्रसार तथा उद्योगों के विकास का प्रचार किया जाता है। यह आन्दोलन क्रमशः जन-समूह में सर्वप्रिय होता जा रहा है।

बम्बई में ग्रामीण क्षेत्रों में प्रथम वर्ष में ८० सघन क्षेत्रों (Compact Areas) को सामाजिक शिक्षा के लिये चुन लिया गया था। इसके अतिरिक्त बम्बई नगर में भी साक्षरता आन्दोलन पर्याप्त प्रगति कर रहा है, प्रधानतः

श्रमिकों की बस्तियों में इसने बहुत उन्नति की है। अहमदाबाद, शोलापुर, खानदेश तथा हुबली अन्य स्थान हैं जहाँ श्रम हितकारी केन्द्र खुले हुए हैं और श्रमिकों में सामाजिक शिक्षा का प्रसार किया जा रहा है। नगरों तथा ग्रामों में क्षेत्रों के अनुसार प्रौढ़शिक्षा अफसर नियुक्त किये जा रहे हैं। अनुपाततः एक अफसर १ हजार प्रौढ़ों को शिक्षित करने का उत्तरदायी होगा।

मध्य प्रदेश तथा बरार में प्रौढ़शिक्षा में बड़ी रुचि दिखलाई जा रही है। सन् १६४८-४६ ई० में ४५१ प्रौढ़शिक्षा शिविर स्थापित किये गये जिनमें ४१,२७४ पुरुष तथा २०,६२४ महिलाओं को शिक्षण मिला। प्रान्तीय सरकार ने गाँव के प्राथमिक स्कूलों के शिक्षकों को २०) रु० वेतन के साथ ५) रु० अलग भत्ता देने के नियम को प्रारम्भ कर दिया है। साथ ही प्रत्येक प्रौढ़-पुरुष को २) रु० तथा स्त्री को ५) रु० के विशेष पुरस्कार की भी घोषणा की है यदि वे साक्षरता का प्रमाण-पत्र प्राप्त करते हैं। सरकार ने १ हजार ग्रामीण स्कूलों में रेडियो भी लगाये हैं।

मद्रास प्रान्त में नागरिकता-शिक्षा-योजना का निर्माण किया गया है सन् १६४६-५० में सरकार ने ६ ग्रामीण कालेज तथा १०० नागरिकता-स्कूल प्रौढ़शिक्षा प्रसार के लिये खुलवाये। इसके अतिरिक्त उसी वर्ष ट्रेनिंग केन्द्र तमिल, तेलुगु, मलयालम तथा कन्नड़ भाषा के शिक्षकों के लिये भी खोले हैं। इस प्रान्त में 'लॉबाक-प्रणाली' का अनुकरण किया जा रहा है। साथ ही रेडियो, मैजिक लालटेन, लोक-गीत और लोक-नृत्य का भी उपयोग किया जा रहा है।

उत्तर प्रदेशीय सरकार ने शिक्षा-निर्माण के अपने पंचसाला कार्यक्रम को बड़े उत्साह से प्रारम्भ किया है। प्रौढ़शिक्षा के लिये अलग विभाग खोल दिया गया है। १६४८-४६ ई० में यहाँ राजकीय-प्रौढ़शिक्षा स्कूलों में ४६,३६२ प्रौढ़ भर्ती किये गये। ६२ स्कूल स्त्रियों के लिये भी खोले गये। गाँवों में गश्ती वाचनालय तथा पुस्तकालय के नियम को भी पुनः लागू किया जा रहा है। जुलाई १६५२ ई० में इस प्रदेश में प्रौढ़ों के लिये १५१८ पुस्तकालय तथा ३,६०० वाचनालय पुरुषों के लिये और ४३५ स्त्रियों के लिये स्थित थे। सन् १६५१-५२ ई० में प्रान्त में प्रौढ़शिक्षा स्कूलों की संख्या २२०० थी। सन् १६३८ ई० से १६५२ ई० तक इस प्रदेश में १३½ लाख प्रौढ़ शिक्षित हुए थे और इनमें पौने दो लाख पुस्तकों का वितरण हुआ था। प्रौढ़ श्रमिकों के लिये कुटीर उद्योगों के शिक्षण का आन्दोलन उत्तर प्रदेश में बहुत सफलता-पूर्वक चल रहा है।

इसके अतिरिक्त बंगाल, राजस्थान, हैदराबाद, जम्मू तथा काश्मीर और मध्यभारत राज्यों में भी सन् १६४७ ई० के उपरान्त प्रौढ़शिक्षा आन्दोलन आशाजनक प्रगति कर रहा है। भारत सरकार ने प्रौढ़ अन्धों के लिये देहरादून में एक प्रशिक्षण-केन्द्र की स्थापना की है जहाँ प्रति वर्ष १२० अन्ध-प्रौढ़ों को शिक्षा दी जायगी। इसी प्रकार लँगड़े, गूँगे तथा बहरे प्रौढ़ों के लिये भी विशेष शिक्षालयों को प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

भारत सरकार ने प्रौढ़शिक्षा के लिये यूनेस्को द्वारा संचालित कार्य-शिविरों (Works Camps) के आदर्श पर भारत में भी कार्य-शिविर खोले हैं। इस योजना में थोड़ा बहुत संशोधन करके इसे भारतीय ग्रामों में लागू किया जा रहा है। उन क्षेत्रों में जहाँ शरणार्थी बसे हुए हैं यह योजना अच्छी प्रगति कर रही है। इसके प्रमुख ३ उद्देश्य हैं: साक्षरता, नागरिकता तथा मनोरंजन के द्वारा विचार संशोधन।

साक्षरता के लिये प्रौढ़ को निम्नलिखित कार्य-क्रम के द्वारा शिक्षित किया जायगा :

(अ) साधारण छपे हुए विषय को पढ़ना और अन्तिम अवस्था में यथासम्भव साप्ताहिक समाचार-पत्र तथा पत्रिका का पढ़ना।

(ब) अपना तथा सम्बन्धियों का नाम तथा उनके गाँवों, तहसीलों, जिलों के नाम और साधारण व्यावहारिक पत्र लिखना।

(स) सौ तक संख्या लिखना तथा सादा जोड़, बाकी, गुणा और भाग के प्रश्न हल करना, एवं साथ ही सिक्कों, वजन और नाप इत्यादि के विषय में जानकारी रखना इत्यादि।

इसके अतिरिक्त अन्य दो उद्देश्यों: नागरिकता तथा विचार-संशोधन के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के साधन जैसे नाटक, गीत, नृत्य, खेल-कूद, रेडियो, चित्रपट, समाचार-पत्र तथा पर्यटन इत्यादि को अपनाया जायगा।

उपर्युक्त कार्य-क्रम के लिये देश भर में प्रत्येक जिले में शिविर खोले जाँयगे। मध्य प्रदेश ने प्रत्येक तहसील में ४ शिविर खोलने की योजना बनाई है, जहाँ स्वयं-सेवक प्रौढ़शिक्षा का कार्य करेंगे। प्रत्येक स्वयंसेवक कम से कम १६ वर्ष का तथा ७ वीं कक्षा पास होगा। इसके ऊपर एक संचालक भी रक्खा जायगा। मध्य प्रदेश में ऐसे शिविर सफलता-पूर्वक कार्य कर रहे हैं। यह शिविर पाँच सप्ताह तक चलता है। प्रत्येक शिविर में अपनी निजी भोजन-व्यवस्था होती है। दैनिक कार्य-क्रम प्रातः ५½ बजे से रात्रि के १०½ बजे तक चलता है जिसमें दोपहर को १½ घंटे तथा शाम को एक½ घंटे का विश्राम

मिलता है। प्रत्येक शिविर में प्रौढ़ों को एक पूर्ण जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दी जाती है।

प्रत्येक प्रान्त इस योजना को अपनी स्थानीय तथा विशेष सुविधाओं एवं परिस्थितियों के अनुसार लागू कर रहा है। यह सोचा जा रहा है कि इस शिविर की अवधि कम से कम ८ सप्ताह या अधिकतम ११ सप्ताह होनी चाहिये। यह शिविर एक प्रौफेसर के नेतृत्व में संचालित होना चाहिये, जहाँ कालेजों के विद्यार्थी तथा शिक्षक स्वयं-सेवकों के रूप में शिक्षण कार्य करें। इस प्रकार इस योजना से प्रौढ़शिक्षा में क्रान्तिकारी लाभ होंगे। २५ व्यक्तियों का यह शिविर ८ सप्ताह में कम से कम ५०० व्यक्तियों को शिक्षित करने में सफल हो सकेगा।

सन् १९५२ से देश में पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सामाजिक शिक्षा के प्रसार के लिये कुछ प्रयत्न किये गये हैं। देश के विभिन्न भागों में जो सामुदायिक विकास व प्रसार योजनायें कार्यान्वित की जा रही हैं, उनमें सामाजिक शिक्षा को एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इन योजनाओं में गाँवों में ग्रामीणों के पुस्तकीय ज्ञान में वृद्धि करने के साथ ही साथ उन्हें वर्तमान राजनीति, नागरिकता, स्वास्थ्य व सफाई, मनोरंजन व खेलकूद तथा अन्य इसी प्रकार की सुविधायें उपलब्ध की जाती हैं जिससे उनके जीवन का सर्वाङ्गीण विकास हो सके। अग्रिम योजनाओं (Pilot Projects) में इन सभी विधियों का परीक्षण करके उन्हें अन्य क्षेत्रों में कार्यान्वित किया जाता है। किन्तु इतना अवश्य है कि अधिकांश में ये उपयोगी योजनायें अभी सफलता पूर्वक कार्यान्वित नहीं हो पाई हैं और इनकी प्रगति बड़ी मन्द है। स्वयं भारत सरकार ने अपनी पंचवर्षीय योजना की प्रगति की रिपोर्ट में यह बात स्वीकार की है।†

उपसंहार

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि भारत में साक्षरता तथा प्रौढ़शिक्षा आन्दोलन यद्यपि देर से प्रारम्भ हुआ, तथापि अब कार्यशील दृष्टिगोचर होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत की भयंकर निरक्ष-

† "Social Education is still at an experimental stage. Though good work is being done in regard to literacy and cultural programmes, little or nothing has been undertaken in regard to the other aspects of social education such as increasing of economic efficiency and training in citizenship." Five Year Plan: *Progress Report.* (1953-54) p. 246.

रता को देखते हुए वर्तमान प्रयत्न बहुत ही अपर्याप्त हैं। इस देश में प्रौढ़शिक्षा की समस्या केवल साक्षरता की ही नहीं है, अपितु प्रौढ़ नर-नारियों के जीवन को पूर्ण बनाने की है। कुछ ऐसे कालेजों की भी आवश्यकता है जहाँ ऐसे शिक्षित प्रौढ़ों को उस उच्चशिक्षा की सुविधा मिल सके जिससे वे अपने विद्यार्थी जीवन में वंचित रहे थे।

इसके अतिरिक्त प्रौढ़ों की रुचि तथा ज्ञान को जीवित रखने के लिये अधिक वाचनालय तथा पुस्तकालयों की भी आवश्यकता है। देश के शिक्षित कहलाने वाले वर्ग के दृष्टिकोण में परिवर्तन, उनके हृदयों में रचनात्मक समाज-सेवा की भावना, राजनैतिक नेताओं का अपने विशाल भवनों से निकलकर जनता की सच्ची सेवा के क्षेत्र में उतर आना, सरकारी अफसरों के दृष्टिकोण में शासन की भावना में कमी होकर सच्ची सेवा की भावना उद्भूत होना तथा पर्याप्त धनराशि इत्यादि अन्य आवश्यकताऐं हैं जिनका पूरा होना देश में प्रौढ़ शिक्षा आन्दोलन के लिये जीवनदायक है। अन्त में लैनिन के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "निरक्षरता का निराकरण एक राजनैतिक समस्या नहीं है। यह वह अवस्था है जिसकी पूर्ति के बिना राजनीति की बात करना भी असंभव है। एक अशिक्षित व्यक्ति राजनीति के बाहर की वस्तु है और यदि उसे किसी भी रूप में राजनीति के भीतर लाना है तो इससे पहिले उसे वर्णमाला सिखा देनी होगी। बिना इसके राजनीति का कोई अस्तित्व नहीं है—उस समय तक राजनीति केवल गल्प, अफवाह, कहानी तथा अन्धविश्वास है।"

अध्याय १८

औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा

भूमिका

बहुधा आधुनिक भारतीय शिक्षा पर यह आरोप लगाया जाता है कि यह आरम्भ से ही आवश्यकता से अधिक साहित्यिक है और इसमें व्यावसायिक, औद्योगिक तथा टैक्निकल शिक्षा का अभाव है। भारतीय शिक्षा के सम्बन्ध में नियुक्त किये गये प्रायः सभी आयोगों तथा समितियों ने भी बहुधा यही शिकायत की है। वास्तव में भारत के स्कूलों व विश्वविद्यालयों में बहुत समय तक केवल साहित्यिक शिक्षा की ही प्रमुखता रही, जिसका उद्देश्य देश के विभिन्न विभागों के लिए अफसर तथा अन्य कर्मचारी उत्पन्न करना था। किसी भी प्रकार की औद्योगिक शिक्षा का अत्यन्त अभाव रहा। माध्यमिक शिक्षा में भी यही दोष था और विद्यार्थियों को या तो विश्वविद्यालयों के लिए अथवा किसी नौकरी के लिये तैयार किया जाता था। इस शिक्षा-पद्धति का प्रमुख कारण भारत की राजनैतिक दासता तथा उससे उत्पन्न होने वाली विभिन्न अवस्थाओं में निहित है। किन्तु इसका निश्चित परिणाम हुआ भारत का औद्योगिक दृष्टि से विश्व के अन्य उन्नत राष्ट्रों की अपेक्षा पिछड़ जाना। देश में शिक्षा का दृष्टिकोण नितान्त प्रतिगामी रहा और भारतीय युवकों में बेकारी का रोग प्रवेश कर गया जो कि आज भी अत्यन्त भयङ्कर बना हुआ है। तथापि औद्योगिक तथा टेक्नीकल शिक्षा के क्षेत्र में भी कुछ प्रयास हुआ है। इस शिक्षा को हम तीन युगों में बाँट सकते हैं : (१) सन् १८०० ई० से १८५७ ई० तक; (२) सन् १८५७ ई० से १६०२ ई० तक तथा (३) सन् १६०२ ई० से वर्तमान तक। नीचे हम तीनों का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

प्रथमयुग (१८८० ई० से १८५७ ई०)

इस युग की शिक्षा-प्रणाली एक मात्र 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' की नीति से प्रभावित थी। कम्पनी को अपने कार्य को भले रूप से संचालित करने के

लिए विभिन्न विभागों में कुछ भारतीयों की आवश्यकता थी। उसे अपनी सेना के लिये डाक्टर, अदालतों के लिये वकील तथा न्यायाधीश और जन-निर्माण-विभाग में सड़कें, नहरें तथा अन्य सरकारी भवनों का निर्माण करने के लिये इंजीनियरों की आवश्यकता थी। अतः अधिकांश में तत्कालीन औद्योगिक शिक्षा में हम इन्हीं शाखाओं को प्रमुख पाते हैं।

१. चिकित्सा:—चिकित्सा के क्षेत्र में भारत में आयुर्वेद तथा यूनानी प्रणालियाँ प्रचलित थीं। किन्तु अपनी सम्पूर्ण शिक्षा-नीति को दृष्टिगत रखते हुए अँग्रेज शासकों ने यहाँ योरुपीय चिकित्सा प्रणाली को प्रारम्भ किया, जिसको सीखने का माध्यम अंग्रेजी भाषा था। वास्तव में चिकित्सा के क्षेत्र में भी प्राच्य और पश्चिमी पद्धति का विवाद उठ खड़ा हुआ था। किन्तु मैकाले की पश्चिमीकरण की नीति तथा लार्ड बैंटिक की घोषणा का चिकित्सा-शिक्षा पर भी प्रभाव पड़ा। प्रारम्भ में भारतीय विद्यार्थियों को चीड़फाड़ इत्यादि से अरुचि थी, किन्तु मधुसूदन गुप्ता नामक विद्यार्थी ने कलकत्ता में एक शव पर चीड़-फाड़ का कार्य करके इस दिशा में सूत्रपात कर दिया।

इस प्रकार सर्व प्रथम बंगाल, बम्बई और मद्रास में आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र का जन्म हुआ। सन् १८२२ ई० में कलकत्ता में एक 'देशी चिकित्सा-संस्था (Native Medical Institution) की स्थापना हुई थी। सन् १८२६ ई० में कलकत्ता संस्कृत कालेज तथा कलकत्ता मदरसा में चिकित्सा की कक्षाएँ जोड़ दी गईं। इन संस्थाओं में आयुर्वेद, यूनानी तथा योरुपीय ढंग की चिकित्सा की शिक्षा का प्रबन्ध था। किन्तु १८३५ ई० के उपरान्त आयुर्वेद तथा यूनानी चिकित्सा का शिक्षण समाप्त कर दिया गया और यह निश्चय हुआ कि केवल पाश्चात्य ढंग की चिकित्सा-शिक्षा प्रदान की जायगी। सन् १८४४ ई० में चार विद्यार्थी पाश्चात्य चिकित्सा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए विलायत भी भेजे गये।

बम्बई में सन् १८४५ ई० में गवर्नर रौबर्ट्स की स्मृति को अमर बनाने के लिये जनता ने चन्दा करके 'ग्रान्ट मेडिकल कालेज' की स्थापना की। इससे पूर्व १८२६ ई० में बम्बई में एक 'नेटिव मेडिकल स्कूल' तथा १८३६ ई० में पूना कालेज में चिकित्सा कक्षाओं की स्थापना भी की जा चुकी थी। 'ग्रान्ट मेडिकल कालेज' को इङ्गलैंड के 'रॉयल कालेज ऑव सर्जन्स' ने भी १८५५ ई० में मान्यता प्रदान कर दी। कालान्तर में इसे बम्बई विश्वविद्यालय में मिला दिया गया। यहाँ अँग्रेजी तथा प्रान्तीय भाषा दोनों ही शिक्षा का माध्यम थीं।

मद्रास में १८३५ ई० में निम्न पदों के लिये 'अप्रैंटिस' शिक्षित करने के लिये एक मैडिकल स्कूल खोला गया। १८५१ ई० में यह कालेज बन गया और अन्त में मद्रास विश्वविद्यालय में मिला दिया गया। यहाँ शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी था।

२. कानून:—कानून का अध्ययन करने के लिये अँग्रेजों ने भारत में कलकत्ता मदरसा तथा संस्कृत कालेज, बनारस की स्थापना की थी, जहाँ भारत की दो प्रमुख जातियों, हिन्दू और मुसलमानों के कानूनों का अध्ययन कराया जा सके तथा कम्पनी को अपनी अदालतों के लिये वकील व जज इत्यादि मिल सकें। कलकत्ता संस्कृत कालेज में कानून की शिक्षा दी जाती थी। १८४२ ई० में हिन्दू कालेज में कानून का एक प्रोफेसर नियुक्त किया गया। १८५७ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय के खुलने पर उसमें भी कानून-कालेज स्थापित करने का प्रयास विफल होने पर १८६५ ई० में ही न्यायशास्त्र (Jurisprudence) की कक्षाएँ खोली जा सकीं। नियमित कक्षाएँ तो बम्बई तथा मद्रास विश्वविद्यालयों के खुलने पर ही चल सकीं।

३. इंजीनियरी:—सन् १८४४ ई० में 'हिन्दू कालेज कलकत्ता' में सिविल-इंजीनियरी के प्रोफेसर के लिये एक पद उत्पन्न किया गया, किन्तु यह बहुत दिनों तक रिक्त पड़ा रहा। केवल १८५६ ई० में जाकर ही कलकत्ता में एक इंजीनियरी कालेज खुल सका।

सन् १८२४ ई० में 'बम्बई नेटिव शिक्षा सोसाइटी' ने इंजीनियरी की कक्षाएँ खोलीं, जहाँ मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम रक्खी गई। सन् १८४४ ई० में 'ऐलफिन्स्टन इन्स्टीट्यूट' में तथा १८५४ ई० में पूना में भी इन्जीनियरी की कक्षाएँ खोली गईं। मद्रास में विश्वविद्यालय बनने तक कोई नियमित कक्षा इंजिनियरी की न खुल सकी। वहाँ तो १७९३ ई० से एक पैमाइश स्कूल चला आ रहा था जो कि १८५८ ई० में जाकर मद्रास विश्वविद्यालय से सम्बन्धित कर दिया गया। उत्तर प्रदेश में रुड़की में १८४७ ई० में इन्जीनियरी कालेज की स्थापना हुई, जो कि १८५४ ई० में टाम्सन कालेज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आजकल यह कालेज एक विश्वविद्यालय के रूप में संगठित हो चुका है और देश का एक विख्यात इन्जीनियरी विश्वविद्यालय है।

४. अन्य:—उपर्युक्त व्यवसायों के अतिरिक्त अध्यापकों का प्रशिक्षण भी प्रमुख था। इस क्षेत्र में कम्पनी की उदासीनता की अपेक्षाकृत भी ईसाई धर्म-प्रचारकों ने कुछ कार्य किया। बम्बई प्रान्त में इस दिशा में अच्छा कार्य

हुआ और बहुत से नार्मल स्कूल खुले। इसके अतिरिक्त कला (Art) का विषय भी अन्य व्यावसायिक शिक्षा में सम्मिलित था। मद्रास में १८५० ई० में 'ब्लैक टाउन' में डा० हंटर ने ललित-कलाओं तथा दस्तकारियों के लिये एक स्कूल खोला। बम्बई में १८५३ ई० में सर जमशेदजी जीजीभाई ने कला के विकास के लिये १ लाख रुपया दान दिया। उस धनराशि से १८५६ ई० में बम्बई में 'जे० जे० स्कूल ऑव आर्ट' की स्थापना की गई।

द्वितीय युग (१८५७ ई०-१६०२ ई०)

औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा के दृष्टिकोण से यह युग कुछ अधिक महत्त्व का था, यद्यपि इस युग में भी व्यावसायिक शिक्षा का उद्देश्य ऐसे अनुभवी तथा प्रशिक्षित भारतीय उत्पन्न करना था जो कि अँग्रेज अफसरों के नीचे विभिन्न राजकीय विभागों में प्रशासन तथा संगठन-कार्य सुचारु रूप से चला सकें। १८५७ ई० में कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई विश्वविद्यालयों की स्थापना हो जाने के उपरान्त कानून, चिकित्सा, इन्जीनियरी, कृषि-विज्ञान, वाणिज्य तथा टैक्निकल शिक्षा इत्यादि विषय भी विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में नियमित रूप से सम्मिलित कर लिये गये तथा उनके शिक्षण के लिये विशेष शिक्षकों की नियुक्ति कर दी गई, और इन विषयों में प्रमाण-पत्र व उपाधि देने की प्रथा का प्रारम्भ कर दिया गया।

१. कानून:—सन् १८५४ ई० के शिक्षा-घोषणा-पत्र के आदेशानुसार विश्वविद्यालयों में कानून की शिक्षा की व्यवस्था कर दी गई। कानून की शिक्षा अब बहुत सर्वप्रिय होती जा रही थी, क्योंकि आधुनिक न्यायालयों की स्थापना होने से देश में कानून के विशेषज्ञों की वकील तथा न्यायाधीश बनने के लिये माँग हो रही थी। ये दोनों उद्यम सम्मान-जनक तथा आर्थिक दृष्टि से लाभदायक थे। अतः उच्च वर्ग के शिक्षित लोग इस ओर बहुत आकर्षित हुए।

कानून के अध्ययन के लिये कानून-कालेज, कला तथा विज्ञान के कालेजों में कानून की कक्षाएँ तथा स्कूल ये तीन प्रमुख साधन थे। मद्रास में एक कानून का कालेज था। पंजाब में विश्वविद्यालय में कानून-कालेज था। केवल यही दो संस्थाएँ पूर्ण-कालीन कानून-कालेज के रूप में थीं; अन्यथा अधिकांश में कानून-कक्षाएँ आंशिक रूप से अन्य कालेजों में सन्ध्याकाल में लगतीं थीं। बम्बई में राजकीय-कानून कालेज भी आंशिक रूप से शिक्षा देता था। बंगाल, मध्यप्रदेश तथा उत्तर प्रदेश में कानून-कालेज नहीं थे, किन्तु कला तथा विज्ञान के डिग्री कालेजों में ही कानून की कक्षाएँ खुली हुई थीं।

कानून की शिक्षा का नियन्त्रण भी क्रमशः विश्वविद्यालयों, शिक्षा विभाग तथा उच्च न्यायालयों के अधीन था। विश्वविद्यालय ही पाठ्यक्रम तैयार करते थे और वे ही परीक्षाओं के लिये उत्तरदायी थे। कानून के स्कूल तथा कालेजों का नियन्त्रण शिक्षा विभाग के अन्तर्गत था तथा उच्च न्यायालय उन शर्तों को रखता था जिनकी पूर्ति होने पर ही कोई स्नातक कानून के व्यवसाय को अपना सकता था। उच्च न्यायालय इसके पूर्व अपनी निजी परीक्षा भी लेते थे। कुछ प्रान्तों में सरकार की ओर से 'प्लीडर' और 'मुख्तार' की परीक्षाएँ भी केवल हाई स्कूल पास विद्यार्थियों के लिये थीं। एल० एल०, बी० परीक्षा का पाठ्यक्रम अधिकांश में दो वर्ष का था। कहीं-कहीं ३ वर्ष भी था जो कि कला अथवा विज्ञान में ग्रेजुएट होने के उपरान्त पूरा किया जा सकता था।

२. चिकित्सा—(अ) मानव चिकित्सा—चिकित्सा-विज्ञान में प्रशिक्षित विद्यार्थी अधिकांश में सरकारी तथा स्थानीय बोर्डों के अस्पतालों में नौकर हो जाते थे, अथवा अपना स्वतन्त्र व्यवसाय खोलते थे या किसी बड़े कारखाने या कम्पनी में रख लिये जाते थे।

सन् १८६० ई० में लाहौर में भी एक मेडिकल कालेज खुल गया। इस प्रकार सन् १६०२ ई० तक भारत में कलकत्ता, मद्रास, बम्बई तथा लाहौर में चार सरकारी कालेज हो गये।

इन कालेजों के अतिरिक्त कुछ मैडिकल स्कूल भी थे। इनमें ११ राजकीय स्कूल (१ मद्रास में, ३ बम्बई में, ४ बंगाल में, १ यू० पी० में, १ पंजाब तथा १ आसाम में); १ म्युनिसिपिल स्कूल मद्रास में तथा १० प्रायवेट स्कूल (१ आसाम में, १ सिन्ध में, ४ पंजाब में—जिनमें दो मुसलमानी तथा १ हिन्दू औषधियों के लिये—तथा ४ बंगाल में) थे।

पुरुषों में तो चिकित्साशास्त्र का अध्ययन जन-प्रिय हो चला था, किन्तु स्त्रियों में अभी अन्धविश्वास और प्राचीन पक्षपात समाया हुआ था। सन् १६०२ ई० में भारत में मैड़िकल कालेजों में १,४६६ तथा स्कूलों में २,७२७ विद्यार्थी चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन करते थे। इन में २४२ स्त्रियाँ भी थीं, किन्तु वे अधिकांश में योरुपीय तथा इसाई महिलायें थीं। केवल १५ ब्राह्मण, १५ अ-ब्राह्मण, १५ मुसलमान तथा २२ पारसी स्त्रियाँ थीं।

(ब) पशु चिकित्सा—मनुष्यों की चिकित्सा के अतिरिक्त पशु चिकित्सा की ओर भी सरकार का ध्यान गया। भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में पशु-चिकित्सा अपना महत्त्व रखती है। अतः १८८२ ई० में लाहौर में, १८८६ ई०

में बम्बई तथा १८६३ ई० में कलकत्ता में पशु-चिकित्सा विज्ञान के कालेज स्थापित हुए। एक स्कूल अजमेर में भी खोला गया, किन्तु कुछ समय उपरान्त लाहौर कालेज में मिला दिया गया।

३. इन्जिनियरी शिक्षा—इस युग में इंजिनियरी तथा टेक्नीकल शिक्षा की बड़ी माँग बढ़ी। यह वह युग था जब कि भारत में औद्योगिक विकास तथा रेलों, सड़कों और नहरों का निर्माण हो रहा था; नगरपालिकाओं तथा जिला बोर्डों की स्थापना हो रही थी; एवं जल मार्ग और जूट व सूती मिलें खोली जा रही थीं। ऐसी अवस्था में इन सभी कार्यों के लिये दक्ष इंजिनियरों की आवश्यकता थी। आर्थिक दृष्टि से यह पेशा बड़ा लाभदायक था। अतः श्रेष्ठतम विद्यार्थियों को आकर्षित कर रहा था। इंजिनियरी शिक्षा की अधिक माँग होने तथा कालेजों की संख्या न्यून होने के कारण यह शिक्षा बड़ी मँहगी थी। अतः केवल उच्च वर्ग के लोग ही अपने लड़कों को शिक्षण के लिये भेजने में समर्थ हो सकते थे। इन विद्यार्थियों को शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त जन-निर्माण विभाग (P. W. D.) में प्रायः अच्छी नौकरियाँ भी मिल जाती थीं।

सन् १८६५ ई० में बंगाल इंजिनियरी कालेज को प्रेसीडेंसी कालेज में मिला दिया गया। कालान्तर में यह शिबपुर पहुँचा दिया गया। सन् १८५४ में सरकार द्वारा स्थापित किया हुआ 'इंजिनियरी कक्षा तथा मैकेनिकल स्कूल', 'पूना इंजिनियरिंग कालेज' के रूप में विकसित हुआ। यह कालेज बम्बई विश्वविद्यालय से सम्बन्धित कर दिया गया। सन् १९०१-०२ में यह कालेज इन्जिनियरी के अतिरिक्त विज्ञान, कृषि तथा वन-विज्ञान की शिक्षा भी देता था।

इस प्रकार सन् १९०२ ई० में भारत में चार प्रमुख इन्जिनियरी कालेज थे : रुड़की, शिबपुर (बंगाल), पूना तथा मद्रास; जिनमें ८६५ विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। मद्रास कालेज का विकास १८५८ तथा १८६२ ई० के बीच में हुआ था।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य टेक्नीकल तथा औद्योगिक संस्थाओं की स्थापना भी इसी काल में हुई। सन् १८८७ ई० में बम्बई में 'विक्टोरिया जुबली टेक्नीकल इंस्टीट्यूट' की स्थापना हुई। सन् १९०२ ई० में भारतवर्ष में ८० टेक्नीकल स्कूल थे जिनमें ४,८६४ विद्यार्थी शिक्षण पाते थे। दुर्भिक्ष कमीशन की रिपोर्ट के आधार पर भारत सरकार ने भी कुछ ऐसे स्कूल खोले। भारत के प्राचीन उद्योगों को ब्रिटिश सरकार ने नष्ट कर दिया था। अतः लोगों

में बढ़ते हुये असन्तोष को रोकने के लिये भी यह आवश्यक था कि सरकार औद्योगिक स्कूलों की स्थापना करे। लोगों में भी इस शिक्षा की माँग उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। इन सबके फलस्वरूप भारत में इन्जिनियरी तथा टेक्नीकल शिक्षा का अच्छा प्रसार हो चला।

४. कृषि-विज्ञान—भारत के कृषि-प्रधान देश होने की अपेक्षाकृत भी यहाँ कृषि कालेजों की पर्याप्त उन्नति नहीं हुई है। सन् १८८० ई० में दुर्भिक्ष-कमीशन ने गाँवों में कृषि-शिक्षा के प्रचार पर जोर दिया, किन्तु इसके लिये कुछ भी नहीं किया जा सका। सन् १८९० ई० में डा० वॉइलकर ने विभिन्न प्रान्तों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन किया और कृषि-शिक्षा के विषय में भारत सरकार के लिये बहुत सी महत्त्वपूर्ण सिफारिशें कीं। उसके उपरान्त भारत सरकार ने निम्नलिखित निर्णय किये—

(१) कृषि-विज्ञान की डिग्री, डिप्लोमा तथा प्रमाण-पत्रों को उसी श्रेणी में समझा जाय, जिसमें कि विज्ञान या कला इत्यादि के प्रमाण-पत्र।

(२) उच्चकोटि के प्रमाण-पत्र देने के लिये चार से अधिक संस्थायें हों, यथाः मद्रास, कलकत्ता, बम्बई तथा कोई उपयुक्त स्थान उत्तरी पश्चिमी प्रान्त (उत्तर प्रदेश) में। अन्य प्रान्त भी इनका उपयोग करें।

(३) कुछ पदों, जैसे कृषि-विज्ञान शिक्षकों अथवा कृषि-विभाग-संचालक के सहायकों की नियुक्ति के लिये भी प्रमाण-पत्र अनिवार्य हों।

(४) कुछ पदों के लिये कृषि की व्यावहारिक शिक्षा दी जाय।

(५) कृषि-डिप्लोमा, डिग्री तथा प्रमाण-पत्र के लिये एक विशेष स्कूल खोला जाय; तथा

(६) स्कूल अध्यापकों को नियुक्ति से पूर्व या पश्चात् सरकारी फार्म पर व्यावहारिक-कृषि की शिक्षा देना भी महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार सन् १९०२ ई० में ब्रिटिश भारत में ५ संस्थाएँ ऐसी थीं जहाँ कृषि-शिक्षा की व्यवस्था थी : पूना, शिबपुर, सैयदपेट (मद्रास), कानपुर तथा नागपुर। सैयदपेट कालेज की स्थापना सन् १८६४ ई० में तथा पूना कृषि-शाखा की स्थापना सन् १८७९ ई० में हुई थी। शिबपुर सन् १८९९ ई० में स्थापित किया गया था। कानपुर तथा नागपुर में कानूनगो, शिक्षकों तथा कृषक-बालकों को शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार से संगठित हुई कृषि शिक्षा पूर्णतः अपर्याप्त थी। अनुसन्धान और व्यावहारिक शिक्षा का इसमें पूर्ण अभाव था। अन्य विभागों की भाँति कृषि-शिक्षा का उद्देश्य भी इस काल में देश में उत्पादन की वृद्धि न होकर राजकीय कृषि-विभाग के लिये कर्मचारी तैयार करना ही था।

५. वाणिज्य शिक्षा—कृषि-शिक्षा की भाँति वाणिज्य-शिक्षा ने भी इस युग में कोई सराहनीय उन्नति नहीं की। पंजाब को छोड़कर किसी विश्वविद्यालय ने इसे स्वीकार नहीं किया था। बम्बई में भी एक संस्था थी, किन्तु उसका उद्देश्य प्रधानतः इंगलैंड के वाणिज्य के विषय में शिक्षा देना था। सन् १९०२ ई० में भारत में १५ वाणिज्य-स्कूल थे, जिनमें १,१२३ विद्यार्थी शिक्षा पाते थे।

६. अन्य—उपर्युक्त व्यवसायों के अतिरिक्त अध्यापन, वन-विज्ञान, तथा कला सम्बन्धी स्कूलों की भी स्थापना हुई। अध्यापकों के लिए नये ट्रेनिंग व नार्मल स्कूल खोले गए। सन् १८८१-८२ ई० में यहाँ १०६ नार्मल स्कूल थे। तथा १९०१-०२ ई० में इनकी संख्या १३३ पुरुषों के लिए तथा ४६ स्त्रियों के लिये थी, जिनमें क्रमशः ४,४१० और १,२९२ विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। माध्यमिक शिक्षा के अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिये सन् १९०२ ई० में ६ कालेज थे। इनमें लाहौर ट्रेनिंग कालेज, मद्रास, नागपुर, राजमहेन्द्री, तथा इलाहाबाद ट्रेनिंग कालेज अधिक प्रसिद्ध थे। मद्रास तथा इलाहाबाद में एल० टी० का डिप्लोमा प्रदान किया जाता था। इनके अतिरिक्त माध्यमिक शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिये ५० ट्रेनिंग स्कूल भी थे।

वन-विज्ञान के लिए सन् १८७८ ई० में देहरादून 'फॉरेस्ट-स्कूल' की स्थापना हुई, तथा 'पूना इंजिनियरिंग कालेज' में वन-विज्ञान की शाखा खोली गई। कला की शिक्षा के लिये सन् १९०२ ई० में भारत में चार प्रमुख राजकीय कालेज थे : जे० जे० स्कूल ऑव आर्ट, बम्बई; मेयो स्कूल ऑव आर्ट, लाहौर; स्कूल ऑव आर्ट, कलकत्ता तथा स्कूल ऑव आर्ट तथा इंडस्ट्री, मद्रास। इन स्कूलों में कला, पेंटिंग तथा व्यापारिक आर्ट की शिक्षा दी जाती थी। सन् १८९३ ई० में भारत मन्त्री ने सुझाव रक्खा कि इन आर्ट स्कूलों से कोई विशेष लाभ नहीं है और इनका व्यय व्यर्थ होता है, अतः इन्हें टेक्नीकल स्कूलों के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय; किन्तु फिर कुछ निर्णय न हो सका। इस प्रकार व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा का दूसरा युग भी समाप्त होता है।

तृतीय युग (सन् १९०२ ई०--१९५५ ई०)

भारतीय व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में यह युग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। व्यावसायिक, औद्योगिक तथा टेक्नीकल शिक्षा की इस युग में बहुत उन्नति हुई।

इससे पूर्व इस प्रकार की शिक्षा का उपयोग अधिकांशतः सरकारी नौक-रियों के लिये किया जाता था, किन्तु अब प्रशिक्षित युवक आधुनिक समाज

की औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए प्रशिक्षण लेने लगे। इस उन्नति के कई कारण हैं। एक तो यह युग भारत में बढ़ती हुई राजनैतिक चेतना का युग था जिसमें देश की शिक्षा में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की माँग बढ़ी, और अन्त में भारत के स्वाधीन होने पर एक नवीन व स्वतन्त्र राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देने के लिए तथा विज्ञान की उन्नति में अन्य उन्नत राष्ट्रों के समकक्ष आने के लिये अनेक प्रयोगशालायें तथा अनुसन्धानशालायें खोली गईं। कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में नये वैज्ञानिक तथा टेक्नीकल विषयों के विभाग खोले गये। दूसरे, लॉर्ड कर्जन के समय में ही सरकार का ध्यान भी इस ओर गया और सरकारी मशीन कुछ तेजी से काम करने लगी। तीसरे, व्यक्तिगत-प्रयास भी एक बड़े पैमाने पर इस क्षेत्र में उतर आया। धनी लोगों ने बड़े-बड़े दान दिये तथा औद्योगिक संस्थाओं की स्थापना कराई। चौथे, विद्यार्थियों को विदेशों, जैसे इङ्गलैण्ड, अमेरिका, जर्मनी तथा जापान इत्यादि देशों में भेजने की व्यवस्था भी की गई, जहाँ उन्होंने आधुनिक विज्ञानों, उद्योगों तथा कला-कौशलों का उच्च अध्ययन करके भारत में आकर इनकी उन्नति की। भारत की स्वाधीनता के उपरान्त, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस दिशा में बड़ी प्रगति हो रही है जिसका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

१. कानून—कानून शिक्षा के उत्तरोत्तर जन-प्रिय होने का परिणाम यह हुआ कि देश में कानून के स्नातकों की बाढ़ सी आ गई। वकीलों की संख्या आवश्यकता से अधिक बढ़ गई। अधिकांश में ये वकील आर्थिक उद्देश्यों से प्रेरित होकर कानून का व्यवसाय करते हैं जिसके कारण आज हमारे समाज में बहुत से भ्रष्टाचार प्रवेश कर गये हैं। किन्तु साथ ही उच्चकोटि के वकील भी उत्पन्न हुए हैं। वस्तुतः भारत का राष्ट्रीय संघर्ष अधिकतर हमारे वकीलों का ही इतिहास है। अस्तु, सन् १६०२ से १६२७ ई० तक कानून का अध्ययन बड़ा लाभदायक रहा। किन्तु इसके उपरान्त देश पर आर्थिक संकट आने से कानून पढ़ने वालों की संख्या पर्याप्त रूप से गिर गई और यह अवस्था लगभग १६४० ई० तक चली। उसके उपरान्त किसानों की आर्थिक अवस्था में सुधार होने से वकीलों ने इस सुअवसर से लाभ उठाकर पुनः ग्रामीणों का शोषण प्रारम्भ कर दिया। इससे कानून के अध्ययन को और भी प्रगति मिली। आज कानून का बाजार इन व्यवसाइयों से भरा पड़ा है।

सन् १६४६-४७ ई० में भारत में १४ कानून-कालेज थे, ६ कानून-विभाग विश्वविद्यालयों में थे तथा आगरा विश्वविद्यालय से सम्बन्धित ६ कालेजों में कानून की कक्षायें थीं। जहाँ तक कानून के पाठ्यक्रम का सम्बन्ध है यह दो वर्ष का है। कलकत्ता और दिल्ली में इसकी अवधि ३ वर्ष की है। कानून का अध्ययन ग्रेजुएट होने के उपरान्त ही प्रारम्भ होता है, किन्तु बम्बई में इन्टरमीजियेट के उपरान्त ही प्रारम्भ हो जाता है। कानून के अध्यापक अधिकांश में अर्धसामयिक (Part Time) आधार पर नियुक्त किये जाते हैं। प्रायः ये लोग कुछ नये जूनियर वकीलों में से रख लिये जाते हैं। कक्षायें या तो प्रातःकाल या संध्याकाल में लगती हैं। कानून के अध्ययन के विषयों में विद्यार्थी बिलकुल भी गंभीर नहीं होते। प्रायः परीक्षा के दिनों में कुछ वर्ष के प्रश्न-पत्रों के उत्तरों को रट कर ही उत्तीर्ण हो जाते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि भारत में कानून के क्षेत्र में अनुसंधान या उच्च-अध्ययन का पूर्णतः अभाव है। अतः "यह स्पष्ट है कि अब हमें अपने कानून के कालेजों का पुनः संगठन करना है और इस विषय के अध्ययन को प्रथम कोटि का महत्त्व देना है। भारत की प्रसिद्धि तथा विश्व के स्वतंत्र राष्ट्रों के समक्ष उसके महत्त्व एवं अपनी राष्ट्रीय-भावनाओं को पूर्ण करने के लिये इस प्रयत्न की आवश्यकता है।"†

राधाकृष्णन् कमीशन ने इसके लिये निम्नलिखित सुझाव रक्खे हैं:—

(१) हमारे कानून के कालेजों का र्ण पुनर्संठन होना चाहिये।

(२) कानून-शिक्षा का अध्यापक-मंडल भी कला तथा विज्ञान विभाग के शिक्षकों की भाँति विश्वविद्यालयों द्वारा रक्खा तथा नियंत्रित किया जाना चाहिये।

(३) एक वर्ष का पूर्व-कानूनी (Pre-Legal) डिग्री-पाठ्यक्रम तथा सामान्य अध्ययन कानून कक्षा में प्रवेश से पूर्व रक्खा जाना चाहिये।*

---

† राधाकृष्णन् विश्वविद्यालय कमीशन, पृष्ठ २५८।

* "अमेरिकन बार असोसिएशन" तथा 'अमेरिकन असोसिएशन ऑव लॉ स्कूल' का पूर्व-कानून-शिक्षण कम से कम दो वर्ष का कालेज-अध्ययन है, किन्तु कानून के सर्वोत्तम कालेजों में जिनमें हारवर्ड, कोलम्बिया, मिशीगन, शिकागो, कैलीफोर्निया तथा अन्य सम्मिलित हैं, इसकी अवधि कला या विज्ञान में ४ वर्ष के डिग्री पाठ्यक्रम की पूर्ति करने पर होती है। इसके उपरान्त ही कानून में प्रवेश हो सकता है।"—विश्वविद्यालय कमीशन, पृष्ठ २६०

(४) कानून के विशेष विषयों में ३ वर्ष का डिग्री-पाठ्यक्रम रहना चाहिये; अन्तिम वर्ष को कानून की व्यावहारिक शिक्षा में लगाना चाहिये।

(५) शिक्षक पूर्ण-कालीन तथा अंश-कालीन दोनों प्रकार के हो सकते हैं।

(६) कानून-कक्षायें नियमित समय के अन्दर लगनी चाहिये।

(७) कानून-अध्ययन के साथ अन्य विषयों का अध्ययन प्रायः बन्द कर देना चाहिये।

(८) उच्च अध्ययन तथा अनुसंधान की सुविधायें होनी चाहिये; तथा

(९) परीक्षा-विधि में सुधार होना चाहिये।

२. चिकित्सा—(अ) मानव चिकित्साः—इस युग में चिकित्सा-विज्ञान ने बड़ी उन्नति की। साधारण-शिक्षा की वृद्धि होने के साथ ही साथ भारतियों को अनुभव होने लगा कि चिकित्सा के लिये देश में असीम क्षेत्र विद्यमान है। सन् १९४६-४७ ई० में यहाँ २६ मैडीकल कालेज तथा २५ मैडीकल स्कूल थे। १९३२ ई० में 'रॉकफेलर फांउडेशन' के द्वारा कलकत्ता में 'अखिल भारतीय स्वास्थ्यरक्षा तथा जन-स्वास्थ्य संस्था' (All-India Institute of Hygiene and Public Health) की स्थापना हुई। इससे एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई। सन् १९३३ ई० में 'मैडीकल कांउसिल कानून' पास हुआ और 'भारतीय मैडीकल कांउसिल' की स्थापना हुई। इसकी स्थापना से चिकित्सा-विज्ञान को देश में बड़ी प्रगति मिली। इसके अतिरिक्त स्त्रियों के लिये दिल्ली में १९१६ ई० में 'लेडी हार्डिंग्ज मैडिकल कालेज' की स्थापना हुई। १९२२ ई० में कलकत्ता में भी 'स्कूल ऑव ट्रौपिकल मैडीशन' स्थापित हुआ। इसके अतिरिक्त 'देहरादून एक्स-रे इंस्टीट्यूट' तथा कसौली में केन्द्रीय-अनुसंधान-शाला (Central Research Institute) की भी स्थापना हुई है। आयुर्वेद, होमियोपैथी तथा यूनानी के कालेज भी खुले हैं।

इस प्रकार चिकित्सा के क्षेत्र दिन प्रति दिन उन्नति होती जा रही है। पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इस शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। जहाँ भारतीय विद्यार्थी पहले चीड़फाड़ से घृणा करते थे अब वह सिद्धहस्त हैं और कुछ लोग अन्तर्राष्ट्रीय-स्तर पर ख्यति भी प्राप्त कर चुके हैं। किन्तु इतना होते हुए भी देश की जनसंख्या, निर्धनता, रोगों तथा अज्ञानता के आकार को देखते हुए यह प्रगति अपर्याप्त है। दूसरे, ग्रामीण क्षेत्रों की पूर्णतः उपेक्षा की गई है। चिकित्सा-विज्ञान के शिक्षण की उन्नति के लिये विश्वविद्यालय कमीशन ने निम्नलिखित सुझाव रक्खे हैं :—

(१) मेडिकल कालेज में अधिक से अधिक १०० विद्यार्थी प्रविष्ट करने चाहिये।

(२) अध्ययन के वह सभी विभाग, जिन्हें साथ में अस्पताल की भी आवश्यकता है, एक ही सीमा के अन्तर्गत स्थित कर दिये जाँय।

(३) प्रत्येक प्रवेश पाने वाले विद्यार्थी के पीछे १० पलंगों की सुविधा होनी चाहिये।

(४) 'अंडर ग्रेजुएट' तथा 'ग्रेजुएट' दोनों स्तरों का प्रशिक्षण ग्रामीण-केन्द्रों में भी होना जाहिये।

(५) 'उत्तर-ग्रेजुएट' (Post-Graduate) प्रशिक्षण की व्यवस्था ऐसे कालेजों में होनी चाहिये जहाँ पर्याप्त-स्टाफ और सज्जा हो।

(६) 'जन-स्वास्थ्य इंजिनियरींग (Public Health Engineering) तथा 'नर्सिंग' को अधिक महत्त्व देना चाहिये।

(७) देशी चिकित्सा-पद्धति की उन्नति होनी चाहिये; तथा

(८) चिकित्सा विज्ञान के प्रथम पाठ्यक्रम में चिकित्सा-इतिहास, विशेषकर भारत का, पढ़ाना चाहिये।

(ब) **पशु-चिकित्सा**—इस युग में पशु-चिकित्सा की भी उन्नति हुई 'सिविल पशु-चिकित्सा-विभाग' को १९०३ ई० में साधारण जनता के लिये भी खोल दिया गया। साथ ही कृषि-विभाग की उन्नति होने से पशु-चिकित्सा विभाग की भी उन्नति हुई। सन् १९०२-०७ ई० के बीच में पशु-चिकित्सा स्कूलों को भंग करके कालेजों की स्थापना की गई। फलतः सन् १९०५ ई० में मद्रास तथा १९३० ई० में पटना में ऐसे कालेज स्थापित हुए। उत्तर प्रदेश में गढ़मुक्तेश्वर में 'इम्पीरियल पशु-चिकित्सा अनुसंधानशाला' की स्थापना हुई। सन् १९४८ ई० में जबलपुर में भी पशु-चिकित्सा कालेज खोला गया है। इज़्ज़तनगर तथा बँगलौर में भी पशु-चिकित्सा सम्बन्ध अनुसंधानशालायें हैं। मथुरा में एक पशु-चिकित्सा कालेज की स्थापना उत्तर प्रदेशीय सरकार ने की है।

३. **इंजिनियरी तथा टेक्नीकल शिक्षा**—सन् १९०२ ई० के उपरान्त इस शिक्षा ने एक नया रूप धारण किया। देश की बढ़ती हुई औद्योगिक उन्नति के लिये यह आवश्यक भी था कि अब इंजियरी तथा टेक्नोलॉजी का अध्ययन न केवल सरकारी नौकरियों के लिये ही किया जाय, अपितु देश तथा समाज की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये किया जाय। फलतः इस शिक्षा की बड़ी उन्नति हुई है। भारत की स्वतंत्रता के उपरान्त, जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, इधर बहुत से कालेज तथा अनुसंधानशालायें खुली हैं।

बीसवीं शताब्दि के प्रथम दशक में बंगाल में जादवपुर नामक स्थान में 'कालेज ऑव इंजिनियरिंग तथा टेक्नोलॉजी' स्थापित किया गया था। सन् १६१७ ई० में हिंदू विश्वविद्यालय बनारस में भी इंजीनियरी की कक्षायें खुलीं इसके अतिरिक्त पटना, लाहौर तथा करांची में इंजिनिरी कालेज खुले। इस प्रकार सन् १६३७ ई० तक भारत में ८ इंजिनियरी कालेज हो गये। इनमें से करांची तथा लाहौर १६४७ ई० में पाकिस्तान में चले गये। सन् १६४७ ई० में इनकी संख्या भारत में १७ हो गई। 'वुड-ऐबट समिति-रिपोर्ट' तथा सार्जेन्ट-योजना से भी इस दिशा में बहुत प्रगति हुई, जिसका उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है। सन् १६४६ ई० में 'एन० आर० सरकार समिति' की स्थापना हुई जिसने देश के पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण में चार बड़े कालेज स्थापित करने की सिफारिश की।

स्वतन्त्रता के उपरान्त टेक्नीकल शिक्षा के महत्त्व को और भी अधिक समझा गया। इसके लिये उद्योग, वाणिज्य, परिवहन, संचार, कृषि, जन-स्वास्थ्य तथा इंजीनियरी इत्यादि सभी क्षेत्रों में शिक्षा की व्यवस्था की जाने लगी। १६४७ के उपरान्त टेक्नीकल शिक्षा की सुविधायें इस प्रकार से बढ़ने लगीं कि जहाँ १६४७ में टेक्नीकल शिक्षा-संस्थाओं में प्रवेश लेने वाले विद्यार्थियों की संख्या ६,६०० थी, तो १६५३ में यह संख्या १२,७०० हो गई। यहाँ से पढ़कर निकलने वाले स्नातकों और डिप्लोमा पाने वाले विद्यार्थियों की संख्या भी इसी काल में २,७०० से बढ़कर ६,००० हो गई।

केन्द्रीय सरकार ने 'विज्ञान-उद्योग अनुसन्धान परिषद्'* तथा 'अखिल भारतीय टेक्नीकल शिक्षा परिषद्'† की सहायता से दो दिशाओं में एक साथ काम करना प्रारम्भ कर दिया है। 'विज्ञान-उद्योग अनुसन्धान परिषद्' अनेक विषयों पर अनुसन्धान करने के उद्देश्य से १४ राष्ट्रीय प्रयोगशालायें तथा केन्द्रीय संस्थायें स्थापित करने जा रही है। इनमें से निम्नलिखित की स्थापना अब तक हो चुकी है :—

(१) राष्ट्रीय भौतिक अनुसन्धानशाला, नई दिल्ली;
(२) राष्ट्रीय रासायनिक अनुसन्धानशाला, पूना;
(३) राष्ट्रीय धात्विक अनुसन्धानशाला, जमशेदपुर;
(४) ईंधन अनुसन्धान संस्था, जीलगोरा;

---

* Council of Scientific and Industrial Research.
† All India Council for Technical Education.

(५) केन्द्रीय खाद्य टेक्नोलॉजीकल, अनुसन्धानशाला, मैसूर;
(६) केन्द्रीय ड्रग अनुसन्धानशाला; लखनऊ;
(७) केन्द्रीय तथा सीरामिक्स अनुसन्धानशाला, कलकत्ता;
(८) केन्द्रीय सड़क अनुसन्धानशाला, दिल्ली;
(९) केन्द्रीय भवन-निर्माण अनुसन्धानशाला, रुड़की;
(१०) केन्द्रीय चर्म अनुसन्धानशाला, मद्रास;
(११) केन्द्रीय विद्युत-रासायनिक अनुसन्धानशाला, कराईकुडी; तथा
(१२) केन्द्रीय लवण अनुसन्धानशाला, भावनगर।

ये संस्थायें अनुसन्धान की सामान्य समस्याओं को हल करती हैं, नये उत्पादनों की जाँच करती हैं और उनके मानक (Standards) बनाती हैं। इसके साथ ही साथ वे वैज्ञानिकों, विश्वविद्यालयों तथा उद्योगों और उन सभी लोगों को सलाह व सुविधायें प्रदान करती हैं जो स्वयं अनुसन्धान का कार्य करने अथवा आगे बढ़ने में असमर्थ है। इन संस्थाओं के अतिरिक्त पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत अन्य अनुसन्धानशालाओं की भी स्थापना करने की योजना सरकार ने बनाई है। कुछ उद्योगपति वैयक्तिक रूप से भी अहमदाबाद, बम्बई, कोयम्बटूर तथा कानपुर में अनुसन्धानशालाएँ चला रहे है।

'अखिल भारतीय टेक्नीकल शिक्षा परिषद्' की सिफारिशों पर केन्द्रीय सरकार ने कुछ चुनी हुई संस्थाओं की उन्नति व विकास के लिये एक योजना स्वीकार की है। इस योजना पर प्रारम्भ में १ करोड़ ६२ लाख रुपया और फिर प्रतिवर्ष २५.५ लाख रुपये व्यय किये जाँयगे। यह धन-राशि १५ शिक्षा-संस्थाओं को अनुदान के रूप में दी जा रही है। इस योजना का उद्देश्य पाँच वर्ष में देश में टेक्नीकल शिक्षा की चतुर्दिशी उन्नति करना है।

अखिल भारतीय परिषद् ने यह भी सिफारिश की थी कि उत्तर, दक्षिण, पूरब और पच्छिम इन चार दिशाओं में देश में क्षेत्रीय समितियों की स्थापना की जाय जो कि अपने-अपने क्षेत्रों में टेक्नीकल शिक्षा के विकास का ध्यान रक्खें। १९५१-५२ में पूरब और पच्छिम तथा १९५३ में उत्तर व दक्षिण के लिये ऐसी समितियों की स्थापना की जा चुकी है। इस प्रकार अब देश में टेक्नीकल व औद्योगिक शिक्षा के क्षेत्र में समन्वय स्थापित करने में बड़ी सहायता मिल रही है। इसके अतिरिक्त इस समन्वय तथा उसके मानकीकरण के लिये भी परिषद् ने सराहनीय कार्य किया है। परिषद् और अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड की एक सम्मिलित समिति ने विश्वविद्यालयों में डिग्री-स्तर पर टेक्नीकल शिक्षा तथा ट्रेनिंग के लिये एक व्यवस्थित योजना तैयार की है।

इंजीनियरी, टेक्नोलॉजी, तथा औद्योगिक शिक्षा के सम्बन्ध में विभिन्न पाठ्यक्रमों को तैयार करके शिक्षण दिया जा रहा है।

देश में टेक्नीकल शिक्षा प्राप्त हुए कितने लोगों की आवश्यकता है इस बात को जानने के लिये 'अखिल भारतीय टेक्नीकल शिक्षा परिषद्' ने एक 'टेक्नीकल जन-शक्ति समिति' (Technical Man-Power Committee) की स्थापना की थी। यह समिति शिक्षा के विकास के सम्बन्ध में विस्तृत कार्य-क्रम प्रस्तुत कर रही है। इसके अतिरिक्त दो समितियों की स्थापना और हुई है। एक तो 'वैज्ञानिक जन-शक्ति समिति' (Scientific Man-Power Committee) तथा दूसरी 'विदेश छात्रवृत्ति समिति' (Overseas Scholarship Committee)। इन समितियों का काम है कि देश तथा विदेश में वैज्ञानिक व टेक्नीकल शिक्षा की सुविधाओं व समस्याओं पर विचार प्रस्तुत करें। 'विदेश छात्रवृत्ति समिति' ने सिफारिश की है कि विदेशों में विद्यार्थियों को उन्हीं विषयों में प्रशिक्षण के लिये भेजा जाय जिनकी कि देश में सुविधा न हो। साथ ही देश में वर्तमान संस्थाओं की दशा में सुधार किया जाय तथा अन्य नवीन संस्थायें खोली जाँय, जिससे विद्यार्थियों को भविष्य में शिक्षा के लिये विदेशों में न जाना पड़े। इन सिफारिशों के अनुसार विद्यार्थियों को देश व विदेश में टेक्नीकल व औद्योगिक प्रशिक्षण व अनुसन्धान के लिये प्रतिवर्ष छात्रवृत्तियाँ दी जा रही हैं, और देश के विश्वविद्यालयों तथा अन्य शैक्षिक संस्थाओं को अनुदान दिये जा रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि विश्वविद्यालयों ने अपनी अनुसन्धानशालाओं का पुनर्संगठन करके कार्य का विस्तार कर दिया है। पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत भी टेक्नीकल शिक्षा का प्रसार-कार्य हो रहा है। सन् १९५१ में कलकत्ता के पास खड़गपुर में 'भारतीय टेक्नालॉजी संस्था' (Indian Institute of Techonology) की स्थापना की गई थी। सन् १९४७ के बाद टेक्नीकल शिक्षा के क्षेत्र में यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। इस संस्था की स्थापना संसार की सर्व-प्रसिद्ध मैसेच्यूसेट्स (अमरीका) की एक संस्था के आधार पर की गई है। यहाँ इंजीनियरी तथा टेक्नोलॉजी में प्रशिक्षण व अनुसन्धान की व्यवस्था है।

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत बँगलौर की 'भारतीय विज्ञान-संस्था' के प्रसार-कार्य को भी सम्मिलित किया गया है। यह कार्य १९५५-५६ के प्रारम्भ तक समाप्त हो जायगा। सन् १९४७ तक यह संस्था शुद्ध व मौलिक विज्ञानों का ही शिक्षण देती थी। किन्तु इसके उपरान्त इसने बहुत उन्नति करली है।

अब टेक्नोलॉजी में प्रशिक्षण व अनुसन्धान के अतिरिक्त यहाँ शक्ति-इंजीनियरी, वैमानिकी (Aeronautics), धातु-विज्ञान, विद्युत संचार तथा रासायनिक-इजीनियरी की उच्च शिक्षा का भी प्रबन्ध है।

इसी प्रकार दिल्ली पोलीटेक्निक भी केन्द्रीय सरकार के अधीन एक संस्था है। इसमें बहुत से विषयों में प्रशिक्षण की सुविधा है। इसको दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से विद्युत-इजीनियरी, यान्त्रिक-इंजीनियरी, वास्तुकला, वाणिज्य तथा रासायनिक टेक्नालॉजी में स्नातक-स्तर का प्रमाण-पत्र देने की मान्यता मिल गई है।

'अखिल भारतीय टेक्नीकल शिक्षा परिषद्' वैज्ञानिक तथा टेक्नीकल शिक्षा के विकास के लिये क्रियात्मक रूप से सहायता दे रही है। देश में उत्तर-ग्रेजुएट स्तर पर अनुसन्धान कराने तथा प्रशिक्षण की सुविधायें उपलब्ध कराने और अन्डर-ग्रेजुएट स्तर पर इजीनियरी तथा टेक्नोलॉजी की शिक्षण-सुविधायें देने के उद्देश्य से विभिन्न शिक्षण संस्थाओं को अनुदान दिये जा रहे हैं। देश में विभिन्न उद्योगों के सहयोग से कर्मचारियों व श्रमिकों के लिये अंश-कालीन शिक्षण की सुविधायें भी दी जा रही हैं। कुछ विशेष क्षेत्रों, जैसे छपाई, कृषि, नगर तथा क्षेत्रीय-नियोजन, रेशम-शिल्प, ऊनी-शिल्प, औद्योगिक-प्रशासन तथा व्यापार-प्रबन्ध इत्यादि में जहाँ प्रशिक्षण की सुविधायें या तो बिल्कुल हैं ही नहीं अथवा अपर्याप्त हैं, वहाँ पर्याप्त सुविधायें प्रदान की जा रही हैं। इस उद्देश्य के लिये कलकत्ता की 'अखिल भारतीय सामाजिक हितकारी तथा व्यापार प्रबन्ध-संस्था' को केन्द्रीय सरकार ने पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत अनुदान दिया है। छपाई में प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से परिषद् ने कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई में तीन क्षेत्रीय-स्कूलों की स्थापना करदी है। एक चौथा स्कूल खोलने की योजना भी विचाराधीन है। वास्तुकला में प्रशिक्षण देने की दृष्टि से बम्बई का 'जमशेदजी जीजाभाई स्कूल ऑव आर्ट्स' संतोषजनक कार्य कर रहा है। इस स्कूल को केन्द्रीय सरकार ने विभिन्न राज्यों से आने वाले २५ छात्रों को छात्रवृत्ति प्रदान करने के उद्देश्य से इस वर्ष अनुदान दिया है।

इस प्रकार देश में औद्योगिक व टेक्नीकल शिक्षा देने का भरसक प्रयत्न किया जा रहा है। आशा है भविष्य में और भी अधिक उन्नति हो सकेगी।

४. कृषि शिक्षा—बीसवीं शताब्दि के प्रारम्भ में कृषि-शिक्षा की ओर पर्याप्त ध्यान जाने लगा। सन् १९०१ ई० में भारत सरकार ने 'इन्सपैक्टर जन-

रल ऑव एग्रीकल्चर' का पद स्थापित किया और कृषि-विभाग का विस्तार किया। सन् १६०५ ई० से प्रति वर्ष २० लाख रुपया कृषि में प्रयोग तथा अनुसन्धान करने के लिये सुरक्षित कर दिया गया। कृषि शिक्षा की अधिक सुविधायें उपलब्ध करने के लिये भी केन्द्रीय सरकार ने योजना बनाई। तदनुसार सन् १६०८ ई० में केन्द्रीय-अनुसन्धानशाला, पूसा (बिहार) की स्थापना की गई। इसकी स्थापना में अमेरिका के एक दानी श्री हैनरी फिप्स के ३० हजार डालर के दान से बहुत सहायता मिली। सन् १६३४ ई० में भूचाल के उपरान्त यह अनुसन्धानशाला दिल्ली में आगई। इसके अतिरिक्त कानपुर (१६०६), कोइम्बटूर (१६०६), सेबर (१६०६) तथा लायलपुर में १६१० ई० में कृषि-कालेजों की स्थापना हुई। पूना कृषि-स्कूल को कालेज बना दिया गया। नैनी, कानपुर और नागपुर में भी कालेज खुले। सैयदपेट तथा शिबपुर कालेज भंग कर दिये गये। इन छः कालेजों में ५ का प्रबन्ध सरकार के हाथ में था तथा नैनी में स्थित इलाहाबाद एग्रीकलचर इंस्टीट्यूट का प्रबन्ध एक अमरीकी मिशन के आधीन था। इसके अतिरिक्त १६२८ ई० में कृषि कमीशन की नियुक्ति हुई, जिसने सम्पूर्ण-क्षेत्र का अध्ययन करके कृषि तथा ग्रामीण अवस्थाओं में सुधार के सुझाव रक्खे। इसकी सिफारिशों के फलस्वरूप १६२६ ई० में 'इम्पीरियल कौंउसिल आव एग्रीकलचर रिसर्च' की स्थापना की गई। माध्यमिक तथा प्राथमिक शिक्षा में भी कृषि विषय को पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर लिया गया। गत वर्षों से कृषि शिक्षा का बहुत विकास किया जा रहा है। कालेजों की संख्या में वृद्धि की जा रही है तथा अनुसन्धान के लिये अधिक से अधिक सुविधायें प्रदान की जा रही हैं। अमेरिका तथा इङ्गलैंड के लिये बहुत से विद्यार्थियों को उच्च अध्ययन के लिये भेजा जा रहा है। इस समय देश में २१ प्रमुख कृषि कालेज स्थित हैं इनमें बलवंतराजपूत कृषि कालेज आगरा; इलाहाबाद एग्रीकल्चर इन्स्टीट्यूट; राजकीय कृषि-कालेज अमृतसर; कृषि कालेज बनारस विश्वविद्यालय; कृषि कालेज, बंगलौर; केन्द्रीय कृषि कालेज दिल्ली, भारतीय कृषि अनुसंधानशाला (न्यू पूसा), दिल्ली; राजकीय कृषि कालेज कानपुर तथा कृषि कालेज पूना अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त लखावटी (उ० प्र०), धरवार, हैदराबाद, मुक्तेश्वर, नागपुर सेबर, आनन्द, बपतला, इन्दौर, तथा खामगाँव इत्यादि अन्य स्थान हैं, जहाँ कृषि कालेज स्थापित हैं। उत्तर प्रदेश में माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में कृषि शिक्षा लगभग ३.००० स्कूलों में दी जारही है। भारत की खाद्य आवश्यकताओं को देखते हुए कृषि-विज्ञान में अधिक अनुसंधान तथा व्यावहारिक-कार्य की आवश्यकता है। "नवीन-भारत मानव स्वतन्त्रता का अग्रदूत है और इसकी

रक्षा, व्यक्ति के महत्त्व तथा मानव के गौरव व सम्मान की रक्षा के लिये प्रतिश्रुत है। भारत की खाद्य समस्या उन साधनों के द्वारा हल करनी चाहिये जो कि स्वतन्त्रता, जनतन्त्र, समानता तथा भ्रातृत्व के मूल-भूत सिद्धान्तों पर आधारित हैं, तथा जो कि नवीन भारत के समाज निर्माण के लिये आधार-शिला स्वरूप हैं।"†

५. वाणिज्य—इस काल में वाणिज्य शिक्षा ने बहुत संतोषजनक उन्नति की। सन् १६०१-०२ ई० में जबकि वाणिज्य का एक भी कालेज नहीं था, १६३६ ई० में इनकी संख्या ब्रिटिश भारत में ८ हो गई। सन् १६१३ ई० में बम्बई में प्रथम वाणिज्य कालेज की स्थापना हुई। उसके उपरान्त कलकत्ता, ढाका, इलाहाबाद, दिल्ली तथा लखनऊ विश्वविद्यालयों में वाणिज्य-विभाग खोले गये। सन् १६४६-४७ ई० में वाणिज्य कालेजों की संख्या १४ तथा स्कूलों की संख्या २६६ हो गई। गत ३० वर्षों में लगभग सभी विश्वविद्यालयों में वाणिज्य विभाग खुल गये हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से डिग्री कालेजों में भी कला व विज्ञान की भाँति वाणिज्य-विभाग खुल गये हैं। यह विषय मिडिल, हाईस्कूल तथा इंटर कक्षाओं में भी पढ़ाया जाता है। आँध्र तथा दिल्ली विश्वविद्यालयों में ३ वर्ष का ऑनर्स पाठ्यक्रम भी है। बम्बई, इलाहाबाद, लखनऊ तथा आगरा इत्यादि विश्वविद्यालयों में एम० कॉम कक्षायें हैं। वाणिज्य में अनुसन्धान भी हो रहे हैं। १६४७ के उपरान्त वाणिज्य शिक्षा संस्थाओं की संख्या में बहुत वृद्धि हुई है।

६. अन्य—उपर्युक्त व्यावहारिक शिक्षा के अतिरिक्त अन्य विभाग भी हैं जिनमें विद्यार्थियों को व्यावहारिक आर्थिक जीवन के लिये तैयार किया जाता है; जैसे अध्यापन, वन-विज्ञान, कला तथा कुटीर-उद्योग इत्यादि। शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिये आज अनेक कालेज तथा स्कूल खुल चुके हैं। सन् १६४६-४७ ई० में ३३ ट्रेनिंग कालेज थे, जिनमें २,७४७ विद्यार्थियों के शिक्षा पाने की व्यवस्था थी। इधर उत्तर प्रदेश में आगरा, मथुरा, गोरखपुर, कानपुर, लखनऊ इत्यादि स्थानों पर ग्रेजुएट शिक्षकों के लिये नये कालेज खुले हैं। महिलाओं के लिये भी ट्रेनिंग कालेज हैं। कुछ विश्वविद्यालयों में बी० एड० (B. Ed.) तथा एम० एड० (M. Ed.) की कक्षायें भी हैं। इन्स्टीट्यूट ऑव ऐज्यूकेशन, बम्बई तथा 'दिल्ली सैन्ट्रल इन्स्टीट्यूट आव एज्यूकेशन' में शिक्षा में अनुसंधान की भी सुविधा है, किन्तु अभी भारत में शिक्षा में अनुसंधान का बड़ा अभाव है।

†University Education Commisson. P. 196.

अतः कुछ विद्यार्थी प्रतिवर्ष अनुसंधान के लिये इंगलैंड और अमेरिका जाते हैं। इसके अतिरिक्त बेसिक शिक्षा के लिये शिक्षकों को प्रशिक्षण देने के लिये भी देश भर में केन्द्र खुले हैं जिनमें तकी, वर्धा, जामिया मिलिया, दिल्ली तथा विश्व-भारती अखिल भारतीय महत्त्व के हैं।

कला की शिक्षा के लिये भारत में १६४७ ई० में १४ कला स्कूल थे, जिनमें १६६८ विद्यार्थियों की व्यवस्था थी। ललित-कलाओं में संगीत तथा नृत्य के लिये भी स्कूल वर्तमान हैं इनमें भातखंडे संगीत विद्यालय बम्बई, मौरिस स्कल लखनऊ, संगीत-विद्यालय, कलकत्ता तथा कला क्षेत्र, अदियार अधिक प्रसिद्ध हैं। १६४७ के उपरान्त बहुत से कला-क्षेत्र खुलते जा रहे हैं। सरकार कलाकारों को छात्रवृत्तियाँ देकर भी प्रोत्साहित कर रही है।

वन-विज्ञान की शिक्षा के लिये दो कालेज देहरादून में तथा एक कोइम्ब-टूर में है। जनवरी १६५५ में देहरादून में विश्व-वन-सम्मेलन एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

उपसंहार

इस प्रकार संक्षेप में हमने भारत में व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा की प्रगति का वर्णन किया है। विश्व आज लौकिक वैभव के पथ पर अग्रसर हो रहा है। अतीत का समृद्ध भारत बीच में एक दरिद्र राष्ट्र बन गया था, किन्तु आज पुनः उसने अँगड़ाई ली है और अपने स्वर्णिम-भविष्य की ओर वह जिज्ञासा तथा आशा भरी दृष्टि से देख रहा है। उसका यह स्वप्न तभी पूर्ण हो सकता है जबकि वह अपने औद्योगिक विकास के लिये पर्याप्त औद्योगिक, टेक्नी-कल तथा व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था करता है। हर्ष की बात है कि वह इस पथ पर अडिग कदमों द्वारा अग्रसर होता जा रहा है।

(क) सहायक-पुस्तकें

(BIBLIOGRAPHY)

प्रथम खण्ड :—

Altekar : Education in Ancient India, *Nand Kishore Bros. Benaras (1948).*

Balmik : Ramayan.

Chhandogya Upanishad.

Keay F. E. : History of Indian Education; Ancient and in Later Times, *Humphrey Milford, Oxford University Press (1942).*

Kautilya : Arthshastra.

Mac Donnel : Sanskrit Literature.

Manusmriti.

Mahabharat : Adi Parva.

Maxmullar : Lectures on Vedanta Philosophy.

Mundak Upanishad.

Mukerjee Radha Kumad, Dr. : Ancient Education in India, *Macmillan & Co. 1947.*

Padma Puran.

Panini.

Shatpath Brahman.

Subhashit Ratna Bhandar.

Yajnavalkya.

द्वितीय खण्ड :—

Bernier : Travels

Cambridge History of India. Vol. IV.

Ishwari Prasad Dr. : History of Medieaval India ; *The Indian Press Ltd. Allahabad.*

Jaffar : Education in Muslim India.

Keay, F. E. : History of Indian Education ; Ancient and in Later Times.

Law, N. N.: Promotion of Learning in India during Mohammadon Rule.

Moreland, W. H. : From Akbar to Aurangzeb.

Nadavi.

Sen, J. M, : History of Elementary Education in India.

Sharma, S. R. : Moghul Empire in India.

Shrivastava, A. L. Dr. : The Sultanate of Delhi; *Shiv Lal & Sons, Agra.*

Vakil, K. S. : Education in India.

तृतीय खण्ड :—

Adam's Report on Vernacular Education in Bengal and Bihar.
American Education, Jan. 1950.
Altekar : Education in Ancient India.
Agra University (Amondment) Act. 1954.
Aims and Objects of University Education in India : *Ministry of Education Govt. of India.*
Basu, A. N. : University Education in India.
Basu, A. N. : Education in Modern India.
Basic and Social Education Pamphlate No. 586 *Ministry of Education in India.*
Better Teacher Education ; *Ministry of Education Govt. of India (1954.)*
Bhatia, Hans Raj : What Basic Education Means ; *Orient Longmans (1954.)*
Chaube, S. P. Dr. : शिक्षण सिद्धान्त की रूपरेखा, लक्ष्मीनारायण एन्ड सन्स, आगरा।
Education in India : *Oxford University Press.*
Experiments in Teachers Training : *Ministry of Education Govt. of India (1954.)*
Future of Education in India : *The Publications Division (1954.)*
Gokhale's speeches.
Humayun Kabir : A programme of National Education for India; *Eastern Economist Pamphlate.*
Harijan : 2—10—37 ; 30—10—37.
H. Sharp : Selections from Educational Records.
Hartog Committee Report.
Howell : Education in India.
India Today : Vol. I, June 1952.
Indian Year Book, 1954-55 ; *The Times of India, Bombay.*
India (1954), *The Publications Division Govt. of India.*
Mayhew, A. : Christianity and the Government of India.
Mukerjee, S. N. : Education in India, To-day and Tomorrow ; *Acharya Book Depot, Baroda.*
Mukerjee, S. N. : Education in India in the 20th Century; *Padma Publications, Bombay,*
Mukerjee, S. N. : Education in Modern India ; *Acharya Book Depot, Baroda.*

Narendra Deo Committee Report 1939 ; (For the Reorganisation of Primary and Secondary Education in U. P)

Nurullah and Naik : A History of Education in India ; *Macmillan & Co. (1951.)*

A. New Deal for Secondary Education, *Ministry of Education Govt. of India (1954.)*

Paul Bergivin : Philosophy of Adult Education ; *Indiana University, Bloomington.*

Progress of Education in India (Reports Govt. of India) 1930-31, 1936-37, 1938-39.

Paranjape, M. R. : A Source Book of Indian Education.
Proceedings of the Indian National Commission (1954.)
Quinquennial Review of the Progress of Education in India 1912-17
" " " " " " 1917-22
" " " " " " 1922-27
" " " " " " 1927-32
" " " " " " 1932-37
" " " " " " 1947-52
A Review of Education in India (Humayun Kabir) 1948-49
Ritcher, J. : History of Missions in India.
Report of Indian University Commission, (1902).
Report of the University Education Commission (Radhakrishnan Commission) Vol. I, 1949).

Report of Progress of Education in U. P. (*Ministry of Education U. P.*)

Report on Technical Education in India (1943.)
Report of the Allahabad University Enquiry Committee (1953.)
Report of the Secondary Education Reorganisation Commiittee U. P. 1953.

Report of the Secondary Education Commission Govt. of India (1953.)

Research and Experiment in Rural Education, *Ministry of Education Govt. of India (1954.)*

Sen, J. M : History of Elementary Education in India.
Shah. Lalit Kumar : Education and National Conciousness.
Singh, R, K. Dr, : Our Universities and our Vice Chancellors.
Sargent Scheme : Post War Educational Development Scheme.
Sequerra : Education in India.
Syed Mahmud : History of English Education in India. (1781-1893).

Social Education : A work of students for students.
Social Education : *Ministry of Education, Govt. of India 1953.*
Seven Year of Freedom : *Ministry of Education, Govt. of India (1954.)*
The Seventh Year of Freedom : *A. I. C. C. Publication (1954).*
Trevelyan : On the Education of the People of India, (1838.)
Trevelyan : Life and Works of Macaulay.
UNESCO : Adult Education Towards Social and Political Responsibility, (1953.)
Unesco : Projects in India: *Ministry of Education Govt. of India, (1953.)*
Unesco : Compulsory Education in India.
Vakil, K. S. : Education in India. *T. C. E. Journals & Publications Ltd. Lucknow, (1948)..*
Wardha Scheme.
Wood Abbot Report on Vocational Education in India.
Zakir Hussain Committee Report on Basic Education in India.
Zellner Aubrey Dr. : Education in India ; *Bookman Association New York 4.*

———

(ख) अनुक्रमणिका

अ, आ

इ, ई

उ, ऊ

य

र

ल

व

श

स

—————